गीता-विमर्श

स्वामी रामानन्द

तृतीय संस्करण - 1976
चतुर्थ संस्करण - 1999
पंचम संस्करण - 2021

500 प्रतियाँ

मूल्यः रु. .....

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशकः सुमित्रा माँ
प्रधान, साधना परिवार
स्वामी रामानन्द साधना धाम
संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)-249408

कम्पोजिंगः
ग्रेटो इंटरप्राइजेज़
जी-30, सरिता विहार, नई दिल्ली-110076, दूरभाषः 9910794578

मुद्रकः
रैक्मो प्रैस प्राइवेट लिमिटेड
सी-59, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया फेज़-1, नई दिल्ली-110020

प्रकाशकीय

हमारे परम पूज्य गुरुदेव स्वामी रामानन्द जी महाराज बौद्धिक, व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अद्वितीय हैं। इस ग्रन्थ 'गीता-विमर्श' के लेखक पूज्य गुरुदेव हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'गीता-विमर्श' अर्थात् गीता में वर्णित प्रत्येक पहलू पर, जो कि हमारे व्यवहार से सम्बन्धित है, विचार विमर्श किया गया है। पूज्य गुरुदेव तो गीता को अपनी साधना का ग्रन्थ मानते हैं। हमारी साधना में जो भी समस्याएँ आती हैं उनका विशद वर्णन एवं निदान किया है पूज्य स्वामी जी ने। इसे पढ़ते समय लगता है कि पूज्य स्वामी जी हमारी भावनाओं को, समस्याओं को जानते हैं और हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। यद्यपि पूज्य स्वामी जी गीता के केवल सात अध्यायों पर ही लिख सके और जगज्जननी माँ ने उन्हें अपने पास बुला लिया। किन्तु इन सात अध्यायों में ही वे गीता के प्रत्येक अध्याय का सार किसी न किसी रूप में कर गए हैं। अतः यह ग्रन्थ अधूरा कदापि नहीं है।

इस ग्रन्थ का पाठ करते समय पूज्य गुरुदेव की सूक्ष्म उपस्थिति का भाव रखें तो आप पाएँगे कि वे आपके सामने ही बैठे आपको समझा रहे हैं। पूज्य गुरुदेव से प्रार्थना है कि वे अपना मंगलमय आशीर्वाद हमारे ऊपर सदा बनाए रखें।

हरिद्वार
01 जनवरी, 2021

– **अध्यक्ष**
साधना परिवार

पुस्तक-परिचय

गीता के अनेक भाष्य हैं। विश्व में किसी और पुस्तक के सम्भवत: इतने अधिक भाष्य नहीं हुए जितने इस पावन ग्रन्थ 'गीता' के। फिर भी ऐसे लगता है कि इस ग्रन्थ के बारे में अभी बहुत कुछ कहना शेष है। इसके बारे में जो अभी तक कहा गया है विद्वानों द्वारा, दार्शनिकों द्वारा, सन्त-महात्मा आदि द्वारा, वह सब जैसे अपूर्ण हो, अधूरा हो।

क्या है गीता की देन? 'गागर में सागर' भरना कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कर्म, भक्ति आदि सभी की विस्तृत चर्चा है इसमें। जिस लेखक ने जिस दृष्टिकोण से इस का अध्ययन किया, उसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन उसके भाष्य में हुआ। पाठक उलझ जाता है कि वास्तव में इसमें है क्या? क्या है वह तत्त्व, जिसका प्रतिपादन स्वयं भगवान् ने इसमें किया है? इस जटिल प्रश्न से उलझें पण्डित, ज्ञानी, विद्वान्, दार्शनिक। हमें तो इस गागर में समाये सागर से मोती चुनना है।

और यह कार्य पूज्य स्वामी जी ने हमारे लिए बहुत सरल कर दिया। ज्ञान एवं दर्शन की उड़ान से बहुत दूर, उन्होंने तो गीता को एक पारस्परिक व्यवहार के नियमों के रूप में, एक साधना-ग्रन्थ के रूप में हमारे सन्मुख रखा। पूज्य स्वामी जी द्वारा किया 'गीता' का भाष्य – 'गीता-विमर्श' एक ओर हमारी साधना के मार्ग को सरल करता है, उसका समुचित ज्ञान कराता है, तो दूसरी ओर हमारे जीवन की प्रत्येक व्यावहारिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।

वास्तव में यह 'गीता-विमर्श' साधना-विषयक एक अभूतपूर्व ग्रन्थ है। न तो इसमें केवल दार्शनिक तत्त्वों की कोरी विवेचना है और न ही इसमें बौद्धिक कलाबाजियाँ हैं। एक साधक के लिए, उसके साधन-पथ का एक ऐसा विशद वर्णन है इसमें, जो साधक को उसकी वर्तमान परिस्थितियों, उसकी साधन-संयम-विषयक स्थितियों में से निकाल कर उसे साधना के मार्ग पर आगे ले जाने के लिये सहज में ही एक दिशा एवं गति प्रदान करता है।

पूज्य स्वामी जी द्वारा लिखे साधना-ग्रन्थों* का यह एक पूरक ग्रन्थ भी है। उन ग्रन्थों में जिन विभिन्न सिद्धान्तों की सूत्ररूप में चर्चा की गई है, उसका विशद वर्णन मिलता है प्रस्तुत पुस्तक 'गीता-विमर्श' में। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि निम्न प्रवृत्तियाँ ही हमारे साधन-पथ की बाधायें हैं, हमारी कमज़ोरियाँ हैं। हम हारते हैं तो इन्हीं से। यही हार हमारे जीवन में निराशा भरती है, साधना को शिथिल करती है। इन निम्न प्रवृत्तियों के विभिन्न रूपों की समुचित जानकारी के अभाव में हमें भटकना पड़ता है। एक बार इस बारे में समुचित जानकारी प्राप्त हो जाये तो साधना-मार्ग सरल हो जाता है। इन निम्न प्रवृत्तियों का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या है उन का जीवन और साधना में स्थान, कैसे साधन-पथ में इनका सहज उन्मूलन होता है, आदि विषयों की ऐसी सूक्ष्म तथा सहज में समझ आने वाली जानकारी इस 'गीता-विमर्श' में मिलती है जैसी गीता के किसी अन्य भाष्य अथवा किसी साधन-ग्रन्थ में प्राप्य नहीं। यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। सरल भाषा, तर्क की कसौटी पर खरे उतरे सिद्धान्त, अनुभवगम्य सत्य, पुकार, विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा एवं साधना करने की सहज प्रवृत्ति के उत्पन्न एवं विकास करने की क्षमता, ये इस ग्रन्थ की कुछ अन्य विशेषतायें हैं।

हमें खेद है कि पूज्य स्वामी जी केवल सात अध्यायों की ही टीका कलमबद्ध कर सके। आगे और लिख पाते कि वे सूक्ष्म में प्रवेश कर गये। विधि का विधान! किन्तु कोई विषय अछूता अथवा अधूरा रह गया हो, ऐसा कहीं लगता नहीं। साधना और व्यवहार के सभी आवश्यक सिद्धान्तों की चर्चा, किसी न किसी श्लोक में कर दी गई है, जैसे लिखने को कुछ शेष रह ही नहीं गया हो। अतः अधूरा दीखने वाला यह भाष्य अपने में पूरा है, एक साधक के लिये।

'गीता-विमर्श' का यह तृतीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है, इस आशा से कि यह उनके साधन-पथ को समुचित प्रकाशित कर सकेगा।

'गीता-विमर्श' को वर्तमान रूप देने में सुमित्राँ माँ के बहुमूल्य सुझावों के लिये हम परम आभारी हैं।

लखनऊ — **पुरुषोत्तम भटनागर**

17.5.1976

*अध्यात्म विकास, आध्यात्मिक साधन, भाग 1-2 एवं उत्पादिनी शक्ति।

भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता अध्यात्मक्षेत्र की अमूल्य निधि है। इस पर आज तक अनेक सन्तों और विद्वानों ने चर्चा की है। इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कहने को कुछ बाकी नहीं रहा। प्रभु की सृष्टि में – इस अनेकविध अगणित रचना में दो शरीर ठीक-ठीक एक से नहीं होते, तो दो व्यक्ति पूरे-पूरे एक से कैसे हो सकते हैं? व्यक्तियों के अनुभव, उनके दृष्टिकोण, उनके विचार, सभी अलग-अलग होते हैं। अतः वे गीता जैसे रहस्यपूर्ण ग्रन्थ को अपनी-अपनी तरह से ही समझेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति की समझ उसकी होते हुए भी पूरी तरह उसकी ही नहीं होती। जो कुछ हमने सुना और जो पढ़ा है, उस सबका हमारी समझ में हिस्सा है। इसके अतिरिक्त, हमारे स्थूल शरीर की स्पष्ट सीमा है। जो कुछ बाहर से आता है, उसका तो हमें पता चल जाता है पर हमारे मन की ऐसी ठोस सीमायें नहीं हैं। आकाश-मण्डल में सूक्ष्म विचार-तरंगें और भाव-तरंगें रहती हैं, कहीं से चलकर वे अलक्षित ही हमारे मस्तिष्क में और हृदय में प्रवेश पा जाती हैं। हम मूर्खता से समझते हैं यह हमारा विचार है, यह हमारा भाव है।

मौलिकता का दावा तो वैसे भी ओछापन है, मूर्खता है। दुनियाँ में कौन किससे अलग है? कौन किससे अलग हो सकता है? न स्थूल जगत् में, न सूक्ष्म जगत् में। हम सभी एक के ही अंग हैं, परस्पर अटूटरूप से सम्बद्ध हैं। मेरे विचार मेरे ही नहीं हैं। आज तक सारे विश्व की अनुभूति मुझ में प्रतिफलित है। मैं तो एक महान शृंखला की कड़ी मात्र हूँ। मेरा भूत और वर्तमान और मेरा भविष्य सारे विश्व से सटा हुआ है। मैं कहीं भाग नहीं सकता, इस जीवन तन्तु को तोड़ नहीं सकता।

तो मौलिकता कैसी? मैं इतना ही जानता हूँ कि मुझ जैसे व्यक्ति पर गीता की ऐसी प्रतिक्रिया है, ऐसा प्रभाव है। मेरा विश्वास है कि यह समझ भी नूतन विचारों तथा भावों को जागृत करके कई व्यक्तियों को कुछ देन

दे सकती है। परस्पर आदान-प्रदान ही तो सभी क्षेत्रों में बढ़ने का तरीका है। यही यज्ञ है। यही सेवा है उस परम प्रभु की। इस विश्व के विशाल यज्ञ में यही आहुति प्रदान करना है।

समझ प्रत्येक व्यक्ति की निजी होती है। अन्ध-विश्वास समझ नहीं है, वह भाड़े का सामान है। उसमें विचार का काम नहीं होता, वह ठीक हो अथवा ग़लत हो, उससे कुछ लाभ नहीं होता। वह खतरनाक ही है, क्योंकि उससे विकास रुकता है। उससे मनुष्य का मनुष्यत्व, मननशीलता नहीं पनपती। यह सोचना भी कि सभी मेरी तरह सोचें, मूर्खता है। सभी को अपनी-अपनी तरह से ही सोचना चाहिए और उसके मुताबिक काम करना चाहिए। हाँ, इतना अवश्य है कि वह सोचना क्रमशः परिमार्जित होना चाहिए, उदार होना चाहिए और मंगलमय होता चला जाना चाहिए और वैसे ही कर्म भी।

यदि मेरे विचार और भाव किसी दूसरे मस्तिष्क और हृदय में तरंगे पैदा कर दें, जिससे दूसरे की समझ खिल उठे, जिससे दूसरे के भावों में गहराई और विशालता आ जाए, तो मेरा प्रयत्न सार्थक समझना चाहिए। यदि इसके द्वारा किसी को सोचने की प्रेरणा मिले तो भी कहा जा सकता है कि यह प्रयत्न निष्फल नहीं गया।

'गीता-विमर्श' के बारे में मैं कोई दावा नहीं करता। यह कह सकता हूँ कि मैं अपने प्रति सच्चा रहने की चेष्टा करूँगा, सत्य स्वरूप परम प्रभु की पूजा करने की भी चेष्टा करूँगा इस गीता-विमर्श के द्वारा। मैं जानता हूँ कि मेरी बुद्धि सीमित है और इस हृदय में अभी विकास की अनन्त सम्भावना है। बोध भी मेरा बच्चों का सा है, यह भी मैं जानता हूँ। अतः किसी बात का दावा नहीं करता। 'गीता-विमर्श' के द्वारा गीता के वक्ता के समीप होने की चेष्टा करता हूँ। आप लोगों के हृदय में गीता के प्रति तात्त्विक भाव जागृत करने की चेष्टा करता हूँ, और गीतामृत का पान करवाकर और करके अपने को कृतकृत्य समझता हूँ।

बड़े-बड़े विद्वानों ने इसकी चर्चा की है। मेरी वर्तमान समझ उन पर आश्रित अवश्य है। मैं जो कुछ हूँ, जो मेरा अनुभव है यह उस पर भी आश्रित है। पर जो समझ है वह इस समय मेरी बन चुकी है, मुझ से

इसका विच्छेद नहीं हो सकता। यह माँगी हुई नहीं है। उन सभी महानुभावों का, जिन्होंने आज तक गीता पर चर्चा की है, मैं आभारी हूँ।

बन्धुओ! मैं आप से भी कहूँगा कि अपनी निजी समझ पैदा कीजियेगा, सोचियेगा। जो कुछ मैने समझा है उससे आगे चलने की चेष्टा करें, इससे मुझे भी हर्ष होगा। गीता जैसे ग्रन्थ में अन्तिम बात कोई नहीं हो सकती। आने वाले व्यक्ति और आने वाले युग गीता को अपनी नूतन समस्याओं और अनुभवों की दृष्टि से देखेंगे। उन्हें अधिकार भी है। यही गीता की महान् महिमा है।

अब इस 'गीता-विमर्श' के बारे में कुछ शब्द कहते हैं।

कई लोग गीता के पण्डित बनना चाहते हैं। सारी गीता को कण्ठ कर सभी प्रसिद्ध भाष्यकारों और अन्य विद्वानों की टीकाओं पर अधिकार प्राप्त कर वे गीता के विद्वान बनते हैं। वह विद्वत्ता उनको मुबारिक हो। पर मैं ऐसा नहीं चाहता।

कोई तार्किक बनकर गीता को अपने पैमाने पर तोलना चाहते हैं। 'यह ठीक और यह ग़लत'! मुझसे यह भी नहीं हो सकता। वे भले ही करें।

मैं तो गीता को अपने भीतर रमा लेना चाहता हूँ। मेरे लिए जो सन्देश गीता में है उसे पकड़ कर मैं अपने जीवन में ऐसा उतारना चाहता हूँ कि मेरा जीवन गीतामय हो जाय। गीता का आदर्श मेरे जीवन में मूर्तिमान हो उठे। गीता मेरे लिए साधना का ग्रन्थ रहा है और उसका आदर्श जितना स्फुट तथा ज़ोरदार है, उतना मुझे और कहीं नहीं मिला। उसका बताया रास्ता जैसा विशद है, वैसा मुझे अन्यत्र नहीं दीखा। गीता मेरे लिए श्रद्धा का ग्रन्थ है, मेरे लिए वह साधना का ग्रन्थ है। वह मेरी जीवन-समस्याओं का हल है। मैंने ऐसे ही गीता को पढ़ा है और पढ़ता हूँ। अतः मेरी समझ की भी यही सीमा है। मेरी लेखनी की यही सीमा है। इसी दृष्टिकोण से गीता पर चर्चा मैं कर पाऊँगा।

मुझे यह दृष्टिकोण प्यारा है। यह मंगलमय तो है ही।

गीता का अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले गीता की समस्या पर एक दृष्टिपात अनुचित न होगा। हमारे जीवन से वह घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

अर्जुन पर अन्याय किया जा रहा था। दुर्योधन पाण्डवों को कुछ भी देने को तैयार नहीं था। उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए पाण्डवों ने युद्ध की तैयारी की। अर्जुन ने युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व जब दोनों दलों पर दृष्टि डाली तो उसका दिल काँप गया, 'इस राज्य के लिये इतना संहार।' पूरी मानुषी-भावना थी। उसने युद्ध करने से इंकार कर दिया।

यहाँ अनेकों समस्यायें उमड़ पड़ती हैं एकदम से। ठीक ही तो था, उस राज्य के लिये इतने बन्धुओं का संहार क्यों किया जाए? अर्जुनादि का निर्वाह तो कहीं भी हो सकता था।

उस अन्याय का प्रतिकार न किया जाता तो अन्याय बढ़ता चला जाता और उस अन्याय के फलस्वरूप संसार के सभी प्राणी दु:खी होते! वे प्राणी तो बाद में दु:खी होते, युद्ध के फलस्वरूप तो वह अभी से व्याकुल हो गया।

और भी, न्याय का निर्णय कौन कर सकता है। आज की जटिल दुनियाँ में तो कोई अपने को अन्यायी समझता ही नहीं। जर्मनी अंग्रेजों को अन्यायी कहता था और अंग्रेज जर्मनी को। जो जीत जाता है उसी का कहा सच्चा समझा जाता है और हारने वाला अन्यायी।

भगवान् ने अर्जुन को प्रेरित किया युद्ध के लिए, तो क्या हम अपने भाई से ज़रूरत पड़ने पर मुकद्मेबाज़ी करें?

मुसलमान समझते थे हिन्दू हम पर जुल्म ढा रहे हैं, हमारा जो अधिकार है उसे दबाये बैठे हैं और हिन्दू समझते हैं कि इन लोगों से न जाने किस पाप के फलस्वरूप हमारा पाला पड़ गया जो अनाचार की मूर्ति बन वे हमसे ऐसा व्यवहार कर रहे हैं।

आज* अरब और यहूदी लड़ रहे हैं और प्रत्येक अपने को ही ठीक समझता है। रूस, अमेरिका और इंगलैण्ड में होड़ है। चीन में कम्यूनिस्ट अलग बगावत किए हैं और वे भी अपने मत को न्यायसंगत समझते हैं। डच और इण्डोनेशियन अलग लड़ने पर उतरे हैं। हम कैसे जानें कि न्याय किसके पक्ष में है?

---

*ग्रन्थ की रचना के समय।

किन बातों पर व्यक्ति के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय निर्भर करता है तथा किन बातों पर जाति के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय निर्भर करता है – यह जीवन की प्रमुख समस्या है। कदम-कदम पर अनेक रूपों में यही सवाल सामने आ जाता है।

पहले कुछ मौलिक बातें जाननी होंगी।

व्यक्ति समाज के लिये है और समाज व्यक्ति के लिये, परन्तु दोनों ही तो विकास के लिये हैं। सभी का विकास होना चाहिये।

विकास का अर्थ सुखभोग की वृद्धि, जीवन के मापदण्ड का बढ़ाना नहीं। विकास का अर्थ है चेतना की उस अवस्था की प्राप्ति, जिसमें अन्तर्निहित पुरुषोत्तम, सत्-चित्-आनन्द पूर्णरूपेण प्रकट हो जाता है। व्यक्ति भागवत्-चैतन्य को लाभ कर ले, जिसमें समता है, ज्ञान है और वह आनन्द है जिससे बढ़कर कुछ है ही नहीं। ऐसे व्यक्तियों का समाज आदर्श समाज होगा।

कर्त्तव्य-धर्म उसे विकास के पथ पर अग्रसर करने वाला रास्ता है।

भौतिक सुख को आदर्श मानकर चलना वास्तव में दुःख का आवाहन करना है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।*

आज की दुनिया इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

मृत्यु-विनाश-संहार, इस संसार में सामान्य-सी घटना है। वर्तमान सृष्टि के साथ यह लगा हुआ है। कर्त्तव्य के निर्णय में यह गणनीय नहीं। व्यक्ति तथा जाति के विकास की स्थिति तथा उनकी परिस्थिति ही कर्त्तव्य की निर्णायक हो सकती है। इन दो को जाने बिना कर्त्तव्य का निर्णय करना असम्भव है। जो व्यक्ति अथवा जाति को उस आदर्श की ओर बढ़ाने वाला हो वही कर्त्तव्य है।

सबसे अधिक महत्त्व की बात है, व्यक्ति कर्म किस मनोवृत्ति से करता है। वही उसको बनाने वाली या बिगाड़ने वाली होती है और समाज को भी बनाने और बिगाड़ने वाली वही होती है।

---

*गीता अध्याय 5.22 'संस्पर्श से, प्रकृति के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले भोग दुःख के उत्पत्तिस्थान (मात्र) हैं।'

लोभ, राग-द्वेष, काम-क्रोध कभी भी कर्त्तव्य नहीं हैं। ये सदैव यातना का कारण होते हैं। व्यक्ति और जाति इनसे पतित होती है। इनके बढ़ने से क्लेश ही क्लेश बढ़ता चला जाता है।

न्याय तथा अन्याय का समुचित निर्णय राग-द्वेष-रहित समबुद्धि ही कर सकती है। कोरा तर्क नहीं कर सकता।

गीता की ये मौलिक बातें यदि किसी व्यक्ति के जीवन में गड़ जाएँ अथवा किसी राष्ट्र की चेतना का आधार बन जाएँ तो कर्त्तव्य का निर्णय कठिन न होगा और विकास का पथ भी सहज व सुगम हो जायेगा। आदर्श सबसे महत्त्व की चीज है। यह आदर्श सभी के लिये है, किसी व्यक्तिविशेष अथवा वर्गविशेष के लिये नहीं।

इसमें संघर्ष के लिए, युद्ध के लिये पूरी गुन्जाइश है, परन्तु द्वेष के लिए और राग के लिए नहीं। इन्द्रिय-लोलुपता और विलासिता के लिए नहीं और न घोर तपस्या के लिये। यह निर्भयता का पथ है भीरुता का कदापि नहीं। जीवन और मुत्यु का खेल है। इस कर्त्तव्य-पथ पर हानि और लाभ, विनाश और उत्पत्ति की भी कोई कीमत नहीं। आन्तरिक विमलता सबसे बड़ी चीज है। अनहंकारिता सबसे ऊँची है। **'सर्वभूतहिते रताः'*** बहुत गम्भीर तथा व्यापक अर्थ रखता है।

यह अन्यायी से घृणा करना नहीं सिखाता; परन्तु उसके अत्याचार को मौन भाव से सहन करना भी नहीं सिखाता। घृणा न करते हुए अन्यायी को दण्ड देना सिखाता है। भगवान् के हाथों में यन्त्र बने हुए उसका भी हित करना सिखाता है। अन्याय का फल मिले बिना न रहेगा। दैवी शक्तियाँ अन्यायी के अन्याय का प्रायश्चित 'फल' के द्वारा स्वयम् ही करवा देती हैं। इसीलिये महात्मा ईसा ने अन्याय को सहन करना बताया है, अन्यायी से प्रेम करना सिखाया है। वह भी बड़ी ऊँची बात है। गीता अन्यायी से प्रेम करते हुए भी प्रभु के हाथों में यन्त्र बने अहंकारशून्य हो अन्यायी को दण्ड देना सिखाती है और यह सम्भव है। गीता इसकी सम्भावना का प्रमाण देती है। व्यक्ति की साधना से विकसित होती हुई दृष्टि इस बात का प्रमाण देगी।

---

*गीता 12, 4 सब भूतों के हित में लगा हुआ।

यह आदर्श अधिक विशाल है, अधिक समन्वयात्मक है और अधिक लोक-हितकारी भी। पर अधिक कठिन अवश्य है। संघर्ष में रहकर ही पाठ पढ़ा जा सकता है, संसार से उपराम होकर नहीं। बिना पूरा शोधन हुए इस आदर्श का क्रियान्वित होना असम्भव है।

घृणा से घृणा पनपती है और द्वेष से द्वेष। हम इस परम्परा का मूलोच्छेद करना सीखें। कर्त्तव्य पर डटे रहना भी सीखें। अद्‌भुत आदर्श है गीता तथा अद्‌भुत हैं गीता के कृष्ण।

ज़रूरत हो, कर्त्तव्य की माँग हो तो चोट करो खुले दिल से, दूसरे का विशाल अर्थों में 'हित' चाहते हुए, उसे प्रीति के नाते से अपना स्वीकार करते हुए, जैसे प्रभु स्वयं करते हैं।

गीता के विषय में प्रारम्भिक चर्चा कर चुकने के उपरान्त अब हमें क्रमपूर्वक ग्रन्थ का विवेचन करना होगा।

पहले अध्याय में हमें परिस्थिति का चित्रीकरण मात्र मिलता है। अर्जुन के सामने क्या समस्या है और उसकी आन्तरिक उलझनें क्या हैं, इन बातों का हमें पूरा-पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। बिना अर्जुन की स्थिति को ठीक समझे हुए और बिना यह जाने कि भगवान् ने यह उपदेश किस समय में दिया था, हम गीता के प्रधान उपदेश को ठीक नहीं समझ सकते हैं। यदि हम किसी ग्रन्थ के वाक्यों को अलग से निकाल कर रख दें तो हम उनके ऐसे अर्थ भी कर सकते हैं जो उस ग्रन्थ की विचार-धारा के ही प्रतिकूल हों, इसलिये हमें सदैव इस परिस्थिति को न भूलना होगा।

श्लोकों का अर्थ श्लोकों सहित दिया जायगा और जहाँ आवश्यकता प्रतीत होगी, वहाँ टीका की जायगी।

- रामानन्द

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय – श्री ओम प्रकाश सेखड़ी जी. 3

पुस्तक परिचय – श्री पुरुषोत्तम भटनागर जी. 5

भूमिका – स्वामी रामानन्द जी. 7

अध्याय 1. 15

अध्याय 2. 29

अध्याय 3. 163

अध्याय 4. 265

अध्याय 5. 353

अध्याय 6. 409

अध्याय 7. 481

॥श्री राम॥

अध्याय 1

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥1॥

धृतराष्ट्र ने कहा –

हे संजय! कुरुक्षेत्र (नाम वाले) पुण्यस्थल में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?॥1॥

युद्ध आरम्भ होने से पूर्व व्यास जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि अगर उनकी इच्छा युद्ध देखने की हो तो वे उन्हें दिव्य दृष्टि दे देंगे। पर धृतराष्ट्र ने कहा कि वे अपने कुल का विनाश अपनी आँखों से नहीं देखना चाहते। इस पर व्यास जी ने संजय नामक सूत को दिव्य-दृष्टि दे दी जिससे एक स्थान पर बैठे-बैठे उसे सब बातों का प्रत्यक्ष बोध हो गया। आगे चलकर युद्ध में भीष्म पितामह के मारे जाने पर इस समाचार को सुनाने के लिए संजय धृतराष्ट्र के पास गया। तब धृतराष्ट्र ने संजय से युद्ध का वर्णन करने को कहा, इस पर संजय ने दोनों दलों की सेनाओं का वर्णन किया और धृतराष्ट्र को गीता का उपदेश सुनाया।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥2॥

संजय बोले –

तब राजा दुर्योधन पाण्डवों की सजी हुई सेना को देखकर द्रोणाचार्य के समीप जाकर (यह) वचन कहने लगे॥2॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढ़ां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥3॥

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा सजाई हुई इस पाण्डवों की महान् सेना को देखियेगा॥3॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥6॥

इस सेना में भीष्म और अर्जुन के समान युद्ध में शूर, बड़े-बड़े धनुर्धर युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तीभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, महान् बली युधामन्यु, वीर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के (पाँच) पुत्र हैं। ये सभी महारथी हैं। दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना के महान्-महान् योद्धाओं की गणना द्रोणाचार्य के सामने की। उसके बाद वह अपनी सेना के वीरों का परिगणन करने लगा॥4-6॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥7॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥8॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥9॥

हमारी ओर के जो विशेष-विशेष हैं उनको जानियेगा। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! यह मेरी सेना के नायक हैं, दिग्दर्शन के लिए मैं आपको कहता हूँ।।7।।

आप, भीष्म, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र (भूरिश्रवा) हैं। इस के अतिरिक्त और बहुत से शूर हैं जिन्होंने मेरे लिए जान की बाज़ी लगाई है। वे सभी भिन्न-भिन्न शस्त्रों को चलाने वाले और युद्ध करने में कुशल हैं।।8-9।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।10।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।11।।

हमारी सेना, जिसके रक्षक भीष्म हैं, पर्याप्त नहीं है, परन्तु उनकी सेना तो पर्याप्त है जिसकी रक्षा भीम करते हैं।।10।।

(इसलिए) आप सभी लोग, सेना के अपने-अपने नियत स्थलों पर खड़े हुए भीष्म की ही रक्षा कीजिएगा।।11।।

श्लोक 4 से श्लोक 11 तक में दुर्योधन की मनःस्थिति का हमें बहुत स्पष्ट परिचय मिल रहा है। पाण्डवों के सेना-नायक उसने गिने तो बहुत से वीरों के नाम लिए। अपने थोड़े से ही सेना-नायक गिन पाया। तिस पर भी स्पष्ट ही कहा कि हमारी सेना पर्याप्त नहीं, पाण्डवों की सेना पर्याप्त है।

दुर्योधन को अपने पक्ष की दुर्बलता का भान हो रहा था, यह स्पष्ट ही है केवल-मात्र दुराग्रह ही उसे लड़ाई के लिए बाधित कर रहा था।

दुर्योधन ने यह आदेश क्यों दिया कि "आप लोग भीष्म की रक्षा कीजियेगा?" क्या भीष्म अपनी रक्षा स्वयं करने के योग्य नहीं थे? प्रतीत होता है कि दुर्योधन अपनी विजय के लिए भीष्म पर भरोसा नहीं रखते थे। उन्हें चिन्ता थी कि भीष्म को आँच आने पर खेल ही बिगड़ जायगा। इस चिन्ता के कारण वह यह भूल गए कि भीष्म स्वयं बहुत बली हैं, वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं।

दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाते हैं और स्वयं सेना-नायकों पर दृष्टिपात करके योद्धाओं का वर्णन करते हैं। आगे हम देखेंगे कि इसी प्रकार

का भाव अर्जुन में भी जागा था, जो उन्होंने भगवान् से रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित करने के लिए कहा।

ऐसा प्रतीत होता है कि भीष्म पितामह दुर्योधन की मनःस्थिति को समझ रहे थे, अतः उसे प्रोत्साहित करने के लिये उन्होंने शंख बजाया।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥12॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥13॥

कुरुकुल के वृद्ध, प्रतापी पितामह भीष्म ने दुर्योधन में हर्ष पैदा करते हुए (करने के लिए) सिंहनाद करते हुए शंख को बजाया॥12॥

तब शंख और भेरियाँ, पणव, आनक और गोमुख सहसा बज उठे और उनका नाद चारों ओर गूँज उठा॥13॥

शंख आदि भिन्न-भिन्न युद्ध के बाजे हैं। भीष्म का शंख बजाना सिगनल (इशारा) था दूसरों के लिये। उन्होंने भी अपने-अपने रण-वाद्य बजाये।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥14॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥15॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥16॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥17॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥18॥

तब सफेद घोड़ों के जुड़े हुए बड़े रथ पर स्थित श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दो दिव्य शंखों को बजाया – श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक शंख को और अर्जुन ने देवदत्त को। भयंकर कर्म करने वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख को बजाया। कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय को, नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंखों को बजाया। महाधनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और अजेय सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदीपुत्र और वीर अभिमन्यु ने, हे राजन्! अपने-अपने अलग-अलग शंखों को बजाया।।14-18।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।19।।

उस घोर गर्जना ने कौरवों के हृदयों को कंपा दिया, आकाश और पृथ्वी में वह गूँज उठी।।19।।

उस पाण्डवों की शंख-ध्वनि से कौरवों के हृदय काँप उठे, क्योंकि वह पहले से ही अपने को कमज़ोर समझे हुए थे। जो दुर्योधन पर प्रभाव था वह सभी पर ही था।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।20।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

तब जब शस्त्र-प्रहार आरम्भ होने वाला ही था, धनुष को उठाकर, धृतराष्ट्र के पुत्रों को (लड़ाई के लिए) ठीक खड़े हुए देखकर, हे राजन्! अर्जुन श्रीकृष्ण से यह वाक्य बोला – ।।20-21।। (पूर्वार्ध)

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।21।।

हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये।।21।। (अपरार्ध)

लड़ाई आरम्भ होने जा रही थी। अर्जुन ने स्वयं धनुष भी उठा लिया। इतने पर अर्जुन के मन में युद्ध में भाग लेने वाले लोगों को देखने की इच्छा

जागी और उसने भगवान् से कहा कि उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले चलियेगा।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।22।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।23।।

जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामना वालों को अच्छी प्रकार देख लूँ कि, इस युद्धरूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है और दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं उन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा।।22-23।।

रण-क्षेत्र में युद्ध के बाजे बज गये। सभी ओर निनाद होने लगा, मानो लोहे से लोहा बजने को तैयार ही था। इतने में अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण को कहा कि रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलियेगा। वहाँ से दूसरे पक्ष के योद्धाओं को मैं देख पाऊँगा, जिनसे मुझको लड़ना है। वह यह जानने के लिए उत्सुक थे, कि कौन-कौन लोग दुर्योधन की ओर से लड़ने को आ रहे हैं।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।24।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।25।।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रापौत्रान्सखींस्तथा।।26।।

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।27।।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥28॥

(पूर्वार्ध)

संजय बोला, हे धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्र ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसे कहा कि, हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख॥24-25॥

उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। इस प्रकार उन खड़े हुए सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर वह अत्यन्त करुणा से युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला॥26-28॥ (पूर्वार्ध)

भगवान् ने अर्जुन की बात को तत्काल माना। रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया। भीष्म, द्रोण, तथा अन्य बड़े-बड़े राजा लोग सामने ही दिखाई पड़ते थे। अर्जुन ने दृष्टि दौडाई तो क्या देखा? दादा, चाचा, ताऊ, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वसुर, बन्धु दोनों सेनाओं में खड़े हुए थे। इस दृश्य को देखकर अर्जुन काँप गया। मानो उसके पाँव तले की जमीन निकल गई। दया की भावना ने उस पर काबू पा लिया, बहुत दु:खी होकर उसने भगवान् से कहा –

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥28॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥29॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥30॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥31॥

हे कृष्ण! इन बन्धुओं को लड़ने के लिए जुटा हुआ देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीर काँप रहा है और रोंगटे खड़े हो गये हैं। गाण्डीव हाथ से सरका जा रहा है और त्वचा जल रही है। मुझसे तो खड़ा भी नहीं हुआ जाता, मेरा शिर घूम रहा है, मुझे तो अपशकुन दीख रहे हैं। अपने बन्धुओं को युद्ध में मारने में कोई भलाई दीखती ही नहीं।।28-31।।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।32।।

न मुझे विजय की लालसा है, हे कृष्ण! और न राज्य की और न ही सुख-भोग की। क्या लेना है हमें राज्य से, गोविन्द! क्या लेना है भोगों से और जीवन से भी क्या करना है।।32।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।33।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।34।।

जिनके लिए हम राज्य की चाह करते थे, जिनके लिए भोगों और सुखों की लालसा थी वही लोग तो जान व माल की आशा छोड़कर युद्ध के लिये खड़े हैं, जो कि गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं।।33-34।।

अर्जुन ने उस दृश्य को देखा तो पता चला कि उसके प्यारे सभी लोग युद्ध-क्षेत्र में खड़े हैं। कोई तो उसकी ओर से लड़ेंगे और कोई दुर्योधन की ओर से। योद्धा था अर्जुन। जानता था कि युद्ध-क्षेत्र में आना मृत्यु का आह्वान करना है। यदि प्राण बच जायें तो बच जायें, पर सम्भावना तो यही है कि प्राण न रहेंगे। अतः उसने देखा कि वे सभी साफ हो जायेंगे और पीछे रह जाएगा वीरान जिसमें न मित्र होंगे न बन्धु होंगे। फिर यह राज्य किस काम का होगा? बन्धु-बान्धवों से और मित्रों से ही तो भोग भी मीठे लगते हैं। अकेले में प्राप्त सुख का क्या महत्त्व है। श्मशान में तो सभी आनन्द सामग्री

नीरस लगती है। इतने लोगों की स्मृति भी तो व्याकुल किये रहेगी आयु भर।

युद्धोपरान्त की घोर भयावनी स्थिति अर्जुन की आँखों के आगे नाच गई और वह उसे सहन न कर सका। उसका अन्तःस्तल हिल गया। मालूम पड़ा कि वह तो एक धोखे में था। राज्य के पाने के लिए जो कीमत वह देने जा रहा था वह राज्य-सुख को ही बेकार करने जा रही थी। अतः यह महँगा सौदा उसे पसन्द न था। जिनके लिए, जिनको सुखी करने के लिए और जिनके संग से स्वयं सुखी होने के लिए वह राज्य चाहता था वह तो आहुति हुए जा रहे थे उस युद्ध में। युद्ध की और राज्य की लालसा बीत गई। एकदम स्पष्ट शब्दों में श्रीकृष्ण से कह दिया –

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥35॥

इस पृथ्वी के राज्य के लिए तो कहना ही क्या है, भले ही मैं मार डाला जाऊँ, मैं तो त्रिलोकी के राज्य की प्राप्ति के लिए भी इन अपने सम्बन्धियों को न मारूँगा॥35॥

इतना कहने पर अर्जुन की बुद्धि काम करना आरम्भ करती है। अभी तक तो अर्जुन में सहज प्रतिक्रिया थी। तदनुसार शारीरिक चिह्न प्रकट हुए और उसी के फलस्वरूप अर्जुन ने अपना निश्चय प्रकट किया कि 'वह लड़ेगा नहीं, मारेगा नहीं।' अब युक्तियाँ आने लगीं इस प्रक्रिया को पुष्ट करने के लिए।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥36॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥37॥

हमें क्या लाभ होगा दुर्योधनादि को मार कर? इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही तो लगेगा। दुर्योधनादि हमारे बन्धु हैं, उनको मारना नहीं चाहिये। हे माधव! अपने बन्धुओं को मार कर हमें सुख कैसे होगा?॥36-37॥

अर्जुन अपनी युक्तियों द्वारा भगवान् कृष्ण को प्रभावित करना चाह रहे थे, यह स्वाभाविक ही था। अर्जुन जानता था कि श्रीकृष्ण की अनुमति के बिना वह युद्धक्षेत्र से हट भी तो नहीं सकेगा। श्रीकृष्ण सलाहकार थे पाण्डवों के। इसलिये भी तो अर्जुन को उनकी बात माननी पड़ेगी।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥38॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥39॥

यह नहीं जानते तो न जानें, इनकी मति तो लोभ के कारण ढक गई है। कुल-क्षय से तो महान् दोष है। मित्रद्रोह भयंकर पाप है। हम तो यह जानते हैं, हम तो कुलक्षय से होने वाले दोष को समझते हैं। हमें तो इस पाप-कर्म से हट जाना चाहिये॥38-39॥

कितने युक्ति-युक्त और प्रभावित करने वाले ढंग से अर्जुन बोल रहे हैं और आगे इसी बात को अधिक खोलकर समझाने की चेष्टा करते हैं।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥40॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥41॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥42॥

कुल के क्षीण होने से कुल की पुरानी धर्म-मर्यादायें नष्ट हो जाती हैं। धर्म के नष्ट होने पर सारे कुल में अधर्म छा जाता है। मर्यादाओं के लुप्त हो जाने से कुल की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं और उनके व्यभिचार से वर्णसंकर उत्पन्न हो जाता है। वर्णसंकर कुल को और कुल की मर्यादाओं को नष्ट करने वालों को नरक में ले जाता है। पितरों की पिण्ड और जल-क्रिया भी लुप्त हो जाती है, अतः पितर भी नरकगामी होते हैं॥40-42॥

वर्णसंकर अशास्त्रीय संयोग से उत्पन्न हुई सन्तति का सूचक है। मनुस्मृति विभिन्न वर्णों में अनुलोम प्रतिलोम आदि कई प्रकार के विवाह सम्बन्धों को बताती है। वर्णसंकर-सन्तति पिण्डदान का अधिकार नहीं रखती। अतः, उनके द्वारा दिये गऐ पिण्ड और जल पितरों तक नहीं पहुँच सकते। वास्तव में वर्ण गुण-कर्म का सूचक है। किसी कुल में अन्य गुण-कर्म-प्रधान लोगों के जन्म लेने से वर्णसंकरों की उत्पत्ति होती है। जैसे यदि क्षत्रिय कुलों में ब्राह्मण अथवा वैश्य गुण-कर्म-प्रधान जीवात्मा जन्म लें तो क्षात्र धर्म का, क्षात्रमर्यादाओं का लोप होगा और सभी प्रकार से गड़बड़ हो जायगी। इस प्रकार की स्थिति ही वास्तविक वर्णसंकर की स्थिति है। आज हिन्दू समाज की दशा वर्णसंकर की दशा है। यह पुरातन वर्ण-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न निर्मूल हो जाने की सूचक है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥43॥

कुल-घातियों के इन दोषों से, जिनके कारण समाज में वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, शाश्वत कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं॥43॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥44॥

जिन लोगों के कुलधर्म नष्ट हो गये हैं उनका नरक में अनन्तकाल तक निवास होता है, ऐसा हमने सुन रखा है॥44॥

कुल-धर्म, कुल की परम्परागत मर्यादायें जिनके कारण लोग कुलीन होते हैं, मनुष्य के सामने एक व्यावहारिक ऊँचा आदर्श रखती हैं। जातिधर्म मनुष्यत्व से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य को मनुष्य होने के नाते ही एक आचार-व्यवहार के मापदण्ड का पालन करना होता है। उससे च्युत होने पर मनुष्य पशु कोटि को लाभ करता है।

आज न तो कुल धर्मों को ही महत्त्व दिया जाता है और न ही जाति धर्मों को। वास्तव में धर्म की, कर्त्तव्य की भावना ही लुप्त हो चुकी है। उसके परिणामस्वरूप इह लोक जीवन ही नारकीय-सा होता जा रहा है।

इस विचार-परम्परा के कारण अर्जुन जिस परिणाम पर पहुँचा उससे वह घबरा गया और पुकार उठा,

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥45॥

ओह! हमने कितने घोर पाप कर्म करने का निश्चय किया है जो हम राज्य और सुख के लोभ से अपने बन्धुओं को मारने के लिए उद्यत हुए हैं॥45॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥46॥

इस पर उसने निश्चय किया – यदि धृतराष्ट्र के पुत्र रण-क्षेत्र में मुझे मार डालें तो मेरा परम कल्याण होगा। मैं तो शस्त्र न उठाऊँगा और उनका विरोध न करूँगा॥46॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥47॥

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा कि ऐसा कह कर अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में रथ के उपस्थ पर (सीट पर) बाण तथा धनुष को छोड़कर बैठ गया। उसका मन शोक से व्याकुल हो गया॥47॥

विषाद की मूर्ति बन गया था अर्जुन। उस युद्ध की घोरता के विचार ने, घोर परिणामों की आँखों के सामने नाचती हुई तस्वीर ने उसे व्याकुल कर दिया था। उससे खड़ा नहीं रहा गया। धनुष और बाण भी हाथ से सरक गये। वह रथ में बैठ गया।

इस अध्याय का नाम अर्जुन-विषाद-योग है। अर्जुन के विषाद (दुःख) का इसमें वर्णन किया गया है। परन्तु इसे योग क्यों कहा?

जिस योग का वर्णन गीता करती है, अध्यात्मोन्नति के जिस साधन का गीता प्रतिपादन करती है, उसकी नींव तो विषाद ही थी। अर्जुन इस

विषाद के बिना गीता का अधिकारी ही न बन पाता। जैसे पेड़ की जड़ें पेड़ से अलग नहीं होतीं, पेड़ का अंग होने के कारण पेड़ ही होती हैं, ऐसे ही अर्जुन का विषाद भी गीतोक्त योग का आधारभूत होने के कारण योग ही है।

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आता है –

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे .. योगो नाम .. अध्यायः,

और अध्याय समाप्त हो जाता है।

गीता का अर्थ है 'गाई हुई'। गीता नाम से प्रसिद्ध अनेक ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थ का नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। इसका अर्थ है 'श्री भगवान् के मुख से गाई हुई'। इसको उपनिषद् कहा। यह उपनिषदों का सार है, अतः उपनिषद् कहना उचित ही है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

सभी उपनिषदें गइयाँ हैं और दुहने वाले श्रीकृष्ण, गोपालनन्दन हैं। अर्जुन, बुद्धिमान दूध पीने वाला बछड़ा है। गीता रूपी महान् अमृत दूध है। यह श्लोक गीता-ध्यान में आता है और एक महान् सत्य का परिचायक है। यदि गीता की उपनिषदों से तुलना की जावे तो न केवल बहुत सारे गीता के पद उपनिषदों के पदों के आधारभूत ही पाये जावेंगे, अपितु ऐसा प्रतीत होगा कि वह बातें जो उपनिषदों में अस्पष्ट व संकेतमात्र हैं वे भी सुन्दर रीति से गीता में स्पष्ट कर दी गई हैं। 'उपनिषद्' शब्द उस ज्ञान के लिये प्रयोग किया जाता है जो गुरु शिष्य को स्वयं प्रदान करता है। शारीरिक समीपता ऐसे ज्ञान में मुख्य रहती है। अर्जुन ने इस ज्ञान को भगवान के श्रीमुख से ही तो पाया है।

यह गीता ब्रह्मविद्या का ग्रन्थ है। प्रभु की चर्चा – परा-विद्या इसका मुख्य विषय है। अतः 'ब्रह्मविद्यायां' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

तीसरा विशेषण योगशास्त्र है। योगशास्त्र साधना का, प्रभु-प्राप्ति के साधनों का शास्त्र है। ब्रह्म-विद्या दर्शन है। योग उसको क्रियात्मकरूप देकर प्रत्यक्ष रूप से जीवन में अनुभव करने का उपाय है। गीता का ग्रन्थ

व्यावहारिकता को ही मुख्य लेकर चलता है। एक ब्रह्मविद्या के साधक को जीवन में कैसे चलना चाहिये, इसका बहुत स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है।

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन-सम्वाद तो यह है ही। अतः लिखा जाता है – 'श्रीकृष्णअर्जुनसम्वादे' इसके बाद अध्याय के प्रधान प्रतिपाद्य विषय के अनुसार अध्याय का नाम दिया जाता है। सभी अध्याय गीता प्रतिपाद्य योग के अंग होने के कारण योग नाम से कहे जाते हैं। इन कारणों से गीता के प्रत्येक अध्याय की पूर्ति सार्थक समझ में आती है।

॥श्री राम॥

अध्याय 2

दूसरे अध्याय का नाम सांख्ययोग है। इसका विवेचन अध्याय की समाप्ति पर करना उचित होगा।

अर्जुन धनुष-बाण रखकर रथ में बैठ गये। इतना वर्णन हमें प्रथम अध्याय में मिला, आगे का प्रसंग इस अध्याय में चलता है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥1॥

अर्जुन को वैसे आँसुओं से पूर्ण, व्याकुल तथा खिन्न हुए बैठा देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा॥1॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥2॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥3॥

हे अर्जुन, यह पाप संस्कार तुझ में कहाँ से आ गया। ऐसी बात तो आर्यजनों ने कभी की नहीं। न इससे स्वर्ग मिलता है, और न कीर्ति ही। हे पृथापुत्र, इस नपुंसकता को छोड़, यह तो तुझे शोभा नहीं देती। शत्रुओं को तपाने वाले वीर! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता का त्याग कर खड़ा हो जा॥2-3॥

यह शब्द अर्जुन को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने मात्र को थे, मानो भगवान् उसे ललकार रहे हों। बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से बात कही गई है।

इस विषाद को भगवान् ने पाप संस्कार – 'कश्मल' कहा। किसी भी संस्कार को दबाने का ढंग है, उसे छोटा समझना, हेय समझना। जितनी हम किसी बात की प्रशंसा करते हैं उतना ही वह बलवती हो जाती है और जितनी निन्दा करते हैं उतनी वह दुर्बल पड़ जाती है। भगवान् तो उस विषाद को पाप संस्कार समझते ही थे।

पुरखा लोग तो युद्ध को प्रशंस्य समझते ही आये हैं। वेद देवताओं के युद्ध का वर्णन करता है। मनुष्य देवताओं की सहायता करते हैं और देवता मनुष्यों की, ऐसी अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं। युद्ध में दयाभाव, मृत्यु से भय आदि तो वैदिक संस्कृति के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। अतः, भगवान् ने कहा कि यह मनोवृत्ति 'आर्य लोगों के द्वारा अशोभित' या अनार्यजुष्ट है। आर्य श्रेष्ठ को, मान्य को, कहते हैं।

पुरानी मर्यादा है कि जो युद्धक्षेत्र में सन्मुख प्राण देता है वह स्वर्ग को जाता है। यह मर्यादा केवल मात्र भारत की ही नहीं, जापान में भी यह विचित्र विश्वास है कि मर कर व्यक्ति स्वर्ग को पाता है। इसलिये तो झट से लोग छुरा भोंक कर अपना प्राणान्त कर लेते हैं। इसीलिए तो वहाँ आत्मघाती सेवकों का मिलना सुलभ है। वास्तव में योद्धा का त्याग बड़ा त्याग है। वह सभी ममता को छोड़कर प्राणों को हथेली पर रखकर युद्धक्षेत्र में उतरता है। जो कर्त्तव्य के लिए, क्षत्रिय धर्म के पालन के लिये, देश के लिए, जान देता है वह वास्तव में वन्दनीय है। वह यदि इस ऊँचे त्याग से स्वर्गलोक को लाभ करे तो क्या विस्मय? अतः इस दीनता के भाव को भगवान् ने अस्वर्ग्य कहा, अर्थात् इससे स्वर्ग लाभ नहीं हो सकता, स्वर्ग का द्वार बन्द हो जाता है।

और कहा कि यह अकीर्तिकर है। इससे लोग अर्जुन की यह कह कर निन्दा करने लगेंगे कि वह कायर था, मृत्यु के भय से युद्धक्षेत्र से भाग गया। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे स्वयं भगवान् ही करते हैं।

वर्तमान स्थिति को विषम स्थिति कहा है। है भी वह वास्तव में विषम। ऐसी बात सोचनी ही थी तो युद्ध के लिये लोगों को निमन्त्रित करने से पहले सोच लेनी चाहिये थी। इतना समारोह करके स्वयं भाग खड़े होना तो भद्दापन ही है।

तीसरे श्लोक में तो अर्जुन के वीर भाव को उकसाने की चेष्टा की गई है। अर्जुन को पार्थ कहा। पार्थ का अर्थ है पृथा-पुत्र – 'माँ की लाज रखने वाला वीर पुत्र'। दूसरा सम्बोधन है 'परन्तप'। परन्तप का अर्थ है शत्रुओं को तपाने वाला, परेशान करने वाला। तुमने तो कई बार शत्रुओं को पछाड़ा है। इन्हीं कौरवों को विराट नगर में नीचा दिखाया था। अब घबराने की क्या बात है।

अर्जुन की वर्तमान दीनता को (या कहें दयार्द्रता को) 'क्लैब्यं' कहा। क्लीब नपुंसक को कहते हैं। क्लैब्यं का अर्थ है नपुंसकता। वीर पुरुष तो ऐसे नहीं सोचता जैसे अर्जुन सोच रहा था। उसके लिए मरना-मारना खेल है। भगवान् कह रहे हैं, 'क्यों तू नपुंसक हुआ जा रहा है, यह भाव तुझे शोभा नहीं देता। तेरा गत सारा जीवन वीरत्व से पूर्ण है। उससे तेरी वर्तमान भावनायें कदापि मेल नहीं खातीं। वास्तव में और कुछ नहीं, तेरे हृदय की दुर्बलता है जो तू इस प्रकार से सोचता है। सारा युक्ति-जाल इसी की रचना है। यह दुर्बलता वीरों के योग्य नहीं। इसे छोड़ और खड़ा हो जा।'

किसी सामान्य-स्थिति में इतने वीरतापूर्ण शब्द नये रक्त का संचार कर अर्जुन को युद्ध के लिए उद्यत कर देते। भगवान् ने समझ लिया था कि मृत्यु के विशाल भावी दृश्य को देखकर अर्जुन का दिल काँप गया है और इसी से उसका क्षात्र-भाव लुप्त हो गया है। भगवान् ने उसकी युक्तियों को तनिक भी मूल्य नहीं दिया। उनका खण्डन करने की कहीं चेष्टा भी नहीं की। केवलमात्र उसके क्षात्र-भाव को जागृत करने की चेष्टा की।

अर्जुन की कसक गहरी थी, वह तो जीने के लिये, कर्म करने के लिये किसी बौद्धिक तथा भावमय आधार को ढूँढ रहा था। केवल मात्र यह जानना कि क्षात्र-धर्म की माँग है युद्ध, उसके लिये काफी न था। वह आज धर्म का भी पालन करे तो क्यों करे? वह तो कर्म के रहस्य को समझे बिना, कर्म की उपयोगिता को जाने बिना कर्म में प्रवृत्त ही न हो सक रहा था।

और उसकी युक्तियाँ अकाट्य हैं। महाभारत के युद्ध ने भारत के इतिहास को ही पलट डाला। ऊँची विद्याओं का लोप हो गया। धर्म तथा मर्यादाओं का लोप हुआ। युग का ही परिवर्तन हुआ है यह सभी सत्य है। परन्तु क्या इस सब की देनदारी अर्जुन पर थी? इसके पीछे काम कर रही थी काल-पुरुष की गति जो नियामक थी। यह सभी तो यन्त्र बने

उसके हाथों में खेल रहे थे। अपनी भावनाओं के लिये और कदाचित् कर्म के लिये जिम्मेदार थे। व्यक्ति-कर्म के लिए जिम्मेदारी रखता है और उसमें भी उसकी यह भावना ही नियामक होती है कि उसका फल उसके लिये क्या होगा।

अर्जुन इस विशाल दृष्टि को नहीं रखता था पर भगवान् रखते थे। अतः उसकी युक्तियाँ उनके लिये निःसार थीं, बच्चों की क्रीड़ामात्र थीं। इसीलिये भगवान् ने उनकी उपेक्षा की।

भगवान् की भर्त्सना तथा प्रोत्साहन को सुनकर लाचार हुए-से अर्जुन भीतर की गतियों को प्रकट करने लगे।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥4॥

इस युद्ध में मुझे भीष्म तथा द्रोणाचार्य को तीरों से बींधना होगा वह दोनों तो पूजा के योग्य हैं। इतना घोर कृत्य मुझसे कैसे सम्भव होगा? मैं तो आज तक इन दोनों का आदर करता आया हूँ, आज मैं इन्हें मारने के लिए तीर कैसे चला पाऊँगा?॥4॥

यह कार्य अर्जुन को बहुत नीच दीखने लगा। पहिले अध्याय के अन्त में तो इन्होंने पितरों की दुर्गति की कल्पना की थी। अब उन्हें अपने से बड़े, आदरणीय लोगों की हत्या की घोरता का ध्यान आया है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥5॥

इन गुरुजनों को मारने की अपेक्षा तो यदि मुझे भिक्षान्न पर भी जीवन निर्वाह करना पड़े तो मैं उसे अच्छा समझूँगा। उन गुरुजनों को मार कर, जो मेरे लिये आदरणीय हैं और जो आज सांसारिक लाभ (अर्थ) की कामना के

वश में हैं, मैं जो भोग भोगूँगा वे उनके लहू से लथपथ होंगे। उनको मारने से तो भिक्षान्न पर जीवन निर्वाह करना अच्छा होगा।।5।।

श्लोक नं. 5 में 'अर्थ व काम' सांसारिक लाभ के लिये प्रयुक्त हुआ है। आज द्रोणाचार्य तथा भीष्म युद्धक्षेत्र में हैं तो सांसारिक लाभ को आगे रखे हुए हैं। उनको सूक्ष्म बातें आज मूल्यवान दिखाई नहीं दे रहीं, जैसी अर्जुन को दीखती हैं। वे लोग अर्जुन की भाँति अपना अस्तित्व मिटाने के लिये भी तो उद्यत न थे।

क्षत्रिय के लिये भिक्षान्न पर जीवन व्यतीत करना महानिन्द्य है, परन्तु अर्जुन आज इसके लिए भी तैयार है। वह अपने पूज्यपात्र लोगों को मारने के लिये तैयार नहीं है। यदि दोनों में से इसे एक चुनना हो तो वह तो भिक्षान्न को ही श्रेयस्कर जानेगा। वह भोग जो इनको मार कर प्राप्त होंगे वह रक्त से सने हुए होंगे। उनके साथ वह घृण्य स्मृतियाँ लगी होंगी और वह आनन्द का कारण न होकर दुःख का कारण होंगे।

वास्तव में यदि सुख की प्राप्ति की दृष्टि से देखा जावे तो इस प्रकार के युद्ध के परिणामस्वरूप पाया हुआ साम्राज्य वास्तविक सुख-शान्ति का कारण हो ही नहीं सकता। आज भी घरेलू झगड़ों से सम्बन्धित मुकदमेबाजियों के परिणामस्वरूप पाई हुई सम्पत्ति शान्ति को देने वाली नहीं होती है। आखिर मनुष्य का जीवन – उसका सुख केवलमात्र वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता। वह तो प्रीति पर, आदान-प्रदान पर अधिक आश्रित है, हमारी भीतर की प्रतिक्रियाओं पर अधिक आश्रित है। जो प्रीति तथा मान के भाजन रहे हैं उन्हें मारने के लिये तैयार हैं तो यह सौदा महंगा ही दिखाई पड़ता है। स्थिति अलौकिक न थी। कोई भी सम्वेदनशील मनुष्य ऐसी परिस्थिति में ठिठक जायगा। उसे यही दीखेगा कि यह जो सौदा करने जा रहा है वह लाभदायक नहीं, घाटे वाला है।

अर्जुन इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।6।।

और हम यह नहीं जानते, कौन सी अधिक (लाभकारी) बात होगी कि हम जीतें अथवा हम न जीतें। जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते वही धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े है (युद्ध के लिये)।।6।।

केवलमात्र द्रोणाचार्य तथा भीष्मपितामह ही नहीं धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे भाई हैं। हम उनको मारना नहीं चाहते हैं। उन्हें मार कर हम स्वयं जीना भी नहीं चाहते हैं। परन्तु सामने सेना में वह युद्ध के लिये तैयार खड़े हैं। यदि हमारी विजय होती है तो यह उनके मारे जाने से ही सम्भव होगी। हमारी विजय उनकी मृत्यु होगी, पर हम यह भी नहीं चाहते। उनकी विजय हमारी मृत्यु होगी, यह भी हमें वांछित नहीं। दोनों बातें बराबर दीखती हैं। अतः, क्या कामना करें – विजय की अथवा पराजय की, आज यह समझ में नहीं आ रहा है।

मनुष्य जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ अनेक बार आ जाती हैं जब मनुष्य के सामने जो रास्ते दीखते हैं वह सभी दोषयुक्त दिखाई पड़ते हैं। न तो उनमें सुख ही दिखाई पड़ता है और न पुण्य ही। मनुष्य को उन्हीं में से एक मार्ग चुनना पड़ता है; यह उसके जीवन की लाचारी होती है। ऐसा लगता है, मानो परिस्थितियाँ ही उसे पाप की ओर प्रवृत्त करने जा रही हैं। सामान्य व्यक्ति सिर नीचा कर लेता है, सोचना छोड़ देता है। प्रायः सांसारिक स्थूल भोगों की प्रेरणा उसके लिये निर्णायक होती है। स्थूल दृष्टि से वह स्वार्थ का अनुसरण करता है। कोमल भावनायें और ऊँचे मानुषिक मूल्य-सौहार्द आदि, उस की आँखों से ओझल हो जाते हैं। अर्जुन इस योग्य न था। उसकी आत्मा बहुत ऊँची थी। इस कर्त्तव्यद्वन्द्व का हल वह उस प्रकार से कर ही न सकता था। वह तो स्थूल लाभ का परित्याग कर सकता था मानवीय भावनाओं के लिये, और भगवान् उसे ऐसा करने से रोक रहे थे।

ऐसी स्थिति में अर्जुन लाचार था। उसकी सारी सत्ता प्रतिक्रिया कर रही थी युद्ध के प्रतिकूल। गुरुओं पर, आचार्यों पर, अपने भाई-बन्धुओं पर हाथ चलाना संसार में तुच्छ नश्वर भोगों के लिये – यह घृणा की बात है! दिल गवाही नहीं देता था। यह महंगा सौदा है, उनके बिना यह भोग भोग्य ही न रहेंगे। श्मशान-सुख हो जायेंगे – ऐसा बुद्धि कहती थी। उस पर श्रीकृष्ण का आग्रह, उनकी भर्त्सना और उनके व्यक्तित्व का प्रभाव उसे दूसरी ओर ढकेलना चाहता था। दीन हो गया अर्जुन, लाचार हो गया। कहने लगा –

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥7॥

दया की भावना से मेरा क्षात्र स्वभाव नष्ट हो गया है। क्या धर्म है, क्या अधर्म है – इस विषय में मेरी समझ काम नहीं करती है। जो भी (काम) अधिक भलाई वाला हो (लड़ना अथवा न लड़ना, या और कुछ) वह निश्चित रूप से मुझे बताइयेगा। मैं आपके द्वारा शासन के योग्य हूँ। मुझे आज्ञा करियेगा। मैं आपकी शरण आया हूँ।।7।।

अर्जुन ने स्वयं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उसे कोई रास्ता ही न मिला। एक ओर खाई और एक ओर कुआँ, जाये तो किधर? युद्ध छोड़ता है तो धर्म से च्युत होता है, युद्ध करता है तो पाप से युक्त होता है। इस खींचातानी में वह परेशान हो गया। श्रीकृष्ण को वह आज तक सखा करके मानता आ रहा था। परन्तु उनको वह आदर भी देता था और उनकी सलाह भी लिया करता था। इस समय उसे वही दिखाई दिये, सलाह लेने के हेतु। परन्तु इस प्रेरणा को ऊपर की सी बात समझ कर अर्जुन उन्हीं से प्रार्थना करने लगा। अपनी आतुरता प्रकट की, अपनी लाचारी प्रकट की, अपनी बुद्धि की असमर्थता प्रकट की और शरण हो गया। मुझे आज्ञा करो। मैं सोच नहीं सकता हूँ स्वयं। आज्ञा चाहता हूँ, परन्तु सोच-समझकर जिसमें मेरा हित हो, बतलाइयेगा, मैं उसे करूँगा। मुझे अपना शिष्य समझियेगा।

शिष्य का अर्थ है 'जो शासन किये जाने योग्य हो।' जिसे आदेश दिया जा सके कि तुम यह करो – वह शिष्य है। आज्ञाकारिता उसका प्रधान लक्षण है।

शरणागति ही रहस्य है आगामी उपदेश का। भगवान् ने अब तक अर्जुन को ज्ञानोपदेश नहीं दिया। सामान्य बात की, और उसे युद्ध के लिये उकसाने की चेष्टा की। अर्जुन में भी ग्रहणशीलता न थी। अब अर्जुन अपनी शक्ति को भी बरत कर हार गये, तभी तो सहायता मिली, भगवान् की ओर से पथ-प्रदर्शन सम्भव हुआ।

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो
तनिक सर्‌यो नहिं काम।

गीता जिस शरणागति के पथ का उपदेश करती है उसके ठीक अनुकूल ही अर्जुन की स्थिति हो जानी आवश्यक थी। तभी तो वह उपदेश उसे प्राप्त हो सकता था। अर्जुन के लिये केवल यही रास्ता था। अर्जुन इसी का पात्र था। यही गीता की अपनी देन है। यद्यपि गीता दूसरे मार्गों का खण्डन नहीं करती, समन्वय करती है, परन्तु अपनी ओर से विशेष प्रतिपादन इसी का करती है। अर्जुन इसी शरणागति से ही शक्ति पाते हैं। अन्त में 18वें अध्याय में सभी कुछ सुनकर अर्जुन ने कहा –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥18/73॥

मोह नष्ट हो गया। स्मृति प्राप्त हो गई, हे अच्युत! तेरे प्रसाद से मैं सन्देह-रहित व स्थिर हो गया हूँ। तेरे वचन का मैं पालन करूँगा।

7वें श्लोक की प्रतिज्ञा के साथ कैसे यह मेल खाता है। मानो गीता के छोरों को इन श्लोकों ने मिला कर एक कर दिया हो। गीता की संगति करते हुए हम इन्हें भूल नहीं सकते हैं।

शरणागति के वास्तविक रूप का दिग्दर्शन भी इसी से हो जाता है। आर्तभाव शरणागति का आधार है, यह सच्चा होना चाहिये। अपना सहारा समाप्त होने पर ही शरणागति में सच्चाई आती है और प्रभु शरणागत के लिये क्या नहीं करते? उसे शीघ्र ही निश्चिन्त कर देते हैं।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥8॥

मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि यह शोक जो मेरी इन्द्रियों को सुखाये चला जा रहा है, वह इस भूमि पर शत्रु रहित, (अकण्टक) सम्पन्न राज्य को प्राप्त करके अथवा देवताओं के आधिपत्य को प्राप्त करके भी दूर हो पायेगा॥8॥

अर्जुन अपने शोक की गहराई को प्रकट करना चाह रहे हैं। संसार के सुख-भोग इस लगी चोट को न भुला सकेंगे। इस युद्ध की सम्भावना मात्र ने उसके भीतर गहरे विषाद को उत्पन्न कर दिया था, जो किसी भी प्रकार से भुलाया नहीं जा सकता था। हृदय पर लगी चोट को संसार के सुख-भोग में व्यक्ति भूल जाता है, परन्तु जब चोट अति गहरी होती है तो वह किसी भी तरह से भुलाई नहीं जा सकती।

अर्जुन पर वास्तव में बहुत गहरा असर हुआ था। उसके अंग शिथिल हो गये थे। दिल बैठने लगा था। उसकी खुशी समाप्त हो गई थी। उत्साह जाता रहा था। अर्जुन राज्य को पाकर, ऐसा राज्य जिसमें कोई विरोध करने वाला नहीं और जो सर्वथा सम्पन्न है – उसे भूल जाने की आशा करे तो यह भी उसे सम्भव न दिखाई देता था। इतना ही नहीं, यदि उसे देवताओं के अधिपति इन्द्र की पदवी भी मिले तो भी उसे दुःख न भूलेगा, वह ऐसा सोचता था।

कठोपनिषद् में यम-नचिकेता का उपाख्यान है। यम से नचिकेता ने जो तीन वर पाये थे, उनमें से तीसरे वर में उसने आत्मज्ञान को माँगा। नचिकेता को यम ने तरह-तरह के प्रलोभन दिये। अनन्त वैभव, सुखभोग, लम्बी आयु और पुत्र, पौत्र सभी ले लेने को कहा और उस ज्ञान को न माँगने के लिये प्रेरित किया। परन्तु, नचिकेता प्रलोभन में नहीं आया। अन्त में यम ने उसकी दृढ़ता का आदर किया और सहर्ष ब्रह्मविद्या का उपदेश किया। जब तक हमारे भीतर की पुकार, भले ही वह गहरे विषाद के रूप में जगी हो, अथवा बुद्धिगत जिज्ञासा से उदित हुई हो, इतनी गहरी न हो कि संसार की कोई भी प्राप्ति उसे शान्त न कर सके, तब तक हम वास्तव में प्रभु-पथ के पात्र नहीं बनते हैं। जब किसी भी कारण से हमें ऐसी बेचैनी हो जिसे संसार की कोई वस्तु अथवा स्थिति शान्त न कर सके, तभी हम इस अतिमानव पद के लिये प्रवेश-पात्र होते हैं।

वह मनुष्य भाग्यवान् होते हैं जिन्हें इस प्रकार की चोट लगी होती है। मनुष्य सामान्य चोटों को भूल जाता है। वह पाठ पढ़ता ही नहीं। जैसा सोया और फिर जग कर सो जाता है, वैसा वह चेतता हुआ भी नहीं चेतता। इतनी गहरी प्रतीति विकास की एक आवश्यक अवस्था पा लेने पर ही सम्भव होती है और ऐसी प्रतीति के उपरान्त व्यक्ति फिर दुनिया के भोगों में पहिले

की भाँति चेष्टा करने पर भी अपने को खो नहीं सकता। अब उसके लिए एक ही रास्ता है। आगे बढ़े और बढ़ता चला जाए। सांसारिक सुखों की मिठास समाप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था होने पर भी जो हौसला करके आगे नहीं बढ़ते उनके जीवन में निष्ठुरता होती है, नीरसता होती है और सूनापन। जीवन उद्देश्यहीन प्रतीत होने लगता है, क्योंकि पहिले वाले उद्देश्य पागलपन दीखते है, नि:सार दीखते हैं और नई कोई पकड़ पैदा नहीं हुई होती।

अर्जुन को भगवान् ने प्रलोभित करने की चेष्टा की थी। उसे भड़काया भी था। उसकी भर्त्सना भी की थी। परन्तु रहा वह सभी बेकार। इसका अर्थ केवल-मात्र यही था कि अर्जुन अध्यात्म-योग के लिए उचित पात्र था। सांसारिक वस्तुओं की कीमत उसके मन से उतर चुकी थी। वह प्रारम्भिक परीक्षा में पास हो गया था। इसके साथ ही साथ वह ग्रहणशीलता से सम्पन्न था। श्रीकृष्ण पर उसे खूब श्रद्धा थी, वह उनका भरोसा करता था और उनके बताये पथ पर चलने के लिए तैयार था। हम देखते हैं कि जब तक यह सभी प्रकट नहीं हो जाता तब तक भगवान् आत्मा की चर्चा बिल्कुल नहीं करते हैं, केवल-मात्र दुनियादारी की बातें करते हैं। यह उनके बस की बात ही नहीं। बोधवान् का मुख ही नहीं खुल सकता अपात्र के आगे। पात्र का पात्रत्व मूक प्रेरणा होती है बोलने के लिए।

जब हम पात्रत्व के लक्षणों को जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, समझ लेते हैं, तो यह समुचित ही प्रतीत होता है कि पहिले अध्याय का नाम अर्जुन विषाद-योग रक्खा गया है। विषाद एक योग है, यह योग की आधार-भूमिका है। पात्रत्व का अचूक लक्षण है। इसका प्रचलित नाम और रूप है वैराग्य।

आसक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है – वैराग्य। वह उत्पन्न होता है चोट लगने से – विषाद से। जो आये और चला जाये, वह श्मशान-वैराग्य है। परन्तु जब वह स्थिर होता है तभी उसमें रचनात्मक सम्भावना उत्पन्न होती है। जब वैराग्य केवल-मात्र नकारात्मक होता है, अथवा नकार-प्रधान होता है और प्रभु के चरणों में राग को पैदा नहीं करता तो वह बेकार है। वही विषाद और वैराग्य धन्य है जो प्रभु चरणों में स्थिर राग को पैदा कर दे और व्यक्ति को हमेशा विषाद की सम्भावना से परे कर दे। यह निर्भर

करता है बहुत सीमा तक तत्कालीन प्रभाव पर। यह श्रीकृष्ण का बोध तथा प्रभाव था जो अर्जुन के विषाद की खाद में भक्ति के, ज्ञान के और कर्म के अंकुर पैदा कर सका। अन्यथा, अर्जुन के हृदय में एक शून्यता ही रह जाती, उसके जीवन में नीरसता होती और यह न होता तो चिरकाल के लिए अन्तर-संघर्ष तो होता ही।

जिनके हृदय में प्रभु चरणों के प्रति अंकुर उग गये हैं, वे तो रास्ते पर हैं। उन्हें ऐसी चोट की आवश्यकता नहीं। प्रभु कृपा उनकी बुद्धि को शुद्ध करती चली जायगी।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥9॥

गुडाकेश – (अर्जुन) श्रीकृष्ण को इस प्रकार से कह कर (और) 'नहीं लड़ूंगा' यह कहकर चुप हो गये॥9॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥10॥

हे भारत! हँसते हुए से श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच में विषाद करते हुए उससे (अर्जुन को) यह वचन बोले॥10॥

अर्जुन को गीता में कई नामों से पुकारा गया है। यह उसके विशेषण हैं। गुडाकेश का अर्थ है निद्रा का स्वामी – निद्राजित्। इसी प्रकार से श्रीकृष्ण को भी अनेक नामों से पुकारा गया है। हृषीकेश – इन्द्रियों का स्वामी – इन्द्रियजित्, गोविन्द – गैया को पालने वाले, अथवा, इन्द्रियाँ जिसको प्राप्त होती हैं – इत्यादि। यह संस्कृत साहित्य की प्रचलित पद्धति है कि व्यक्ति के विशेषणों को सम्बोधन के रूप में और फिर नाम के रूप में बरता जाता है।

अर्जुन ने अपना निश्चय बता दिया 'मुझ से लड़ा न जायगा – मैं न लड़ूँगा।'

भगवान् घबराये नहीं। वह तो स्वामी थे। इस खेल को देख कर हँस-से

दिए – मुस्करा दिए और अपना उपदेश आरम्भ किया। यहाँ से गीता के योग का प्रारम्भ होता है।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥11॥

न शोक करने योग्यों के लिए तू शोक करता है और पण्डितों की सी बातें करता है। मरे हुओं और जीवितों के लिए पण्डित लोग शोक नहीं किया करते हैं॥11॥

श्रीकृष्ण भगवान् का वास्तविक उपदेश यहीं से आरम्भ होता है। अर्जुन की वर्तमान स्थिति का भगवान् आधे श्लोक में ही वर्णन कर देते हैं। 'अशोच्य' न शोक करने योग्य के लिए आता है। अर्जुन शोक कर रहा था, अपने बन्धु-बान्धवों के लिए, जो युद्ध में प्राण दे देंगे। वास्तव में उस क्षत्रिय के लिए शोक करने की क्या आवश्यकता, जो क्षात्र-धर्म का पालन करता हुआ रणक्षेत्र में अपना शरीर छोड़ता है? उसने तो अपने धर्म के पालन में शरीर को लगाया है, वह मर कर स्वर्ग-लोक को जायगा। उसकी मृत्यु दुःख का विषय नहीं, वह तो उसके लिए हर्ष का विषय है। शरीर तो हमेशा रहने वाला नहीं, यदि उसके द्वारा व्यक्ति अपने धर्म का पालन कर सकता है तो वह शरीर भी सार्थक होता है जीने में और मृत्यु में भी। व्यक्ति का मोह मात्र ही मृत्यु से उसे कम्पायमान कर देता है और वह उसे एक भयावह दुर्घटना के रूप में देखने लगता है।

श्री रामचरितमानस में भी प्रसंग आता है। राजा दशरथ के देहावसान पर गुरु वसिष्ठ उपदेश देते हैं –

सोचिअ बिप्र जो बेदबिहीना। तजि निज धरम बिषय-लयलीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान-समाना॥

इत्यादि।

मरना तो शोक करने योग्य विषय नहीं। वह अवश्यम्भावी ही है और वह व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक भी है। विचारणीय तो यह है कि प्राण दिए गए तो कैसे? किस लिए? धर्म के पालन के लिए प्राण देना तो

सब ही के लिए हर्ष का विषय है, क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति विकास के पथ पर तीव्रता से अग्रसर हो पाता है।

स्वधर्म की भावना समूची गीता में अनुस्यूत है। वर्ण-व्यवस्था का वह आधार है। लोकसंग्रह भी इसी आधार पर ही होता है। विशाल दृष्टि से विचार करने पर उन्नति का अनिवार्य साधन भी तो यही है। जब व्यक्ति की संकुचित दृष्टि अपने जीवन में किसी एक धर्म (दया इत्यादि) को घटाने लगती है तो वह मोह में पड़ जाता है और पथ-भ्रष्ट होता है और सामाजिक व्यवस्था में गड़बड़ उत्पन्न हो जाने से उसी दया से धर्म को आघात पहुँचाता है। यह स्वधर्म की भावना ही मृत्यु को अशोच्य बना देती है। व्यक्ति को धर्मवीर बनना है। सुख तथा दु:ख भी गण्य नहीं रहते स्वधर्म के आगे। इसी दृष्टि से देखा जाय तो ऊँचा साधन है, ऊँचा तप है। गीता की देन है स्वधर्म की प्रतिष्ठा को पुन: स्थापित कर देना।

दूसरी बात भगवान् ने अर्जुन से कही, 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे – ज्ञान की सी बातें करता है।' ज्ञान की बातें नहीं, ज्ञान की सी, अर्थात् जो दीखती बड़ी युक्तियुक्त और बुद्धि-संगत हैं, परन्तु वास्तव में निराधार हैं। 'स्त्रियों में व्यभिचार होना, मर्यादाओं का लुप्त होना, वर्णसंकर और पिण्डदानादि का अभाव – यह एक सुन्दर दीखने वाली युक्ति परम्परा है। परन्तु तुम्हारे लिए यह बातें सोचने की नहीं है। तुम्हें तो अपने क्षात्र-धर्म का पालन करना चाहिए। तुम्हें युद्ध के लिए ललकारा गया है और तुम्हारे धर्म की माँग है कि युद्ध-क्षेत्र में उतर आओ, फिर जो हो, सो हो। धर्म के सम्मुख उन सब बातों की कोई गणना नहीं। धर्म से च्युत होकर तुम अपने को हानि पहुँचाओगे और समाज की व्यवस्था को भी उच्छिन्न कर दोगे। जो कुछ तुमने कहा वह अपनी जगह पर सत्य हो सकता है, परन्तु उसको अनुचित महत्त्व देना महान् गलती है।'

दूसरे श्लोकार्ध में हेतु बताते हैं। पण्डित वह है जो वास्तव में बुद्धिमान् है। जो वस्तुओं को विशाल दृष्टि से देखकर उनका उचित मूल्य लगा सकता है। जो किसी एक बात की अथवा अनेकों बातों की पेचीदगियों को तो समझता है, परन्तु उनका ठीक महत्त्व नहीं जानता, दूसरी वस्तुओं के साथ जो उनका मिलान नहीं कर सकता, वह बहुत जानने वाला होने पर भी मूर्ख ही है। बहुत विषयों को जानने मात्र से पण्डित नहीं होता, वास्तविक

पाण्डित्य तो वस्तुओं को ठीक समझने की योग्यता है। यह केवल पुस्तकों को पढ़ने से प्राप्त नहीं होती। बुद्धि का परिमार्जन जो भीतर तथा बाहर के अनुभवों से होता है इसके लिए परमावश्यक है। गीता में पण्डित को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और समदृष्टि वाले को पण्डित कहा है (अध्याय 5, श्लोक 18)। यह बोध की पराकाष्ठा है। यह दृष्टि की विशालता की परमसीमा है। यही वास्तविक दृष्टि है। यही ज्ञान है, वस्तुतः।

ज्ञानी लोग शोक नहीं किया करते, जो मर गये हैं उनके लिए और जो जीवित हैं उनके लिए भी। मृत्यु तथा जीवन संसार की अवश्यम्भाविनी घटनाएँ हैं। शोक करने से क्या होगा? मृत्यु से छुट्टी तो मिल न जायगी। शरीरपात तो होगा ही, भले ही कोई कितनी चिन्ता करे, शोक करे। संसार-चक्र को चलाये रखने के लिए यह दोनों ही आवश्यक हैं और दोनों आपस में अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हैं। जीवन मृत्यु पर आश्रित है और मृत्यु जीवन पर। जीवन होगा तो मृत्यु भी होगी ही।

और भी, मरना केवल-मात्र इस पार्थिव कलेवर को छोड़ना है। मरना सत्ता का अभाव नहीं। जीवन स्थूल लोक में शरीर धारण करना मात्र है। जो रहस्य को ठीक-ठीक जान गया है उसको शोक कहाँ? उसके लिए मरना-जीना एक खेल-सा रह जाता है, आँख मिचौनी का सा।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥12॥

ऐसा नहीं है कि कभी भी मैं न था, अथवा तुम न थे, अथवा यह राजा लोग न थे और ऐसा भी नहीं कि हम फिर कभी न होंगे। हम सभी इसके परे हैं।।।12।।

मृत्यु तथा जीवन के प्रसंग का विश्लेषण इस श्लोक से आरम्भ होता है। आत्मा की अमरता का क्या अभिप्राय है, यह समझाने की चेष्टा हो रही है। अर्जुन की तो स्थूल दृष्टि थी। वह प्रायः वर्तमान तक ही सीमित थी, कुछ थोड़ा भूतकाल और भविष्य को जानती थी। वह शरीर को ही सत्ता समझ कर, उसकी मृत्यु को अपने पर आरोपित करके और यह समझ कर कि वे सब मर जायेंगे, दुःखी हो रहा था। इस शरीर में प्रकट होने से पहले शरीर (आत्मा) की सत्ता के बारे में वह कुछ न जानता था और न ही शरीर छूटने

के उपरान्त के बारे में! भगवान् उसे खोलकर कहते हैं, 'मैं आज ही इस शरीर के पैदा होने से पैदा हो गया हूँ, ऐसी बात नहीं है। कभी भी ऐसा समय नहीं था जब मेरी सत्ता न रही हो। मैं हमेशा से हूँ। मैं पैदा हुआ नहीं हूँ – अजन्मा हूँ और यह कोई मेरी ही विशेषता नहीं है, तुम भी अजन्मा हो। यह शरीर पैदा होता है तुम पैदा नहीं होते। तुम शरीर के पैदा होने से पहिले भी थे, तुम सदा से हो और इसी प्रकार से यह राजा लोग जिनके बारे में तुम शोक करते हो, वे सदा से हैं, इन शरीरों के साथ ही पैदा नहीं हुए!'

'भविष्य की ओर देखें तो भी कोई ऐसा समय न आयेगा जब मैं न रहूँगा। शरीर तो नष्ट हो जायगा, परन्तु इसमें बोलने, काम करने वाली सत्ता नष्ट न होगी। वह कभी भी नष्ट न होगी इसी प्रकार से तुम भी कभी नष्ट न हो सकोगे और ऐसे ही इन राजाओं का भी कभी अभाव न होगा। वे हमेशा रहेंगे ही। नष्ट होता है शरीर ही, आत्मा नष्ट नहीं होती। यह तुम्हारा भ्रम है जो सोचते हो कि यह नष्ट हो जायेंगे!'

शरीर के भीतर चेतना रूप जो सत्ता है वही आत्मा है। वह शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होती। वह अजन्मा है और अनन्त है। वह शाश्वत सत्ता है। वह अजर-अमर है। शरीर मरणधर्मा है। दृष्टान्त देकर समझाते हैं –

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥13॥

जैसे इस (स्थूल) शरीर में देही (देह धारण करने वाले) के बचपन, जवानी और बुढ़ापा होते हैं, उसी प्रकार से दूसरी देह की प्राप्ति भी होती है।

अतः धीर मनुष्य उस विषय में मोह में नहीं पड़ता॥13॥

बालपन, यौवन तथा बुढ़ापा – यह तीन अवस्थायें देहधारी पर बीत जाती हैं। बचपन से यौवन में जाने में देहधारी तो वही रहता है, उसकी स्मृति की तार टूटती नहीं है। वही जो बच्चा था युवा हो जाता है। इसी प्रकार से जो युवा था वह बूढ़ा हो जाता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहिली अवस्था वाले की नाश की कल्पना भी नहीं की जाती है। ठीक इसी प्रकार से इन तीन अवस्थाओं के साथ में चौथी अवस्था मृत्यु है। उस मृत्यु में नवीन देह की प्राप्ति होती है। व्यक्ति स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में निवास करने लगता है।

देहान्तर प्राप्ति के बारे में उपनिषदों की धारणा को समझ लेना आवश्यक होगा। छान्दोग्य उपनिषद् में जलूका का दृष्टान्त आता है मृत्यु के बारे में। जलूका (जोंक) अपने अगले पैर कहीं जमा लेती है तभी पिछले पैर उठाती है। इसी प्रकार से देही नया शरीर पाकर ही पुराने शरीर को छोड़ता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि तत्काल स्थूल जगत् में जन्म लेता है। वास्तव में मृत्यु के द्वारा हमारा स्थूल शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और उसके उपरान्त प्रायः जल्दी ही प्राणमयकोश भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। व्यक्ति सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म लोक में रहता है। सूक्ष्म शरीर में मृत्यु के उपरान्त प्रायः विशेष परिवर्तन, व्यक्ति के संस्कारानुसार हो जाता है, इसलिये वह नया करके कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिये मृत्यु को देहान्तर-प्राप्ति कहा है गीता ने। जैसे देहधारी पर तीन अवस्थायें बीतती हैं और वह उन अवस्थाओं में बना रहता है, इसी प्रकार से एक और अवस्था भी बीतती है, जिसमें वह नवीन देह को प्राप्त करता है। है यह भी एक अवस्था ही, यद्यपि वह पहिली अवस्था से नितान्त भिन्न प्रतीत होती है। उदाहरण लीजिये। एक व्यक्ति ने एक मकान बनाया। वह उसमें रहने लगा। धीरे-धीरे वह मकान पुराना हुआ और टूट गया। उसने उस मकान को छोड़ दिया और एक दूसरे मकान में रहना आरम्भ कर दिया। जैसे वह पहिले पुराने मकान में था वैसे ही वह अब नये में आ गया। उसका निवास-स्थान तो बदला है पर वह है तो पहिले की तरह ही। मकान के नष्ट होने के साथ वह नष्ट नहीं हुआ।

अवस्थाओं और जिसकी वह अवस्थायें हैं इनमें विवेक की आवश्यकता है। परिवर्तनशीलता अवस्थाओं में है, उसमें नहीं जिसकी वह अवस्थायें हैं। इस विवेक के न होने के कारण ही हम मनुष्य पर मृत्यु को आरोपित करते हैं और दुःखी होते हैं और दुःखी करते हैं।

मृत्यु का संस्कार – यह अज्ञान – मानव समाज के मानो रक्त में ही समा गया है। मृत्यु को विनाश समझा जाता है, इसीलिये इसे इतना महत्त्व दिया जाता है और इसका भय इतना आक्रान्त किये रहता है। आवश्यकता है गीता के इस मृत्यु विज्ञान को समझ लेने की और अपने भीतर बैठा लेने की, जिससे हमारा दृष्टिकोण ठीक हो जाय और व्यक्ति मृत्यु के भय से हमेशा के लिये निवृत्त हो जाय।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥14॥

मात्राओं के स्पर्श, हे अर्जुन, सर्दी, गर्मी, सुख और दुःख को देने वाले हैं। यह (मात्राओं के स्पर्श) आने और जाने वाले (और) अनित्य हैं। हे भारत! इनको सहन करो॥14॥

जो मापी जाय उसे मात्रा कहते हैं। अव्यक्त-प्रकृति माप तोल से परे है परन्तु व्यक्त-प्रकृति तो सारी की सारी ही माप से बनी है। सीमा ही इसका वास्तविक स्वरूप है। हमारी सभी प्रतीतियाँ सीमाओं पर आश्रित हैं जो इन्द्रियों के द्वारा मापी जाने से ही सम्भव हैं। वह जो इन्द्रियों से मापा जा सकता है, जो मन अथवा बुद्धि से मापा जा सकता है, वह सभी मात्रा है प्रकृति की। अतः 'मात्रास्पर्श' का अर्थ है प्रकृति के सम्पर्क, प्रकृति के संयोग, प्रकृति के प्रभाव।

व्यक्ति शरीर धारण करता है। उस शरीर से इन्द्रियों आदि के द्वारा बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित करता है। शरीर अपनी परिस्थिति पर प्रभाव डालता है और परिस्थिति शरीर को प्रभावित करती है। उसी से सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख की प्रतीति होती है। सुख-दुःख की प्रतीति केवल मात्र इन्द्रियाश्रित संयोग वियोग से नहीं होती। मन और बुद्धि भी सुख दुःख की प्रतीति में प्रभाव डालते हैं। अतः केवल मात्र स्थूल प्रकृति का ही प्रभाव सुख-दुःखादि का पैदा करने वाला नहीं। सूक्ष्म प्रकृति, जो अदृश्य है परन्तु मन आदि से श्रेय है, तथा विचारों और भावों का जगत् भी उन्हें पैदा करता है।

प्रसंग था – माना आत्मा अमर है, इन सभी बन्धुओं का शरीर मात्र ही छूटेगा – अवस्थान्तर हो जायगा, परन्तु इनको दुःख की प्रतीति होगी, शारीरिक कष्ट होगा। क्या हम उससे बचा नहीं सकते हैं अपने को और दूसरों को?

भगवान् मानो इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हों इस श्लोक में। व्यक्ति स्थूल शरीर में रहेगा तो प्रकृति से सम्बन्ध होगा ही और उससे सर्दी-गर्मी सुख-दुःख होंगे ही। हाँ यह अवश्य है कि यह सम्बन्ध हमेशा बदलता रहता है। प्रकृति के गुणों में स्थिरता नहीं, अतः यह मात्रास्पर्श बदलते हैं।

बाह्य-स्थिति बदलती रहती है और हमारे उससे सम्पर्क करने के साधन इन्द्रियादि भी क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। फलत: सर्दी-गर्मी आदि प्रतीतियाँ भी बदलती रहती हैं। सुखी व्यक्ति हमेशा सुखी नहीं रह पाता और न ही दु:ख हमेशा बैठा रहता है। चक्रनेमिक्रमेण (चाक के अरों की भाँति) यह सभी कुछ आता-जाता है। ऋतुएँ बदलती हैं और इसी प्रकार से सभी कुछ बदलता है।

दूसरा, ये स्पर्श अनित्य हैं। ऐसा नहीं कि ये हमेशा बने ही रहेंगे और व्यक्ति हमेशा सर्दी, गर्मी, सुख की प्रतीतियों को करने के लिए बाधित है। विकास क्रम में आगे बढ़ने पर व्यक्ति इन प्रतीतियों से छुटकारा पा जाता है। स्थितप्रज्ञ के लिए ही भगवान् कहते हैं कि वह सुखों से सुखी और दु:खों से दु:खी नहीं होता। उसके भीतर समता आ जाती है। यही बात सर्दी तथा गर्मी के बारे में सत्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतीतियाँ स्थायी नहीं हैं, परन्तु इतना ही नहीं, यह सम्पर्क-प्रकृति-संयोग भी नित्य नहीं है। मृत्यु ही हमें स्थूल-प्रकृति के संयोग से दूर कर देती है। इसी प्रकार से हमारी चेतना जितनी विकसित होती चली जाती है उतना ही हम स्थूल और अधिक स्थूल प्रकृति के सम्पर्क से परे रहने की योग्यता पाते चले जाते हैं। कैवल्य की स्थिति प्रकृति के संयोग से नितान्त वियोग की स्थिति है। जिस व्यक्ति की चेतना सहज में मन बुद्धि अहं से परे रहने लगी है वह प्रकृति के संयोग से परे हो गया है। प्रकृति का उस पर बन्धन नहीं। वह स्वेच्छा से प्रकृति में रमण कर सकता है और इससे हट सकता है। यही दशा भगवान् की भी तो है।

'तांस्तितिक्षस्व' उनको सहन करो। जब तक व्यक्ति ने उस अवस्था को पा नहीं लिया है उसे इन्हें सहन करना होगा। लाचारी है। इसे स्वीकार कर लिया जाय तो परेशानी नहीं होती।

देह धरे का दण्ड है सब काहू को होय।
ज्ञानी भोगे ज्ञान सों मूरख भोगे रोय॥

इसके साथ ही यदि यह भी समझ आ जाय कि यह प्रकृति का बन्धन हमारे विकास की आवश्यकता ही है तो लाचारी वाला भाव भी निकल जाता है। व्यक्ति इस बन्धन को भी जान-बूझ कर अपने विकास को प्रगति देने के लिए उपयोग कर सकता है। वह प्रकृति के द्वारा सीखने योग्य पाठों को

जल्दी-जल्दी और सुचारु रूप से सीखने की चेष्टा करता है जिससे वह जल्दी ही इस क्रम से पार हो सके। जीवन एक पाठशाला दिखाई पड़ती है। सुख तथा दु:ख दयामय देव के सन्देश प्रतीत होने लगते हैं। जीवन जेलखाना नहीं रहता है। वह भार रूप नहीं होता। व्यक्ति का दृष्टिकोण ही बदल जाता है जीवन के प्रति।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥15॥

हे पुरुषों में श्रेष्ठ! जिस पुरुष को यह मात्रा – स्पर्श व्याकुल नहीं करते, जो धैर्य वाला है और दु:ख तथा सुख में एक-सा बना रहता है, वह अमर-भाव के योग्य है॥15॥

जिस सहनशीलता के लिए भगवान् ने पिछले श्लोक में अर्जुन को कहा था उसी सहनशीलता की ऊँची स्थिति की चर्चा इस श्लोक में की गई है। प्रकृति के प्रभाव व्यक्ति में हलचल पैदा कर देते हैं। उनके कारण जब वह तीव्र होते हैं, व्यक्ति व्याकुल हो जाता है। यह व्याकुलता और बाह्य प्रभाव का बोध एक ही बात नहीं है। सर्दी से व्याकुल हो जाना और सर्दी को जानना अलग-अलग है। थर्मामीटर में पारा सर्दी से सिकुड़ जाता है, परन्तु वह व्याकुल हो जाता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बाह्य परिस्थिति का बोध बुद्धि के द्वारा होता है और सुख-दु:ख की प्रतीति, व्याकुलता अथवा अव्याकुलता हृदयगत चेतना का धर्म है। दोनों चेतना के अलग-अलग भाव हैं। ज्ञान भाव को अंग्रेजी में Cognition अर्थात् बोध कहते हैं और सुख-दु:ख प्रतीति के भाव को Feeling expression कहते हैं। यह दोनों अलग-अलग हैं, इसीलिए तो बोध समान होने पर भी दु:ख की प्रतीति लोगों में समान नहीं होती। किसी सगे सम्बन्धी की मृत्यु सभी को समान रूप से दु:खी करती हो, ऐसा नहीं है।

अध्यात्म-विकास में जैसे-जैसे व्यक्ति उन्नति करता है उसकी बोध की योग्यता बढ़ती जाती है। देश तथा काल उस के लिए सिकुड़ते चले जाते हैं। उसे भीतर तथा बाहर का भान और परिवर्तनों का भान पहिले से कहीं अधिक स्पष्ट होता है, वह दूसरों की प्रवृत्तियों को और हृदयगत प्रेरणाओं को भी आगे से कहीं अधिक निश्चयात्मक-रूप से जान पाता है, परन्तु इसके

साथ ही साथ विकास का दूसरा अचूक लक्षण यह है कि उसमें व्याकुलता की सम्भावना भी कम होती चली जाती है। वे घटनाएँ जो पहिले उसे परेशान कर देती थीं अब उसके हृदय को उतना परेशान नहीं कर पातीं और कभी वह अवस्था आ जाती है जब परेशान होना उसके लिए उतना ही असम्भव हो जाता है जितना कभी पहिले परेशान न होना असम्भव था। यह परिवर्तन भावमयकोष (Astral Body) के पुनर्गठन तथा विशोधन से ही सम्भव होता है। यह स्वाभाविक ही है कि इसका प्रभाव सिम्पथैटिक तथा सेण्ट्रल (Sympathetic & Central) ज्ञानतन्तु संस्थान पर भी पड़े। यह अधिक पुष्ट हो जाते हैं। वह जानता सभी कुछ है, परन्तु चलायमान नहीं होता।

जितनी समझ इस अवस्था में उस साधक की हो गई होती है यदि सामान्य व्यक्ति की हो तो वह जी न पाय, दुःख की वेदना से उसका हृदय फट जाय। ज्ञान तथा भाव-क्षेत्र में यह विकास साथ-साथ चलना आवश्यक ही है। इसका अर्थ कदापि यह नहीं कि व्यक्ति पत्थर-सा हो जाता है।

ज्ञान के साधकों को इन्द्रियों को मन्द करने से जो समता आती है उसकी ओर यहाँ इशारा नहीं है। सर्दी सहन करते-करते यह अवस्था आ सकती है कि चमड़ी मोटी हो जाय और ठण्डक को जानने के ज्ञान-तन्तुओं के सिरे मन्द हो जाएँ। इस प्रकार ठण्ड का भान ही न हो तो व्याकुलता की सम्भावना ही नहीं, समता का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता, यह विकास नहीं पशुत्व की ओर कदम बढ़ाना प्रतीत होता है।

सम दुःख-सुख का यह तात्पर्य नहीं है। धीर धैर्य वाले को कहते हैं। जो चलायमान न हो, जो बाहर के प्रभावों को अपने में समा सके, जिसे बाहर के अथवा भीतर के प्रभाव किसी प्रकार से भी बाधित न कर पायें, वही धीर है। सम-दुःख सुखत्व और धीरता इकट्ठे ही बढ़ते हैं। श्लोक के अन्तिम भाग में कहा है, वह अमरत्व के योग्य होता है। अमरत्व न मरने वाली स्थिति को कहते हैं। जो देवता है वह वास्तव में अमर नहीं। मानुषी दृष्टि से वह इतने चिरञ्जीवी हैं कि हम उन्हें अमर कहते हैं। दूसरा उनके शरीरों का पात हमारी तरह नहीं होता। उसमें घोर परिवर्तन नहीं होता। इसलिये उनको यह नाम दिया जाता है। वास्तविक अमरत्व तो वह स्थिति है जब व्यक्ति को शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जो शरीर धारण किया जाएगा उसे छोड़ना ही होगा। वही मृत्यु है।

हम इस स्थूल शरीर में हैं। इस समता को पाने के लिए इस स्थूल शरीर में और इस पार्थिव लोक में सर्दी-गर्मी और सुख तथा दु:ख की जितनी तीव्र तथा घनी प्रतीति हो सकती है, उतनी और किसी शरीर में सम्भव नहीं। पशु शरीर में भी यह असम्भव है और सूक्ष्म शरीरों और सूक्ष्म लोकों में भी असम्भव है। अत: यह समता का पाठ भी आत्यन्तिकरूप से यहीं पढ़ा जा सकता है और यह पढ़ा जाता है इन बाह्य प्रभावों द्वारा ही। इसका अर्थ यह है कि बाह्य प्रभावों की उपयोगिता इस पाठ को पढ़ने में निहित है। जितना-जितना हम समता का पाठ पढ़ते चले जाते हैं हमारे लिए उनकी उपयोगिता क्षीण होती जाती है। जो व्यक्ति उन प्रभावों को भली प्रकार से जानता तो है, परन्तु उनसे नितान्त अप्रभावित रह सकता है, उसके लिए बाह्य परिवर्तनों की उपयोगिता समाप्त हो गई है। अत:, उसके विकास के लिए वे आवश्यक नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उसे फिर इस पार्थिव लोक में परिवर्तनशील सुखदु:खमय लोक में जाना-आना न होगा। उसके लिए तो यह लोक वैसा रह ही नहीं जाता। वह व्यक्ति अमर पद के योग्य हो जाता है। न उसे स्थूल शरीर धारण करना होगा और न ही छोड़ना होगा। हाँ, इतना और जान लेना चाहिये कि यहाँ आवश्यकता से यह तात्पर्य है कि उसके लिये शरीर धारण करना अपने विकास के लिए आवश्यक नहीं रहा, परन्तु वह किसी ऊँची प्रेरणा से किसी कार्य की निष्पत्ति के लिये अनेक बार शरीर धारण भी कर सकता है। जैसे हाईस्कूल पास लड़के को हाईस्कूल में पढ़ने के लिए जाने की आवश्यकता तो नहीं, परन्तु पढ़ाने के लिए अथवा किसी और काम के लिए तो वह स्कूल में जा ही सकता है।

11वें से 15वें श्लोक तक भगवान् ने अर्जुन से जो कुछ कहा था उसका आधार था तत्त्वज्ञान। बिना आत्मा-अनात्मा रहस्य को समझे हुए, वह सभी निराधार प्रतीत होता है। उस आधार का खुलासा 16वें से 25वें श्लोक में किया गया है। आत्मा अमर है, देह मरण-धर्मा है। मनुष्य आत्मा है, देह नहीं है, वह अमर है। मृत्यु वास्तव में शरीर का क्षीण हो जाना है। यही बातें आत्म-अनात्म-विवेक की मौलिक बातें हैं। हमारे जीवन में ज्ञान बहुत महत्त्व रखता है। जिस तरह से हम जीवन को देखते हैं, उसी पर निर्भर करता है कि हम जीवन का उपयोग कैसे करेंगे, किधर को चलेंगे, सुखी करेंगे अथवा दु:खी करेंगे।

आत्मा अमर है, देह मरण-धर्मा है, ऐसा रट लेने से तो कुछ होता ही नहीं। तोता भी तो बहुत कुछ रट लेता है, परन्तु उसका उसके जीवन में उपयोग नहीं होता। यह ज्ञान तो हमें अपने जीवन में उतारना होगा, इस ज्ञान से युक्त होकर अपने जीवन के हर पहलू को देखना होगा और इसी से युक्त होकर अपने आस-पास होने वाली घटनाओं को देखना होगा।

क्या हम सचमुच जानते हैं, विश्वास करते हैं कि आत्मा अमर है, हम अमर हैं और यह देह मरती है। यदि मानते हैं तो हम देह को, उस देह से सम्बन्ध रखने वाले सुख को, विषय भोगों को, देह के सुख तथा दु:ख को इतना महत्त्व क्यों देते हैं, क्यों हम उसे पा लेने के लिए ही जीते हैं? क्यों हम जीवन के स्थिर तत्त्वों का, धर्म का भी अपघात कर देते हैं देह के लिए और देह-सुख के लिए। दैहिक सुख भोग पर क्यों आत्म-कल्याण की बलि देते हैं? इसका कारण यही है कि यह ज्ञान तोते का सा है, इसके साथ समझ नहीं है, यह हम इसे मानने मात्र को मानते हैं। आचरण दूसरी तरह का करते हैं, या आचरण को महत्त्व ही नहीं देते हैं।

वास्तव में ज्ञान तो उसी को कहा जाता है जो जीवन को प्रभावित करे। हिन्दू-समाज गीता को बहुत आदर देता है। आत्मा की अमरता को मानता है, परन्तु यदि कोई शरीर छोड़ जाता है तो इतना शोक किया जाता है कि सारा गीता-ज्ञान बह जाता है। उस समय जीवन के हर पहलू को रखकर सोचना चाहिए कि अमरता कैसे इस पर लागू होती है और उसी प्रकार जीवन को बदलना चाहिये।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥16॥

जो असत् है उसका भाव (होना) नहीं है, (और) जो सत् है, उसका अभाव (न होना) नहीं है। इन दोनों का अर्थात् सत् और असत् के तत्त्व को जानने वालों ने इन दोनों का ही अन्त (सिद्धान्त) देख रखा है॥16॥

इसका अर्थ है, जो है सो है, जो नहीं है सो नहीं है। जिसकी अपनी सत्ता नहीं है वह कभी हो नहीं सकता और जिसकी सत्ता है, वह कभी मिट नहीं सकता।

सत् का सामान्य अर्थ है, जो है। पर है क्या? हमें ज़रा गहरी दृष्टि से देखना होगा। क्या पेड़ है? हाँ है, दीख रहा है। पर पेड़ पाँच तत्त्वों से बना है। पहिले वे हैं, तभी तो पेड़ है। पेड़ की सत्ता वास्तव में पाँच महाभूतों पर निर्भर है। क्या पाँच महाभूत हैं? ज़रा गहराई में जायें, तो समझ में आता है कि प्रकृति के होने से ही पाँच महाभूत भी हैं, उनकी निजी कोई सत्ता नहीं।

क्या प्रकृति है? गहराई में जायें, तो पता चलता है कि केवल एक अखण्ड सत्ता है जो प्रकृति के रूप में प्रकट होती है। प्रकृति की भी निजी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिसकी निजी सत्ता है, उसे सत् कहा जाता है, यही सत् की परिभाषा है। सत् कहने से ही यह समझा जाता है कि उसकी निजी सत्ता है, उसका अस्तित्त्व किसी दूसरी सत्ता पर निर्भर नहीं है। अतः उसका अभाव न होगा। सत् का अभाव नहीं होता, ऐसा कहना एक तरह से सत् शब्द की ही व्याख्या करना है। सत् को आत्मा समझा जाय, तो ऐसा कहने से आत्मा की अमरता का बखान होता है।

यदि हम सत्-स्वरूप हैं, तो हमारा नाश हो ही नहीं सकता। इसका अर्थ है, सत् कभी असत् नहीं होता, सत् का कभी कोई भी वध नहीं कर सकता है। यदि वध हो जाय तो वह सत् ही न होगा।

असत् का कभी होना नहीं होता। जो असत् है वह कभी हो नहीं सकता। देह असत् है, यह केवल मात्र दीखती है, इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। असत् का अर्थ है अनित्य। तात्त्विक दृष्टि से उसका होना न होना बराबर है। जैसे पानी की निजी सत्ता होती है, बुलबुला अपनी कोई सत्ता नहीं रखता है, ऐसे ही संसार की सभी चराचर वस्तुयें हैं। वास्तविक सत्ता तो उस एक परब्रह्म की है – और हमारी है। क्योंकि हमारी सत्ता उससे अलग नहीं है। हम उसी सत्ता के भागी हैं।

आत्मा नित्य है, वह अनित्य नहीं होता। देह अनित्य है वह नित्य नहीं होती। परमात्मा नित्य है – सत् है – सृष्टि अनित्य है – असत् है।

(यह विवेक ही साधनचतुष्ट्य का नित्यानित्य वस्तु-विवेक है। व्यवहार में आने वाली अनेक सत्तायें उस एक ही की छाँई हैं। उस एक पर आश्रित, उस एक में से निकली हुईं और उसी में लीन हो जाने वाली हैं। वह एक ही गन्तव्य है। वह एक ही हमारे जीवन का जीवन है और पूरा पूर्ण है। उसी का यह पसारा है। उसी की ओर कदम बढ़ाना चाहिये। अनित्य वस्तुओं की

ओर दौड़ना उनकी अनित्यता के कारण ही दु:ख-मूलक है, शाश्वत सुख को प्रदान नहीं कर सकता।)

जो सत् और असत् के तत्त्व को जानने वाले हैं उन्होंने सत् तथा असत् के बारे में यह निश्चित रूप से जाना है। तत्त्व सार को कहते हैं। जो जड़ तक को खोज निकालता है वही तत्त्वदर्शी होता है।

भगवान् ने 11वें श्लोक में अर्जुन से कहा था कि तू बुद्धिमानों की सी बातें करता है, अर्थात् वास्तव में तूने ठीक समझा नहीं।

ठीक समझना तो आत्म-अनात्म-विवेक है। यदि यह अर्जुन को प्राप्त हुआ होता, तो वह मरने-मारने को इतना महत्त्व ही क्यों देता। वह अनित्य देह की खातिर, आत्मा के कल्याण के लिए आवश्यक स्वधर्म का त्याग क्यों करता। वह तो देह को ही बड़ा समझे हुए था और इस देह को ही वास्तविक जीवन समझता था।

अन्त किनारा होता है, जड़ होती है। किसी विषय का अन्त उस विषय का तात्त्विक ज्ञान-सिद्धान्त होता है। इस प्रकार से ज्ञानी पुरुषों की साक्षी देकर भगवान् इसी विषय को अनेक प्रकार से खोलकर अर्जुन को हृदयंगम कराने की चेष्टा करते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥17॥

जिसके द्वारा वह सब कुछ व्याप्त है तू उसे अविनाशी (नष्ट न हो जाने वाला) जान, इस अव्यय का कोई भी विनाश नहीं कर सकता॥17॥

जो सिद्धान्त 16वें श्लोक में कहा था उसे लागू करते हैं। जो इस विश्व में (और विश्व के परे भी) व्याप्त है, अणु-अणु में समाया है, जैसे कपड़े में तन्तु समाये होते हैं, जैसे तन्तु में रेशे समाये रहते हैं, वह अविनाशी है। अविनाशी वह है जिसका विनाश न हो सके। दूसरे शब्दों में वह सत् है।

वह कौन वस्तु है जो इस सब में समाई है? यह 'सत्' है। मन बुद्धि इन्द्रियों से मापा जा सकने वाला स्थूल तथा सूक्ष्म जो इसमें व्याप्त है, वह उससे भी सूक्ष्म है। वह मन, बुद्धि, इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता। वह आत्मा है, वह अपरिमित है, असीम है, देश काल की सीमाओं से परे है। वह इसमें व्याप्त है और इससे परे भी है।

उसका विनाश कौन करेगा? सब कुछ तो उसी की सत्ता से सत्ता वाला है, उसके बल से बल वाला है। उसी के धर्म से धर्म वाला है, वह उसका विनाश कैसे कर सकता है? तन्तु रेशों को कैसे नष्ट कर सकता है? कपड़ा तन्तु को कैसे मिटा सकता है? स्थूल सूक्ष्म को कैसे विकृत करेगा, देह आत्मा को कैसे मारेगी? सृष्टि परमेश्वर को कैसे मिटायेगी?

कौन उसे मारेगा? सभी इन्द्रियाँ और मन तो उसी से स्पन्दित होते हैं। प्राण उसी से गतिशील है। बुद्धि उसी से चमकती है। किसी का भी उस पर अधिकार नहीं। वह अविनाशी है और एक रस होने के कारण स्वयं वह नष्ट नहीं होता। वास्तव में काल भी तो उसी से है। विनाश भी उसी से है। वह परात्पर है। हाथ उसे पकड़ नहीं सकते और आँख उसे देख नहीं सकती।

हमारी आत्मा वह अविनाशी सत्ता ही है, जो सब में व्याप्त हो रही है, जो सब का आधार है, जो सर्वमय है।

उस अनन्त के हम अंश हैं, यदि अंश शब्द का उपयोग किया जा सके। हम उस अनन्त की झलक हैं। इस अहं-मन-बुद्धि में वह अनन्त ही लीला के लिये इस शरीर में शान्त सा हुआ दीखता और देखता है।

उस अमर भाव में जग जाना, उस अनन्त की चेतना को लाभ करना अपने अमरत्व को पा जाना है। उसमें जग कर व्यक्ति स्वामी रामतीर्थ जी की तरह पुकार उठता है कि 'वह सब में सब कुछ है'। तभी भगवान् के विभूति-योग की भी ठीक समझ आती है मनुष्य को।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्तः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥18॥

नित्य अनाशी तथा अप्रमेय शरीरी की यह देह अन्तवाली कही गई है। इसीलिये हे अर्जुन तू युद्ध कर॥18॥

इस श्लोक में आत्मा तथा शरीर का विवेक करते हुये यह बतलाया गया है कि आत्मा नित्य है और शरीर नश्वर है।

जिसका शरीर हो, उसे शरीरी कहते हैं। जिसने देह को धारण किया हो, जो देह का अधिष्ठाता हो, वह शरीरी होता है। आत्मा ही देह को धारण करता है। आत्मा के वियोग में शरीर चल नहीं पाता है, यह मर जाता है और यह भस्मीभूत करने के योग्य ही रह जाता है। वह देह, आत्मा के लिये

अनुभव का साधन है। देह के द्वारा वह स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् में (मन आदि के द्वारा) सम्पर्क स्थापित करता है। उससे प्रभावित होता और उसे प्रभावित करता है। देह यन्त्र है और आत्मा यन्त्री है। वह उसका उपयोग करती है। शक्ति तथा ज्ञान का स्रोत भी वही है।

इस प्रकार से विचार के द्वारा व्यक्ति को यह समझना होता है कि शरीर अलग है और शरीरी – उस शरीर को धारण करने वाली सत्ता आत्मा, अलग है। इतना समझ लेने पर आगे विवेक सम्भव है। जैसे चने तथा गेहूँ के सम्मिश्रण को, दोनों को अलग न जानने वाला, सम्मिश्रण करके नहीं जान पाता। ऐसा ही प्रकृति तथा पुरुष के बारे में न समझने वाला इस विवेक को धारण नहीं कर सकता। वह सोचता है कि यह देह ही सभी धर्मों वाला है। यही चेतन है। जैसे कपड़े पर चढ़े रंग को अविवेकी अलग नहीं पहचानता, इसी प्रकार से इस विषय में व्यक्ति नहीं समझता। जब तक व्यक्ति रंग तथा कपड़े को अलग अनुभव न कर ले, तब तक बोध नहीं होता। ऐसे ही इस विषय में भी बोध नहीं होता। शरीर तथा शरीरी (आत्मा) को अलग जानने से ही यह विवेक सम्भव है।

आत्मा नित्य, अविनाशी तथा अप्रमेय है। देह इससे नितान्त विपरीत धर्मवाली है। नित्य – जो हमेशा से हो और हमेशा बना रहने वाला हो, जो भूत तथा भविष्य की सीमाओं से परे हो। आत्मा कभी पैदा नहीं होता जब इसका आरम्भ कहा जाय, या जिससे पूर्व इसके अभाव की कल्पना की जाय। और आत्मा कभी मरती नहीं जब इसकी समाप्ति कही जाय और जिसके बाद इसके न होने की कल्पना हो सके। वह सदा था और सदा रहेगा। **'भूत्वा भविता वा न भूयः'** इसी अध्याय ही में तो भगवान् ने आत्मा के बारे में कहा है।

अनाशीः नाश रहित। जो नित्य है, उनका नाश हो ही कैसे सकता है? नाश तो परिवर्तन से ही सम्भव है। आत्मा परिवर्तन से रहित है। वह सदैव एक सा है।

अप्रमेयः जिसे मापा न जा सके। मापना आँखों से होता है और इन्द्रियों से होता है और मन-बुद्धि से भी होता है। स्थूल वस्तुएँ स्थूल इन्द्रियों के द्वारा मापी जाती हैं और सूक्ष्म मन बुद्धि के द्वारा। आत्मा को तो किसी प्रकार से भी मापा नहीं जा सकता। वह सूक्ष्मता की भी सीमा से परे है। वह छोटी

भी है और बड़ी से बड़ी भी, वह खड़ी भी है और चलती भी है। न उसकी शक्ति का अन्त है, न ज्ञान का, और न ही उसके आनन्द का। वह सीमाओं से रहित है सर्वथा। इसीलिये इसे अप्रमेय कहा। देह इसके विपरीत है। वह अनित्य है, नाशी है और प्रमेय है।

शरीर तो पल-पल नष्ट हो रहा है और बन रहा है। एक अवधि के उपरान्त देह की लीला समाप्त हो जाती है, वह काष्ठ और लोहे की तरह हो जाता है। बेकार हुआ, अग्नि आदि के हवाले किया जाता है। शरीर प्रमेय भी है। हम इसे माप सकते हैं। इसकी वृद्धि तथा कमी को जान सकते हैं।

इस प्रकार के देह धारण करने वाले आत्मा के यह शरीर अन्त वाले कहे गये हैं। शरीर अन्त वाले तो हैं ही। यह हमेशा नहीं चलते। जैसे घड़ी की चाबी समाप्त होने पर वह रुक जाती है, ऐसे हैं। प्रारब्ध का भोग समाप्त होने पर देह क्षीण हो जाती है।

देह का प्रयोग बहुवचन में है और शरीरी (आत्मा) का एकवचन में, यह बात ध्यान देने योग्य है। यह आत्मा तो एक ही है। वह ही एक भाव में जीव संज्ञा से युक्त हो जीवात्मा कहलाता है और परमात्मा से युक्त हुआ परमात्मा कहलाता है।

मूलत: एक ही तत्व है। यह द्वैत का भेद तो बुद्धि तक सीमित है। प्रकृति से परे की सत्ता में द्वैत की सम्भावना कैसी। आगे भी तो भगवान् गीता में कहते हैं, **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** – हे अर्जुन! मुझे ही तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ समझ। इसका मोटे शब्दों में अर्थ है कि मुझे ही तू सब देहों में देहधारी जान। (13वें अध्याय का दूसरा श्लोक।)

भगवान् अर्जुन को कहते हैं, 'इसलिए तू युद्धकर, आत्मा तो अजर अमर है। उसका तो बाल बांका नहीं हो सकता। देह ही नश्वर है। सो वह नष्ट होंगे ही, इसलिए तू निश्चिन्त होकर युद्ध कर।'

'तू किसी को मार तो सकता नहीं। अधिक से अधिक शरीर नष्ट कर सकेगा। सो नष्ट होने वाला ही है। चिन्ता किस बात की? उठ और युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥19॥

जो इसे मारने वाला करके जानता है और जो इसे मरा हुआ जानता है वह दोनों ही ठीक नहीं जानते। न यह मरता है और न मारा जाता है। आत्मा न मारता है न मरता है।

जो प्रसंग चल रहा है, अर्जुन जिस विचार में डूबा है उसी विषय में भगवान् ने यह कहा है। आत्मा मरता नहीं है, मरती है देह, जो नश्वर है। शरीर के कट जाने पर आत्मा कटता नहीं, मरता नहीं। क्यों नहीं मरता है? तलवार लकड़ी को काट देती है परन्तु हवा को नहीं काट सकती। आकाश भी ढेला फेंकने से चूर-चूर नहीं हो जाता। यह सूक्ष्मता के कारण है। आत्मा तो इतना सूक्ष्म है कि उसके बराबर सूक्ष्म कुछ है ही नहीं, वास्तव में वह मर सकता ही नहीं, क्योंकि मरना उसका धर्म ही नहीं। वह सदा से है और सदा रहेगा, वह अपने जैसा आप ही है। अतः इस बात के लिए उपमा भी क्या दी जाय?

हम अमर हैं, यह समझना आसान है, परन्तु आत्मा मारता भी नहीं, यह समझना मुश्किल मालूम पड़ता है। आत्मा, आत्मा को नहीं मारता है, यह भी बात सुबोध है।

परन्तु क्या आत्मा देह को भी नहीं मारता? देह तो मर जाती है और देह से ही वह मारी जाती है। सजीव प्राणी ही दूसरे को मार सकता है। फिर आत्मा मारती नहीं, इससे तात्पर्य क्या है? आत्मा तीनों गुणों से परे विशुद्ध सत्ता है। वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित है, परिवर्तन से भी रहित है। अतः जो कर्म भोग आदि घटाव बढ़ाव हैं, वे सभी गुणों में ही होते हैं। गुणातीत आत्मा में नहीं होते। अतः मारने के कर्तृत्व से आत्मा अलिप्त है। देखिए आगे चलकर तीसरे अध्याय के अठाईसवें श्लोक में भगवान् स्वयं कहते हैं –

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

व्यक्ति अपने को मारने वाला समझने से अपने पर कर्तृत्व आरोपित कर लेता है। उसी से उसे भोक्ता भी बनना पड़ता है और व्यक्ति सुख-दुःख जन्म – मृत्यु के चक्र में अपने को डाल लेता है। वास्तव में हम आत्मा हैं। न कुछ करते हैं और न भोगते ही हैं। यह सभी कुछ तो गुणों का खेल गुणों

से ही हो रहा है। तीनों गुण भिन्न-भिन्न रूपों में परस्पर प्रतिक्रिया कर रहे हैं। यह जान लेना भी सांख्य का तत्व है। इससे ही व्यक्ति कैवल्य को लाभ करता है और प्रकृति बन्धन से हमेशा के लिए छूट जाता है। लोग इस बोध से रहित हैं। वह सोचते हैं, अमुक ने मार दिया और अमुक मर गया। ये बातें देह को वास्तविक सत्ता (आत्मा) समझने से होती हैं। यह भ्रान्ति है, अविद्या है और क्लेश का कारण है। आत्म-अनात्म विवेक से सम्पन्न होना निर्भय हो जाना है और निर्द्वन्द्व हो जाना है। देह को आत्मा समझना प्रकृति के जुए को गले में डालना है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥20॥

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर न होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता है।।20।।

आत्मा के अमरत्व का गान करते हुए भगवान् अघाते नहीं। उसको भली प्रकार हृदयंगम कराने के लिए नई-नई शब्द रचना के द्वारा सदा नवीन प्रभाव से युक्त होकर वह फिर-फिर गाते हैं।

पैदा न होता आत्मा, मरता भी है न यह कभी।
हो करके फिर होगा नहीं, इस तरह का भी नहीं॥
अजन्मा नित्य और शाश्वत, है पुरातन तत्व यह।
नष्ट होने पर तनु के, नष्ट होता यह नहीं॥20॥

व्यक्ति अपने को देह समझता है, अतः कहता है, ''मैं आज इतने वर्ष का हो गया हूँ। मेरी वर्षगांठ है।'' भला आत्मा की भी कभी वर्षगांठ होती है? शरीर हमसे पृथक् है और इसके गुण धर्म भी हमसे पृथक् हैं। मृत्यु पर रोना इसी देह बुद्धि का सूचक है। पैदा होने पर खुशी भी इसी को बताती है। अधिकाधिक जो आत्मा के बारे में – अपने बारे में – कहा जा सकता

है, वह आना-जाना है। हमारा स्थूल में देह को धारण करके प्रकट होना जन्म कहलाता है और इसे छोड़कर सूक्ष्म में रहना मृत्यु।

दीपक को कमरे में लाने से उजाला हो जाता है उस कमरे में। उस कमरे से दूसरे कमरे में ले जाने से वहाँ अंधेरा हो जाता है, परन्तु दूसरी जगह उजाला हो जाता है। हम उस दीपक की तरह हैं। जहाँ हम हैं वहाँ जीवन ही जीवन है; जहाँ से हम हट जाते हैं वहाँ मृत्यु होती है। जैसे सूर्य ने कभी रात्रि को नहीं देखा, ऐसे ही हमने मृत्यु का मुख नहीं देखा। हम मृत्यु से सदा अतीत हैं। वह हमें छू नहीं सकती। वह सम्मुख होते ही जीवनरूप हो जाती है। ऐसा है हमारी सत्ता का जादू।

हम पैदा भी नहीं होते हैं। यह तो स्पष्ट है कि पैदा होना देह का होता है, वास्तव में देह का मातृ-गर्भाशय से प्रकट हो जाना, अंकुर का भूमि को फोड़ कर निकल आना, सूर्य का क्षितिज से ऊपर दीख जाना, पैदा होना कहलाता है। अवस्था का परिवर्तन मात्र तो है यह पैदा होना। क्या सूर्य न था? क्या अंकुर न था और क्या यह देह भी पहले न थी? यह सभी थे, परन्तु दूसरी अवस्था में थे, दूसरे प्रदेशों में थे। हमारी सत्ता में इस प्रकार रूपान्तर भी असम्भव है। हम छोटे से बड़े नहीं हो जाते हैं, हम सभी सम्भावनाओं से युक्त हमेशा से ही हैं। काल की क्रीड़ा के हम खिलौने नहीं, काल हमारे लिए खिलौना है। युगयुगान्तर से हम साथी हैं। जब काल नहीं था, परिवर्तन नहीं था, उस समय भी हम थे और जब काल न रहेगा, तब भी हम रहेंगे।

होकर के यह फिर नहीं होगा, ऐसा भी तो नहीं है। कल्पना हो सकती है कि आत्मा अजन्मा है, अनादि है, परन्तु यह अपनी लीला को समाप्त कर लेता है और इसका अभाव हो जाता है, सो भी नहीं। इसकी लीलामयी सत्ता चलती ही रहेगी। यह लोग जो युद्धक्षेत्र में प्राणों को छोड़ेंगे, वह फिर लौटकर यहीं आयेंगे, देहों को धारण करेंगे। यह अर्थ निर्दिष्ट प्रतीत होता है इस वाक्य में।

यह अज है – अर्थात् अजन्मा है, इसका जन्म नहीं है। माँ के गर्भ से पैदा हुआ है और चिता की ज्वाला में यह लीन होगा, यह मूर्खों की दृष्टि है। इस देह के जन्म के परे यह सूक्ष्म लोक में था और उससे पहिले यह स्थूल में था।

यह सूक्ष्म और स्थूल का क्रम तो अनादि काल से चला ही आ रहा है। आदि-पुरुष-पुरुषोत्तम ही तो जीवात्मा हुआ अनादि काल से इस आँख मिचौनी के खेल को खेलता है। वही सनातन पुरुष, काल जिसका खिलौना है, मृत्यु जिसके लिए उपसेचन है (शाकभाजी) है, जो सबका कारण है, उसका कारण हम कहाँ ढूँढेंगे? जो सबको जन्म देने वाली सनातन सत्ता है उसको जन्म कौन देगा?

नित्य है वह। नित्यता काल से अतीत होने में है। इसका विचार तो पहिले भी हुआ है।

शाश्वत – जो हमेशा रहे। भविष्य की ओर इशारा करता है। यह शब्द पुराण और भूतकाल की ओर इशारा करता है। नित्य में दोनों का ही समावेश है। अमर! यह अमर है, इसी बात को समझाने के लिए, भली प्रकार से बुद्धि में जमाने के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग हो रहा है। वास्तव में अमरत्व की कल्पना पूर्णरूपेण बोध-गम्य है नहीं। देश तथा काल, बुद्धि की सीमायें हैं और आत्मा इनसे परे है। इसीलिए विभिन्न शब्द बरतने आवश्यक समझे जाते हैं।

अन्तिम पाद में कहा, शरीर के मारे जाने पर यह आत्मा मारा नहीं जाता है। शरीर की मृत्यु शरीर की ही है। हम अपने को देह समझते हैं, इसलिए शरीर की मृत्यु हमें व्यक्ति की मृत्यु प्रतीत होती है। रेडियो के टूट जाने से आवाज़ आनी बन्द हो जाती है, क्योंकि वह यन्त्र जिसके द्वारा आवाज़ प्रकट होती थी, वह ठीक ही नहीं रहा। आवाज़ तो नष्ट नहीं हो गई। बल्ब के फ्यूज़ हो जाने पर रोशनी नहीं होती। वास्तव में बिजली की धारा का अभाव नहीं हो जाता है। उसके प्रकट होने का यन्त्र नहीं रहता। लाउड-स्पीकर में यदि बिजली फेल हो जाये तो उस यन्त्र के होने पर भी आवाज़ दूर नहीं पहुँच पाती। ऐसे ही शरीर के किसी प्रकार से भी बेकार हो जाने से बोलना, देखना, सुनना नहीं हो पाता। बोलने, देखने, सुनने वाले आत्मा के रहने पर भी यह शक्तियाँ वास्तव में हमारी सत्ता से ही प्रकट होती हैं।

आत्मा के स्वरूप का ठीक बोध सांख्ययोग की आधार-शिला है। आत्म-अनात्म विवेक ही उस योग का वास्तव में सर्वस्व है! सांख्यदर्शन प्रकृति-पुरुष विवेक सिखाता है।

गीता का सांख्य इसका भी सारभूत आत्मबोध प्रदान करता है। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी सत्ता है। वही हम हैं। देह नश्वर है और हमसे भिन्न है, इस विवेक के द्वारा व्यक्ति आत्म-भाव में स्थिर होकर देह के कर्मों से ऊपर उठ जाता है। वह प्रकृति के बन्धन से परे हो जाता है।

वह ज्ञान व्यक्ति को मृत्यु के भय से मुक्त कर सकता है। देह को अपना आप समझने के कारण जो तुच्छ भाव व्यक्ति में जगते हैं और उसकी रक्षा के निमित्त व्यक्ति जो कुकर्म करने को उद्यत हो जाता है, उससे दूर रह सकता है। आत्मा की मस्ती में एक ऋषि गाता है –

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत, (उपनिषद्) क्या इच्छा करता हुआ किस कामना से मनुष्य शरीर के साथ पीड़ित हो?

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥21॥

हे अर्जुन! जो इसे (आत्मा को) अविनाशी, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे और किसको मरवा सकता है, कैसे वह किसको मार सकता है?॥21॥

अर्जुन के मोह के मूल में यही अज्ञान तो था कि वह इन बन्धुओं को मार डालेगा और वह मर जायेंगे। वह आत्मबुद्धि से वंचित था। देहों को ही आत्मा समझता था। जिसमें आत्मबुद्धि जग गई है वह मरने जीने से प्रभावित नहीं होता, वह मोह से प्रभावित होकर मरने-जीने की खातिर स्वधर्म का परित्याग नहीं करता। भगवान् अर्जुन में आत्मबुद्धि जगाकर अर्जुन को स्वधर्म में आरूढ़ कराना चाहते थे।

शरीरों का छूटना और ग्रहण कर लेना यह अर्जुन के विकास का मार्ग था। इस विषय का और विवेचन आगे चल कर किया जाएगा।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥22॥

उदाहरण देकर भगवान् समझाने की चेष्टा करते हैं। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र छोड़कर दूसरे नये ग्रहण कर लेता है, वैसे ही जीर्ण हुए शरीरों को छोड़कर देहधारी नये शरीरों को प्राप्त कर लेता है।।22।।

कपड़ों के फट जाने पर वे उतार फेंके जाते हैं और नये पहिन लिए जाते हैं। ऐसे ही जब देह जरा-जीर्ण हो जाता है, रोग से क्षीण हो जाता है, अथवा आकस्मिक घटना से बेकार हो जाता है तो उसे छोड़ दिया जाता है और दूसरे नये देह को ग्रहण (धारण) कर लिया जाता है। वास्तव में देह हमारे उपयोग के लिए एक साधन है। हम उसके द्वारा इस स्थूल जगत् से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसके द्वारा स्थूल जगत में क्रिया करते हैं और स्थूल जगत् के प्रभावों को ग्रहण करते हैं। देह के कारण ही स्थूल जगत् में क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव है। मनुष्य के विकास के लिए इन प्रभावों को पैदा करना और उनको सहना आवश्यक है। इसी से उसके भीतर प्रसुप्त चेतना अधिकाधिक जगती है। क्रिया करने की योग्यता तथा प्रभावों को विभिन्न स्तरों पर प्रतीत करने की क्षमता बढ़ती है। सुख:दु:ख तथा पाप-पुण्य का उदय भी यहीं पर होता है।

जैसे बढ़ई मेज़ बनाने के लिए रन्दे का उपयोग करता है। वह ज़रूरी होता है। यदि वह बेकार हो तो उस रन्दे को ठीक करने की चेष्टा करता है। यदि ठीक होने लायक न हो तो उसे छोड़कर दूसरा रन्दा लेकर उससे काम करता है। इसी प्रकार से हम (आत्मा) देह को बरतते हैं। यदि वह जिस प्रयोजन के लिये है, वह उससे सिद्ध नहीं हो सकता हो, तो उसे छोड़ दिया जाता है और दूसरी देह धारण करके उस विकासात्मक प्रयोजन को सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। अनुपयुक्त होने पर नये वस्त्र भी छोड़ दिये जाते हैं। ऐसे ही बुढ़ापे से पूर्व भी देह का परित्याग कर दिया जाता है। हमारे विकास के लिये जिस प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता है, जैसी परिस्थिति की माँग है, यदि वह वर्तमान देह में लभ्य न हो, तो उस देह का परित्याग करना ही होता है। अब रहा युवावस्था में देह छोड़ने का अथवा बचपन में ही चले जाने का प्रश्न। इस सबके पीछे कर्म के तन्तु तो फैले ही रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु कर्म के विधान के पीछे भी कोई नियम काम करता है, कोई उद्देश्य छिपा रहता है। वह विकास का नियम है जिसे दृष्टि में रखकर जीव के प्रारब्ध का विधान बनता है।

जैसे ओवर-कोट के निकाल डालने से भीतर का कोट तो शरीर पर रह ही जाता है और उसके भी निकालने से अन्दर का वेस्ट कोट रह जाता है, ऐसे ही स्थूल शरीर के छोड़ने से प्राणमय शरीर तो रहता ही है। प्राणमय शरीर ही उस अवस्था में स्थूल का स्थान ले लेता है। प्राणमय के छोड़ने से मनोमय शरीर तो रहता ही है। आवश्यकता होने पर फिर प्राणमय तथा अन्नमय (स्थूल) शरीरों का क्रमशः निर्माण कर लिया जाता है।

मनुष्य अपने को शरीर समझता है। शरीर के जीर्ण होने पर अपने को जीर्ण समझता है और उसकी मृत्यु को अपनी मृत्यु। हम शरीर से भिन्न, परन्तु शरीर में रमा रहने वाला आत्मा हैं। हम शरीर के साथ पैदा नहीं होते और शरीर के क्षीण होने पर क्षीण नहीं होते। हमारी स्वतन्त्र सत्ता है। शरीर हमारे लिये यन्त्र है। जैसे बसूले के टूटने से बढ़ई नहीं टूटता, वैसे ही शरीर के जीर्ण हो जाने से हम जीर्ण नहीं होते।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥23॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥24॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥25॥

शस्त्र इसको काटते नहीं, अग्नि इसको जलाती नहीं, जल इसको गीला नहीं करता और हवा इसको सुखाती नहीं॥23॥

यह काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, गीला नहीं किया जा सकता और सुखाया भी नहीं जा सकता। यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है॥24॥

यह अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है, यह अविकार्य कहा जाता है। इसलिये इसको ऐसा जानकर तुम्हें शोक करना उचित नहीं॥25॥

आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुये भगवान् अघाते नहीं है। शस्त्र आत्मा को काटते नहीं। काटने के कारण ही शस्त्र को शस्त्र कहते हैं। परन्तु

आत्मा के लिये कोई शस्त्र, शस्त्र नहीं रह जाता। शस्त्र तो केवल स्थूल देह को काट देता है। वह जीव तो भीतर से समूचे का समूचा, बिना कटे पूरा ही निकल जाता है।

क्यों नहीं तलवार आत्मा को काटती? इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया गया है।

अग्नि देह को जलाती है, आत्मा को नहीं जलाती। देह के जल जाने पर आत्मा देह को छोड़कर निकल जाता है। जल भी आत्मा को प्रभावित नहीं करता है, देह को ही प्रभावित करता है। वायु भी आत्मा को नहीं सुखाता, स्थूल देह को ही सुखाता है।

पृथ्वी, अग्नि, जल तथा वायु यह चारों तत्व स्थूल हैं आत्मा की अपेक्षा, अतः आत्मा को प्रभावित नहीं करते। जो पञ्च महाभौतिक पदार्थ हैं वह इनके द्वारा प्रभावित होते हैं। आत्मा पञ्चभौतिक नहीं है। यह परिवर्तन, छेदन, दहनादि भी पञ्चभौतिक पदार्थों में ही सम्भव है। जो पञ्चभौतिक नहीं है उसमें ऐसे परिवर्तन हो ही नहीं सकते।

प्रश्न हो सकता है कि सामान्य अग्नि नहीं जला सकती, तो क्या सूर्य के भीतर का हजारों डिग्री का तापक्रम भी आत्मा को न पिघला देगा? आत्मा को महान् से महान् ताप भी नहीं जला पाता। यह उससे गर्म ही नहीं होता। यह किसी प्रकार से भी तपाया नहीं जा सकता। यह बात इतना समझाने के लिये कही गई है कि आत्मा पञ्चभौतिक नहीं है। अतः भूतों की तरह प्रभावित नहीं हो सकता।

अब आत्मा का घनात्मक वर्णन करते हैं –

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

नित्य का वर्णन ऊपर श्लोक 20 की व्याख्या में किया गया था कि वह काल की सीमाओं से अतीत है।

सर्वगत – सब जगह गया हुआ – पहुँचा हुआ, सबमें रमा हुआ। कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ आत्मा न हो। परन्तु हम तो जीवात्मा की क्रिया एक शरीर में ही पाते हैं। वह उसकी सीमाओं से सीमित प्रतीत होता है। एक व्यक्ति जो एक शरीर में है और जो यहाँ है वह दूसरी जगह कैसे माना जाय?

आत्मा बहुत विशाल सत्ता है। शरीर में तो उसकी एक किरण मात्र ही आती है और सारी लीला करती है। वही व्यक्तित्व का निर्माण करती है। वही एक आत्म-सत्ता विभिन्न व्यक्ति रूपी यन्त्रों में से प्रकट होती हुई विभिन्न दिखाई पड़ती है और विभिन्न व्यक्तित्वों के कारण विभिन्न व्यवहार भी करती है। एक ही बिजली हीटर, बल्ब तथा मोटर में विभिन्न क्रिया करती है। अहं के कारण प्रकृति में नानात्व होता है। वही नानात्व आत्मा (सत्ता) में प्रतिफलित होता है। प्रकाश नि:वर्ण होता है, परन्तु जैसे शीशे से उसे देखा जाय उसी वर्ण का और उसी के अनुसार गुणों वाला हो जाता है।

उस विशाल भाव में, आत्मभाव में, हम सब एक हैं। वह मन, बुद्धि तथा अहं से भी परे है। उसमें बुद्धि नानात्व की कल्पना नहीं कर सकती, क्योंकि जिनके कारण नानात्व की प्रतीति होती है वह सभी मन-बुद्धिगत संस्कार हैं। उनकी आत्मा में प्रतीति नहीं। आत्मभाव उनसे परे है, इसलिए जहाँ तक अभिव्यक्ति है वहाँ तक नानात्व है। जहाँ तक सोचना और उसे प्रकट करना है वहाँ तक अनेकता है, जहाँ सोचना भी समाप्त होता है वहाँ अनेकता कैसी?

वास्तव में वहाँ एकता भी कैसी? वहाँ तो केवलमात्र होना ही होना है, और मौन रहना। आत्मा देश की सीमाओं से परे है, इसीलिए सर्वगत कहा जाता है। जो कुछ भी सीमाओं वाला है वह कहीं पर है और कहीं पर नहीं है। सीमायें ही उसके लिए प्रदेश को विभाजित कर देती है। 'वह है' और 'वह नहीं' की रचना हो जाती है। आत्मा सीमाओं से रहित है, इसलिए वह सभी जगह है। उसे कहीं से कहीं जाना नहीं होता। वह पहिले से ही सब जगह पहुँचा हुआ है। सर्वव्यापक कहने में व्याप्य व्यापक भाव का स्मरण होता है अर्थात् एक चीज में दूसरी चीज के व्यापक होने की कल्पना होती है। 'सर्वगत' उससे भी परे जाता है। वास्तव में अणु-अणु उसी में रहता है। वह सभी में है और इस प्रकार से कि सभी कुछ उसमें है। स्थूल दृष्टान्त तो सभी एकदेशीय होंगे। कपड़े में जैसे तन्तु व्यापक है, बर्फ में जैसे पानी व्यापक है, वैसे ही, कहीं भी आप उसे पा सकते हैं।

जड़ में और चेतन में, सभी में वह पहिले से ही विद्यमान है। वास्तव में उसी के होने से सभी कुछ है। उसी में से प्रकट है और उसी में है। चेतन में वह झाँकता हुआ सा दीख जाता है। जड़ में अवगुण्ठन (परदा) घना होता

है, अतः धोखा हो जाता है कि शायद वह न हो, पर वहाँ भी वह मौजूद है। भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की चर्चा में कहते हैं –

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत॥13/2॥

मुझे ही सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ जान, हे अर्जुन! और यह भी तो कहा –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति!॥18/61॥

'हे अर्जुन! ईश्वर सभी भूतों के हृत्प्रदेशों में रहता है' तो यह सर्वगत आत्मा है क्या? गीता के तत्वज्ञान की दृष्टि से पुरुषोत्तम की दो प्रकृतियाँ हैं – परा तथा अपरा। यह गीता का तात्विक अन्वेषण है। परा-प्रकृति ही जीव है, क्षेत्रज्ञ है। वही आत्मा है। वह परात्पर, पुरुषोत्तम, परमात्मा, ईश्वर से भिन्न नहीं। उसका ही एक भाव है, उसकी ही प्रकृति है। जैसे पैसे की दो तरफें होती हैं ठीक वैसे ही यह प्रकृतियाँ पुरुषोत्तम की दो तरफें हैं। उससे भिन्न न होते हुए भी भिन्न हैं और भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं।

स्थाणु का शाब्दिक अर्थ है जो स्थिर रहने वाला हो। खम्बा स्थाणु कहलाता है, क्योंकि उसे हिलाना-डुलाना मुश्किल होता है। जहाँ गाड़ दिया जाता है गड़ा रहता है। स्थान का परिवर्तन नहीं होता है। यही आत्मा की विशेषता है। आत्मा में प्रदेश है, आत्मा प्रदेश (स्पेस) में नहीं। वस्तुएँ उसके भीतर चलती फिरती हैं, जैसे तालाब में मछलियाँ। आत्मा चले तो किसमें? उसका बदलाव हो, तो किस की अपेक्षा से? चलता-फिरता शरीर है। बिजली की गाड़ी चलती है, बिजली-घर तो चलता-फिरता नहीं। आत्मा हमारी सत्ता का विशाल भाव है। उसमें प्रवेश पा जाना, उसमें जग उठना, स्थाणु की तरह हमेशा के लिए अडोल हो जाना है। आत्मा की स्थिरता प्रकट होती है मन बुद्धि में, धीरे-धीरे जब हम आत्म-भाव में जग जाते हैं।

स्थाणु जड़ होता है, परन्तु आत्मा तो चेतन है। इतना अन्तर स्मरण रखना है। अचल वह है जो चलायमान न हो। सभी कुछ यहाँ परिवर्तनशील है। गुणमयी प्रकृति तो चञ्चल है। **'चलं च गुणवृत्तम'** – गुणों का स्वभाव है चलायमान होते रहना, बदलते रहना। पल-पल परिवर्तन ही इस संसार का संसारीपन है। आत्मा इससे नितान्त विपरीत है। आत्मा में परिवर्तन नहीं, जैसे संसार में – बाह्य जगत् में – परिवर्तन होता है। परिवर्तन बाहर की वस्तुओं की अपेक्षा हो सकता है और अपने ही भीतर भी। शरीर में दोनों प्रकार के

परिवर्तन होते हैं। चलना, फिरना बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा परिवर्तन है और भीतर खून का दौड़ना आदि भीतरी परिवर्तन है। जो वस्तु गुणों वाली है उसमें दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। स्थाणु कहने से बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा परिवर्तन का अभाव सूचित होता है और अचल कहने से भीतर के परिवर्तन का। आत्मा एक रस है, वह गुणनिर्मित नहीं, गुणातीत है। उसके अचल होने पर भी उसमें छिपी चेतना की स्फूर्ति होती ही है। वह स्फूर्ति प्रकृति के द्वारा लक्षित होती है, मन, बुद्धि आदि के द्वारा प्रकट होती है। अचल होते हुए भी यह परिवर्तन होता है। यह आत्मा का अलौकिक भाव है। यही आत्मा का विकास कहा जाता है।

'सनातन' शब्द का अर्थ है सदातन, जो सदा से हो और सदा के लिए हो। काल की सीमाओं से आत्मा परे है, इतना इस शब्द से जाना जाता है। आत्मा मरता नहीं, कभी पैदा नहीं होता। इसकी अपेक्षा से वस्तुएँ प्रकट होती और लीन हो जाती हैं, परन्तु यह नित्य है। काल की क्रीड़ा इसी परदे पर होती है। मृत्यु का नृत्य और जन्म का महोत्सव इसी चित्रपट पर होता है। यह चित्रपट हमेशा नवीन ही नवीन रहता है। काल इसको पुराना नहीं कर पाता। उस का रंग ही इस पर नहीं बैठता। ऐसी अद्‌भुत है हमारी सत्ता। हम जन्म-जन्मान्तर के, अनेक शरीरों के साक्षी बने वज्र स्तम्भ की तरह अडिग खड़े रहते हैं। सारा नज़ारा हमारे आगे से गुज़रता रहता है।

आगामी श्लोक (25) में आत्मा का और अधिक वर्णन करने की चेष्टा की गई है। अव्यक्तोऽयम् – यह आत्मा जिसकी चर्चा ऊपर हुई है, अव्यक्त है। व्यक्त प्रकट को कहते हैं। जो दिखाई पड़ जाय, वही व्यक्त होता है। परन्तु हमें तो गहराई में जाना होगा। जिस प्रकार आँख एक इन्द्रिय है वैसे ही दूसरी इन्द्रियाँ भी हैं। जो वस्तु आँख के लिए प्रकट नहीं, वह स्पर्श की इन्द्रिय त्वचा के लिए प्रकट हो सकती है। वायु आँख से नहीं दीखती, परन्तु स्पर्श से जानी जाती है। इसी प्रकार से गन्ध भी नाक से सूँघ कर जानी जा सकती है, यद्यपि उसे आँख से देखा नहीं जा सकता। स्वाद की भी यही बात है और शब्द की भी। जो इन्द्रियों से जाना जा सके वह व्यक्त कहलाता है। जो न जाना जा सके उसे अव्यक्त कहते हैं। यह 'व्यक्ति' की मोटी सीमायें है। आत्मा इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। वास्तव में इन्द्रियों में बैठा हुआ आत्मा ही जानता है। भला उस जानने वाले को कौन जान पाये? आँख

से तो देखने का काम यन्त्र मात्र है, देखने वाला तो भीतर आत्मा है। यदि आत्मा का ध्यान नहीं होता तो खुली आँख से भी नहीं देखा जाता। जैसे बिजली के बिना प्रकाश नहीं होता, बल्ब के लगे रहने पर भी। इसी प्रकार से आत्मा की विद्युत (बिजली) के बिना इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं। आत्मा की सत्ता ही इन्द्रियों में काम करती हुई बाहर के जगत् को जानती है। उपनिषद् में कहा है –

विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्।

विज्ञाता को (जो विशेष रूप से जानने वाला है) किसके द्वारा जानेगा? आँख से बाहर की दुनिया तो देख सकते हैं, परन्तु जो स्वयं देखने वाला आँख के भीतर छिपा है उसे कैसे जाना जाय आँख से? केनोपनिषद् इस विषय को खूब स्पष्ट कर देती है।

अचिन्त्योऽयम् – यह आत्मा अचिन्त्य है। जिसका चिन्तन हो सके वह चिन्त्य और जिसका न हो सके वह अचिन्त्य कहलाता है। मन, बुद्धि के योग से होने वाली क्रिया चिन्तन कहलाती है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए संस्कारों का एकीकरण मन करता है। वह छठी इन्द्रिय (मन) सब इन्द्रियों को एक कर देता है। जिससे बाहर की तस्वीर पूरी हो जाती है भीतर बुद्धि उस तस्वीर को समझती है उसका दूसरी पिछली अनुभूत तस्वीरों के साथ सम्बन्ध जोड़ती है, सत्य असत्य का, उचित अनुचित का, आवश्यक अनावश्यक आदि का विचार करती है, तौलती है और निर्णय करती है। इसी को विवेक कहते हैं। जिसकी कोई तस्वीर बनी हो उसी के बारे में बुद्धि की क्रिया सम्भव है। जिस विषय में इन्द्रियों की गति नहीं, उस विषय में मन की क्या पहुँच? और जहाँ मन की गति नहीं वहाँ बुद्धि क्या कल्पना करेगी? किसकी किससे तुलना करेगी? इसलिए आत्मा को अचिन्त्य कहा है। वास्तव में आत्म-सत्ता जिसकी यहाँ चर्चा हो रही है। मन बुद्धि से परे है। **यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य। 'मनसा सह'** – जिस तक बिना पहुँचे ही, मन के साथ वाणी लौट आती है, ऐसा उपनिषद् में वर्णन आता है आत्मा का।

अविकार्योऽयमुच्यते – यह (आत्मा) अविकार्य कहा जाता है। जिसमें विकार की सम्भावना हो उसे विकार्य कहते हैं। जिसमें विकार न हो सके उसे अविकार्य कहते हैं। विकार जाना जा सकता है इन्द्रियों के द्वारा, मन

बुद्धि के द्वारा। जहाँ इनकी ही गति नहीं, वहाँ विकार की सम्भावना ही क्या?

इन्द्रियों के जन्म से परे विकार की कल्पना ही नहीं हो पाती है। यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि स्थूल इन्द्रियों के अतिरिक्त सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी होती हैं और स्थूल जगत् के अतिरिक्त सूक्ष्म जगत् भी होता है। चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, इन्द्रिय का काम माप डालने का होता है, वही इन्द्रियों का विषय होता है। आत्मा तो सूक्ष्म इन्द्रियों का भी विषय नहीं है। उसमें विकार की कल्पना नितान्त असम्भव है। इसलिए उसे अविकार्य-अविकारी कहा है।

यह सभी कुछ कूटस्थ अक्षर पराप्रकृति के बारे में कहा गया है। यही आत्म-सत्ता है। यह परमेश्वर या पुरुषोत्तम का अंश है। यही हमारी आत्मा है, अमर अविनाशी जन्म-जन्मान्तर में एक ही रहने वाली सत्ता है। यही हमारा वास्तविक आपा है। जैसे तागे पर मणियाँ होती हैं, वैसे ही इस पर पिरोए हैं जीवनों के मनके।

इसलिये इस (आत्मा) को ऐसा जानकर हे अर्जुन! तुम्हें शोक करना उचित नहीं है, प्रभु ने अर्जुन को कहा।

यदि हम आत्मा को ऐसा जानें, तो मृत्यु के लिये शोक की गुंजाइश नहीं रहती। आत्मा के लिए मृत्यु तो सूर्य के लिए अन्धकार है। जैसे सूर्य कभी अन्धकार को देख नहीं सकता, वह उसके सामने ही नहीं हो सकता, इसी प्रकार आत्मा के सामने (सम्मुख) मृत्यु हो ही नहीं सकती।

बेहोश हो जाने पर चेतना का लोप नहीं होता, वह स्थूल स्तर से केवल मात्र हट जाती है। मृत्यु होने पर चेतना शरीर से हट जाती है केवल, लुप्त नहीं होती। बादलों के आ जाने से सूर्य दीखने वालों को दीखता नहीं, परन्तु वास्तव में तो वह नष्ट नहीं होता। ठीक ऐसे ही आत्मा चेतनारूप है, चिद्रूप है, उसका अभाव कहाँ?

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥26॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥27॥

और यदि तुम इसे नित्य उत्पन्न होने वाला और नित्य मरने वाला मानते हो, तो भी हे वीर! (विशाल भुजाओं वाले) तुम्हें इसके लिए शोक न करना चाहिए।।26।।

जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित ही है और जो मरा है उसकी उत्पत्ति निश्चित ही है। इसलिये जिस विषय में रोक नहीं हो सकती, उस विषय में तुम्हें शोक न करना चाहिये।।27।।

भगवान् ने अर्जुन को बताया कि आत्मा अमर है। शरीर ही नष्ट होता है। फिर दूसरे पक्ष से भी बात उठाते हैं। यदि तुम मनुष्य को लौकिक दृष्टि से ही देखते हो स्थूल पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करके, तो तुम्हें शोक तो करना ही नहीं चाहिये। तात्विक दृष्टि से तो आत्मा के लिये वास्तव में जन्म और मृत्यु है ही नहीं। वह तो सदा से सदा के लिये है। लौकिक स्थूल-दृष्टि से ऐसे लगता है कि व्यक्ति पैदा होता है, बढ़ता है, मर जाता है। मरता हुआ भी व्यक्ति पूरी तरह से नष्ट नहीं होता। उसमें से कुछ रह जाता है, जो फिर जन्म ले लेता है। पौधा बड़ा होता है, बढ़ता-बढ़ता किसी दिन वह मर जाता है, परन्तु मरने से पहले ही वह बीज छोड़ देता है जिससे मानो वही फिर पौधा हो जाता है।

भगवान् का आशय था – यदि अर्जुन इस गहरी ज्ञान की बात को भी न समझे तो यह लौकिक दृष्टिकोण भी तो वही बात बताता है।

जो पैदा होता है वह मरता है, इतना समझना आसान है, परन्तु जो मरता है सो पैदा होता है, यह समझना ज़रा कठिन है। शास्त्र का निर्देश और लोक-विश्वास ही इसके पीछे है। वैज्ञानिक दृष्टि से विनाश-सी कोई घटना सम्भव ही नहीं, रूपान्तर मात्र होता है। घड़े से मिट्टी और मिट्टी से घड़ा। जलने पर लकड़ी का रूपान्तर मात्र होता है। उसके अणु दूसरे रूप में आकाश में स्थिर रहते ही हैं। कालमात्र में वह रूप बदलते चले जाते हैं। कभी अदृश्य होते हैं और कभी फिर दृश्य हो जाते हैं। मृत्यु और जन्म रूपान्तर मात्र ही तो होता है। वहाँ दूसरे प्रकार का रूपान्तर भी स्वाभाविक ही है। कर्म की गति व्यक्ति को खींचकर ले आती है इसी स्थूल स्तर में।

यहाँ प्रश्न पैदा हो सकता है – यदि ऐसा है तो क्या इस जन्म-मरण से कभी छुट्टी नहीं मिल सकेगी? यह जो बात गीता के इस श्लोक में कही है,

वह सामान्य स्थिति के विषय में है। जन्म-मरण से छुटकारा सम्भव है यह तो गीता स्वयं ही कई स्थलों पर प्रतिपादित करती है।

'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये' बुढ़ापा और मृत्यु से छूटने के लिये जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं। (अध्याय 7, श्लोक 29) **'पुनर्जन्म न विद्यते'** उनका पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि।

यदि मरना और पैदा होना स्वाभाविक ही है तो शोक करने की क्या आवश्यकता? यदि यह रूपान्तर संसार में चलता ही है तो दु:ख कैसा? कोई अनहोनी बात नहीं जो हो जायगी, यदि वह मर जायेंगे। यह जो पैदा हुये हैं इन्हें तो मरना है ही, तुम क्या अद्‌भुत बात करने जा रहे हो, जो युद्ध-क्षेत्र में इन्हें मारोगे?

इसी बात को आगे वाले श्लोक में अधिक स्पष्ट किया है –

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:', जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित ही है। **'हि'** निश्चय को बताता है और **'ध्रुव'** बिल्कुल निश्चित को। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि पैदा होने वाले को किसी दिन मरना होगा। कोई कल्पान्त जीवी हो सकता है। कोई सप्त कल्पान्त जीवी भी हो सकता है। परन्तु शरीर कभी तो छूटेगा ही। यह सृष्टि ही प्रलय को प्राप्त हो जाती है। जिन अणुओं के तन-मन बनते हैं वह तो लय हो जाते हैं। तन, मन रह ही कैसे सकते हैं?

'ध्रुवं जन्म मृतस्य च', जो यह लोग मर जायेंगे वह फिर पैदा हो जायेंगे, क्योंकि मृत्यु के बाद जन्म का क्रम निश्चित है।

इसलिए शोक करना उचित नहीं। तुम्हारे शोक करने से होगा भी क्या? तुम मरने से किसी की रक्षा नहीं कर सकते और जो मर जायगा उसे उत्पन्न होने से बचा नहीं सकते, तो शोक करना व्यर्थ है। यह विषय अपरिहार्य है। इससे बचाव असम्भव है। जिस विषय में हम कुछ रोक-थाम नहीं कर सकते उस विषय में दु:खी होना व्यर्थ ही है।

बात कितनी सीधी है परन्तु समझ में कठिनाई से आती है। किसी इष्ट-मित्र की मृत्यु होने पर, किसी सगे-सम्बन्धी के देह छोड़ने पर लोग व्याकुल हो जाते हैं। पहिले तो यह ज्ञान ही भूल जाता है। व्यक्ति को विश्वास नहीं होता। यदि मस्तिष्क यह समझता है कि रोना-धोना बेकार है, जो चला गया है वह तो लौटने का नहीं, तो भी मन मानता ही नहीं। बलात्

शोक घेरे रहता है। संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जीवन निस्सार लगता है। उसी की विचार-परम्परा सिर पर सवार रहती है। समझ सभी निष्फल होती है। बुद्धि को हृदय पर कितना अधिकार प्राप्त है, इस बात की समझ ऐसी परिस्थिति में ही आ पाती है। दूसरों के लिये ज्ञान-चर्चा करना सुगम होता है परन्तु अपने मन को चोट के अवसर पर थामे रखना कठिन होता है।

अर्जुन भी हृदय-प्रधान था और प्रधानतया उसी पर चोट लगी थी। इस ज्ञान-चर्चा को हृदय नहीं समझ रहा था। वास्तव में हृदय का मस्तिष्क नहीं होता। उसको प्रभावित करने के लिए तो बुद्धि से परे के किसी तत्व की आवश्यकता होती है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।28।।

'हे अर्जुन! भूतों का आदि अव्यक्त है, मध्य व्यक्त है, अन्त भी अव्यक्त है। इस विषय में शोक किस बात का?'।।28।।

शरीर, मन, बुद्धि सभी भूतों के बने हैं। जो भी परिवर्तनशील सूक्ष्म अथवा स्थूल तत्व है वह भूत कहा जाता है। जो व्यवहार में आने वाली सत्ता है वह भूत ही है। परिमित अर्थात् सीमित (Limited) सत्ता ही व्यवहार में आ सकती है। ऐसी सत्ता का आदि अव्यक्त है। प्रकट को व्यक्त कहा जाता है और जो प्रकट न हो वह अव्यक्त कहा जाता है। इन्द्रियों अथवा मन, बुद्धि से जिसका संयोग हो सके वह विशाल अर्थ में प्रकट कही जा सकती है। जन्म तथा मृत्यु भूतों से सम्बद्ध है। जन्म में भूत स्थूल में प्रकट हो जाते हैं और मृत्यु में वही भूत सूक्ष्म में चले जाते हैं, स्थूल दृष्टि के लिये अव्यक्त हो जाते हैं।

भूतों का आदि अव्यक्त है, प्रकृति से ही सभी भूतों की उत्पत्ति होती है। वह प्रकृति अव्यक्त है। भूतों की लय अवस्था में किसी भी प्रकार से उनकी प्रतीति सम्भव नहीं। सृष्टि काल, जो भूतों का मध्य है, उसमें यह प्रकट हो जाते हैं। मन, बुद्धि और स्थूल में इन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय हो जाते हैं और व्यवहार में आते हैं। फिर प्रलय अवस्था में सभी खेल समाप्त हो जाता है, जैसे सोए हुए व्यक्ति की इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, जैसे सन्ध्या समय

प्रकाश लीन हो जाता है, ऐसे ही सभी भूत जैसे अव्यक्त प्रकृति में विलीन हो जाते हैं।

जो क्रम प्रकृति और भूतों का है वही मनुष्य का है। जन्म से पूर्व मनुष्य सूक्ष्म में रहता है। तब वह स्थूल दृष्टि के लिये अव्यक्त होता है। जन्म लेने से मरने पर्यन्त वही प्रकट होता है। जीवन-लीला चलती है। हम उससे बर्तते हैं, उसे देख सुन सकते हैं। मृत्यु पर फिर वह अव्यक्त हो जाता है, देखने-सुनने में नहीं आता। यह स्वाभाविक है। यह धर्म ही है भूतों का। मृत्यु के विषय में शोक करने की बात ही कौन-सी है? अतः शोक करना नासमझी है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥29॥

आत्म विषयक चर्चा का 29वें तथा 30वें श्लोकों में उपसंहार किया गया है।

कोई व्यक्ति आत्म-तत्व को आश्चर्य से देखता है, कोई आश्चर्य से भरा हुआ इसकी चर्चा करता है और कोई आश्चर्य-चकित हुआ इसके विषय में सुनता है और कोई तो सुनकर भी इसे समझ नहीं पाता।।29।।

भगवान् अर्जुन को बताना चाहते हैं कि जिस विषय का वर्णन उन्होंने उसके सामने किया है वह सामान्य विषय नहीं है। वह अलौकिक है और गहन है। आत्मतत्व सभी सांसारिक वस्तुओं से नितान्त भिन्न है। उसको सांसारिक वस्तुओं की उपमा से समझा नहीं जा सकता। संसार की वस्तुयें देश तथा काल से सीमित हैं, उत्पन्न होने वाली और नष्ट हो जाने वाली हैं। परन्तु आत्मा असीम तथा नित्य है, वह शाश्वत है, सब स्थान में पहुँची हुई वह कभी मरती नहीं। इसलिये वह सभी प्रकार से आश्चर्य का विषय हो जाती है।

जो कोई इस तत्व को समझ पाता है अथवा अनुभव कर पाता है वह भी आश्चर्य-चकित हो जाता है। वह अनुभूति संभालनी कठिन हो जाती है।

मानसिक सन्तुलन को अनुभव के उपरान्त बनाये रखना भी समस्या हो जाती है किन्हीं लोगों के लिये। जब जानने वाला इसकी चर्चा करने लगता है तो वह भी स्वयं चकित हो जाता है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' यह एकदम छोटे से छोटा भी है और बड़े से बड़ा भी है। 'तद्दूरे तद्वन्तिके' वह दूर भी है और समीप भी है। जितना-जितना इस आत्मतत्व का विवेचन किया जाता है उतना ही विस्मय होता है। साधारण व्यक्ति को विस्मय हो तो कोई अचम्भा नहीं। इसे अनुभव करने वाला भी तो विस्मित हो जाता है, सुनने वाले का तो कहना ही क्या? वह आश्चर्यचकित हुआ इसको सुनता है। सुनने पर भी विरले व्यक्ति ही इसे समझ पाते हैं।

आत्मतत्व बहुत सूक्ष्म तत्व है। तीव्र तथा स्थिरमति वाला व्यक्ति ही ऐसे गहन विषय में प्रवेश कर सकता है। साधारण और कच्ची बुद्धि वाले की इस विषय में गति नहीं। कठोपनिषद् में यम इसी विषय में नचिकेता से कहते हैं –

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥

वास्तव में यह तर्क का विषय ही नहीं। साधना के द्वारा अन्तर निर्मल होने पर बोधवान् व्यक्ति के द्वारा ही यह समझा जा सकता है।

भगवान् की बातें सुनते-सुनते मानो अर्जुन कुछ घबरा-से गये हों। वह विषय को पूरा ग्रहण न कर पाये। उसे आश्वासन दिया है – 'यदि तुम इसे अच्छी तरह समझ नहीं पाये तो कोई विस्मय नहीं, यह बात ही ऐसी है।'

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥30॥

इस प्रसंग का यह अन्तिम श्लोक है। सारे वक्तव्य का सार कहते हैं – हे भारत! सब के देहों में रहने वाला यह देही (आत्मा) मारा नहीं जा सकता। इसलिये तुम्हें किसी भी प्राणी के विषय में शोक नहीं करना चाहिये॥30॥

आत्मा अमर है। देह नश्वर है। यह बात केवलमात्र मनुष्य पर ही लागू नहीं है। सभी प्राणियों में ऐसा ही है। अतः किसी भी भूत के विनाश के

लिये तुम्हें शोक न करना चाहिये। मृत्यु केवलमात्र तत्वों का रूपान्तर है। उनके पीछे आत्मा सदैव एकरस ज्योति है जिस पर इस रूपान्तर का प्रभाव नहीं पड़ता। यह रूपान्तर अवश्यम्भावी है। इसे रोका नहीं जा सकता। अतः इस रूपान्तर के लिये शोक करना नासमझी है। आत्म-सत्ता का तो कुछ बिगड़ता ही नहीं मृत्यु से। अतः उसके लिये भी आदमी क्या सोच करे?

मृत्यु-तत्व का विवेचन यहाँ पूरा होता है और आत्मतत्व का भी। यह सब इसलिये कहा गया है कि अर्जुन जो दूसरों की मृत्यु के भय से युद्ध से पराङ्मुख हो रहा है, वह युद्ध करने के लिये तैयार हो जाय। यदि इस तत्व को वह ठीक समझ जायेगा तो उसका उद्वेग शान्त हो जायेगा और वह फिर से डट जायेगा।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।31।।
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।32।।

अपने धर्म को देखकर भी तुम्हें चलायमान नहीं होना चाहिये। क्योंकि निश्चय ही क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध से अधिक कल्याणकर और कुछ है ही नहीं।।31।।

अपने आप (बिना बुलाये) प्राप्त हुआ (यह युद्ध मानो) स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है। हे अर्जुन! भाग्य वाले क्षत्रिय ही ऐसे युद्ध (के अवसर) को प्राप्त करते हैं।।32।।

आत्मा की अमरता का भलीभाँति वर्णन करने के उपरान्त भगवान् स्वधर्म के दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। वास्तव में केवलमात्र आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को समझ लेने से सभी समस्यायें तो हल हो नहीं जातीं। यदि हम मिथ्यात्व का अवलम्बन लें, अर्थात् यह सोचने लगें कि यह संसार मिथ्या है तो समस्याओं का निराकरण तो हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु जिसे जीवन व्यतीत करना है उसे तो समस्याओं के हल की आवश्यकता है। निराकरण करने से, सभी कुछ मिथ्या कह देने से, पाप और पुण्य को, लाभ और हानि को और सुख-दुःख को मिथ्या कह देने से,

शरीर को भी शश-शृंगवत् (खरगोश के सींग की तरह मिथ्या) कहने से रास्ता नहीं दिखाई पड़ता। जो व्यक्ति जियेगा उसके सामने तो करणीय और अकरणीय के, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के प्रश्न अवश्य आयेंगे और उसे हल किए बिना वह कर ही क्या सकेगा? अर्जुन के सामने भी तो ऐसा ही प्रश्न था। शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है, यह मान लिया तो भी युद्ध हम क्यों करें? यह कर्म तो घोर दीखता ही है। अनेकों बालक अनाथ और स्त्रियाँ विधवा हो जाएँगी। अनेकों वीर मौत के घाट उतरेंगे। इतनी हानि होगी। आखिर युद्ध करें तो क्यों? क्यों न इसको छोड़कर जंगल में जाकर अथवा किसी प्रकार से अपना जीवन निर्वाह किया जाय?

इस प्रश्न का उत्तर गीता की धुरी है, गीता के उपदेश का मूलतत्व स्वधर्म ही है। इसके बिना गीता गीता नहीं रहती और इसे समझ लेने से गीता की कुंजी हाथ लग जाती है।

कर्म करने के लिए प्रेरणा कहाँ से आती है? वह प्रेरणा क्या होती है? सामान्य व्यक्ति क्यों कर्म करता है? शारीरिक आवश्यकतायें भूख, प्यास, वस्त्र और आश्रय की आवश्यकता मनुष्य को कर्म करने के लिये प्रेरित करती है। आत्मरक्षा भी कर्म की प्रेरक होती है। आत्मवृद्धि का भाव भी प्राय: व्यक्ति को कर्म में प्रेरित करता है। विशाल दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है – प्रतिकूलता (दु:ख) को दूर करना और अनुकूलता (सुख) को लाना प्राय: कर्म की द्विविध प्रेरणा होती है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता चला जाता है, इसके अनेक रूप हो जाते हैं।

बाह्य जगत् में किसी प्रकार के फल की प्राप्ति ही व्यक्ति को कर्म की ओर प्रेरित करती है। उस फल का स्वरूप प्रतिकूलता (दु:ख) को मिटाना या दूर करना हो अथवा अनुकूलता (सुख) की प्राप्ति हो। इस प्रकार से प्रेरित हुआ व्यक्ति कर्म करता है और कर्म के द्वारा उसमें रजोगुण का विकास होता है, क्रियाशीलता आती है, सोचने समझने की शक्ति प्रकट होती है और फिर सुख-दु:ख की अनुभूतियों के द्वारा हृदय का भी विकास होता है। जिस फल की प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है वह तो प्राप्त होते और क्षीण होते चले जाते हैं। रुपया कमाया जाता है और उसे खर्च कर डाला जाता है। कोई बड़ा पद चेष्टा करके पाया जाता है, परन्तु वह हमेशा रहता नहीं। परन्तु यह सभी कुछ पाने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह

व्यक्ति की विभिन्न शक्तियों के विकास का कारण हो जाता है। व्यक्ति का यह विकास स्थायी होता है। बाह्य फलों के नष्ट होने के साथ इसका विनाश नहीं होता। उदाहरण लीजिए:- जो पाठ स्कूल में पढ़े गये थे वह तो भूल जाते हैं। परन्तु उसके पढ़ने के प्रयत्न से होने वाला मस्तिष्क का परिष्कार बना रहता है।

मानव-चेतना के विकास के लिये कर्म आवश्यक है। तमोगुण से रजोगुण में प्रवेश इसी के द्वारा हो सकता है और तभी यह सम्भव होता है कि व्यक्ति सत्व में प्रवेश कर पाए। तमोगुण से सीधा ही सत्वगुण में जाना असम्भव है।

स्वधर्म इसी सत्य पर आश्रित है। कर्म विकास का साधन है, इसलिए करना ही चाहिये। अब प्रश्न होता है, कर्ममात्र विकास का साधन तो है ही, परन्तु क्या सभी कर्म सभी के लिए समान रूप से विकास के सहायक हैं? सभी कर्म सभी के लिए हितकर नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति की विशेषतायें हैं। उसमें पहिले भी कुछ विकास हो चुका है। जो कर्म उस विकास के अनुकूल होगा वह उसके लिये अधिकाधिक लाभदायक होगा।

वर्ण-व्यवस्था इसी आधार पर आश्रित थी। गुण-संस्कार के अनुसार व्यक्ति को विशेष वर्ण में जन्म-लाभ होता था। ब्राह्मण संस्कार वाले और ब्राह्मणों के सहज कर्म द्वारा आगे बढ़ सकने वाली आत्मायें ब्राह्मण-वर्ण में शरीर ग्रहण करती थीं और ब्राह्मण का स्वधर्म पालन करने से अधिकाधिक विकास कर सकती थीं। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी। जिस प्रकार से पहले दर्जे की योग्यता वाले व्यक्ति का अधिक हित इसी में है कि उसे पहले दर्जे में भरती किया जाय और वह उसी दर्जे के पाठों को दत्तचित्त होकर पढ़े, ठीक ऐसे ही शूद्र का हित इसी में है कि वह अपने वर्ण के कर्मों को निभाये। पहले दर्जे का विद्यार्थी यदि तीसरे दर्जे को ऊँचा समझ कर उसमें जाने की चेष्टा करे, तो वह उसके लिये हितकर न होगा। ठीक ऐसे ही शूद्र के लिये क्षत्रिय बनने की चेष्टा।

यह वर्ण-व्यवस्था धार्मिक-विकास की जनयित्री थी। शूद्र अपने धर्म का पालन करके किसी आगामी जन्म में वैश्य, वैश्य अपने स्वधर्म पालन के द्वारा क्रमशः क्षत्रिय और फिर ब्राह्मण शरीर में तप करके, स्वाध्याय और उपासना के द्वारा अपने को शुद्ध कर, वेदान्त के तत्वज्ञान का अधिकारी बना

लेता था और संन्यास ग्रहण करके शरीर छोड़कर ब्रह्मलीन हो सकता था।

इस प्रकार से वर्णव्यवस्था एक स्कूल की भाँति थी। जो भी इस व्यवस्था के अनुसार समाज में आते थे और अपने वर्ण के धर्म का पालन करते थे, वह आगे ही आगे बढ़ते चले जाते थे। उन्हें आगे बढ़ने का एक आसान साधन प्राप्त हो जाता था और समाज को इसमें बहुत लाभ होता था। समाज में कार्य-विभाजन सुचारुरूप से हो जाता था। अत: कार्य में विशेष क्षमता विभिन्न वर्णों में प्रकट हो जाती थी और समाज में सन्तुलन बना रहता था।

इसलिए स्वधर्म का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। स्वधर्म का पालन करके व्यक्ति अपना भी कल्याण करता है और साथ ही साथ समाज के लिये उपयोगी होता है।

स्वधर्म की दृष्टि व्यक्ति में से फलासक्ति को स्वत: निकाल देती है। कर्त्तव्य का भाव प्रधान हो जाता है। किसी दूसरे वर्ण के कर्म में अपेक्षया सांसारिक दृष्टि से अधिक लाभ दीखने पर भी हमें तो अपना ही कर्म करना है। सांसारिक लाभ तो सम्भव है दूसरे का कर्म करने से हो जाय, परन्तु उससे जो पाप होगा, अध्यात्मदृष्टि से जो अहित होगा, वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक होगा। सांसारिक लाभ तो यहीं रह जायगा। अध्यात्महानि तो हमारे साथ जायेगी। अत: हमारे लिए सबसे हितकर है हमारा कर्म, क्योंकि यह हमारा स्वधर्म है – हमारे अध्यात्म-कल्याण की सीढ़ी है। सांसारिक हानि-लाभ, जो फलासक्ति के मूलभूत हैं, नगण्य हो जाते हैं। अत: स्वधर्माचरण से व्यक्ति का अन्त:करण शुद्ध होता चला जाता है, उसके भीतर समता और दृढ़ता आती चली जाती है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तू क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न हुआ है। क्षत्रिय-शिक्षा पा रक्खी है। क्षत्रिय के लिए युद्ध स्वधर्म है। उसके कल्याण का मार्ग है। इस बात का विचार करते हुये भी तुझे युद्ध से चलायमान नहीं होना चाहिये। स्वधर्म में तो पाप की कल्पना ही नहीं हो सकती। स्वधर्म तो कल्याणकर है क्योंकि वह स्वधर्म है। भले ही वह युद्ध हो, भंगी का कर्म हो अथवा राज्य-शासन हो। अर्जुन के लिए युद्ध ही कल्याण का मार्ग है।

क्षत्रिय के लिये तो धर्म-युद्ध से अधिक कल्याणकर कुछ हो ही नहीं सकता।

धर्म-युद्ध! हिंसा-अहिंसा की समस्या को उठाने वाले कहते हैं युद्ध तो हमेशा अधर्म है। वह धर्म के प्रतिकूल होता है। उसमें हिंसा है। वह धर्म हो ही कैसे सकता है? वास्तव में स्वधर्म में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। यदि वह हमारा स्वधर्म है, अर्थात् हमारे कल्याण का मार्ग और हमारा समाज के प्रति कर्त्तव्य है तो वहाँ कैसी हिंसा? किसी को दु:खी करना अथवा किसी प्रकार के सांसारिक लाभ को प्राप्त करना हमारा उद्देश्य ही नहीं। हम तो अपने कर्त्तव्य का पालनमात्र ही करते हैं। उसका जो भी बाह्य जगत् में प्रभाव हो, सो हो।

मानव-विकास की शैली और क्रम को विशाल दृष्टि से देखने वाला तो इस तर्क को समझ सकता है, परन्तु संकुचित दृष्टि वाला इसे समझ नहीं पाता। हिंसा-अहिंसा, जीवन-मृत्यु, सुख-दु:ख, हानि-लाभ – ये सभी इस विकास के लिये अवश्यम्भावी हैं। अन्त:करण का आसक्ति से रहित होते जाना व्यक्ति के कल्याण की ओर प्रवृत्त होने का अचूक लक्षण है। ऐसे ही समता और बुद्धि की स्थिरता। स्वधर्म का आचरण यह सब कुछ ले आता है। दूसरा, समाज विकास की आदर्श स्थिति में पहुँचा हुआ नहीं है। बाह्यदृष्टि से हिंसा-अहिंसा दोनों ही सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। डाकू को सजा भी देनी आवश्यक है और वह समाज के किसी अंगभूत व्यक्ति के द्वारा ही दी जायेगी। समाज की रक्षा भी आवश्यक है और उसके लिए शस्त्र उठाना भी आवश्यक हो सकता है। अत: युद्ध भी स्वधर्म हो सकता है। क्षत्रिय के लिए युद्ध ही स्वधर्म है जैसे आज देश के सैनिक के लिए।

कौन सा युद्ध धर्म होता है? धर्म का अर्थ है धर्मानुकूल। जो युद्ध अत्याचार से धर्म की रक्षा के लिए किया जाय, जो किसी निर्बल के बचाव के लिए किया जाय, जिसमें दूसरे पर अत्याचार न हो, वह धर्मानुकूल है। महाभारत का युद्ध न्याय की स्थापना के लिए था, अन्याय की रोकथाम के लिए था, अत: धर्मानुकूल था।

युद्ध सबसे अधिक कल्याणकारी क्यों है? गीता के 18वें अध्याय के श्लोक 43 में क्षत्रिय के कर्मों का वर्णन किया गया है –

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥18/43॥

शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में न भागना, दान देना और शासन करना, यह क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

इन सभी में युद्ध ऐसा कर्म है जो अधिकाधिक त्याग माँगता है। क्षत्रिय युद्ध-क्षेत्र में प्राणों की बाज़ी लगा कर जाता है। यह त्याग उसे बहुत पवित्र कर देता है। सांसारिक प्रलोभन सभी गौण हो जाते हैं। जीवन की लालसा भी शान्त हो जाती है। इस महान् त्याग के कारण ही युद्ध सबसे अधिक कल्याणकर होता है।

इतना समझ लेना चाहिए कि स्वधर्म वर्ण-व्यवस्था के आधार पर खड़ा है और वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

यदि वर्ण-व्यवस्था के मूल में गुण, कर्म नहीं हों तो स्वधर्म भी निष्प्रयोजन हो जायेगा। यदि किसी ब्राह्मण में ब्राह्मणानुकूल गुण और कर्म नहीं हो तो वास्तव में वह ब्राह्मण नहीं। ऐसे ब्राह्मण का स्वधर्म उसका स्वधर्म नहीं रह जाता। ऐसे ब्राह्मण का स्वधर्म उसके कल्याण का हेतु नहीं हो सकता। तीसरे दर्जे की योग्यता वाला विद्यार्थी यदि गलती से चौथे में भर्ती कर लिया जाय तो चौथे दर्जे के पाठ उसके लिए लाभदायक न होंगे। उसे तो अपनी योग्यता के अनुकूल तीसरे दर्जे के पाठ पढ़ने चाहियें, अन्यथा वह आगे न बढ़ पायेगा।

वर्ण-व्यवस्था की समुचित स्थिति वह है जिसमें अनुकूल गुण, कर्म वाली आत्मायें ही उस वर्ण में जन्म लेती हैं। ब्राह्मण वास्तव में ब्राह्मण संस्कारों वाले हैं और क्षत्रियादि क्षत्रियादि-संस्कारों को रखते हैं। इससे विपरीत स्थिति वर्णसंकर की स्थिति है। वर्णसंकर की स्थिति में जन्म से वर्ण का और स्वधर्म का बोध नहीं हो सकता। इसलिये वर्ण-कर्म का करना कल्याण-कर भी नहीं रहता।

आज की अवस्था वास्तव में घोर वर्णसंकर की अवस्था है। सामाजिक-व्यवस्था के बहुत जटिल हो जाने के कारण – सभी प्रकार से व्यवस्था के बदल जाने के कारण आज तो हमें वर्ण-व्यवस्था के अवशेषमात्र ही दिखाई पड़ते हैं और वह भी निष्प्रयोजन हैं। परन्तु जब भगवान् ने अर्जुन से यह कहा था तो ऐसा नहीं था। अर्जुन तो सोलह आने क्षत्रिय था और उसका स्वधर्म था युद्ध करना।

यदृच्छया चोपपन्नम् – बिना बुलाये प्राप्त हुआ युद्ध। पाण्डवों ने तो लड़ाई से बचने का भरसक प्रयत्न किया था। श्रीकृष्ण स्वयं शान्ति करवाने के लिए दूत बनकर गये थे। परन्तु सभी उपायों के असफल होने पर ही युद्ध की तैयारी हुई थी। अतः इस युद्ध की देनदारी कौरवों पर ही थी। अर्जुन के लिये तो बिना बुलाये ही यह उपस्थित हुआ था।

ऐसा युद्ध **'स्वर्गद्वारमपावृतम्'** है। स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है जिसमें व्यक्ति बिना द्वार खोलने के कष्ट के ही भीतर प्रवेश कर सकता है। युद्ध में मरने से क्षत्रिय स्वर्ग को प्राप्त होता है, यह शास्त्र-कथित बात है। **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'** – मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत जायेगा तो पृथ्वी का शासन।

'सुखिनः' का अर्थ है भाग्यशाली, पुण्यवान। इतनी आसानी से स्वर्ग को प्राप्त करने का सुअवसर तो भाग्य वाले को ही मिलता है। स्वर्ग की प्राप्ति के लिए तो लोगों को बड़े-बड़े यज्ञ करने होते हैं। फिर कहीं स्वर्ग प्राप्त होता है। तुम्हें तो यह युद्ध का अवसर मिला है जिससे सहज में स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। अतः युद्ध करने में लाभ ही लाभ है। स्वर्ग की प्राप्ति भी और स्वधर्म का पालन भी।

आगे चलने से पूर्व इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है कि आज की वर्णसंकर की स्थिति में स्वधर्म को कैसे जाना जाय? यह व्यवहार की दृष्टि से नितान्त आवश्यक प्रश्न है। बिना स्वधर्म को ठीक जाने व्यक्ति अनुसरण ही कैसे कर सकता है? बिना स्वधर्म को जाने गीता का उपदेश भी जीवन में चरितार्थ नहीं किया जा सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब वर्ण-व्यवस्था अपने शुद्ध रूप में थी, तो वर्ण ही स्वधर्म का निर्णय कर देता था। जैसे अर्जुन के क्षत्रिय-वर्ण ने उसके लिये उसे स्वधर्म (युद्ध) का निर्णय किया और भगवान् ने उसे पालन करने के लिये प्रेरित किया। परन्तु आज तो ब्राह्मण के परिवार में क्षात्र और वैश्य स्वभाव की आत्मायें जन्म ले लेती हैं। ब्राह्मण भी स्वयं वैश्य-वृत्ति तथा क्षात्र-वृत्ति करते हैं। हम कैसे जानें कि हमें क्या करना चाहिए? जहाँ तक आजीविका का प्रश्न है हमें अपनी प्रवृत्तियों को आँकने की चेष्टा करनी चाहिये। आज पश्चिमी देशों में मनोवैज्ञानिक कई प्रकार के परीक्षण करते हैं यह जाँचने के लिए कि अमुक बालक किस कार्य के लिये अधिकाधिक

उपयुक्त है। बुद्धिमत्ता-परीक्षण (Intelligence Test) का भी प्रयोग किया जाता है। सभी प्रकार के कामों के लिये बालक की योग्यता को आँक कर निर्णय किया जाता है कि इस बालक को किस क्षेत्र में जाना चाहिये। वैसा करने से बालक की सम्भावनाओं को वास्तविकता में प्रकट होने के लिए समुचित क्षेत्र मिल जाता है और समाज को विशेष लाभ होता है। उपयुक्त व्यक्ति के उपयुक्त काम में लगाने से वह कार्य अधिक सुचारुरूप से किया जा सकता है और देश तथा समाज की उन्नति हो सकती है। इस वर्णान्वेषण के तरीके से ठीक परिणाम पर पहुँचा जा सकता है।

परन्तु स्वधर्म का क्षेत्र आजीविका-कार्य ढूँढ़ने तक ही सीमित नहीं। यह तो पग-पग पर रास्ता बताने वाला सूत्र है। जीवन में बहुधा समस्या आ खड़ी होती है, यह करें अथवा न करें। जिस क्षेत्र में हमने आजीविका के लिए प्रवेश किया है उसमें अपने दैनिक व्यवहार में चुनाव की समस्याएँ आती हैं, पाप-पुण्य के निर्णय का, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सुलझाव का प्रश्न उत्पन्न होता है। जैसे अर्जुन के सामने हुआ था, वैसे ही।

स्वधर्म हमारे विकास का सूत्र है। स्वधर्म वास्तव में एक बुद्धि है। जिस व्यक्ति में यह बुद्धि जग गई है वह कहता है, 'मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करता हूँ – अपने प्रति और समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं उनका पालन करता हूँ'। इस बुद्धि से कर्म करने का अर्थ है व्यक्तिगत सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान की गणना न करते हुए जिसे व्यक्ति अपना स्वधर्म (कर्त्तव्य) समझे उसे करे। स्वधर्म से होने वाला लाभ पूर्णरूपेण इस निष्ठा पर ही निर्भर करता है। इस निष्ठा से किया गया कर्म व्यक्ति को अहं के द्वारा होने वाले बन्धन से क्रमशः ऊपर कर देता है। राग-द्वेष और सुख की लालसा से, इतना ही क्या, आसक्तिमात्र से व्यक्ति परे हो जाता है। अतः अन्तःकरण निर्मल होता चला जाता है। जितनी ही आसक्ति नहीं रहती है और व्यक्ति अहं के कारण उलझता नहीं, उतना ही वह कर्म के बन्धन से परे हो जाता है। इस प्रकार से स्वधर्म की निष्ठा व्यक्ति को विकास के पथ पर आगे ले जाती है।

कोई भी काम पुण्य अथवा पापमय हमारे लिये उतनी ही मात्रा में है जितनी मात्रा में हम उसे अनासक्त व आसक्त होकर करते हैं और उतना ही वह हमारे लिए सुख अथवा दुःख के फल का दाता भी हो जायेगा। जब

हमारी निष्ठा स्वधर्म है, जब हमारा लक्ष्य ही पुण्य-पावन होकर कर्त्तव्य करना मात्र है, तो वह कर्म-फल हम पर लागू ही न होगा। आसक्ति की लेई से ही तो कर्म व्यक्ति को बाँधता है और उसके साथ ही साथ उसका फल भी। स्वधर्म की निष्ठा की दृष्टि से तो पाप और पुण्य दोनों समान ही हैं। उनमें से कोई भी फल का दान नहीं कर सकता।

यदि इतनी बात भली भाँति समझ ली जाय तो किसी भी परिस्थिति में स्वधर्म का निर्णय करना कठिन नहीं होता। व्यक्तिगत परिगणना करने से ही व्यक्ति स्वधर्म से भटक जाता है। ऐसा करने से मुझे सुख होगा और जो आत्मीय हैं उन्हें सुख होगा और ऐसा न करने से इसके विपरीत, यह आसक्ति का ही तो प्रभाव है। अत: किसी भी परिस्थिति में स्वधर्म का निर्णय करने के लिये व्यक्ति को अपने को आसक्ति से यथासम्भव बिल्कुल रहित करने की चेष्टा करके विचार करना चाहिये। 'मेरी परिस्थिति की मुझ से क्या माँग है' इस बात पर भली प्रकार विचार करने के बाद बुद्धि जो निर्णय करती है उसे कर्त्तव्य समझकर कर्त्तव्य करने की दृष्टि से करना चाहिये। ऐसा करने से व्यक्ति आगे बढ़ता जायेगा। उसकी आसक्ति दूर होती चली जायेगी और वह उत्तरोत्तर स्वधर्म को अधिक स्पष्ट रूप से समझने लगेगा। यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति यदि गलत सोच ले तो? गलत सोच ले और उसे करे तो भी उसे लाभ ही होगा, यदि उसकी निष्ठा उचित है। वास्तव में स्वधर्म व्यक्ति और परिस्थिति दोनों पर निर्भर करता है। व्यक्ति के बदलने पर, उसके भीतर विकास होने पर, उसी परिस्थिति में भी उसका स्वधर्म बदल जाता है, परिस्थिति के बदलने पर तो वह बदलता ही है। अत: जो आज मेरा स्वधर्म है, सम्भव है कि कालान्तर में मेरा स्वधर्म न रहे। पहिले दर्जे के विद्यार्थी का स्वधर्म है पहले दर्जे की पुस्तक को पढ़ना और दूसरे दर्जे में पहुँचने पर उसी का स्वधर्म दूसरे दर्जे की पुस्तक पढ़ना हो जाता है। बालक वही है उसके आन्तरिक परिवर्तन ने उसका स्वधर्म बदल दिया। अविवाहित-व्यक्ति तथा विवाहित-व्यक्ति के स्वधर्म में अन्तर आ जाता है, परिस्थिति के परिवर्तन मात्र से।

स्वधर्माचरण से, समुचित निष्ठा से, व्यक्ति आगे बढ़ता है। जो उसने पहले किया था उसे अब की दृष्टि से अधूरा लगता है। परन्तु उस समय वह उसी के योग्य था और उसके विकास का रास्ता उसी अधूरे में से होकर ही

था। जो आज उसे पूरा लगता है उसे उस समय वह समझ ही न सकता था और यदि करने की चेष्टा करता तो भीतर से बगावत होती। अतः इस रास्ते में पश्चात्ताप के लिये गुंजाइश ही नहीं। अपने प्रति सच्चा रहने की चेष्टा करनी चाहिये और परिस्थिति के प्रति सच्चा रहने की भी। धोखा नहीं होगा। सांसारिक दृष्टि से घोर पाप भी उससे हो जायें तो वह उसे छूयेंगे नहीं। यह कर्म-विषयक आध्यात्मिक नैतिकता (Spiritual Morality) का सिद्धान्त है। यही कर्मयोग की आधार-शिला है। इसे समझे बिना कर्मयोग समझा नहीं जाता और इसे समझ लेने से कर्मयोग में उलझन नहीं दिखाई पड़ती। निष्ठावान् व्यक्ति ही इस पर चल सकता है। इसीलिये तो बुद्धि की स्थिरता पर इतना ज़ोर दिया गया है। लौकिक मन्तव्यों से विचलित होने से व्यक्ति पथभ्रष्ट होकर विचलित हो जाता है।

स्वधर्म की कसौटी है कि वह हमें विकास के पथ पर आगे ले जाने वाला हो, उसके आचरण से अन्तःकरण निर्मल हो, आसक्ति क्षीण हो और हम प्रभु के समीप हों। स्वधर्म के आचरण की कसौटी यह नहीं कि उसका आचरण हमें यहाँ अथवा परलोक में सुख प्रदान करे। वह तो कर्म के बन्धन का विच्छेदकारी होना चाहिये।

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥33॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥34॥

भयद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥35॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥36॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥37॥

यदि तुम इस धर्मानुकूल युद्ध को न करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त करोगे।।33।।

'प्राणी तेरी अकीर्ति (अपयश) का कथन करेंगे – उस अकीर्ति का जो कभी भी कम न हो पायेगी और (तुम जानते ही हो) जो आदरपात्र हो चुका है, उसके लिए अपयश तो मरने से भी बढ़कर है'।।34।।

'महारथी योद्धा यही मानेंगे कि तुम डरकर युद्ध से हट गये। आज तुम जिनके सम्मान के पात्र हो उन्हीं के सामने हल्के हो जाओगे'।।35।।

'तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए न कहने योग्य बहुत सी बातें कहेंगे। उससे अधिक दु:खकर और क्या होगा?'।।36।।

'तुम मारे जाओगे तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे, यदि जीत जाओगे तो पृथ्वी का उपभोग करोगे। इसीलिये, हे अर्जुन! युद्ध करने का निश्चय करके खड़े हो जाओ'।।37।।

लोकेषणा मनुष्य की बड़ी कमज़ोरी होती है। संसार में जो जितने बढ़े-चढ़े होते हैं उतना ही इससे अभिभूत हो जाते हैं और अपनी कीर्ति को बनाये रखने के लिए उत्सुक रहते हैं। उतना ही लोगों की नज़र में गिरने का भय भी होता है। इस लोकेषणा की बलिवेदी पर बड़े-बड़े लोकनेता लोकहित की नित्य ही बलि दिया करते हैं। इसी के लिये अनेक अपना आत्म-हनन करते हैं और अन्तरात्मा की आवाज़ को ठुकरा असत्य के पथ पर कदम बढ़ा देते हैं। क्षत्रिय के स्वभाव में लोकेषणा प्रधान ही रहा करती है। यश के लिए क्षत्रिय राजा लोग इतने बड़े-बड़े यज्ञ रचाया करते थे और दान दिया करते थे। अर्जुन क्षत्रिय था, वीर था, लोक में लब्धप्रतिष्ठ था। अत: लोकेषणा का प्रबल होना स्वाभाविक था। भगवान् ने उसकी लोकेषणा को उकसा कर उसे युद्ध में उतारू करने की चेष्टा की। पहिले भी भगवान् ने ऐसा थोड़ा सा प्रयत्न किया था। इस अध्याय का प्रारम्भ उसी प्रसंग से है। परन्तु अर्जुन के भीतर संघर्ष गहरा था। उसकी अन्तरात्मा तड़प रही थी आगे का रास्ता पाने के लिए। जीवन की मौलिक समस्या ही वर्तमान विषाद के रूप में आ गई थी। लोकेषणा तथा वित्तेषणा के झोंके उसे लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं कर पाये। उसे गहरी चोट लगी थी।

आत्मा की चर्चा करते हुए भगवान् ने अर्जुन को यह समझाने की चेष्टा की कि मरना तो शोचनीय है ही नहीं, वह व्यर्थ में इसके लिये चिन्ता करता

है। स्वधर्म का बन्धन बताया। युद्ध न करने का उसके लिए क्या परिणाम होगा, वह तस्वीर अर्जुन के आगे खींच दी। यह सब कुछ इसलिये कि शायद वह इस भयंकर रूपरेखा को देखकर डर जाय और युद्ध के लिये तैयार हो जाय।

उसे क्या-क्या हानियाँ होंगी युद्ध न करने से? वह अपने कर्त्तव्य से – क्षात्रधर्म से – गिर जायगा। धर्म से च्युत होना अपने भविष्य को कालिमामय करना है, जीवन की बाज़ी को हार जाना है। प्रभु ने मनुष्य-योनि दी है। उसमें स्वधर्म का पालन करके अपने को आगे ले जा सकते हैं। उसे पूरा न करके हम अपने को गड्ढे में गिरा सकते हैं। युद्ध न करने का अर्थ होगा 'धर्मच्युति'।

अपनी आयु भर की कमाई कीर्ति को अर्जुन युद्ध न करके खो देगा। अर्जुन की वीरता की धाक जमी हुई थी। यदि वह युद्ध से हट जायगा तो उसकी कीर्ति जाती रहेगी। उसे कोई वीर न कहेगा। जो युद्ध-क्षेत्र से हट जाय वह वीर कैसे हो सकता है? उसे पाप लगेगा। स्वधर्म का आचरण करना अनिवार्य है। वह कर्त्तव्य है, यह शास्त्र का मत है। जो हमारा स्वधर्म है उसका परित्याग करने से व्यक्ति पाप का भागी होता है। उसकी अधोगति होती है। यह बात बुद्धि-संगत भी है स्पष्ट ही है। स्वधर्म है ही ऐसा कि यदि हम आगे बढ़ना चाहें तो हम उसे त्याग ही नहीं सकते हैं और यदि उसे त्यागें तो स्थिर रहना भी असम्भव है। हम नीचे सरक जाते हैं। जो बातें हमें स्वधर्म का त्याग करने की प्रेरणा देती हैं वह हमारे पतन का कारण हो जाती हैं।

आगे के तीनों श्लोकों में अर्जुन को डराने के लिए अकीर्ति के बारे में खोलकर कर कहा है।

सभी भूत अर्जुन के अपयश का कथन करेंगे। 'भूतानि' बहुत व्यापक शब्द है। मानो मनुष्य ही नहीं, जड़-चेतन अन्य प्राणी भी। अर्जुन की कीर्ति बड़ी व्यापक थी, लोक-लोकान्तर में व्याप्त थी। अब उसके अपयश की चर्चा भी उतनी ही व्यापक हो जायेगी। उसकी हमेशा रहने वाली कीर्ति समाप्त हो जायेगी। अब उसकी अकीर्ति भी कभी समाप्त न होगी। युगयुगान्तर में लोग चर्चा किया करेंगे कि अर्जुन बहुत कायर था जो युद्ध से भाग खड़ा हुआ।

जिसको लोक में सम्मान प्राप्त है उसका अपमानित हो जाना तो बहुत भयंकर बात है। अपमानित होने से तो व्यक्ति का मर जाना अच्छा है। जितना व्यक्ति सभ्य और शिष्ट होता चला जाता है उतना ही उसके मूल्य आंकने के पैमाने बढ़ते चले जाते हैं। उसमें आत्म-सम्मान भी उतना जगता चला जाता है। अपमान उतनी ही बड़ी बात हो जाती है। वह अपनी आन के लिये जान देने को तैयार हो जाता है। विकास के पथ में ऐसी हालत में से होकर ही गुज़रना होता है। तमोगुणी व्यक्ति पत्थर के ढेले की तरह होता है। अपमान को भी बिना विशेष प्रतिक्रिया के सहन कर लेता है। रजोगुण की प्रधानता में व्यक्ति बहुत अधिक संवेदनशील (Sensitive) हो जाता है। अहं बढ़ जाता है और जितना बढ़ा हुआ अहं हो, उतनी ही अधिक उसे अपमान की चोट प्रतीत होती है। सत्वगुण की प्रधानता में सहनशीलता और समझ आ जाती है। क्षत्रिय अपना अपमान नहीं सह सकता। अर्जुन भी तो क्षत्रिय ही था। भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं, 'अपमानित होने से तो मर मिटना अच्छा है। युद्ध से भागने से तो जान देनी अच्छी है। अपयश तो न होगा'।।34।।

बड़े बड़े योद्धा-भीष्म, द्रोण के समान जो महारथी हैं – वह तो यही कहेंगे कि हमें देखकर अर्जुन डर गया और युद्ध-क्षेत्र से जान बचा कर भाग गया। तुम्हें अपने सम्बन्धियों के मरने से संकोच हुआ, युद्ध पापमय लगा इत्यादि बातों पर तो कोई विश्वास ही न करेगा। सीधी-सीधी बात कहेंगे, 'अजी, यह तो सब बुद्धि की बनावट थी, अपने को धोखा देने का तरीका था, असली बात तो थी अर्जुन डर गया।'

'आज वह सभी तुझे आदर की दृष्टि से देखते हैं। तेरा सम्मान करते हैं। तू बड़ा वीर है ऐसा मानते हैं। परन्तु फिर तो वह तुझे दो कौड़ी का भी न समझेंगे। जो युद्ध-भूमि से भागे वह क्या आदमी है? उसे तो कोई क्षत्रिय भी न मानेगा। वह तो महापापी है जिसने शत्रु को पीठ दिखा दी। तेरे शत्रु बहुत सी ऐसी न कहने योग्य बातें तुझसे कहेंगे।'

यदि हमारा दृष्टिकोण किसी के पक्ष में है तो उसकी बुरी बातें भी हमें भली दिखाई पड़ती हैं और यदि विपरीत हो जाय तो उसकी भलाइयाँ भी बुराइयाँ दीखने लगती हैं। लोकापवाद इसी पर आश्रित होता है। 'गुणा गुणज्ञेषु गुणाः भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः' – यह पुरानी कहावत है। पारखियों के लिये गुण, गुण होते हैं। गुण के अपारखियों के लिये वे ही गुण

दोष हो जाते हैं। लोक-व्यवहार में भी यह बात सत्य है। जिस मनुष्य के बारे में हमारी यह धारणा हो जाय कि वह हमसे द्वेष करता है, तो उसके प्रीतिपूर्ण शब्द भी व्यंग ही समझे जाते हैं। उसका हमारा हित-चिन्तन भी स्वार्थ की चाल ही दीख पड़ती है। आज अर्जुन की प्रख्याति है। उसके शत्रु भी उसकी निन्दा करने का साहस नहीं रखते। कल को उनको बातें बनाने का अवसर मिल जायगा। वह ठीक और न ठीक सभी कुछ अर्जुन के लिये कहेंगे। अर्जुन की वीरता को भी वह लोग हवा में उड़ाने की चेष्टा करेंगे। विराट नगर में प्रदर्शित वीरता के विषय में कहा जा सकता है कि कौरव लोग सचमुच चोरी करने थोड़ा ही गये थे वह तो वैसे ही दिल बहलावा था। वह तो वहाँ भली भाँति लड़े ही नहीं। उन्हें कोई महाभारत थोड़ा ही छेड़ना था। यदि पाण्डवों में वीरता होती तो भिखारियों की तरह 12 वर्ष जंगलों में मारे-मारे ही क्यों फिरते, तभी युद्ध करके अपना हिस्सा न ले लिया होता। भगवान् अर्जुन से कहते हैं ऐसी चर्चा से और अधिक दु:खदायी चीज संसार में क्या होगी? लोग बातें बनायेंगे और तुम्हारे पास कुछ उत्तर न होगा। स्वयं युद्ध से एक बार हट जाने से मानो तुम स्वयं ही उनकी बातों की सत्यता का प्रमाण उपस्थित कर दोगे।

इस समय तुम इन बातों की कल्पना नहीं कर सकते, विषाद के ज्वर के कारण। परन्तु बाद में इन बातों से तुम्हारा कलेजा छिल जायगा और तुम पश्चात्ताप करोगे कि हाय! मैंने यह क्या किया! परन्तु फिर कुछ न हो पायेगा। इसलिए इन सब भावी बातों की ओर ध्यान देकर अपने निश्चय पर फिर से विचार करो।'।।36।।

भगवान् ने कहा मेरी सम्मति यह है –

'तुम्हें युद्ध करना ही चाहिये। युद्ध करने का निश्चय करके उठ खड़े हो जाओ, युद्ध करने में सब प्रकार से लाभ ही लाभ है। युद्ध-क्षेत्र में मारे जाओगे तो स्वधर्म के पालन के कारण स्वर्ग को प्राप्त करोगे और यदि तुम विजयी हो गये तो पृथ्वी पर शासन करोगे और लौकिक सुखों का उपभोग करोगे। अत: युद्ध करने में तो घाटा है ही नहीं। युद्ध न करने में यह लोक बिगड़ेगा-कीर्ति जायेगी, अपयश मिलेगा और राज्य तो तुम खो ही चुके हो। धर्म के न पालन करने से परलोक भी बिगड़ेगा, स्वर्ग के बजाय तुम नरक को जाओगे।'

इन्हीं बातों का विचार कर भगवान् ने अर्जुन को सम्मति दी कि युद्ध करने में सर्वथा कल्याण ही कल्याण है। अतः उसे युद्ध के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥38॥

सुख तथा दुःख को बराबर करके (मन में) लाभ और अलाभ को और जय और पराजय को बराबर करके (मन में) फिर युद्ध के लिये डट जाओ। इस प्रकार (करने) से तुम पाप को नहीं पाओगे॥38॥

उतना सभी कुछ कहने के बाद, भगवान् ने एक अनमोल युक्ति अर्जुन को बताई। यह युद्ध करने में अर्जुन के दृष्टिकोण से जो बड़ी बाधा थी वह पाप था। सोचता था कि बन्धु-बान्धवों को राज्य के लोभ से युद्ध में मारकर वह पाप का भागी बन जायेगा। उस पाप से बचने का तरीका भगवान् ने बता दिया।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, और जय-पराजय को बराबर मान लो। कर्म करने में, सुख लाभ अथवा विजय मौलिक प्रेरणा न बन जाए। यदि हम सुख के लिये, लाभ अथवा जय के लिये युद्ध-क्षेत्र में उतरते हैं – तो हम पाप के भागी हो सकते हैं। यह काम-संकल्पयुक्त समारम्भ होगा (गीता 4/19) अतः बन्धन का कारण होगा। यदि इससे रहित होकर कोई काम कर सके तो वह पाप का भागी नहीं हो सकता। वास्तव में वैसा करने से तो कोई व्यक्ति पुण्य से भी परे रह सकता है। कर्म-फल का बन्धन ही नहीं होता।

इसका अर्थ था राज्य के लोभ से लड़ाई मत करो। क्या सांख्य की चर्चा करने पर भी इसकी आवश्यकता बाकी थी? क्या आत्मज्ञान की निष्ठा अपने में पर्याप्त नहीं है, व्यक्ति को कर्म के बन्धन से मुक्त करने के लिये? क्या आत्मा की नित्यता, शाश्वतता जान लेना ही पर्याप्त न था? ऐसा ही समझ में आता है कि कर्म करने के लिए तो कर्म का रहस्य ही जानकर व्यक्ति बन्धन से मुक्त होता है। सांख्य की बुद्धि जितनी दूसरे अध्याय में भगवान् ने कही है वह तो केवल-मात्र आत्मा के स्वरूप को बताती है। आत्मा मरने-मारने वाला नहीं है। यह सभी खेल प्रकृति में होता है।

जैसे प्राय: ज्ञान के मार्ग को कर्म से नितान्त असम्बद्ध समझा जाता है वैसा है नहीं। सांख्य की निष्ठा भी तो कर्मों के बोझ के हल्का होने से, वासनाओं के किसी हद तक क्षीण हो जाने से उपलब्ध होती है और बनी रह सकती है। राह चलते हुए व्यक्ति के लिये इतना विश्वास कर लेना कि वह आत्मा है और वास्तव में अकर्ता है, आसान है। परन्तु उस निष्ठा पर दृढ़ रहना कठिन है। ज्ञान जहाँ तक बौद्धिक क्षेत्र का विषय है, जब तक उसके पीछे ऊँची चेतना जागृत नहीं हुई तब तक तो वह रास्ते की तैयारी मात्र है। रास्ता अभी दूर है। यह सत्य है कि जब भीतर से वह विश्वास ऊँची चेतना की जागृति से सजीव हो उठता है, तो वह बन्धन काट देता है, कर्म संस्कारों को भून डालता है। परन्तु वह चेतना की जागृति भी तो भीतर के निर्मल होने की माँग करती है, वासनाओं और संस्कारों के क्षय की माँग करती है। इसीलिए तो ज्ञान प्राप्ति के लिए साधन चतुष्ट्य का विधान किया है। इसीलिए तो कर्म-काण्ड के द्वारा – स्वधर्माचरण के द्वारा – अन्त:करण के शोधन पर ज़ोर दिया जाता है।

अर्जुन की स्थिति की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें कर्म-रहस्य का बोध अर्जुन के लिये नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। जिसने लोभ-मोह की घाटियों को अनेक जन्म की साधना से पार कर लिया हो वही ज्ञान में एकाएकी स्थिर हो सकता है। फिर उसके लिए कर्म में बाहर से प्रेरणा भी प्राप्त होनी कठिन है।

यदि उस ज्ञान की चर्चा के फलस्वरूप अर्जुन आत्म-निष्ठ हो भी जाता, तो भी युद्ध करने न करने की समस्या सहज में हल न हो पाती। कर्म का रहस्य कर्म के क्षेत्र में ही पाया जाता है। कर्म कैसे करना चाहिए, इस प्रश्न का उत्तर तो प्रधानरूपेण कर्म से ही सम्बन्ध रखता है।

तो भगवान् ने अर्जुन को सांख्य का ज्ञान ही क्यों कहा? वह सारे उपदेश की भित्ति है। आत्मा के कल्याण का जो मार्ग बताया है उसका बौद्धिक बोध हुए बिना आगे की बात समझनी और उस उपदेश को लागू करना असम्भव है। हम आत्मा हैं, कल्याण का पथ हमें पकड़ना है और कर्म के पाश से परे परम पुरुष के योग को प्राप्त करना है, यह सभी जानकर ही तो आगे चला जाता है।

यह जो हानि लाभ आदि को समान मानकर युद्ध करने को कहा है क्या यह कथन सांख्य सिद्धान्त का है? क्या यह कर्मयोग से जिसकी चर्चा आगे होनी है सम्बद्ध नहीं है?

सांख्य सिद्धान्त तो प्रकृति को कर्ता और आत्मा को अकर्ता अभोक्ता बताता है। वहाँ करने का प्रश्न नहीं है। आत्मा के लिए देखने का – और अपने को पहचानने का ही प्रश्न है। वहाँ तो आत्मा पर कर्तृत्त्व का आरोपमात्र होता है उसे दूर करना है।

हानि लाभ आदि को समान मानकर युद्ध करने की जो बात ऊपर कही गई है आनुषांगिक है – विषय से प्राप्त, साथ लगती हुई बात है। वास्तव में इसके द्वारा सांख्य से कर्म-योग की ओर जाने के लिए सेतु सा बना दिया है। कर्मयोग का सूत्रपात यहीं हो जाता है।

आगे के श्लोक कर्मयोग की भूमिका बाँधते हैं। उसे ठीक समझाने के लिये बौद्धिक आधार बनाया जाता है। कर्म-योग और कर्मकाण्ड में जो अन्तर है उसे स्पष्ट करके भ्रम की सम्भावना दूर की जाती है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥39॥

यह तेरे लिये सांख्य विषयक बुद्धि (निष्ठा) कही गई है। योग विषयक इस बुद्धि (निष्ठा) को सुनो (जो यह वर्णन की जाती है) जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्म के बन्धन को काट डालोगे।

अब तक भगवान् ने अर्जुन को जो उपदेश दिया वह सांख्य का उपदेश था। सांख्यशास्त्र विवेक का शास्त्र है। प्रकृति-पुरुष अथवा आत्म-अनात्म विवेक ही इसका प्रधान विषय है। अब तक की चर्चा प्रधानतया इसी विषय की थी। सांख्यदर्शन और वेदान्त आपस में बहुत दूर नहीं। वास्तव में गीता के काल में, ज्ञानमार्ग का ही नाम सांख्य था, ऐसा समझ में आता है। कुछ भी हो यहाँ सांख्य से तात्पर्य है आत्म-अनात्म विवेक का।

भगवान् ने अर्जुन को बताया था कि आत्मा अमर है। देह मरणधर्मा है; अतः मृत्यु के लिए शोक न करना चाहिए।

अब आगे का प्रसंग योग से सम्बन्ध रखता है। योग का तात्पर्य कर्मयोग से है। वास्तव में यह साधन इतना व्यापक है कि इसे 'योग' शब्द से ही

(बिना किसी प्रकार के विशेषण के) निर्दिष्ट किया है। योग से तात्पर्य है कर्म का योग। जिसमें हमारा कर्म ही भगवान् के समीप होने का सहज उपाय हो जाता है। इसका अपना अलग स्वरूप नहीं है, जैसा अन्य योगों का है। यहाँ से लेकर दूसरे अध्याय के अन्त तक इसी योग की चर्चा है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण भी इसी योग से सम्बन्ध रखते हैं और इस योग में सिद्ध पुरुष का वर्णन करते हैं।

दूसरे अध्याय का नाम तो सांख्ययोग है, परन्तु हम देखते हैं कि यह चर्चा तो 39वें श्लोक के साथ समाप्त हो जाती है। वास्तव में बाकी के श्लोक कर्मयोग का वर्णन आरम्भ ही करते हैं। यह वर्णन तो आगामी अध्यायों में आगे चलता है और सारी गीता में फैलता चला जाता है। सांख्य का वर्णन तो हमें गीता के इसी अध्याय में मिलता है, अन्यत्र नहीं है। अतः इस अध्याय का नाम सांख्ययोग रखना समुचित ही है।

इस आधे श्लोक में इतनी प्रस्तावना करके वर्णन आरम्भ होता है। पहिले-पहल इस योग का लक्ष्य और प्रभाव कहा है –

इस कर्मयोग की बुद्धि द्वारा अर्जुन! तुम कर्म के बन्धन को काट सकते हो।

बुद्धि का अर्थ है 'निष्ठा', किसी विषय में स्थिरमति-जीवन के प्रति दृष्टिकोण। सांख्य की एक निष्ठा है। उस निष्ठा को प्राप्त व्यक्ति के भीतर ही ज्ञान की चेतना जगकर सभी कुछ भरपूर कर सकती है। कर्मयोग में निष्ठा ही सर्वेसर्वा है। कर्म तो वही करने होंगे जो व्यक्ति पहिले करता था। अन्तर केवलमात्र दृष्टिकोण का होगा। कर्म स्वार्थ सिद्धि के लिए न करना होगा, प्रभु के निमित्त करना होगा। अतः उसी के अर्पित करते हुए कर्म करना होगा। फलाकांक्षा से रहित होकर कर्त्तव्य-दृष्टि से कर्म करना होगा। इस प्रकार कर्म करने से कर्म से बन्धन नहीं होता। इतना ही नहीं, पिछले कर्म-बन्धन भी कट जाते हैं।

कर्म-बन्धन क्या है? व्यक्ति कर्म करता है। उसका संस्कार उसे उसके फल-भोग के लिये बाधित करता है। उस फलभोग के लिये व्यक्ति को तत्सम्बन्धी लोक में निवास करना होता है और उसके अनुकूल ही शरीर धारण करना होता है। इस प्रकार कर्म मानो प्रकृति का कर्जा बन जाता है जो व्यक्ति को चुकाना पड़ता है और एक कर्म का फल भोगने में व्यक्ति और

कितना ही कर्म कर लेता है जो फिर बन्धन का कारण होता है। इस प्रकार कर्म की शृंखला का कहीं अन्त ही नहीं हो पाता।

कर्म फलोपभोग के लिये मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को धारण करना ही होता है, भले ही वह सूक्ष्म हों अथवा स्थूल। फलोपभोग के द्वारा ही व्यक्ति उनमें बंधता है और नाना प्रकार के सुख-दु:ख भोगता है।

यह कर्म-बन्धन कट सकता है यदि नूतन संस्कार का निर्माण न हो और धीरे-धीरे पीछे वाला क्षीण हो जाये। योग की निष्ठा से कर्म का संस्कार नहीं बनता। समुचित निष्ठा के कारण आसक्ति का अभाव हो जाता है, फलाशा छूट जाती है; अत: कर्म बाँध नहीं सकता।

कर्म-बन्धन के विषय में निष्ठा तो चाकू की धार है। कर्म है चाकू का बरतना। जैसे बिना बरते चाकू की धार बेकार होती है, ठीक इसी प्रकार से कर्म के बिना निष्ठामात्र से कुछ नहीं हो पाता है। व्यवहार में आई हुई समुचित निष्ठा बहुत प्रभावशाली होती है। बिना निष्ठा के किया गया कर्म, बिना धार के चाकू को बरतने की तरह है। बिना धार का चाकू काटता नहीं। ऐसे ही केवलमात्र कर्म, बन्धन को छुड़ाने वाला नहीं हो सकता।

वास्तव में स्वयं कर्म तो न छुड़ा ही सकता है, न बाँध ही सकता है। यदि उसके पीछे आसक्ति है तो वह बाँधता है और यदि कर्मयोग की निष्ठा है तो वह बन्धन छुड़ा देता है। शून्य स्वयं कुछ महत्त्व नहीं रखता। उसे जिस अंक के पीछे रख दिया जाय, उसी के अनुसार वह मूल्य वाला हो जाता है। ऐसी ही कर्म की गति है।

यह निष्ठा, जिसे भगवान् ने बुद्धि नाम दिया है, बहुत महत्त्व की वस्तु है। यह बहुत कठिनाई से प्राप्त होती है। स्थिरबुद्धि वाले व्यक्ति की, स्थितप्रज्ञ की ही वास्तव में निष्ठा दृढ़ होती है। सामान्य व्यक्ति तो लोगों की बातों से ही चकरा जाता है। उसके भीतर के संस्कार ही उमड़ कर उसे पुण्य-पाप के जंजाल में डाल देते हैं और वह पथभ्रष्ट हो जाता है। परन्तु निष्ठावान् व्यक्ति कर्म को साधना बना सकता है और इस प्रकार से समूचा जीवन ही उसकी साधना हो सकती है।

गीता का समन्वय इसी बुद्धि के आधार पर ही तो हुआ है। भगवान् ने किसी भी कर्म के लिये मनाही नहीं की। कर्म का ही आदेश किया, परन्तु 'बुद्धि' के आधार पर उसी कर्म को प्रभु के लिये करने का अथवा प्रभु को

समर्पित करने का आदेश किया है। प्रकृति ही करती है, मैं नहीं करता हूँ, यह जो कहा है, यह भी निष्ठा ही तो है। वास्तव में अध्यात्म का मार्ग तो निष्ठा-प्रधान मार्ग ही है। बहुत विश्वास चाहिये, दृढ़ता चाहिये, थोड़ा पुरुषार्थ चाहिये। बलवती निष्ठा से किया गया थोड़ा भी अधिक प्रभावशाली होता है, अपेक्षाकृत उस कर्म से जो बहुत पुरुषार्थ और थोड़ी निष्ठा से किया गया हो।

यह बुद्धि केवलमात्र श्रद्धा ही नहीं जिसकी चर्चा गीता के सत्रहवें अध्याय में की गई है। यह तो श्रद्धा से अधिक है। यह कर्म से और कर्म के क्षेत्र से, जीवन के इष्ट से अधिक सम्बन्ध रखती है, अधिक विस्तृत है और जीवन की दिशा का निर्देश करती है।

भगवान् ने अर्जुन से कहा कि यदि तू इस समत्त्व के योग की बुद्धि को प्राप्त कर लेगा तो युद्ध करके तू अपने कर्म के बन्धनों को काट सकता है। इतना ही नहीं कि पाप से मुक्त रहेगा (श्लोक 38) अपितु तू कर्म के पुराने बन्धनों को भी काट सकेगा। इस प्रकार से किया गया कर्म योग ही है, तपस्या है, भजन पाठ ही है।

कर्मयोग की यही मौलिक बात है। कर्म प्रभु प्राप्ति का, अध्यात्मविकास का साधन है। दूसरे शब्दों में समूचा जीवन ही साधना है यदि हम ठीक बुद्धि से इसे स्वीकार कर लें।

अध्यात्म और दुनियादारी का, प्रभु के पथ का और संसार के कार्यकलाप का है यह ठीक समन्वय। प्रभु की चाह जगने पर संसार से भाग खड़े होने की जो चाह होती है, यह है उसका समुचित इलाज। परमार्थ और स्वार्थ का यह है अनुपम मेल। भागने की आवश्यकता ही नहीं। जहाँ हो वहीं रहो। जो करते हो वही करो। जरा दृष्टिकोण को बदल दो, बुद्धि को बदल दो। कर्म बन्धन न रहेगा। वह बोझा नहीं रहेगा। वह कीचड़ नहीं दिखाई देगा। कर्म तो पूजा-पाठ बन जायगा। यह अध्यात्म-जगत् का अनोखा सत्य है। यह गीता की परमोच्च देन है। वर्तमान युग के लिये अध्यात्म का सर्वोत्तम नुस्खा है। सरल भी है और खूब लाभप्रद भी।

ज्ञान का मार्ग कर्मों का स्वरूपतः त्याग बताता है। परन्तु यह योग का मार्ग तो कर्म को करना बताता है परन्तु समुचित बुद्धि से युक्त होकर। फल दोनों का एक ही होगा, परन्तु रास्ते एक दूसरे से कितने विपरीत हैं?

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥40॥

कर्मयोग की बुद्धि का कथन करने से पहले उसके प्रभाव का वर्णन किया जाता है। 39वें श्लोक में बताया गया था कि इस बुद्धि के द्वारा कर्म का बन्धन काटा जा सकता है। और क्या विशेषता है कर्मयोग की?

आरम्भ का इसमें नाश नहीं है, बाधा नहीं हो सकती है, इस धर्म का थोड़ा सा भी अवलम्बन महान् भय से बचा देता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कर्मयोग एक निष्ठा है – एक दृष्टिकोण है। कर्मयोग की पहचान कर्म के स्वरूप से नहीं, करने वाले की मनोवृत्ति से होती है।

'आरम्भ का इसमें नाश नहीं।' इस कर्मयोग की निष्ठा को धारण करने की जो भी चेष्टा की जाती है वह नष्ट नहीं होती है। उससे लाभ ही होता है। कई औषधियाँ ऐसी हैं जिनको आप लेना आरम्भ करें और उनका कोर्स पूरा किये बिना छोड़ दें तो उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार से कई काम ऐसे हैं जिनको आरम्भ करके छोड़ दिया जाये तो कोई प्रभाव नहीं रहता। वास्तव में कर्मयोग की बुद्धि तो एकदम से प्राप्त हो ही नहीं सकती। इसकी ठीक समझ भी इसको बर्तने से ही आती है। तभी व्यक्ति इसे जीवन के सभी पहलुओं में लागू करता चला जाता है। आरम्भ के नाश की सम्भावना हो तो कर्मयोग की निष्ठा अव्यवहार्य हो जाय। जीवन में इसे लागू करना ही असम्भव हो।

स्थूल-कर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है। कर्म का स्थूल भाव तो कर लेने से ही समाप्त हो जाता है, परन्तु जो बुद्धिगत संस्कार हैं वह तो कर्म के साथ समाप्त नहीं होते। वह स्थूल नहीं होते हैं, चिरस्थाई होते हैं। विशेषकर वह विचार जो हमसे गहरा सम्बन्ध रखते हैं वह तो हमारे मनोमय-कोष के ताने-बाने के अंश ही हो जाते हैं। साधक जानते हैं कि इस प्रकार के संस्कार व्यक्तित्व में कितने गहरे चले जाते हैं और उनके प्रभाव से मुक्त होना कितना कठिन होता है?

निष्काम निष्ठा तो बहुत ऊँचे स्तर की निष्ठा है। यह समत्व बुद्धि तर्क-वितर्क करने वाले मन से भी परे के लोक की वस्तु है।

इस पर ढला हुआ संस्कार अधिक स्थाई होता है, बुद्धिगत संस्कारों की अपेक्षा।

वास्तव में हमारे विकास के लिये यह एक बहुत उपयोगी बात है। जितनी ऊँची कोटि का संस्कार हो उतना ही वह स्थिर होता है। उसको क्षय करना असम्भव होता है। उसे कुछ काल के लिए ढाँपा जा सकता है, परन्तु निम्न कोटि के संस्कार उसे क्षीण नहीं कर सकते। ऊँची चेतना नीची कोटि के संस्कारों को क्षीण कर देती है। यदि इस प्रकार का सिलसिला न हो तो मनुष्य को ऊपर उठने के लिये, विकास क्रम में आगे बढ़ने के लिये गुंजाइश ही न रहे। हम संसार में नीच संस्कारों की ही तो भरमार पाते हैं। इस प्रकार का विधान उस मंगलमयी माँ की कृपा ही है। इस बात को समझ लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह तो हमें आगे ले जाना चाहती है। हमारी सहायता भी करती है। उसने क्षेत्र ही ऐसा बनाया है।

शायद तुलसीदास जी ने कलियुग के बारे में जो यह कहा है कि **'मानस पुण्य होहिं नहिं पापा',** उसका तात्पर्य कुछ इसी प्रकार का है। अभिक्रम आरम्भ को कहते हैं।

'प्रत्यवाय नहीं होता।' प्रत्यवाय विपरीतगत प्रभाव को कहते हैं। उल्टा प्रभाव नहीं होता। हानि की सम्भावना नहीं रहती। कई कामों को यदि आरम्भ करके छोड़ दिया जाय तो हानि होती है। दुकान खोली जाय और फिर उसे बन्द करना पड़े तो लेने के देने पड़ जाते हैं। औषधियाँ भी ऐसी हैं कि उन्हें बीच में छोड़ना हानिकारक होता है। ज्ञान के सोते की बाबत भी तो कहते हैं **'या तो छुओ मत, छुओ तो पेट भर पीओ'** – "A little learning is a dangerous thing; Drink deep, or touch not the Pierian spring."

परन्तु यह जो कर्म का योग है इसमें हानि की सम्भावना नहीं। आपने यदि एक काम को भी निष्काम-भावना से किया तो उसका लाभ आपको प्राप्त होगा ही। इसके द्वारा निर्मित संस्कार आपको फिर ऊँचा उठायेगा और आपके कर्म-बन्धन काटता जायगा। जितना करियेगा, जितना ठीक सोचियेगा उसका प्रभाव तो आपको प्राप्त हो ही जायेगा। किसी प्रकार से किसी भी अवस्था में इससे हानि नहीं हो सकती। कैसी निर्दोष औषधि है? जैसे बायोकैमिक की टिकिया हो।

इसके लिये पात्रत्व की, विशेष प्रकार के विधान आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं। देव-पूजन में किसी बात के उलट-पुलट हो जाने से अथवा अनाधिक चेष्टा से इष्ट का अनिष्ट हो जाता है। देवकर्म के बीच में छोड़ देने से भी शाप मिल जाता है। परन्तु यहाँ इस प्रकार की कोई सम्भावना ही नहीं। इस योग में हमें किसी बाह्य शक्ति पर निर्भर करना ही नहीं होता जो नाराज़ हो जाये। यह तो अपने भीतर ही संस्कार का निर्माण करना है जो और संस्कारों को निर्मूल कर सकता है। अत: यह स्वावलम्बी और हानि की सम्भावना से रहित है।

'थोड़ा भी यह कर्म महान् भय से रक्षा करता है।' इस धर्म का अवलम्बन लेने से यह हमारी रक्षा करता है, यह तात्पर्य है। यदि हमने इसी निष्काम बुद्धि को समझना ही आरम्भ किया है और जीवन में कहीं कहीं इसे बरतने लगे हैं तो भी हम बहुत भय से मुक्त हो जायेंगे। यह कैसे?

आशा ही भय का मूल कारण होती है। आसक्ति ही आशा के रूप में बदल जाती है विशेष परिस्थितियों में। भय होता है धन के नष्ट हो जाने का। जब धन से आसक्ति होती है धन के बने रहने की आशा होती है। जीवन के सभी क्षेत्रों में मनुष्य न केवल टिकाऊपन खोजता है, अपितु और वृद्धि की आशा भी करता है। सोचता है यह शरीर ऐसा तो रहे ही, इससे और अच्छा हो जाना चाहिए। मेरी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति वर्तमान सी तो रहनी ही चाहिये। यह सभी विचार इस प्रकार पोये रहते हैं हमारी मस्तिष्क की गति में, हमारी दृष्टि के प्रत्येक पात में, कि हमें दीखते ही नहीं। और इन्हीं के कारण भय के बादल हमारे सिर पर हमेशा मण्डराते रहते हैं। मित्रों से भय, शत्रुओं से भय, होने का भय और न होने का भय, जीवन का भय, मृत्यु का भय, याद रहने का भय, भूल जाने का भय, करने का भय, न करने का भय; न जाने कितने प्रकार के भय हैं जो आदमी को घेरे रहते हैं। वह इतना अभ्यस्त हो जाता है कि यह उसे भय ही प्रतीत नहीं होते। जीवन की स्वाभाविक गति के आवश्यक अंग ही प्रतीत होते हैं। इनके कम हो जाने पर अजीब लगने लगता है।

इन सभी भयों के मूल में आसक्ति है। वही बहुधा आशा की मूर्ति बन जाती है। कर्मयोग की बुद्धि इस आसक्ति पर चोट करती है। अत: भयों की निवृत्ति होना स्वाभाविक है।

कर्मयोग की बुद्धि हमें एक और ही पैमाना देती है दुनियाँ की वस्तुओं के मूल्य आँकने का। कर्मयोग की निष्ठा हमें और ही दृष्टि देती है दुनियाँ को और अपने को देखने की। उस बुद्धि से मूल्य आँकने पर, उस दृष्टि से देखने पर भय नहीं रहते। व्यक्ति निर्भीक हो जाता है। उसकी चर्चा तो आगे होगी।

कर्मयोग को ठीक-ठीक समझाने के लिए सकाम बुद्धि से इसकी तुलना की गई है। आगामी श्लोक इसी विषय के हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥41॥

'हे कुरुनन्दन (अर्जुन) यहाँ निश्चयात्मिक बुद्धि तो एक है। जो निश्चय से रहित हैं उनकी मतियाँ बहुत शाखा वाली और अनन्त होती हैं'॥41॥

सीधा रास्ता तो एक ही होता है। दो बिन्दुओं के बीच सीधी रेखा तो होती है वह जो उनके बीच का न्यूनतम अन्तर होता है और टेढ़ी रेखायें जितनी व्यक्ति बनाना चाहे बना सकता है। दो बिन्दु जो एक इंच की दूरी पर हैं उन्हें मिलाने के लिए टेढ़ी रेखायें तो अनेक डाली जा सकती हैं परन्तु सीधी रेखा तो एक ही होगी।

पंजाबी में इस विषय में एक कहावत है – **'सौ सियानयाँ इक्को मत्त मूर्खां आपो आपनी।'** सौ बुद्धिमानों की एक ही मति होती है, परन्तु मूर्खों की अलग-अलग होती है, अपनी-अपनी होती है।

जब तक हमारे सोचने के लिए कोई स्थिर अविचल एक आधार न होगा तब तक हम किसी एक बात पर स्थिर हो ही न पायेंगे। किसी भी निश्चय तक पहुँचने के लिए हमारे पास पैमाना होना चाहिये और वह अडोल हो। किसी चीज की लम्बाई या ऊँचाई मापने के लिए स्केल की आवश्यकता होती है। यदि वह स्केल ठीक है तो ठीक नतीजे पर पहुँचेंगे और यदि वह स्केल ही हमारे अपने घर का है तो हम सभी अपने-अपने नतीजे पर पहुँचेंगे। किसी का माप दूसरे से मेल ही न खायेगा।। किसी के दस इंच और किसी के बारह इंच बराबर हो जायेंगे।

ऐसी ही लीला हम संसार में देखते हैं। लोगों के स्केल घरेलू हैं, अतः आपस में इतना मतभेद दीखता है, इतने बुद्धिगत झमेले होते हैं। कोई

जिस बात को ठीक कहता है, दूसरा उसी को निन्दनीय बताता है। वास्तव में जब तक व्यक्ति की चेतना तर्कात्मक बुद्धि के क्षेत्र तक सीमित है तब तक ऐसा होना स्वाभाविक ही है। विश्लेषणात्मक बुद्धि में अस्थिरता स्वभाव-सिद्ध है।

इसीलिए तर्कों को अप्रतिष्ठ, पाँव-रहित बताया जाता है। तर्क-बुद्धि में निश्चयात्मक बोध की योग्यता नहीं है। उसे तो किसी बात को स्वयं प्रमाण मानकर चलना पड़ता है और उसी से विषय में गड़बड़ होने की सम्भावना रहती है।

दूसरा, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों के द्वारा पल-पल प्रभावित होती रहती हैं। हमारी मनोगत आसक्तियाँ और द्वेष, हमारी मनोगत कामनाएं और रुचियाँ व अरुचियाँ, हमारे प्राण की माँगें, हमारी बुद्धि पर प्रकार-प्रकार के रंग चढ़ाते चले जाते हैं और हमारी सारी तर्क-परम्परा बदलती चली जाती है। वही व्यक्ति जो आज हमारा काम सिद्ध कर सकता है और अच्छा लगता है, कल को हमें अपना घोर शत्रु और महाकपटी दिखाई पड़ने लगता है। हमारी सारी समझ ही उस रंग पर निर्भर करती है जो बुद्धि पर चढ़ा रहता है।

तीसरी बात जो बुद्धि के विषय में समझने को है वह यह कि हमारी बोध की योग्यता भी अनुभव के साथ बदलती चली जाती है। जवानी का पैमाना प्रौढ़ावस्था में बेकार हो जाता है। विफलता की अवस्था के आँके हुए मूल्य सफलता की दशा में मूर्खता दीखने लगते हैं। इसके साथ ही साथ हमारे निर्णय हमारे ज्ञान पर निर्भर करते हैं और किसी भी अवस्था में यह कहना कि किसी विषय में हम सभी कुछ जानते हैं, बन नहीं पड़ता। अतः बुद्धिगत निर्णय हमेशा अस्थिर रहा करते हैं और उनमें परिवर्तन की सम्भावना रहती ही है। यह अनिश्चयात्मिकता है जिससे तर्क-बुद्धि ग्रसित है।

व्यवसायी कौन है? जिसने स्थिर बुद्धि को प्राप्त किया है, जिसकी मति डोलती नहीं है। वास्तव में स्थिर बुद्धि कोरी तर्क बुद्धि नहीं। वह तो उससे परे की चेतना है, जो उसमें अन्तःस्फूर्ति, निश्चयात्मिकता प्रदान कर देती है। यही बुद्धि इस कर्मयोग की भित्ति है। निष्काम कर्म इसके लिए साधन है, जिसके द्वारा मन तथा प्राण का स्वतः शोधन होता है और बुद्धि इन के द्वारा प्रभावित होना छोड़ देती है। यह क्रमशः साधन करते-करते हो जाता है।

जिस सत्य का भगवान् प्रतिपादन करते हैं वह ध्रुव सत्य है – वह निष्ठा ध्रुव निष्ठा है। उस विषय में सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं है। उस निष्ठा को पाकर व्यक्ति को कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे में सन्देह नहीं रहते। पुण्य-पाप के विषय में भी सभी शंकायें समाप्त हो जाती हैं। रास्ता साफ सामने दीखने लगता है।

कामना, आसक्ति ही चंचलता के मूल में है। वह मन तथा इन्द्रियों में बसी हुई उन्हें चंचल करती है और बुद्धि को चलायमान रखती है जिससे व्यक्ति किसी निश्चय पर पहुँच ही नहीं पाता। वैसे लोगों की चर्चा आगामी श्लोकों में होगी। कर्मयोग की बुद्धि वाले तथा सकाम बुद्धि वाले लोगों में बहुत अन्तर है। वह साधना अवस्था से सिद्धावस्था तक बढ़ता ही चला जाता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥42॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥43॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥44॥

सकाम कर्म करने वाले लोगों के विषय में कहा है –

'हे अर्जुन! (और यह) कच्ची बुद्धि वाले वेद के वाद में रत हुए, 'सिवाय इसके और कुछ है ही नहीं' ऐसा कहने वाले, कामनाओं के द्वारा आक्रान्त आत्मा वाले, स्वर्ग को ही लक्ष्य मानने वाले, जो इस फूलों वाली वाणी को बोलते हैं, जो जन्म रूपी कर्मफल को देने वाली है, जिसमें विशेष क्रियाओं का बाहुल्य है और जिसका उद्देश्य है भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति-वह लोग भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त हैं, ऐसी वाणी के द्वारा उनकी समझ का लोप हो जाता है। उनकी बुद्धि निश्चयात्मक होकर समाधान (स्थिरता) को प्राप्त नहीं कर सकती॥42-44॥

महाभारत काल में यज्ञों का बहुत प्रचलन था। यज्ञों के द्वारा ही जीवन के लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है, ऐसा माना जाता था। ब्राह्मण वर्ग में प्रायः

लोग अपना जीवन यज्ञों की विद्या का अध्ययन करने और वेद विहित यज्ञों को करवाने में व्यतीत कर देते थे। वेद में विविध यज्ञों और उनको विधिवत् करने से प्राप्त होने वाले फल का विशद वर्णन मिलता है। यज्ञों के करने से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है। वेद की इन बातों पर ज़ोर देने वाले स्वर्ग को ही जीवन का उच्चतम उद्देश्य समझते थे। इस प्रकार की सकाम निष्ठा वाले लोगों के विषय में कहा है कि उनकी मति में कभी निश्चयात्मिकता आ ही नहीं सकती। वह हमेशा चलायमान होते रहेंगे।

गीता-काल में यह एक बहुत बड़ी समस्या थी। आज हम इस बात के महत्त्व को पूरा आंक नहीं सकते हैं। यह वाद इतना प्रचलित प्रतीत होता है उस समय में कि भगवान् को अपनी बात को स्थापित करने के लिए इसके खण्डन की, और ज़ोर से खण्डन करने की-आवश्यकता प्रतीत हुई।

हिन्दू धर्म का एक मात्र आधार है वेद। बाकी सभी शास्त्र उसी पर आश्रित समझे जाते हैं। जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है। ईश्वर को मानना या न मानना आस्तिकता-नास्तिकता का निर्णायक नहीं, किन्तु वेद की प्रामाणिकता को मानना है। यज्ञों का विधान वेद में आता है। अतः यज्ञों की ही प्रामाणिकता है। उनको न मानने वाला वेद की प्रामाणिकता से इन्कार करता है – ऐसा समझा जाता है। ब्राह्मण वर्ग के पास इस प्रकार के प्रबल तर्क थे। लोग इस प्रभाव में बंधे हुए थे। यज्ञों का बोल बाला था।

वेद का नाम हमारी सारी धार्मिक विचार धारा में जादू का काम करता रहा। कहीं भी किसी बात को स्वीकार करवाना हो तो वेद का नाम ही पर्याप्त होता है और उसको अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये वेद की कोई वाणी चाहिए जिसका हम अपने प्रयोजन के अनुकूल अर्थ लगा सकें। इतनी धाक रही है वेद की। अन्य भी विस्मयकर यह बात प्रतीत होती है जब हम देखते हैं कि वेद के अर्थों को समझने के लिये जो प्रयत्न हुए हैं वह बहुत ही कम हैं और बहुत गहराई में नहीं जाते हैं। यज्ञों के प्रभाव ने वेद की बाकी बातों को गौण कर दिया था। वेद कहने से यज्ञों का बोध हो जाता था, ऐसा मालूम होता है।

वास्तव में वेद तो बहुत कुछ है और समाज के विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के लिये, विकास के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों के लिये, हितकर विविध विधान पाये जाते हैं। अथर्ववेद में काला जादू भी पाया जाता है और

उधर ऋग्वेद में 'नासदीय' और यजुर्वेद में पुरुष-सूक्त भी मिलता है। मनुष्य अपनी स्थिति के अनुसार ही वस्तु को समझ पाता है और उसे ही सभी कुछ मानने लगता है। और बातें या तो उसकी समझ में आती ही नहीं और जो आती हैं उन्हें अपने ही रंग में रंग लेता है। यही बात उस समय में हुई। कामना भोगों तथा ऐश्वर्य की-जो स्वर्ग में पूर्ण हो सकती थी, की प्रधानता थी। यज्ञ उसका साधन हो सकते थे। अतः वेद यज्ञमय ही दिखाई पड़ा। वेद की ऊँची निष्ठा और ऊँचा लक्ष्य इन लोगों को दिखाई ही नहीं दिया। यज्ञ का विशद रूप भी तो वह समझ नहीं पाये। गीता की दृष्टि यज्ञों का खण्डन न करती हुई उनको अपनी ठीक जगह पर रखती है। यज्ञ बहुत अच्छा है परन्तु वह भी निष्काम होना चाहिए, अन्यथा बन्धन का कारण होगा। यज्ञ करना चाहिए। लोक यज्ञ पर ही आश्रित है। परन्तु यज्ञ तो भगवान् का ही रूप है। वह उसी के अर्पित होना चाहिए। किसी कामना से किया गया यज्ञ तो वास्तव में यज्ञ ही नहीं होता। जरा से दृष्टिकोण के अन्तर से ही भगवान् सत्य को प्रकट कर देते हैं – ताँबे का सोना बना देते हैं।

सकामता में निश्चयात्मिकता असम्भव है। अनिश्चयात्मिकता में बुद्धि की स्थिरता नहीं हो सकती, अतः कर्मयोग असम्भव है। इससे कर्म के बन्धन नहीं कट सकते। इसलिए सकामता त्याज्य है, भले ही वह यज्ञों से सम्बन्ध रखती हो जिनका वेद में वर्णन आता है।

42, 43, 44 यह तीन श्लोक एक वाक्य बनाते हैं। इस वाक्य की बनावट विचित्र है। इसका आशय समझना कठिन नहीं है।

जो यज्ञों को ही सर्वेसर्वा मानते हैं और उन्हीं का प्रतिपादन करते हैं उनके लिये कतिपय विशेषण बरते गऐ हैं।

'अविपश्चितः' – कच्चे, भली प्रकार पकी हुई बुद्धि से रहित। क्यों है वह अविपश्चित? क्योंकि अभी उन्हें परे की गतियों का बोध नहीं। कूप मण्डूक की सी उनकी गति है। जितना जानते हैं उसी को सब कुछ समझे बैठे हैं।

'वेदवादरताः' – वेद के वाद में रमे हुए। वेद के वाद से तात्पर्य है यज्ञों का विधान। उस समय में वेद यज्ञ का समानार्थक हो गया था ऐसा प्रतीत होता है। रत होना – किसी वस्तु में ऐसा डूब जाना कि और किसी की सुध ही न रहे। यही दशा इन लोगों की थी। वह यज्ञों के पीछे पागल हो रहे थे।

'नान्यदस्तीतिवादिनः' – और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले, यज्ञों के द्वारा स्वर्ग पाया जा सकता है। वहाँ स्वर्ग में भोगों को भोगकर यहाँ लौट कर आना होता है। फिर यज्ञ करने चाहियें और फिर स्वर्ग प्राप्त करना चाहिए। मोक्ष जैसी कोई गति सम्भव नहीं है, वह व्यर्थ की असम्भव कल्पना है – ऐसी उनकी विचारधारा थी।

'कामात्मानः' – काम ही है आत्मा जिनकी। कामना, इच्छा भोगों और ऐश्वर्य की लालसा उनमें इतनी प्रधान थी कि वही मानो उनकी आत्मा बन गई हो। वह कामना रूप हो गये थे। यही बात उनके जीवन में सर्वोपरि हो चुकी थी।

'स्वर्गपराः' – स्वर्ग है पर, सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य जिनके लिये। स्वर्ग को प्राप्त करने के लिये ही वह जीते और सभी कर्म करते थे।

यह विशेषण यज्ञवादी लोगों की स्थिति का सुन्दर निरूपण कर देते हैं। यह लोग जो बातें करते हैं उसके बारे में भी कहा है – उनकी वाणी कैसी है?

'पुष्पिताम्' – पुष्पों वाली, फूली हुई यानी जो बहुत प्रलोभन देने वाली हो। स्वर्ग के भोगों तथा ऐश्वर्य का वर्णन बहुत लुभाने वाली भाषा में किया जाता था। उससे लोग सहसा आकृष्ट हो जाते थे। जैसे फूला हुआ पेड़ मन को हर लेता है, ऐसे ही उनकी वाणी मन को हर लेने वाली होती थी।

'क्रियाविशेषबहुलाम्' – विशेष-विशेष प्रकार की क्रियाओं का जिसमें बाहुल्य हो। यज्ञों के विधान बड़े पेचीदा हैं। विशेष प्रकार की विविध सामग्री इकट्ठी होनी चाहिए। यज्ञ कुण्ड और यज्ञ वेदी भी विशेष प्रकार की होनी चाहिए। यज्ञ का प्रत्येक कर्म भी बिल्कुल ठीक नियत प्रकार से हो। वेद के प्रत्येक मन्त्र का उच्चारण सस्वर ठीक प्रकार से होना चाहिए अन्यथा इष्ट का अनिष्ट हो सकता है। एक स्वर के भेद से यजमान का नाश हो सकता है। यह सभी पेचीदगियाँ उन लोगों की वाणी की विशेषता है। इन पेचीदगियों के पीछे युक्तियों की मालायें भी तो पोई जाती हैं।

इस वाणी का उद्देश्य क्या है?

'भोगैश्वर्यगतिं प्रति' – भोग और ऐश्वर्य वाली गति – स्वर्ग की प्राप्ति के लिए। यह सभी बातें इसलिए होनी हैं कि स्वर्ग के लिए लालसा जगे और फिर यज्ञों के द्वारा उसको पूर्ण किया जाय।

उन लोगों की स्थिति का 44वें श्लोक के पूर्वार्ध में थोड़े में ही फिर वर्णन कर देते हैं और उनकी स्थिति का दिग्दर्शन भी करा देते हैं भगवान्।

वह लोग भोग तथा ऐश्वर्य में प्रसक्त हैं। इतने प्रसक्त हैं कि उनकी बुद्धि का अपहरण हो चुका है। वह लोग सोचने की योग्यता को खो चुके हैं।

प्रसक्त – जो अत्यधिक आसक्त हो। जब आसक्ति बहुत बढ़ जाती है तो व्यक्ति उस विषय के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकता। पागल हो जाता है उसी के पीछे। बुद्धि मारी जाती है पूरी तरह से।

ऐसी स्थिति उनकी वाणी के प्रभाव से ही होती है। उन्हीं बातों को वह लोग रात दिन करते और सुनते हैं। अतः इस प्रकार से मतिहीन हो गये हैं।

44वें श्लोक का उत्तरार्ध है: –

'उनकी व्यवसायात्मिक बुद्धि समाधि में विहित नहीं होती' यह शब्दार्थ है! उनको व्यवसायात्मिक बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती है। उनका निश्चय ही नहीं है। तो फिर क्यों कहा कि व्यवसायात्मिक बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं होती? यह कहने का प्रकार है। संस्कृत भाषा की विशेषता है। विशेषणों के द्वारा भी बातें कही जाती हैं जो हिन्दी में क्रियाओं के द्वारा प्रकट करनी उचित हैं।

समाधि समाधान को, सन्तुलन को कहते हैं। चंचलता का अभाव इसका विशेष लक्षण है। उनकी मति स्थिर नहीं होती। इसी बात को अधिक समझने के लिए हमें इसी अध्याय के 52 तथा 53 श्लोक देखने चाहिएँ। स्थितप्रज्ञ के लक्षण इसी से सम्बन्ध रखते हैं।

कर्मयोग में निश्चयात्मिक बुद्धि का कितना महत्त्व है इसका पता हमें आगामी श्लोकों से चल सकता है। वास्तव में बाकी का अध्याय इसी बात को खोलने के लिये है। और कर्म-योग को केवल 'बुद्धि' शब्द से सूचित किया गया है यह बुद्धि ही कर्मयोग की मित्र है – यह समझ लेना चाहिये।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥45॥

उन लोगों की स्थिति और लक्ष्य का वर्णन करने के बाद भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि क्या लक्ष्य होना चाहिये जीवन का। किस स्थिति को मनुष्य को प्राप्त कर लेना चाहिए जीते जी ही?

वेदों का विषय है तीन गुण। हे अर्जुन! तुम तीन गुणों से परे हो जाओ। तुम द्वन्द्वरहित, नित्यसत्वस्थ, योगक्षेम की चिन्ता से परे और आत्मवान् बनो।

कितने ज़ोरदार शब्दों में जीवन के लक्ष्य को रखा गया है! कैसा स्फुट और तीव्र विरोध है इन दो लक्ष्यों में! वह वेदवादियों का लक्ष्य कितना क्षुद्र दीखता है इसके सामने! गीता के आगामी श्लोकों में बार-बार हमें इस लक्ष्य की झलक ही नहीं मिलेगी, विशद वर्णन भी प्राप्त होगा।

वेदों का विषय है त्रैगुण्य। त्रैगुण्य तीनों गुणों – सत्व, रजस् तमस् – के समुच्चय का नाम है। यह सारी सृष्टि, इसके भोग और ऐश्वर्य – स्वर्गादि लोक, यज्ञादि क्रियायें – सभी कुछ त्रिगुणमय ही तो हैं। जो कुछ वर्णन आता है वेदों में, वह तीनों गुणों से सम्बन्ध रखता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है, क्या उपनिषद् वेदों का ही भाग नहीं है। उपनिषदों में तो त्रिगुणातीत स्थिति का वर्णन आता है।

ऐसा समझ में आता है कि यहाँ वेद से, प्रसंग द्वारा प्राप्त, यज्ञादि का तात्पर्य है जो वेद वाद के द्वारा लक्षित था। यज्ञों के द्वारा जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह त्रिगुणमय है, भगवान् अर्जुन से यह कहना चाहते हैं।

अर्जुन को भगवान् तीनों गुणों से परे जाने के लिये प्रेरित करते हैं। त्रिगुणातीत स्थिति गुणमयी स्थिति से बहुत ऊँची स्थिति है। वास्तव में इन दो की तुलना ही नहीं हो सकती! आत्मा के आनन्द की, गुणों के, प्रकृति के बन्धन से परे की स्थिति त्रिगुणातीत की स्थिति है। वहाँ ही दु:ख के बन्धन का नितान्त अभाव है! उसी में वास्तव में स्वराज्य है। उसी स्थिति में व्यक्ति आत्माराम होता है। उसी में वास्तविक स्वामित्व है। अधिक जानकारी के लिये अध्याय 14 देखिये।

निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख-दु:ख, मानापमान, सर्दी-गर्मी आदि जोड़ों के प्रभाव से रहित। आत्मस्थ व्यक्ति ही निर्द्वन्द्व हो सकता है। बाह्य अभ्यास के द्वारा द्वन्द्वों से नितान्त परे होना असम्भव है। समत्व की जगी हुई ऊँची चेतना व्यक्ति को सहज में सम कर देती है सभी कुछ के प्रति।

'नित्यसत्वस्थ' – सत्व सतोगुण के लिये भी बरता जाता है। अन्तःकरण की शुद्धावस्था के लिये भी इस शब्द का उपयोग होता है। सत्-पदार्थ, आत्म-तत्व के अर्थ में भी वेदान्ती लोग इस शब्द को समझते हैं। नित्यसत्वस्थ वह है जो तीनों गुणों से परे होता हुआ भी स्वभावतः सत्वगुण में निवास करता है, जिसका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है पूर्णरूपेण। इससे कई प्रश्न पैदा हो सकते हैं, परन्तु उनकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे।

'निर्योगक्षेम' – अप्राप्त की प्राप्ति को 'योग' (जोड़ना, जुटाना) कहते हैं और 'क्षेम' प्राप्ति की रक्षा को। ऐसी निश्चिन्तता की स्थिति जिसमें न तो कुछ जुटाने की चिन्ता हो और न जुटाये हुये की रक्षा की। इसकी चर्चा आगे चलकर होगी।

'आत्मवान्' जो अपने को आत्मा जानता है वही वास्तव में आत्मवान् कहा जा सकता है। ऐसा व्यक्ति मन-बुद्धि-इन्द्रियों का सहज स्वामी है।

भगवान् ने अर्जुन को इस प्रकार की स्थिति को लक्ष्य बनाने के लिये कहा और उसके लिये उपाय तो आगामी श्लोकों में वह बताएँगे ही।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥46॥

सभी ओर से (भूमि के) जल से लबालब भरे होने पर जितनी उपयोगिता जलाशय की होती है उतनी ही उपयोगिता रह जाती है सभी वेदों की, बोध प्राप्त ब्राह्मण के लिये।

पिछले श्लोक में भगवान् ने अर्जुन के सामने ऊँचा आदर्श रखा था। उस आदर्श की ऊँचाई का ठीक बोध कराने की चेष्टा की गई है इस श्लोक में, वेदों से तुलना के द्वारा।

जब चारों ओर जल ही जल हो जाये तो जलाशय की उपयोगिता नहीं रहती। कैसे नहीं रहती? जलाशय का उपयोग खेतों को पानी देने के लिये, जानवरों को पानी पिलाने के लिये, कपड़े धोने के लिये और पीने के लिये भी होता है। जब सभी ओर जल ही जल हो जाय तो यह सभी काम कहीं भी किये जा सकते हैं। जो लोग जलाशय का जल पीते हैं वह वर्षा का पानी

भी पी सकते हैं। वह तो अधिक ताजा और स्वच्छ होता है। जलाशय तो प्रायः अनेक प्रकार से गन्दे किये जाते हैं।

इसी प्रकार से बोध प्राप्त ब्राह्मण के लिये वेदों की उपयोगिता नहीं होती। उसके लिए वेद बिल्कुल बेकाम है। यदि हम वेद को यज्ञों के प्रतिपादक मात्र के रूप में लेते हैं तो स्पष्ट ही है कि ऐसा व्यक्ति वेदों से कुछ ले नहीं सकता। कामनायें शान्त होनी तो बोध के लिये अनिवार्य ही है। यदि सभी कामनायें नितान्त शान्त हो चुकी हैं तो ऐसे व्यक्ति का वेद के सकाम यज्ञों से क्या प्रयोजन रह जाता है?

परन्तु यहाँ कहा 'सर्वेषु वेदेषु' सभी वेदों में। वेद के सभी भागों – कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड तथा ज्ञान-काण्ड, का रुख लक्ष्य की ओर प्रतीत होता है। उपासना की सिद्धि ही से तो ज्ञान सम्भव है। जब उपासना का लक्ष्य प्राप्त हो गया तो उपासना विषयक सभी जानकारी अनुपयोगी हो जाती है। इसी प्रकार से जो ज्ञान-काण्ड बताता है यदि वह हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं तो हमारा ज्ञान-काण्ड के द्वारा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? जब तक हम गन्तव्य स्थल पर पहुँच नहीं जाते तभी तक तो रास्तों की जिज्ञासा होती है। जब पहुँच जाते हैं तो वह सारा साहित्य जो ऐसी जानकारी देता है बेकार हो जाता है।

प्रत्यक्ष से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं। आत्मा का प्रत्यक्ष बोध हो जाने पर किसी भी प्रकार की आन्तरिक अथवा बाह्य अपेक्षा रह ही नहीं सकती। यदि अभी भी किसी प्रकार के अवलम्बन की आवश्यकता है तो व्यक्ति ने अभी जाना नहीं। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

कई लोग सोचते हैं कि इससे तो वेद की निन्दा हो जाती है। इसमें वेद की कदापि निन्दा नहीं। इससे तो वेद के लक्ष्य की प्राप्ति कितनी ऊँची बात है यह बोध होता है। वेद हमें बाँधता नहीं है। हमारे बन्धनों को पूर्णरूपेण काट सकता है। हमें पूरी तरह से वह स्वावलम्बी बना सकता है। यह वेद की महत्ता को और बढ़ाता ही है।

'विजानतः' विशेष रूप से जानने वाला। बौद्धिक ज्ञान तो विज्ञान नहीं होता। जहाँ तक ज्ञाता तथा ज्ञेय में परस्पर भेद है वहाँ तक ज्ञान दूर का ही है। जहाँ यह भेद गिर जाता है वहीं विज्ञान है। विज्ञान तथा विजानतः एक

ही 'धातु' से बने शब्द हैं। गीता में ज्ञान तथा विज्ञान की अलग-अलग चर्चा कई स्थलों में आती है। ज्ञान-विज्ञान-योग नाम का 7वाँ अध्याय भी है। प्रकृति से परे का आत्म-बोध अथवा भगवत्-ज्ञान तो ज्ञान शब्द द्वारा सूचित किया जाता है और प्रकृति सम्बन्धी सारा बोध विज्ञान शब्द द्वारा – ऐसा लगता है। वेद में विज्ञान भी है और ज्ञान भी है। वास्तव में एक दूसरे के बिना यह पूरे ही नहीं होते हैं। ज्ञान होने पर विज्ञान तो स्वत: हो ही जाता है।

'ब्राह्मणस्य' शब्द के प्रयोग से ज्ञान-विज्ञान दोनों का समावेश हो गया मालूम पड़ता है। ब्राह्मण से प्राय: चातुर्वर्ण्य के अनुसार प्रथम वर्ण के व्यक्ति का बोध होता है। परन्तु जो आदर्श भगवान् ने अर्जुन के सामने रखा वह तो केवल ब्राह्मण वर्ग के लिये न था। अर्जुन स्वयं क्षत्रिय था। श्रीकृष्ण भी अब्राह्मण थे। वह आदर्श तो व्यापक है और वर्ण-व्यवस्था से बंधा नहीं है। गीता के नवें अध्याय में यह स्पष्ट है। उस लक्ष्य के स्वरूप को जानने से भी यह समझना कठिन नहीं है कि भगवान् का या आत्मबोध का द्वार किसी के लिये भी बन्द नहीं है। यहाँ ब्राह्मण शब्द का प्रयोग ब्रह्मवेत्ता के अर्थ में ही समुचित प्रतीत होता है। अत: 'ब्राह्मणस्य विजानत:' का तात्पर्य हो जाता है, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न व्यक्ति जिसके भीतर पूरी जागृति हो चुकी है।

वास्तव में सन्त का पद बहुत ऊँचा है। वह तो प्रभु का ही रूप है। सन्त को जो अनुभूति सन्त बनाती है उस तक और कुछ भी पहुँच नहीं सकता, वह किसी भी प्रमाण पर निर्भर नहीं करता। वह स्वयं प्रमाण और स्वयं ज्योति होती है।

जो लोग वेद-वाद रत थे उनके वाद को तोड़ने के लिये ही इतनी ज़ोरदार और स्पष्टोक्ति है। वेदों का अतिक्रमण हो सकता है, यही आदर्श है मानव का।

अब इस लक्ष्य सिद्धि के उपाय का वर्णन करते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥47॥

तेरा अधिकार केवल कर्म में ही है। फलों पर कभी भी तेरा अधिकार नहीं। फल के लिए कर्म करने वाला मत बन। न तेरी आसक्ति हो अकर्म में॥47॥

कर्मयोग का यह मूलमन्त्र है। इसे समझने से और हृदयंगम करने से साधक को रास्ता सरलता से दीखने लगता है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' – तेरा अधिकार कर्म में अथवा कर्म पर है। मनुष्य कर्म कर सकता है। कर्म करने में उसे स्वतन्त्रता है – कर्म न करने की भी उसे स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता को हम अपने व्यवहार में अनुभव करते हैं। यदि हम बँधे हैं और वैसा प्रतीत करते हैं तो अपने ही संस्कारों के कारण। बाहर से हमें बाँधने वाला कोई नहीं।

कई लोग कर्म-स्वातन्त्र्य को मानने से इंकार करते हैं। हमें कर्म-स्वातन्त्र्य की चर्चा तो इस प्रसंग में करनी नहीं। इतना उनसे अवश्य कहना है कि यदि वास्तव में आपको यह प्रतीत होने लगा है कि करने-कराने वाला कोई और है और आप यन्त्रवत् हैं तो कर्मयोग आपके लिए नहीं है। यदि आपका अहंकार नष्ट हो चुका है तो आप साधना के क्षेत्र से पार हो गये हैं। पर यह केवल बौद्धिक बोध से नहीं होगा, वास्तविक आन्तरिक स्थिति से होगा।

कर्मयोग तो उस स्थिति वाले व्यक्ति के लिए है जिसमें कर्तृत्व का अभिमान है। जो अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। ऐसा व्यक्ति प्रतीत भी करता है 'मैं कर्म करता हूँ।'

यह अधिकार जीवन की रोज़-रोज़ उपस्थित होने वाली व्यावहारिक स्थितियों से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति को कर्म करने होते हैं। उनमें चुनाव भी होता ही है। व्यक्ति को इस क्षेत्र में बहुत अधिकार है।

व्यक्ति का फल पर – कर्म के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले फल पर – अधिकार नहीं है। विद्यार्थी परिश्रम कर सकता है, परन्तु वर्ष भर बाद परीक्षा में उसकी कैसी स्थिति होगी यह उसके हाथ की बात नहीं। किसान भी मेहनत कर सकता है, जितनी भी कर सके परन्तु उसकी खेती कैसी होगी यह वह निर्णय नहीं कर सकता। इसी तरह से माँ-बाप जितना चाहें बच्चे को सुयोग्य बनाने की चेष्टा कर सकते हैं परन्तु उनका बच्चा ठीक उनके मनोनुकूल हो ही जायगा यह नहीं कह सकते।

इस अनियमितता का कारण? फल-परिणाम केवल-मात्र हमारे द्वारा किये गये परिश्रम पर, चेष्टा पर ही निर्भर नहीं करता। वह और भी कई बातों पर निर्भर करता है। सबसे बड़ा है अदृष्ट – न देखा हुआ – भाग्य का तत्व।

वह अलक्षित ही न जाने किधर से बीच में कूद पड़ता है, और कहीं गुड़ का गोबर और कहीं गोबर का गुड़ कर देता है। वह पकड़ में नहीं आता। संसार में पुरुषार्थ तथा पुरस्कार में इतनी ऊँच-नीच, इतनी विषमता, जो हमें दीखती है उसका कारण यह अदृष्ट ही है।

आप कहेंगे यह तो 'कोरी भाग्यवादिता' है। हाथ पर हाथ रख कर पड़ जाओ। भाग्य में होगा तो खाना मिलेगा ही। कर्मयोग यह कदापि नहीं सिखाता। परन्तु जो वास्तविकता है उसे तो ठीक समझना ही होगा, जो हम करते हैं वह भी गणनीय है। जो हमने पहले कभी किया था वह भी गणनीय है। जो पूर्व प्रेरित कर्म शक्तियों को (जिन्हें अदृष्ट कहा जाता है) गिनने से इनकार करता है वह भी उतनी ही अधूरी दृष्टि रखता है जितनी वर्तमान की कर्म शक्तियों को नगण्य जानने वाला। पर जब हम सारी तस्वीर को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी कुछ हमारे हाथ में नहीं। हमारे अतिरिक्त और बहुत कुछ है।

उदाहरण लीजिए एक विद्यार्थी का। परीक्षा के लिये खूब मन लगाकर पढ़ा था। अच्छा विश्वास हो गया था अपने पर – प्रथम पास होंगे। परीक्षा की प्रथम रात्रि को सनक सवार हुई, लोभ लगा कि सारा पाठ्य-विषय देख जायें। देखते-देखते रात्रि के 4 बज गये। 7 बजे से पर्चा था। सोये कि अभी उठेंगे। 8 बजे नींद खुली। सभी पढ़ा-लिखा व्यर्थ गया। उसने जानबूझ कर तो ऐसा किया नहीं।

किसान ने बड़ी आशा से खेती बोई थी। धान पका, आशा और बढ़ी, बस अब घर में आयेगा ही, साल चैन से बीत जायगा, शशों (खरगोशों) का झुण्ड रात में उस खेत पर पड़ा, आधा खेत बर्बाद कर दिया। बेचारे का क्या कसूर?

लड़के को खूब अच्छी तरह से पढ़ाया। लायक था, होनहार था, यूनिवर्सिटी में गया, कम्यूनिस्टों के चक्कर में पड़ा, जादू चल गया। वह न घर का रहा न घाट का। क्या कसूर था बाप का?

विज्ञान का सारा इतिहास, विभिन्न क्षेत्रों में घटनायें जिन बातों पर निर्भर करती हैं, उनके अध्ययन का इतिहास है। उन्हें अलग-अलग करके, एक-एक को बदल-बदल कर अनिवार्य तथा वार्य का विवेक किया जाता है। क्रमशः उन पर अधिकार प्राप्त कर भौतिक जगत् की घटनाओं पर अधिकार प्राप्त

किया जाता है। बड़े-बड़े आविष्कार इसी प्रकार की गवेषणा के परिणाम मात्र ही तो हैं। प्रश्न होता है क्या इस प्रकार का अधिकार मानुषी जगत् में सम्भव है? अभी तक यह सम्भव नहीं हो सका है, यह तो स्पष्ट ही है। साम्यवाद के सर्वविध सामाजिक नियन्त्रण से, जैवीशास्त्र के, मनोविज्ञान शास्त्र के, और चिकित्सादि विद्याओं के फलस्वरूप भी हम इस प्रकार के अधिकार की कल्पना से भी अभी दूर हैं। यदि हम मानव-विकास के तत्वों को, अध्यात्म-शास्त्र के गम्भीर तथ्यों को कुछ भी समझते हैं तो यह कहना कठिन नहीं कि इस प्रकार का अधिकार असम्भव है। यदि यह सम्भव हो जाए तो वर्तमान मानव-विकास का क्षेत्र निष्प्रयोजन हो जायेगा। जो पाठ हमें इस संसार में आकर पढ़ने को हैं वह न पढ़ पायेंगे। मनुष्य, मनुष्य ही न रहेगा। जड़ यन्त्र बन जायगा। मानवता का संहार होगा, ऐसा हो जाना। ऐसा नहीं हो सकता है, यह हम सूक्ष्म तथ्यों की जानकारी से समझ सकते हैं।

अस्तु, **'मा फलेषु कदाचन'** कर्म फलों का निर्णय व्यक्ति के हाथ में नहीं। यही व्यावहारिक सत्य है। पूरा सत्य भी यही है, साधक की स्थिति की दृष्टि से। जीवन के किसी भी पहलू का विचार किया जाये, यही बात ठीक मालूम पड़ती है।

परन्तु मनुष्य एक ओर तो डींग बहुत मारता है, 'मैं यह कर डालूँगा' और 'वह कर डालूँगा'। दूसरी ओर आशाओं के घोड़ों पर हमेशा सवार रहता है और व्यवहार में नहीं तो मन में तो किसी शेखचिल्ली से कम नहीं रहता है। वास्तव में आशा की वृत्ति ही अहंकार का पुट पाकर डींगों के रूप में प्रकट होती है। जानने वाला जानता है कि यह सभी नादानी है। 'कल की तो यह जानता नहीं कि मौत इसके सिर पर खेल रही है, बातें आसमान की बघार रहा है।' सत्य तो इतना ही है, 'मैं चेष्टा करूँगा अमुक लक्ष्य की सिद्धि के लिए और वह भी जितनी कर पाऊँगा।' जैसे-जैसे व्यक्ति जागरूक होता है वैसे-वैसे नशा उतरने लगता है, बाहर की परिस्थितिवश होने वाली लाचारियाँ भी दीखने लगती हैं और भीतर की संस्कारवश होने वाली लाचारियाँ भी दीखने लगती हैं। उसका अपना उत्साह क्षीण हो सकता है तथा एक प्रतिद्वन्द्वी भावना भी जग सकती है जो उसकी सारी शक्ति को क्षीण कर दे। शरीर भी कार्य के अयोग्य हो सकता है। उसकी रुचियाँ ही बदल सकती हैं। जो तटस्थ होकर अपने और दूसरों के भीतर झाँकने लगे वह इस तमाशे

को खूब अच्छी तरह से देख पाते हैं और है यह खूब रोचक तमाशा!

जब व्यक्ति का कर्म में अधिकार इतना सीमित है तो फलों पर अधिकार कितना अधिक सीमित होगा। तिस पर भी यह बात और बढ़ कर है कि हम फलाशा को मुख्य मान कर कर्म में प्रवृत्त होते हैं। छाया के पकड़ने की चेष्टा ही दिखाई पड़ती है फलाशा का अनुसरण करना! अनियति के पीछे भागना है! बाह्य दृष्टि से देखने पर इस प्रकार से किसी फल विशेष की प्राप्ति को कर्म की प्रेरणा बनाकर कर्म करना कोरी मूर्खता ही है! स्पष्ट ही पानी के बुदबुदे में सृष्टि की कल्पना करनी है जैसे कोई अपने होने वाले लड़के के, लड़के के लड़के से किसी की लड़की की लड़की की लड़की का विवाह करने की सोचे और फिर उसकी सन्तति को देखने का स्वप्न ले।

आशा डोलेगी, दिल डोलेगा, हाथ काँपेगे। आशा टूटेगी, दिल टूटेगा, व्यक्ति ढेर हो जायगा और आशा पुरेगी तो और आशायें जगेंगी। नित्य नई कामनाओं के जाल में व्यक्ति अपने को बाँधता चला जायेगा। जन्म-जन्मान्तर के लिए अपने बन्धन का सामान कर लेगा। ऐसा करने से कर्म दु:ख का कारण होगा और बन्धन का कारण होगा। यह महंगा सौदा है! यह मूर्खता है। जिस कर्म को हम बन्ध-विच्छेद के लिये बरत सकते थे उसे ही हम प्रकृति के दासत्व को पाने के लिए बरत रहे हैं। छूटने की बजाय लिपायमान होते हैं।

कर्मयोग तो कर्म को भीतर की आसक्तियों को छुड़ाने का तरीका बना देता है। आसक्ति से कामना और कामना से बन्धन होता है। कर्म से बन्धन नहीं होता! कामना से – फलाशा से बन्धन होता है। समुचित बुद्धि से – निष्ठा से किया कर्म कामना को क्षीण करता है, क्रमश: आसक्ति को निर्मूल करता है, वासनायें भस्मीभूत हो जाती हैं, अन्त:करण निर्मल हो जाता है और प्रकृति के बन्धन ढीले हो जाते हैं। कर्मयोग वह जादू है जो कर्म को इतना प्रभावशाली और उपयोगी बना डालता है। कर्म तो एक शक्ति है। जैसे उसे बरता जायेगा वैसा उसका परिणाम होगा, यह स्पष्ट हो गया होगा। कोरा कर्म, बन्धन नहीं करता और न ही मोक्ष करता है। समुचित निष्ठा से युक्त कर्म राम को मिला देता है, उसके विपरीत बन्धन को लादता है। वही चाकू गला काटता है और वही फाँसी छुड़ा सकता है। बर्तने वाले पर सभी निर्भर करता है।

जब कर्मयोग तथा कर्म के बारे में इतनी समझ आ जाय तो यह समझना मुश्किल नहीं कि कर्मयोग कोरा भाग्यवाद नहीं है। कर्मयोग निकम्मापन नहीं सिखाता, कर्मशीलता सिखाता है। कर्म के वास्तविक महत्त्व का परिचय कर्मयोगी को ही प्राप्त होता है। फलाशा वाले तो अपने कर्म को कौड़ियों के मोल बेचा करते हैं।

जिसने यह समझा है वह अकर्मण्य नहीं होगा। अतः कहा **'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'** – काम न करने में तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। निष्क्रियता तो अन्धकार है, अज्ञान है, अप्रगतिशीलता है। पड़े-पड़े सड़ता है निष्क्रिय व्यक्ति!

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥48॥

हे अर्जुन! आसक्ति को छोड़कर, सिद्धि तथा असिद्धि के प्रति सम होकर, योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। समत्व को योग कहते हैं॥48॥

श्लोक 47 से कर्मयोग का वर्णन आरम्भ होता है। 53 तक सभी श्लोक उसे ही स्पष्ट रूप से समझाने के लिए हैं।

गत श्लोक में कहा गया था कि कर्म, फल के हेतु न होने चाहिए। कर्मों से उपराम भी न होना चाहिये।

सहज में ही प्रश्न होता है – कर्म तो करना ही है। फल को यदि हेतु न बनाया जाये तो कैसे कर्म किया जायेगा?

आसक्ति का अभाव होना चाहिए। आसक्ति होती है चिपकने की योग्यता, पकड़ रखने की प्रवृत्ति। सामान्यतया इसे लगावट कहते हैं। फल से आसक्ति हो सकती है और कर्म से भी आसक्ति हो सकती है। किस आसक्ति से व्यक्ति रहित हो? फलाशा तो फलासक्ति से ही पैदा होती है। उससे बचना चाहिये। यदि कर्म करने में आसक्ति के कारण फल प्रधान हो जायगा तो वह हमारे लिए नूतन संस्कार का निर्माण करेगा और बन्धन का कारण होगा। अतः फल में आसक्ति न होनी चाहिए।

कर्म में आसक्ति हो जाती है जब कर्म करने में आत्म-तृप्ति का अनुभव होने लगता है। कर्म की आसक्ति अधिक सूक्ष्म होती है। इसलिये इससे होने वाला बन्धन भी अधिक सूक्ष्म होता है। परन्तु जब तक ऐसी आसक्ति भी

बाकी है तब तक परिणाम दु:ख होगा। आसक्ति का परिणाम दु:ख ही होता है, भले ही वह आसक्ति स्थूल हो अथवा सूक्ष्म। इस योग के पथ के पथिक को अपने को सभी प्रकार की आसक्तियों से परे उठाना है। 18वें अध्याय में भगवान् कहते हैं –

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशय:॥10॥

त्यागी व्यक्ति अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता....यह आसक्ति परित्याग के क्षेत्र में आदर्श है।

दूसरी बात कही, **'सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा'** – सिद्धि और असिद्धि में सम होकर। समता पूरी होनी चाहिए बुद्धि की भी और हृदय की भी। हम सोच लेते हैं कि हमारा कर्त्तव्य था सो हमने किया, परिणाम तो हमारे हाथ में नहीं था। असफलता हुई तो हुई। हमें सन्तोष है कि हमने अपने कर्त्तव्य को तो कर दिया। परन्तु हृदय के भीतर एक मसोस बनी रह जाती है। समत्व का लक्ष्य है हृदय भी चलायमान न हो। श्रीरामचन्द्र जी ने सुना कि उन्हें राज्य के बदले में 14 वर्ष का बनवास मिल रहा है तो उनके मुखमण्डल की श्री में तनिक भी अन्तर नहीं आया। समता उनमें सहज थी। चेष्टा करके हृदय को थामा जा सकता है। सिद्धि-असिद्धि की चोटों को खाकर धीरे-धीरे हृदय भी सहनशील और सम हो जाता है। बुद्धिगत समता धीरे-धीरे हृदय को प्रभावित करती है।

कर्मयोगी के लिये परिणाम किंचित् भी महत्त्व नहीं रखता, महत्त्व रखती है समुचित बुद्धि। सिद्धि अथवा असिद्धि दोनों समान रूप से उसके लिये निरर्थक हैं, अत: वह उनके प्रति सम है। कर्म का महत्त्व है उसके साधना-पक्ष में, उसका परिणाम-पक्ष तो कर्मयोगियों के लिये उपेक्ष्य ही होता है।

वास्तविक समता का भान तो व्यक्ति को होता है जब सम चेतना, जो भागवती-स्तर से सम्बद्ध है, जग जाती है। तब स्वत: ही बुद्धि सम रहती है, अडोल रहती है और हृदय भी। कोई भी चोट हृदय की थाह को ले नहीं सकती। व्यक्ति एक शान्ति-सागर बन जाता है।

तीसरा निर्देश है, **'योगस्थ: कुरु कर्माणि'** योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। क्या अर्थ है इस योग का? क्या प्रयोजन है इस निर्देश का? योग

जीवन के प्रति दृष्टिकोण का सूचक है। जीवन को साधना समझता हुआ, कर्म को साधना समझता हुआ, इसे प्रभु की ओर जाने का रास्ता मानता हुआ कर्म कर। वास्तव में एक कर्मयोगी और सामान्य व्यक्ति में अन्तर तो दृष्टिकोण का ही है। कर्म तो बाहर से देखने में दोनों के एक से ही दीखेंगे। वह भी अपनी आजीविका के लिए समाज के किसी काम को करेगा और कर्मयोगी भी। उनकी निष्ठा ही आकाश-पाताल का अन्तर कर देती है। कर्मयोग इसी योग-निष्ठा का सूचक है। यह निष्ठा एक कर्म-विशेष से सम्बद्ध नहीं, समूचे जीवन से सम्बद्ध है। इस विषय में पर्याप्त चर्चा पहिले की जा चुकी है।

अन्त में चतुर्थ पाद में कहा, **'समत्वं योग उच्यते'** योग का सार क्या है? किसके बिना यह योग असफल होता है? समत्व-समता। द्वन्द्वों को यदि हम सम नहीं समझ सकते और उनमें सम रहने की चेष्टा यदि हम नहीं करते तो हम इस पथ पर आगे बढ़ ही न पायेंगे।

क्यों इतना महत्त्व रखता है समत्व? आसक्ति से विषमता होती है। वह विषमता ही आशा का रूप धारण कर लेती है। उस आशा से अभिभूत व्यक्ति कर्म करके अपने लिये बन्धन की रचना करता चला जाता है।

लाभ-हानि हमारे लिए सम हो जायें तो इच्छा के लिये गुंजाइश ही नहीं। स्वधर्म का ही महत्त्व रह जाता है, फल का नहीं रहता। व्यक्ति स्वधर्म में प्रतिष्ठित हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। उसके बन्धन कटते जाते हैं।

इसीलिए समता मूल मन्त्र है। यह मापदण्ड है जिससे कर्मयोगी की स्थिति का माप होता है। अध्यात्म-विकास का भी यही मापदण्ड है। भीतर की समता ही अर्थ रखती है। यही समदृष्टि ही दृष्टि के मूल में रहती है। यही ब्रह्मदृष्टि बन जाती है आगे चल कर। देखिये श्लोक 54, 18वें अध्याय का।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥49॥

'हे अर्जुन! बुद्धियोग की अपेक्षा दूसरा कर्म बहुत दूर है, (निम्न कोटि का है) बुद्धि में शरण ले। फल को हेतु मानकर कर्म करने वाले कृपण हैं'॥49॥

कर्मयोग के महत्त्व को तुलना के द्वारा प्रकट करने की चेष्टा की गई है वर्तमान श्लोक में।

कर्मयोग को ही बुद्धियोग कहा है। बुद्धि-निष्ठा ही इस योग में प्रधान है। कर्म इसी निष्ठा के अनुसार बन्धनाशक अथवा बन्धकारक हो जाता है।

फल को हेतु मानकर कर्म करने वाले क्षुद्र हैं। उनकी दृष्टि कर्म के बाह्य स्वरूप और उसके स्थूल परिणाम तक ही जाती है। वह अपनी क्षुद्रता के कारण कर्म को बहुत सस्ते दामों में बेच देते हैं। जो हीरा है उसे वह पत्थर के दामों बेच देते हैं अपनी कृपणता के कारण। कर्म तो हमें प्रकृति पार प्रभु से मिला सकता है यदि हमारी निष्ठा समुचित हो। ऐसे होने से तो हम प्रकृति के बन्धन से ही मुक्त नहीं होते अपितु उसके स्वामी बन जाते हैं। परन्तु लोभ के कारण क्षुद्र दृष्टि से हम न इतनी दूर देख सकते हैं, न धैर्य ही रख सकते हैं।

बुद्धि की शरण लेना है कर्मयोग की निष्ठा जागृत करना। अर्जुन को भगवान् ऐसा करने के लिये कह रहे हैं, जिससे वह पाप-पुण्य दोनों से ही परे हो जाय।

कर्मयोगी का कर्म और सामान्य व्यक्ति द्वारा किया गया वही कर्म बहुत अन्तर रखते हैं। एक से योग होता है, दूसरे से वियोग। एक से मोक्ष होता है, दूसरे से बन्धन। एक से आसक्ति दूर होती है, दूसरे से बढ़ती है। एक निवृत्ति का हेतु है, दूसरा प्रवृत्ति का। यही तो आकाश-पाताल का अन्तर है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥50॥

'(कर्मयोग की) बुद्धि से युक्त हुआ व्यक्ति इस संसार में पाप तथा पुण्य दोनों को ही छोड़ देता है। इसलिये योग के लिये प्रयत्नशील हो जा। योग कर्म में कौशल है'॥50॥

कर्मयोग के प्रभाव का वर्णन करते हैं।

सामान्य कर्म पुण्य अथवा पाप से युक्त कर देता है करने वाले को। कर्म का विवेचन करते हुए (व्यास जी पातंजल सूत्रों पर भाष्य करते हुए) लिखते हैं कि कर्म चार प्रकार का होता है। शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्ल-कृष्ण। शुक्ल का अर्थ है नितान्त पुण्य स्वरूप और ऐसा कर्म तो

केवल योगियों के लिए ही सम्भव है। कृष्ण पापमय कर्म है। शुक्ल-कृष्ण, पाप तथा पुण्य के सम्मिश्रण वाला कर्म है। अशुक्ल-कृष्ण, वह कर्म है जो न पुण्य है और न पाप ही। पुण्य कर्म सुख का हेतु होता है और पाप कर्म दु:ख का। सामान्य व्यक्ति जो कर्म करता है वह तो पुण्य तथा पाप का मिश्रण ही होता है। केवलमात्र योगियों का कर्म ही नितान्त पुण्यमय होता है। कर्म करके व्यक्ति अपने लिये जिस सुख अथवा दु:ख के भोग का संचय करता है, वह उसे भोगना होता है। यही फिर जन्म ग्रहण करने के लिये व्यक्ति को बाधित करता है।

मनुष्य की सुख के लिये सदैव चाह रहती है। पुण्य का परिणाम सुख होता है। अत: मनुष्य सुख का संचय करना चाहता है। परन्तु हमारी, और जिस संसार में हम रहते हैं उसकी, सीमायें हमें पुण्य के साथ अनचाहे पाप का संचय भी करा देती है; परिणामस्वरूप सुख-दु:ख का सम्मिश्रण ही हाथ लगता है। फूलों की लालसा काँटों में घसीट ले जाती है। मीठा खाने की चाह कड़ुवा बलात् चखा देती है। कोई भी ऐसा उपाय सम्भव नहीं जिससे हम पुण्य का संचय कर सकें और पाप से नितान्त बच जाएँ। योगी के लिए वह सम्भव है। परन्तु उसका जीवन और कर्म दोनों ही और स्तर के होते हैं।

वास्तव में सुख अथवा दु:ख दोनों ही बन्धन का कारण हैं। उनका भोग हमें सीमित संसार में ससीम करके डाल देता है। अत: पुण्य और पाप जो सुख-दु:ख का कारण हैं वही बन्धन रूप है। उन्हीं से छूटने पर व्यक्ति जन्म-मरण की आवश्यकता से परे हो सकता है। इसी का नाम मोक्ष है।

बात विचित्र अवश्य है। छोड़ना चाहते हैं दु:ख और उनके साथ में छोड़ना पड़ता है सुख भी। क्या ऐसा रास्ता सम्भव नहीं कि दु:ख तो छूट जाये और सुख न छूटे? यदि विचार से देखा जाय तो जिसे हम सुख कहते हैं वह दु:ख से ऐसे सटा हुआ है कि वह भी दु:ख रूप ही हो जाता है। उसके लिए चाह, उसके प्राप्त करने के लिए दौड़-धूप, आशा-निराशा का दोलारोहण जो उसके साथ लगे हैं वह सभी दु:ख रूप ही हैं। सुख-दु:ख दोनों से परे जाने में ही चैन सम्भव है।

सुख-दु:ख से परे की अवस्था तो जड़वत् अवस्था होगी। पशु को सुख-दु:ख का कम भान होता है मनुष्य की अपेक्षा। वनस्पतियों को और भी कम होता है। जड़ जगत् तो प्राय: इस भान से रहित है। इस प्रतीति

की योग्यता खो देना क्या विकास क्रम से लौटना नहीं होगा? यह प्रश्न उत्पन्न होता है।

सुख और दु:ख से परे की अवस्था जड़ जगत् की चेतना की अवस्था से नितान्त भिन्न है। उसमें ज्ञान है, शान्ति है और आनन्द है। वह आनन्द जो परम तृप्ति स्वरूप है जिसका मूल इच्छा-रूपी अभाव नहीं, परन्तु आत्मा की पूर्णता है, हमारा सहज आनन्द है। वह सुख से बहुत ऊँची अनुभूति है और वह स्थिर अनुभूति है। विकास-क्रम में आगे की अवस्था ही यह है। उस अवस्था को पाकर व्यक्ति सुख-दु:ख द्वन्द्व से सदैव के लिये परे हो जाता है।

सुख तथा दु:ख, दोनों का ही अतिक्रमण विकास-क्रम में अवश्यम्भावी है। अत: पुण्य तथा पाप, इन दोनों का भी। पाप तथा पुण्य की भावना का ही लोप हो जाना स्वाभाविक अर्थ है इसका। यह स्थिति भी पशु की सी मालूम पड़ती है, परन्तु वास्तव में है यह उससे नितान्त भिन्न। ऐसा व्यक्ति तो सभी में अपनेपन को प्रतीत करता है और सभी को अपने में। वह तो सहज में भगवान् में निवास करता है। राग-द्वेष की सम्भावना से, काम-क्रोध के उद्वेग से और अहं के बन्धन से वह मुक्त हो गया होता है। यही पाप के मूल होते हैं।

इस प्रकार से पुण्य तथा पाप का परित्याग हो जाना आवश्यक है विकास क्रम में आगे चलने के लिए और जन्म-मरण की परवशता से मुक्त होने के लिये। कर्म-योग की बुद्धि से युक्त हुआ व्यक्ति पाप-पुण्य से रहित हो जाता है।

फलाकांक्षा हमें कर्म से बाँध देती है स्थूल रूप से। कर्म का संस्कार हमसे चिपक जाता है और फलोपभोग के लिए हमें बाधित करता है। इच्छा ही भौतिक जगत् में हमें खींच लाती है। बुद्धियोग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति यत्न करता हुआ क्रमश: फलाकांक्षा से रहित हो जाता है। फल उसके कर्म की प्रेरणा का कारण ही नहीं होता। उसका कर्म तो कर्त्तव्य रूप या सहज हो जाता है। धीरे-धीरे अन्त:करण शुद्ध होता है, संस्कारों का क्षय होता है, समत्व की बुद्धि अहंकार पर भी आघात करती है। व्यक्ति 'मैंने किया', 'मैं करता हूँ' के भाव से परे हो जाता है। उसे कर्म होता हुआ तो प्रतीत होता है पर उसमें अपनेपन की प्रतीति नहीं होती, जैसे किसी दूसरे के

कर्म में, परिणाम-स्वरूप कर्म उसे बाँधता नहीं। वह पाप-पुण्य दोनों से अलग हो जाता है। करता हुआ भी वह कर्ता नहीं रहता। यही नैष्कर्म्य की स्थिति है। यही कर्मयोग की सिद्धि है।

भगवान् अर्जुन को कर्मयोग के पथ पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं और इस रास्ते की बड़ाई बताते हैं, 'योग कर्म में कुशलता है'।

'योगः कर्मसु कौशलम्' का अर्थ यह नहीं कि कर्म में कुशलता ही योग है। ठीक इसके विपरीत योग ही कर्म में कुशलता है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। जो कर्म में कुशलता को ही योग समझता है वह दक्षता मात्र को ही, कर्म में सफलता को ही, योग का लक्षण समझेगा, भले ही करने वाले की वृत्ति कुछ भी हो। वह फलाकांक्षी हो अथवा न हो। जो दक्ष है सो योगी है। यह बात अनिवार्य रूप से सत्य नहीं। कर्मयोगी कर्म को साधना रूप करता है इसलिए उसकी शक्ति अधिक भली प्रकार से कर्म में केन्द्रित हो सकती है। परन्तु वह सफल ही होगा, यह आवश्यक नहीं।

तो योग कर्म में कौशल कैसे है? योगी कर्म करता हुआ कर्म के बन्धन से मुक्त रहता है। सामान्य व्यक्ति कर्म करने से बँध जाता है। उसके लिये संस्कार संचित होते हैं जो फिर जन्म का कारण बन जाते हैं। वह पाप तथा पुण्य से लिपायमान होता है। योगी कर्म से न केवल नये बन्धन नहीं बनाता, पुरातन संस्कारों को भी योग की बुद्धि से कर्म करने से ढीले कर देता है। उत्तरोत्तर संस्कारों का क्षय होता है। अन्ततः कर्म निर्मल होता जाता है। उसी कर्म को ही वह मोक्ष का साधन बना लेता है, जिससे साधारण व्यक्ति अपने लिए नए बन्धनों को बनाता है। यह है योग का कौशल।

इस कौशल को समझना कर्मयोग की ठीक समझ के लिए आवश्यक है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥51॥

'बुद्धि से युक्त बुद्धिमान लोग कर्म से होने वाले फल का त्याग करके जन्म के बन्धन से भली भाँति मुक्त हुए दुःख रहित पद को प्राप्त करते हैं'॥51॥

पहले श्लोक में कहा था – **'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'**, बुद्धि से युक्त हुआ मनुष्य पाप तथा पुण्य दोनों को यहीं छोड़ देता है। उस पाप-पुण्य के परित्याग का क्या परिणाम होता है, इसकी चर्चा वर्तमान श्लोक में की गई है।

क्या पिछले श्लोक के पूर्वार्ध में कही बात और इस श्लोक के पूर्वार्ध में कही बात में कुछ अन्तर है? कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता है। वहाँ पाप और पुण्य दोनों को छोड़ना कहा है, यहाँ कर्ममात्र से होने वाले फल का छोड़ना कहा है। पुण्य तथा पाप के परित्याग से कर्म से होने वाले सुख तथा दु:ख से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। कर्म से होने वाला फल सुख तथा दु:ख ही तो होता है। इस सुख तथा दु:ख के अतिरिक्त कर्म करने वाले पर जो संस्कार पड़ता है जो भावी प्रकृति अथवा वासना का कारण हो सकता है वह अधिक महत्त्व का है। कर्ता वास्तव में उसी से बंधता है। उससे बन्धन-परम्परा आरम्भ हो जाती है। उस संस्कार से मुक्त होना अधिक मुश्किल होता है। सुख-दु:ख से तो व्यक्ति भोगकर छुट्टी पा जाता है। जैसे बन्दूक चलाने में बन्दूक से जाने वाली गोली बाह्य जगत् में प्रभाव पैदा करती है, परन्तु बन्दूक से लगने वाला धक्का चलाने वाले को प्रभावित करता है, इसी प्रकार कर्म का द्विविध प्रभाव होता है। बन्दूक से लगने वाला धक्का सूक्ष्म होता है और गहरा असर रखता है। इसी प्रकार कर्ता में होने वाला कर्म संस्कार है।

यदि वास्तव में समत्व की बुद्धि जग गई है, यदि कर्म सहज हो गया है, यदि कर्म के करने वाले में से फलाकांक्षा का नितान्त अभाव हो गया है, तो कर्ता कर्म-संस्कार से नितान्त रहित रह पाता है। यही 'बुद्धि' है, यही कर्मयोग की निष्ठा है। न तो वह सुख-दु:ख का भागी होता है, न कर्म करने से उसमें वासना की उत्पत्ति सम्भव है। उसका किया कर्म उसके लिए पानी पर लकीर हो जाता है। वह करते-करते मिटता चला जाता है।

वह सिद्धावस्था है इस 'बुद्धि' की। जब व्यक्ति समत्व की निष्ठा से कर्म करता चला जाता है तो उसका भीतर निर्मल होता जाता है, वासनायें क्षीण होती जाती हैं। सूक्ष्म फलाकांक्षा भी निपट जाती है। कर्तृत्व भी समाप्त होने लगता है। उसके लिये कर्म सहज हो जाता है, जैसे सूर्य के लिए प्रकाश देना, अग्नि के लिए ताप देना, इत्यादि। सूर्य का प्रकाश विभिन्न प्रभाव पैदा

करता है। कहीं जीवन का कारण होता है कहीं मृत्यु का, परन्तु सूर्य को दोष नहीं होता है। ऐसे ही कर्मयोगी का योग स्वधर्म का पालन मात्र होता है। कर्म में कुछ और प्रयोजन नहीं रहता। उसके परिणाम से किसी प्रकार की तुष्टि-अतुष्टि भी तो नहीं होती। ऐसी स्थिति ही सहज कर्म की स्थिति है। यही 'बुद्धि' की सिद्धावस्था है। सीखते-सीखते ही व्यक्ति इस स्थिति को पाता है।

ऐसा व्यक्ति वास्तव में मनीषी है। जो मन से गति कर पाये, जिसके मन में विशेष बल है और जिसके मन की गति सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों में हो सकती है वही मनीषी कहलाता है। कर्मयोग का साधन मूर्खों का साधन नहीं है। कर्मयोगी तो हमेशा भीतर जागरूक रहता है। उसे कर्म के द्वारा होने वाले प्रभावों को, बाहिरी तथा भीतरी प्रभावों को देखना होता है। वह अपने भीतर छिपी हुई फलाकांक्षा को समय पाकर देखने लगता है। भीतर के मैल को समुचित धारणा के द्वारा धोने की हमेशा चेष्टा करता रहता है।

साधक, कर्मयोग की साधना करते-करते, जैसे भीतर निर्मल होता है वैसे मनीषी भी बनता चला जाता है। राग-द्वेष का जैसे-जैसे पर्दा उठता है, मति सबल तथा निर्मल होती जाती है।

ऐसा सिद्ध कर्मयोगी जन्म-बन्ध से भलीभाँति मुक्त हो जाता है। जन्म का बन्धन क्योंकर होता है? भोग की इच्छा ही तो व्यक्ति को इस संसार में खींच कर लाती है। यहाँ आकर बलात् वह कर्म करता है और फिर इच्छा को पुष्ट कर लेता है। यह चक्कर चलता चला जाता है। कर्मयोगी इच्छा की डोरी को काट डालता है, अपने निष्काम कर्म की साधना के द्वारा। परिणाम-स्वरूप जन्म के लिये प्रेरणा ही नहीं रहती। बन्धन का अभाव हो जाता है, क्योंकि वास्तव में मनुष्य को उसकी इच्छायें ही बाँधती हैं। बाहिर से कोई वस्तु नहीं बाँधती। इस प्रकार सभी बन्धन के कारणों से, वासनाओं से और संस्कारों से रहित हो जाता है, 'बुद्धि' वाला कर्मयोगी।

इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त करने का परिणाम? अनामय पद की प्राप्ति। अनामय-दु:ख रहित। आमय दु:ख को कहते हैं। व्यक्ति ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है जिसमें दु:ख की सम्भावना ही नहीं। हम प्रकृति से सुख चाहते हैं। सुख के साथ दु:ख में भी फँस जाते हैं। चाह छोड़ते हैं, तो प्रकृति की देनदारी नहीं रहती। तब दु:ख से छूट जाते हैं। उसके साथ ही

प्रकृतिजन्य सुख से भी हम परे हो जाते हैं। पाप से छूटने में पुण्य भी छूटता है। कर्ममात्र से व्यक्ति छूट जाता है। वास्तव में तो जैसे पाप बन्धन है, वैसे ही पुण्य भी है। प्रकृति के सुख के साथ-साथ तो अनिवार्य रूप से दु:ख लगा ही है। कर्मयोगी दु:ख रहित स्थिति को लाभ कर लेता है। वह प्रकृति के बन्धन से परे हो जाता है। यही नैष्कर्म्य की सिद्धि है। सांख्ययोगी इसी को लक्ष्य मानकर साधना करता है। यही उद्देश्य कर्म की समुचित निष्ठा से सहज में प्राप्त हो जाता है।

इसी 'बुद्धि' (कर्म की निष्ठा) की प्राप्ति के साधनों की ओर संकेत किया जाता है। फिर इसी बुद्धि के लक्षणों आदि का वर्णन होगा। आगामी दो श्लोक 52 तथा 53, इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग को उठाते हैं। वास्तव में बिना साधन के यह कर्म की निष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती है। यह कोरी समझने की बात तो है नहीं, अपितु समूचे जीवन को नये ढाँचे में बदल डालने की बात है। आगामी श्लोक कर्मयोग का साधन काण्ड है। इस साधना के आधार के बिना कर्मयोग की चर्चा कोरा वाग्जाल रह जाती है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥52॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥53॥

जब तुम्हारी बुद्धि मोह के पर्दे को (दलदल को) भली प्रकार से पार कर जायगी तब तुम सुनने योग्य और सुने हुए के प्रति उदासीन हो जाओगे॥52॥

श्रुति से भ्रमित हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर समाधि में अचल हुई टिक जायेगी, तब तुम योग को प्राप्त करोगे॥53॥

क्यों भ्रमित हो रही थी अर्जुन की बुद्धि? क्यों कर्त्तव्य के पथ से अर्जुन च्युत हो रहा था? क्यों हो रही थी अर्जुन को परेशानी युद्ध करने से? अर्जुन की बुद्धि मोह के दलदल में फँसी हुई थी। वह ठीक देख नहीं पाता था, उस पर्दे के कारण जो मोह ने उसकी बुद्धि पर डाल रक्खा था।

मोह अज्ञान का सूचक है। मोहित हो जाना संज्ञा-शून्य होना होता है,

अचेत होना होता है। अपना और परिस्थिति का समुचित ज्ञान लुप्त हो जाता है मोहावस्था में। माँ को बच्चे के विषय में मोह होता है। पत्नी को पति के विषय में और बन्धुओं को बन्धुओं के विषय में। आसक्ति लगाव को ही सूचित करती है। मोह तो उस लगाव के कारण होने वाले बुद्धि भ्रम को सूचित करता है। मोह में आई माँ बच्चे के हिताहित को भूल जाती है। लाड़ में आकर उसे आवश्यकता से अधिक खिला देती है। इसी के कारण बच्चे की बुराइयों को देख भी नहीं पाती। अपनी स्थिति को और बच्चे की स्थिति को न समझने के कारण ऐसा व्यवहार कर बैठती है जिससे दोनों का अहित होता है। अर्जुन की भी यही दशा थी। बन्धुओं से आसक्ति थी। उनका शारीरिक कष्ट और सम्भावित वियोग उसके लिये असह्य था। अतः युद्ध उसे बुरा दीखता था। उस आसक्ति से अभिभूत हुआ अर्जुन कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक भी न कर सकता था। यही खींचतान उसकी परेशानी का कारण थी।

बुद्धि की स्थिरता, बातों को ठीक समझकर निश्चय कर लेना, और उस निश्चय के विषय में सन्देह रहित रहना आवश्यक है कर्मयोग के रास्ते पर चलने के लिये। किन बातों से व्यक्ति निश्चय नहीं कर पाता और सन्देह में फँसा रहता है? बड़ा कारण तो होता है मोह, जिससे व्यक्ति ठीक सोच नहीं पाता। स्थिति को ठीक न समझने से विभिन्न बातों का ठीक मूल्य नहीं लगा पाता। अतः दोलारूढ़ सा बना रहता है।

इसके अतिरिक्त हम अनेक बातों को सुनते हैं। यदि भीतर अपनी समझ पैदा हो गई है तो सुनी बातों का ठीक अर्थ लगा सकते हैं। वह किस स्थिति में किसके लिये किस प्रकार से लागू होती है – यह समझ जाते हैं। भीतर बुद्धि की निर्मलता न होने से सुनी हुई बातों को शास्त्र के और आप्त पुरुषों के वाक्यों को भी हम ठीक नहीं समझ पाते। हमारे लिए वह क्या व्यवहारी सन्देश रखते हैं वर्तमान स्थिति में, यह नहीं समझ सकते हैं। अतः सन्देह और बढ़ता है। शास्त्र तो विभिन्न परिस्थितियों के लिए और विभिन्न स्थिति के व्यक्तियों के लिये योग्यतानुसार निर्देश देता है। उसे समझ वही सकता है जिस की बुद्धि निर्मल हो गई है।

जब तक व्यक्ति की अपनी समझ नहीं रहती, तभी तक वह बाहर से अपने लिये आदेश प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जब भीतर ठीक समझ पैदा हो जाती है तो उसे औरों की बातों को सुनने की उत्सुकता नहीं रहती।

रास्ता उसे साफ दिखाई देता है। अपनी कमज़ोरियाँ भी उसे दीखती हैं। अभ्यास की और बल की आवश्यकता प्रतीत होती है। वह जानता है कि सभी कुछ एक ही दिन में सम्पन्न नहीं होगा।

जो कुछ सुन रक्खा है उसका सार भी व्यक्ति जान सकता है। उसे तो वह व्यावहारिक भाषा में समझने लगता है। अत: उसके प्रति भी उदासीन हो जाता है। कर्मयोग की सिद्धावस्था में तो सभी कुछ – सुना हुआ और सुनने योग्य – बेकार हो जाता है, क्योंकि शास्त्र का जो प्रयोजन है वह तो हल हो जाता है। जिस स्थिति की प्राप्ति के लिये शास्त्र के सभी निर्देश हैं उसको वह पा जाता है जीते जी ही।

इसीलिये भगवान् ने अर्जुन से कहा कि जब यह मोह का पर्दा तेरी बुद्धि से उतर जायेगा तो बाहर की बातों के प्रति तू उदासीन हो जायेगा।

आगामी श्लोक (53) में और स्पष्ट रूप से कहा कि शास्त्र बुद्धि को भ्रमित करता है। इधर से उधर फेंकता है – स्थिरता नहीं प्रदान करता। स्थिरता तो भीतर से आती है। शास्त्र विहित रीति से कर्म करने से भीतर स्थिरता जग सकती है। केवलमात्र शास्त्र का सुनना बुद्धि को स्थिर नहीं करता। आगे शास्त्र की प्रामाणिकता तो भगवान् ने स्वयं ही कही है। (16/24)

शास्त्र की उपयोगिता को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे में शास्त्र प्रमाण है। क्षत्रिय के कर्मों का विधान शास्त्र ने किया। अर्जुन को उसका अनुसरण करना चाहिए। फलस्वरूप वह मोह से ऊपर उठ सकेगा और समय पाकर उसकी बुद्धि स्थिर हो जायगी। इसके अतिरिक्त शास्त्र तो हिंसा – अहिंसा की चर्चा भी करता है, पितरों के पिण्डदान आदि का विधान करता है तथा और अनेक बातें बताता है। इन सभी बातों को जान लेने से व्यक्ति की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। मेरे लिये वर्तमान परिस्थिति में शास्त्र क्या आदेश देता है, इतनी बात जानने की है और पालन करने की है। इसके अतिरिक्त जो बातें कही हैं, वह व्यक्ति को भ्रम में डाल सकती हैं। सामान्यतया वह डालती ही हैं लोगों को भ्रम में।

जिस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो गई है वह विभिन्न वस्तुओं के महत्त्व को जान जाता है और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय स्वयं करने योग्य हो जाता है।

बुद्धि निश्चल हो सकती है तभी जब व्यक्ति कर्त्तव्याश्रित साधना-पथ को समझ जाये और उस पर चलने लग जाये। अर्जुन की बुद्धि वास्तव में सुने हुए ज्ञान के कारण भ्रमित थी। उसने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक ही खो दिया था। इसीलिये भगवान् ने कहा कि जब तेरा मोह दूर होगा और बहुत बातें सुनने के कारण जो तेरे मस्तिष्क में गड़बड़ हो गई है यह मिट जायगी, तभी रास्ता खुलेगा।

समाधावचला, समाधि में अचल। इस प्रकार के भ्रम के दूर होने पर तेरी बुद्धि समाधि में अचल रूप से टिक जायगी। क्या है यह समाधि? आँखें मूँद कर इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने से प्राप्त होने वाली अवस्था? यह समाधि नहीं। समाधि है समाधान – समस्थिति बुद्धि की। शान्त स्थिति ही समाधि की स्थिति है, भले ही आँखें मूँदी हुई हों अथवा खुली हों। जब मन अपनी चंचलता को छोड़ देता है, जब इन्द्रियाँ विषयों के द्वारा चलायमान नहीं होतीं, जब बुद्धि भी स्थिर होती है – तब समाधि की अवस्था होती है। खुली आँखों भी समाधि होती है। वह सहज समाधि कहलाती है। तब मन स्वभावतः निश्चल हो जाता है, संकल्प-विकल्प-शून्य होकर भीतर शान्त रहने लगता है। ऐसी अवस्था ही वास्तव में स्थिर-मति की अवस्था है।

प्रभु कहते हैं कि जब इस प्रकार की ऐकान्तिक निश्चलता बुद्धि का स्वभाव हो जायेगी तब तुम्हें योग की प्राप्ति होगी। तब वास्तव में अर्जुन सिद्ध कर्मयोगी बन पायेगा।

यह अवस्था किस प्रकार कर्मयोगी को प्राप्त करनी होती है, इसकी चर्चा इस अध्याय के आगामी श्लोकों में मिलेगी। कर्मयोगी किस प्रकार से अपने कर्म को साधन बना लेता है और वासनाओं से रहित होता हुआ कैसे उस स्थिति को सहज में लाभ कर लेता है जो एकाग्रता का अभ्यास करने वाले कठिनाई से पा सकते हैं, यह सभी कहा जायेगा।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥54॥

अर्जुन बोला – 'हे केशव! समाधि में स्थित स्थिर हुई बुद्धि वाले की क्या परिभाषा है? स्थिर हुई बुद्धि वाला कैसे बातचीत करता है? उसका बैठना और चलना-फिरना कैसे होते हैं?'।।54।।

इस अध्याय के बाकी के श्लोक स्थित-प्रज्ञ के विषय में पूरी जानकारी देने के लिए हैं। ऊपर वाले श्लोक में कहा था 'जब तेरी बुद्धि स्थिर होगी तब तुम योग को प्राप्त करोगे'। अत: बुद्धि की स्थिरता कर्मयोग की साधना के लिये अनिवार्य है। वास्तव में पूर्णरूपेण प्राप्त हुई बुद्धि की स्थिरता कर्मयोग में सिद्धि की सूचिका है। इस प्रसंग को अर्जुन के प्रश्न से उठाया गया है।

ऊपर के श्लोक से ही प्रश्न पैदा हुआ है, अत: वही शब्द वरते गये हैं – समाधि में स्थिर अचल होना और बुद्धि का निश्चल होना।

जिस अवस्था की ओर प्रभु ने संकेत किया था उसी के बारे में अर्जुन जानना चाहते हैं। आखिर भीतर साम्य आ जाने से, बुद्धि में निश्चलता आने से हो क्या जाता है? क्या हैं उस अवस्था के आन्तरिक और बाह्य लक्षण? किसी भी शब्द का अथवा अवस्था का ठीक अर्थ दूसरे तक पहुँचाने के लिये जो कहा जाता है वह परिभाषा होती है।

स्थितप्रज्ञ का बैठना आदि कैसा होता है? इस प्रश्न से तात्पर्य वही है – अर्जुन स्थितप्रज्ञ की स्थिति को विस्तार-पूर्वक जानना चाहता है। इस प्रश्न के उत्तर में हमें कर्मयोग का साधना-शास्त्र मिल जाता है। नैष्कर्म्य की सिद्धि का वर्णन तो हमें आगे चतुर्थ अध्याय में मिलेगा।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।55।।

श्री भगवान् ने कहा: – 'हे अर्जुन! जब मनुष्य सभी मनोगत कामनाओं को भलीभाँति छोड़ देता है, आत्मा में आत्मा से ही सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितबुद्धि कहा जाता है'।।55।।

व्यक्ति की बुद्धि कब स्थिर होती है? इसका उत्तर दिया है। प्रथम, जब सभी मनोगत कामनाओं का परित्याग हो जाता है। दूसरे, जब वह अपने में अपने से ही सन्तुष्ट रहता है। दोनों बातों को अच्छी प्रकार से समझना होगा।

मनोगत कामनायें वह होती हैं जो हम पर गहरा प्रभाव रखती हैं, जिनके द्वारा हमारे मन तथा प्राण आदि की शक्तियों को दिशा प्रदान की जा सके। व्यक्ति को पुत्र की इच्छा हो तो भीतर एक खलबली मची रहती है। व्यक्ति का हृदय रह-रह कर पुकार उठता है। इसी प्रकार धन की लालसा और संसार में मानादि की इच्छा है। बदला लेने की भावना भी भीतर घुस कर ऐसी ही दशा पैदा कर सकती है। मनोगत कामनायें व्यक्ति की बुद्धि पर पर्दा डाल देती हैं। उस कामना के रंग में रंगा हुआ व्यक्ति सारे संसार को वैसा देखने लगता है। उस कामना की पूर्ति के साधन प्रिय लगने लगते हैं और उसके बाधक अप्रिय। वास्तविक गुण-दोष का पता ही नहीं चल सकता। इस तरह व्यक्ति की बुद्धि कुंठित होती है। कामना तो व्यक्ति की शक्तियों को बहिर्मुखी कर देती है। चैन लेना कठिन हो जाता है। इच्छा जगने के साथ ही भीतर हलचल आरम्भ होती है। उसके परिणामस्वरूप बुद्धि भी चंचल हो जाती है, सत्य को जानने की योग्यता को खोकर दोलायमान होने लगती है, मानो कामना के झोंकों से झकझोर दी गई हो। क्या कामना का नितान्त अभाव आवश्यक है बुद्धि की पूर्ण स्थिरता के लिये? कामना के बिना तो जीवन ही सूना होता है! कामना होती है तभी तो उसकी पूर्ति से सुख सम्भव होता है। कामना के बिना तो मनुष्य का जीवन पशु का सा जीवन हो जायेगा, ऐसी शंका होती है।

पशु से मनुष्य बनने में कामना का उदय होता है। मनोमय कोष के विकास के फलस्वरूप ही तो कामना पनपती है मनुष्य में और इसी से मनुष्य दु:ख तथा सुख को अधिक तीव्र रूप में प्रतीत करने के योग्य हो जाता है। मनुष्य पशु की अपेक्षा कहीं अधिक सुख तथा दु:ख का अनुभव कर सकता है। कामना से यदि सुख होता है तो दु:ख भी होता है। यह अनिवार्य सम्बन्ध है। यदि हम सुख चाहते हैं – कामना से उत्पन्न होने वाला, तो हमें उसके साथ ही दु:ख को भी भोगने के लिये तैयार रहना चाहिये। यदि दु:ख से छुटकारा चाहिये तो कामना को ही पूरी तरह से छोड़ना होगा और उससे होने वाले सुख को भी।

मनुष्य की परे की चेतना दु:ख तथा सुख के परे की चेतना है। उसका आधार है समता। समता, स्थिरता और शान्ति के रूप में अनुभव में आती है। कामना विषमता का मूल है। समता की स्थिति में कामना रह नहीं

सकती। अत: कामना की नितान्त निवृत्ति समता के लिए आवश्यक है। वह शान्त स्थिति शून्य-सी स्थिति नहीं, वास्तव में आनन्द तथा ज्ञान से भरी-पूरी होती है, जब भलीभाँति विकसित हो जाये। वह आनन्द तो इस सुख से अपेक्षाकृत अनन्त गुणा ऊँचा तथा तृप्तिकर होता है। उस दृष्टि से तो कामनाजन्य सुख भी दु:खरूप ही दिखाई देता है। दु:ख तो दु:ख है ही।

ऐसा व्यक्ति निकम्मा नहीं हो जाता। उसमें कामना की प्रेरणा का स्थान भागवत-संकल्प ले लेता है। वह प्रभु के हाथों में यन्त्र बन जाता है।

दूसरा लक्षण कहा – अपने में अपने से सन्तुष्ट। मनुष्य इन्द्रियों तथा मन के द्वारा प्रकृति से सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता है। आँख से सुन्दर वस्तुओं को देखकर, कान से मधुर शब्दों को सुनकर इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों से विषयों का उपभोग कर वह सुखी होना चाहता है। अपना यश सुनकर तृप्ति प्राप्त करता है। दूसरी मनोगत इच्छाओं की पूर्ति से आनन्दित होता है।

ऐसे सुख दो बातों पर निर्भर हैं – (1) इन्द्रिय, मन, आन्तरिक प्रकृति तथा (2) बाह्य परिस्थिति अर्थात् बाह्य प्रकृति। इनमें से किसी एक के भी अभाव से यह सुख प्राप्त नहीं हो पाता। आँखें हों पर रूप न हो तो सुख नहीं मिलता, रूप हो पर आँखें न हों तो भी सुख नहीं मिलता। भीतर ही भीतर हम भावना के द्वारा जो सुख प्राप्त करते हैं वह भी हमारी मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। यदि मानसिक स्थिति समुचित न हो तो वह प्राप्त नहीं हो पाता। हमारी मानसिक स्थिति शारीरिक स्थिति तथा परिस्थिति पर निर्भर करती है बहुत सीमा तक। अत: जो भी सुख हम प्रकृति के द्वारा लाभ करते हैं उसमें हम परतन्त्र हैं। उसमें स्थिरता नहीं।

अत: जब तक हमें ऐसे सुखों की आवश्यकता है, हम स्थिर न हो पायेंगे। सुखों का अभाव हमें चंचल कर देगा, उनकी चाह हमें चंचल कर देगी। उनका होना भी हमारी बुद्धि को चंचल रखेगा। समता तो इनके होने में भी न रह पावेगी और न ही न होने में।

वह व्यक्ति जिसको इनकी अपेक्षा ही नहीं रही, वही सम रह सकता है। जिसकी चेतना आत्मा में प्रतिष्ठित हो गई और जो आत्मसुख का अनुभव करने लगा है वही ऐसे सुखों की ओर से बेपरवाह हो सकता है। उसी का सुख स्थायी भी हो सकता है। जब तक व्यक्ति की चेतना इस प्रकार से युक्त

नहीं, तब तक वह प्रकृति के द्वारा प्रभावित होगा और प्रकृति की चंचलता उसमें हलचल पैदा करेगी।

बुद्धि स्वयं प्रकृतिगत है और चंचलता उसमें सहज है, स्वाभाविक है। परन्तु जब व्यक्ति की चेतना आत्मा में स्थिर हो जाती है तो उस चेतना की स्थिरता इसे स्थिर कर देती है। वह आत्म-चेतना इसके स्वभाव को बदल देती है और उससे निर्मल हुई यह सत्य को ठीक पकड़ पाती है।

कामनाओं से मुक्त हुआ व्यक्ति ही आत्मा में पूरे सन्तोष को पा सकता है। उसके सुख का साधन एकमात्र आत्मा होता है। वह मन में अथवा इन्द्रियों में सुख को अनुभव नहीं करता, आत्मा में ही करता है। इनका अभाव उसके सुख को भंग नहीं कर सकता। दूसरा, उसका सुख प्रकृति से नहीं, आत्मा से ही होता है। अतः परिस्थिति से भी वह स्वतन्त्र होता है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि स्थिर रहती है।

यह स्थिति तभी सम्भव है जब हमारी चेतना बुद्धि से परे जगी रहती है और हमारा निवास भी उसमें होने लगता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥56॥

स्थितप्रज्ञ के और लक्षण कहे हैं: –

दुःखों में जिसका मन व्याकुल नहीं होता, सुखों के लिये जिसमें लालसा नहीं, जो राग, भय और क्रोध से रहित है, ऐसा मुनि स्थित-बुद्धि वाला कहा जाता है।।।56।।

स्थितप्रज्ञ के मन की अवस्था का और वर्णन किया है – दुःख में व्याकुलता स्वाभाविक होती है। सुखों के लिये लालसा भी स्वाभाविक ही है मनुष्य के लिये। परन्तु स्थितप्रज्ञ मनुष्य में यह दोनों बातें नहीं रहतीं। दुःख में वह व्याकुल नहीं होता। सुखों के लिये उसमें चाह नहीं होती। वास्तव में सुख-दुःख तो दूसरों की दृष्टि से कहे हैं। उसके लिये तो दोनों समान हो जाते हैं। उसके भीतर दोनों परिस्थितियों में समता बनी रहती है।

संसार में दुःखों की चोट खा-खा कर व्यक्ति कठोर हो जाते हैं। फिर उन्हें दुःखों का भान नहीं होता। उसी कठोरता के कारण सुख में सुखी होने की, हँसने की योग्यता को ही खो देते हैं। स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था नहीं

होती। उसमें प्रतीति की योग्यता बनी रहती है। वह जान सकता है सभी कुछ, परन्तु प्रभावित नहीं होता। परिस्थिति को ठीक समझता है, उससे हो सकने वाली हानियों को भी जानता है, परन्तु व्याकुल नहीं होता। ऐसे ही सुखमयी स्थितियों को भलीभाँति जानता हुआ भी वह फूलता नहीं। जानना और सुखी होना, या दु:खी होना, एक ही बात नहीं है। सामान्य व्यक्ति में यह इस तरह जुटी हुई हैं कि वह इनमें विवेक कर ही नहीं पाता। गाली सुनना और क्रोध करना तत्काल होते हैं। स्थितप्रज्ञ की प्रतिक्रिया तो बिल्कुल उसके अधीन होती है, मशीन की तरह नहीं होती। इतनी विशेषता हो जाती है।

वास्तव में उसके मनोमय कोष में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि वह आपे से बाहर हो ही नहीं पाता। जगी हुई ऊँची चेतना के खूँटे से ऐसा बँध जाता है उसका मन कि उसकी विकृति असम्भव हो जाती है। न दु:ख की परेशानी होती है और न सुख का उभार ही। वह शान्त तथा सम बना रहता है, बिना किसी प्रकार की चेष्टा के।

'वीतरागभयक्रोध:' यह और लक्षण कहा है। राग भय तथा क्रोध से परे होता है। राग आसक्ति को कहते हैं। उसमें राग नहीं होता। वह कभी भयभीत नहीं होता तथा कभी वह क्रुद्ध नहीं होता। इन तीनों की नितान्त निवृत्ति बताई है, चेष्टा करके इनसे परे होने की चर्चा नहीं। इनकी सम्भावना ही नहीं रहती और बात भी साफ है। यदि राग, भय अथवा क्रोध सम्भव हों तो बुद्धि स्थिर रह कैसे सकती है? आसक्ति तो एक दम से रंग देती है मति को। व्यक्ति को कुछ का कुछ दीखने लगता है। भय भी व्यक्ति की मति को डोला देता है। मति को ही क्या भय तो शरीर को भी कम्पा देता है। व्यक्ति तो भय में आकर सोचने की योग्यता ही खो देते हैं। यही हालत क्रोध की है। क्रोध तो आदमी को बिल्कुल अन्धा कर सकता है। उचितानुचित का, ठीक तथा न-ठीक का, कोई विचार नहीं रहता। भूत से पकड़े हुए मनुष्य की तरह व्यक्ति कुकर्म कर बैठता है और पीछे पछताता है।

यह तीनों व्यक्ति के मनोमय कोष की निम्न प्रवृत्तियाँ हैं। इनसे छूटने पर ही मन में स्थिरता आती है और बुद्धि भी स्थिर रह सकती है, अन्यथा इनके झोंकों से बुद्धि भी नाचती रहती है। अत: स्थितप्रज्ञ को इनसे नितान्त मुक्त कहा है। तो इनसे परे कैसे हुआ जाय? इस साधना-पथ पर चलने वाले को तो जागरूक रहना है। भीतर पैदा होने वाले राग, भय तथा क्रोध को निकाल

बाहर फेंकना है अपने संकल्प के बल से। पहले तो इन्हें पहिचानना सीखना होगा। व्यक्ति अपना साक्षी स्वयं बन जाता है तो इनका प्रभाव कम हो ही जाता है। फिर हमारा हठ तथा स्थिर-संकल्प धीरे-धीरे हमें मुक्त कर सकता है इन विकारों से। विवेक करता हुआ, संकल्प बल बरतता हुआ कर्मयोगी इनसे ऊपर उठने की चेष्टा करता है। बदलती हुई परिस्थितियाँ उसको साधती जाती हैं। जीवन के झकझोरों में वह स्थिर रहना सीख जाता है। उसकी बुद्धि उसे अवलम्बन देती है।

मुनि मननशील को कहते हैं। जिसमें विवेक की योग्यता जग गई हो वही सच्चा मुनि है। वन में रहने और कन्दमूल खाने से ही मुनि नहीं होता, विवेक से होता है। इस प्रकार की योग्यता के बिना आत्म-संयम कैसे सम्भव है? अतः स्थितप्रज्ञ के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।57।।

'भिन्न-भिन्न शुभ अथवा अशुभ अनुभूतियों को पाकर जो हर विषय में लगाव से रहित रहता है, जो न (शुभ का) स्वागत करता है और न (अशुभ से) द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है'।।57।।

स्थितप्रज्ञ की अवस्था की प्राप्ति हो पाती है मन की स्थिरता से तथा इन्द्रियों की (प्राण की) स्थिरता से। इन दोनों के स्थिर होने पर ही बुद्धि स्थिर रह पाती है, अन्यथा इन के डोलने के साथ स्वयं डोल जाती है। मन की स्थिरता का वर्णन कई प्रकार से पिछले दो श्लोकों (55, 56) में किया गया है। उसी विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिय 57वाँ श्लोक भी कहा है।

शुभ जो स्वभावतः सुखप्रद है, जिसे संसार के लोग चाहते हैं। लाभ, जन्म, मान, जय आदि शुभ समझे जाते हैं। इनके लिए आकांक्षा बनी रहती है। ऐसा कुछ होता है तो उसका स्वागत किया जाता है। बाजे बजाये जाते हैं, विजयस्तम्भ बनते हैं और भोज किए जाते हैं। ह्रदय उछल पड़ता है इन अनुभवों को पाकर। यह साधारण मानव-धर्म है। मन की सामान्य गति है।

इसके विपरीत मृत्यु, रोग, हानि, अपमान आदि अशुभ हैं। इनको मनुष्य कभी नहीं चाहता। यह सभी जीवन में आते ही हैं। ऐसा जानता हुआ भी

इनसे भागता है। इन्हें हर्ष से स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। इनसे भागने की अथवा इन्हें दूर हटाने की इच्छा होती है। यह भी सामान्य मानव धर्म है। मन का सामान्य स्वभाव है।

साधना के द्वारा मन बदल जाता है। उसका स्वभाव भी आमूल-चूल बदल सकता है। समता आती चली जाती है। भीतर की समता बाहर के जगत् में समता ले आती है।

शुभ तथा अशुभ दोनों समान हो जाते हैं। न एक के लिये चाह रहती है, न दूसरे से दूर हट जाने की प्रेरणा। दोनों ही समान-रूप से सम रहते हुए स्वीकार किये जा सकते हैं।

श्री रामचन्द्र जी का अभिषेक होने जा रहा था। मुख मण्डल पर विशेष प्रसन्नता नहीं थी। मानो कोई बड़ी बात होने नहीं जा रही और जब वन-गमन का उद्योग हुआ तो कोई म्लानता न थी, यह थी समता। राजा से भिखारी बन जाने पर भी भीतर कोई हलचल नहीं हुई! स्थिरमति थे रघुनाथ जी! इसके विपरीत अयोध्यावासियों की दशा थी!

चेष्टा करने से, उद्वेगों को रोकने से भी स्थिरता आती है, परन्तु वह गहरी नहीं होती। उसमें दबावों की सम्भावना होती है। जीवन की उथल-पुथल व्यक्ति को धीरे-धीरे सम करती चली जाती है। जिसने कभी धक्का न खाया हो वह बहुत हैरान होता है। जिसने जीवन में धक्के खाये हों उसे हैरानी भी बहुत कम होती है। यही हाल खुशी का है। जिसने खुशी के अनुभव कर लिये हैं उसे खुशी भी फुला नहीं पाती।

नवीन प्रकार के अनुभव व्यक्ति को अधिक डोलाते हैं। चैतन्य के विकास में जीवन की अनुभूतियाँ बहुत महत्त्व रखती हैं। इस प्रकार से पढ़े हुए पाठ भूले नहीं जाते, वह भीतर घुस जाते हैं, मस्तिष्क तक नहीं रहते। वास्तव में वह मस्तिष्क के रास्ते से भीतर घुस ही जाते हैं।

पूरी समता तो उस सम ऊर्ध्व चैतन्य के मन में अवतरित होकर इसे रूपान्तरित कर देने से आती है। उसकी चर्चा आगे होगी।

ऊपर के तीनों श्लोकों (55, 56 तथा 57) में हमने मन की स्थिरता के लक्षण पाये। इसके साथ ही आत्मन्येवात्मना तुष्टः भी कहा। यह सन्तोष का लक्षण भी विशेषरूप से मन से ही सम्बद्ध है। बिना सन्तोष के तो मन में चैन नहीं। जब तक इच्छायें हैं तब तक राग द्वेष भी हैं ही।

अत: स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का मन सम होता है। वह सभी विचलित करने वाली प्रवृत्तियों से रहित हो चुका होता है।

इससे आगे उसकी इन्द्रियों और प्राण की क्या स्थिति होती है यह बतलाते हैं।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।58।।

जैसे कछुवा अंगों को सब ओर से समेट लेता है वैसे ही जब यह (व्यक्ति अपनी) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।।58।।

कछुवा जब चाहे अपने अंगों को अपनी पीठ में समेट लेता है। बस ढाल सी ही देखने को रह जाती है। न सिर दीखता है और न टांगें। कोई शत्रु उस पर चोट नहीं कर सकता। ऐसी ही योग्यता साधक में आ जाने पर उसकी बुद्धि टिक पाती है। इन्द्रियार्थ – इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों को खींचते हैं। इन्द्रियाँ मन को खींचती हैं। मन की चंचलता बुद्धि को चंचल कर देती है। अत:, इन्द्रियों को जब भी हम चाहें उनके विषयों से जब तक अलग न कर सकें तब तक हमारी बुद्धि की स्थिरता स्थायी नहीं है। कभी भी हम शिकार बन सकते हैं राग और द्वेष के। हमारी समता भंग हो सकती है।

योगी लोग इसका अभ्यास करते हैं। ध्यान की विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा यह योग्यता जग जाती है। एक तत्त्व में समाधि होने से शरीर का भान लुप्त हो जाता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ विषय का आकर्षण हुआ वहीं उस इन्द्रिय को विषय से खींच लिया जाय तो हम उस विषय की पकड़ से बच जायेंगे। यह बिल्ली-चूहे की सी दौड़ ही हमारे जीवन का, रोज़-रोज़ का खेल हो जायगी। सुन्दर रूप को देख कर आँखें बन्द कर लेना, सरस भोजन को खाने में जिह्वा को अस्वाद कर देना, मधुर गन्ध की समीपता में नाक को बन्द कर देना, यह खिचाव बाहिर से हो अथवा बिना बाह्य चेष्टा के हो, बात तो एक ही है। इन्द्रिय सम्बन्धी केन्द्रों पर अधिकार पा लेने से तथा संकल्प से भी इन्द्रियों को संज्ञाशून्य किया जा सकता है।

यह वह स्थिति है जिसमें आकर्षण तो है ही परन्तु उस आकर्षण से बचने की योग्यता भी हममें उत्पन्न हो गई है। यह सहज सर्वथा निर्भय संयम की स्थिति नहीं। संयम की सिद्धि में तो संयम रहता ही नहीं। यदि संयम की चेष्टा आवश्यक है तो संयम अभी सिद्ध नहीं हुआ। पतन के बीज भयंकर रूप से दिखाई पड़ते हैं इस स्थिति में। इस स्थिति के आधार पर जो बुद्धि की समता है वह भी सहज और स्थायी नहीं हो सकती।

हमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। बड़े-बड़े तपस्वी स्त्री के दर्शन मात्र से ढुलक गये। शृंगी ऋषि तो शान्ता के दर्शन ही न सह पाये। पुराणों में तो ऐसे कथानक भरे पड़े हैं और लोक में भी बहुत सुनने को मिलते हैं कि किस प्रकार साधु फिसल जाते हैं। यह संयम की अहमाश्रित मनोवैज्ञानिक भित्ति है जो विषय की आँधी के आगे ढेर हो जाती है।

वासना का पूर्णरूपेण निर्मूल हो जाना ही एक मात्र उपाय है पूर्ण निर्भयता का। संस्कार का पूर्ण क्षय हो जाना चाहिए। व्यक्ति का प्राण इस प्रकार से बदल जाना चाहिए कि उसमें वासना की स्फूर्ति असम्भव हो। संस्कार के शेष रहने पर यह असम्भव है और आमूलचूल परिवर्तन हो जाने पर संस्कार का शेष रहना असम्भव है।

संयमवादियों का तरीका हमें जिस सीमा तक ले जा सकता है उसका वर्णन इस श्लोक में मिलता है।

आगामी श्लोक हमें इससे परे की स्थिति का परिचय देता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥59॥

निराहार अर्थात् विषय का सेवन न करने वाले देहधारी मनुष्य के लिये विषय भली प्रकार से हट जाते हैं परन्तु रस नहीं जाता। परमेश्वर का दर्शन हो जाने पर रस की भी निवृत्ति हो जाती है॥59॥

आहारः – जो इन्द्रियों द्वारा समेटा जाये उसे आहार कहते हैं। अतः विषयों का सेवन करना आहार करना है। जो विषयों का सेवन नहीं करता वह निराहार है। जैसे ऊपर के श्लोक में कहा है इन्द्रियों को विषयों से समेट लेने से व्यक्ति आहार से बच सकता है। ऐसे निराहारी व्यक्ति से विषय लौट पड़ते हैं। ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास बढ़ता है, उनकी पकड़

कम होती जाती है। जितना हम विषयों का सेवन करते हैं उतना ही उनका आकर्षण हमारे लिए बढ़ता चला जाता है। जंगल में रहने वाले व्यक्ति को विषय क्यों परेशान करेंगे? वह तो उसके सामने उपस्थित ही नहीं होते, अतः चंचलता कैसी?

इस प्रकार निराहार रहने से विषय तो नहीं पकड़ते परन्तु विषयों का रस नहीं जाता। जो रस स्वाद लगने का कारण होता है, वही पकड़ का कारण होता है। जहाँ फिर विषय का संयोग हुआ, व्यक्ति पकड़ा जाता है। तभी तो पतन होता है। जैसे बारूद को आँच न लगे तो वह आग नहीं पकड़ता परन्तु ज्यों ही आँच लगी तो विस्फोट होता है। ठीक यही स्थिति होती है। भीतर बारूद भरा रहता है। जब विषय की आँच मिली, व्यक्ति का संयम टूट जाता है।

अतः, इस रास्ते पर चलने वाले को खूब होशियारी से विषयों के सेवन से बच-बचकर चलना होगा। वास्तव में संस्कार बड़े बली होते हैं। जब तक भीतर भोग का संस्कार है तब तक खतरा है। वह तो सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप में किसी तरह से भोग कर दग्ध करना ही होगा। विषयों से बचकर चलने में हम संस्कारों के प्रतिकूल हमेशा रस्सा-कशी करते हैं। बुद्धि का विवेक भी संस्कारों के बल के सामने ढेर हो जाता है। बड़े-बड़े विद्वान् अन्धे हो जाते हैं।

इस *आरोह के रास्ते पर – संयम के पथ पर चलने वालों के लिए और कोई चारा भी तो नहीं है।

तो क्या ऐसी स्थिति भी सम्भव है जब व्यक्ति पतन के भय से परे हो जाए? जब विषय में पकड़ने की सामर्थ्य ही न रहे, जब विषय व्यक्ति के लिए विषय ही न रहे, जब भोग भी जोग बन जाये और जोग भी भोग हो।

भगवान् कहते हैं कि ऐसी स्थिति भी सम्भव है। प्रभु के दर्शन हो जाने से ऐसा हो जाता है। फिर विषयों का रस भी निवृत्त हो जाता है। रसराज भगवान् का दर्शन कर लेने से फिर व्यक्ति को कौन सी चीज खींच पाती है? उसकी एक झाँकी मतवाला कर देती है। अपनी सुधि भुला देती है और इन विषयों के निम्न जगत् से उठा देती है। मीरा क्यों मतवाली घूमती थी? सूर और तुलसी क्यों सभी कुछ छोड़कर प्रभु की मस्ती में मस्त रहते थे।

*देखिए 'आध्यात्मिक-साधन' खण्ड एक 'आरोह'।

गोपियाँ क्यों सभी कुछ छोड़कर उसकी याद में लगी रहती थीं? प्रभु के दर्शन व्यक्ति को विषयों की पकड़ से ऊपर उठा देते हैं, दग्ध कर देते हैं निम्न कोटि के संस्कारों को। व्यक्ति ऐसा पकड़ा जाता है कि और कोई उसे पकड़ ही नहीं सकता। उसके दर्शन और उसके लिए तड़प दोनों मिलकर निर्मल कर देते हैं साधक को। वह पतन की सम्भावना से परे हो जाता है। उसके लिए धीरे-धीरे सभी प्रभुमय हो जाता है। उसके लिए तो वेदान्त का अद्वैत स्पष्ट हो जाता है।

यह तो दर्शन का ही फल है। प्रवेश पाने पर क्या होगा यह तो कल्पना से परे की बात है।

क्योंकि विषय की मार से व्यक्ति पूरी तरह से परे तो उसके दर्शन से ही होगा। तो क्यों न व्यक्ति उसके दर्शन के लिए ही चेष्टा करे? यदि समस्या का अन्तिम हल बाँध बाँधने में नहीं है तो ऐसा करना बेकार है। यह भक्त का दृष्टिकोण है।

दर्शन कैसे होते हैं? अनन्य भक्ति के द्वारा। अनन्य भक्ति कैसे मिलती है? प्रभु की कृपा से, सन्त की कृपा से और प्रभु के नाम के प्रताप से। तो क्यों न व्यक्ति अपनी शक्ति इस ओर लगाये? ऐसा सोचने पर समता जीवन का लक्ष्य रह नहीं पाती। प्रभु की भक्ति ही जीवन का उद्देश्य हो जाती है। यह समता को लाने का सुगम रास्ता है। अवरोह-पथ का दृष्टिकोण है – उसकी शरण हो जाना और उसके नाम का चिन्तन करते जाना। इसके द्वारा सभी कुछ स्वत: होने लगता है।

ज्यो-ज्यों भगवती-चेतना व्यक्ति में उतरती आती है त्यों-त्यों संयम स्वत: होता जाता है। किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना ही विषयों का आकर्षण मन्द होता चला जाता है। न जानने वाला साधक स्वयं हैरान होता है कि यह हो क्या रहा है। कभी-कभी तो वह परेशान हो जाता है यह देखकर कि जीवन में आकर्षण करने वाली वस्तुएं नीरस हो गईं। ऐसे उदाहरण कई एक देखने में आते हैं।

भगवान् का नाम संयम का सुगम साधन है यदि नाम सजग हो और हमें चाह हो रास्ते पर चलने की।

सन्त कृपा से नाम जागता है। प्रभु कृपा से ही रास्ता चला जाता है और विषयों से नितान्त निवृत्ति हो ही जाती है। तब व्यक्ति सभी सुख भोगता हुआ

भी संस्कार का निर्माण नहीं करता और पकड़ा नहीं जाता। न जानने वाले उसे भोगी कहते हैं परन्तु उसका भोग और जोग एक हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति जल में कमल की भाँति अलिप्त रहता है।

वास्तव में यहाँ स्थितप्रज्ञ की स्थिति संयम के आधार पर खड़ी की गई है। सांख्य योग के साथ लगी हुई यह साधना है। भक्ति का अवलम्बन नहीं है। प्रभु कृपा का सहारा नहीं है। यहाँ पर इस विषय का जो स्पर्श है वह आगे के लिए केवलमात्र सूत्रपात है। इस साधना का अंगमूल नहीं है। इस साधना की सिद्धरूप जो अवस्था है उसे ब्रह्म-निर्वाण कहा है। 72वाँ श्लोक देखिए, इस अध्याय का।

अत: संयम के विषय में ही चेतावनी दी जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥60॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥61॥

'हे अर्जुन! (संयम के लिए) प्रयत्नशील अनुभवी (समझदार) पुरुष के मन को भी उत्पात करने वाले स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से खींच ले जाती है'॥60॥

'उन सब इन्द्रियों को काबू में करके मेरे परायण हुआ व्यक्ति योगयुक्त रहे। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसकी बुद्धि भली प्रकार से स्थित है'॥61॥

विपश्चित् – भली प्रकार से पका हुआ, घुटा हुआ, अनुभवी, समझदार, जिसने जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव किये हैं और संयम के विषय में जानकारी की है।

इन्द्रियों को प्रमाथी कहा है। मथ डालने वाली, बहुत ज़ोर से मथ डालने वाली प्रमाथी होती हैं। इन्द्रियों के अन्दर जगी हुई वासना कैसे व्यक्ति को मथ देती है यह अनुभव तो सभी को होगा। भीतर तूफान आता है, हृदय का मन्थन होता है, ज्ञानसंस्थान (नर्वस सिस्टम) मथ डाला जाता है। यह तूफान कितना घोर होता है उसका परिचय मिलेगा भगवान् के इस कथन से –

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥5/23॥

'जो काम तथा क्रोध के वेग को जीते जी सहने योग्य है वह मनुष्य युक्त है, वह सुखी है'॥5/23॥

काम के वेग से हमें यहाँ वास्ता है। काम का वेग ही प्रबलतम वेग होता है और सबसे अधिक मन्थन करता है। बड़े-बड़े पण्डितों को नचा देता है, सभी पोथी-पांवड़े भुला देता है। नारद जी तक को इसने मथा है।

इन्द्रियाँ प्रमाथी हैं सचमुच और मन को बलात् हर ले जाती हैं। मन इन्द्रियों से सूक्ष्म है, अधिक बलवान् है। **इन्द्रियेभ्यः परं मनः** – (अध्याय 3, श्लोक 42)। तो फिर इन्द्रियाँ मन को कैसे हर लेती हैं?

मन सूक्ष्म है और बलवान् है। इसकी योग्यता सुसंस्कृत होने पर प्रगट होती है। सामान्यतया तो वह इन्द्रियों का चेरा बना रहता है जैसे एक मूर्ख राजा गुण्डों के हाथों में खेलता है। इन्द्रियाँ मन को प्रभावित करके वासना जागृत करती हैं। फिर-फिर उन्हीं भोगों को प्राप्त करने की लालसा जग जाती है। इन्द्रियाँ तो चाहती ही यह थीं। वह तो बार-बार भोग का अनुभव मांगती है। प्रभावित हुआ मन उनके लिये समुचित सामान एकत्रित करने लगता है। वह स्वयं रागद्वेष के कारण, इच्छा और लालसा के कारण अपनी समता खो देता है। बुद्धि भी डोल जाती है, स्थिरता भंग हो जाती है, व्यक्ति पतित हो जाता है।

संयम के विषय में तो ज्ञानी-अज्ञानी का प्रश्न नगण्य प्रतीत होता है। एक ओर संस्कारों का बल और दूसरी ओर हमारे विवेक का बल। बहुत विवेक होने पर भी यदि संस्कार उससे भी अधिक बली हैं तो विवेक ढेर हो जायगा। ऋषि लोग तो बड़े विवेकी, बड़े तपस्वी थे फिर भी ऐसी गति को प्राप्त हुए। यदि संस्कार दुर्बल हैं अथवा क्षीण हैं तो प्रायः हमारा थोड़ा सा विवेक भी काम दे जायेगा।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति दोष क्या दे सकता है किसी को और डींग क्या मार सकता है किसी बात के लिए।

संयम के रास्ते पर चलने वाले को तो और चौकन्ना रहना चाहिए। खतरे की लाल झण्डी देखकर होशियार हो जाना चाहिये। अपने विवेक के बल को सदा बढ़ाते जाना चाहिये और कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को हर

खतरे की जगह से समेट कर आगे चलना चाहिये।

सभी इन्द्रियों को काबू में करे। यदि एक भी काबू से बाहर हो गई तो वही पतन का कारण हो सकती है।

मत्परः – प्रभु परायण हुआ। भगवान् को अपने प्रयत्नों का लक्ष्य बनाकर।

युक्तासीत – योग युक्त रहे। साधन शील रहे। भीतर समता को लाता चला जाए।

अन्त में कहा – कैसा ठीक कहा – जिसकी इंन्द्रियाँ वश में हैं उसकी बुद्धि भली प्रकार से स्थिर हो सकती है। मन की स्थिरता भी तो इन्द्रियों के वशीकरण पर आश्रित है। अतः बुद्धि की स्थिरता अन्त में संयम पर आश्रित है।

स्थितप्रज्ञ का लक्ष्य इन्द्रियों का पूर्ण संयम है।

यह तो संयम वाले रास्ते की बात है। यहाँ पर अवरोह-पथ का, शरणागति-पथ का दृष्टिकोण रख देना अनुचित न होगा।

भक्त तो सभी भोगों को प्रभु से ही स्वीकार करता है। न वह किसी भोग के पीछे भागता है और न प्राप्त हुए समुचित भोग से डरता हुआ भागता है। जो वह पाता है वह प्रभु-प्रसाद रूप ग्रहण करता है। उसकी इच्छा के आगे वह सदैव झुका रहता है। ऐसी निष्ठा उसे भोगों को भोगते हुए भी प्रभु के समीप करती चली जाती है। उसकी कृपा-रूप अवतरित होती हुई चेतना उसे विषयों के आकर्षण से ऊपर उठा देती है। उसे संयम के लिये अपने साथ लड़ाई नहीं लड़नी होती। प्रभु का चिन्तन ही एकमात्र साधन रहता है।*

आगामी दो श्लोक संयम तथा पतन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। कैसे गहरे तथ्य को प्रकट किया है प्रभु ने इन शब्दों में –

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥63॥

*अधिक जानकारी के लिए देखिये संयम विषयक प्रसंग आध्यात्मिक साधन खण्ड 2 में।

विषयों का ध्यान करते हुए मनुष्य की उसमें (विषयों में) आसक्ति उपज जाती है। आसक्ति से काम पैदा होता है। काम से क्रोध उमड़ जाता है। क्रोध से सम्मोह होता है, सम्मोह से स्मृति में गड़बड़ हो जाती है। स्मृति के गड़बड़ाने से बुद्धि नष्ट हो जाती है (और) बुद्धि के नाश से व्यक्ति बिलकुल नष्ट (भ्रष्ट) हो जाता है।

पतन की परम्परा का बहुत विशद वर्णन किया है। मनुष्य विषय का चिन्तन करता है। स्वयं अनुभव किये हुये अथवा किसी के अनुभव किये हुये विषय का ध्यान हो सकता है। दूसरे के अनुभव के हम साक्षी हो सकते हैं अथवा स्मरण-मात्र से भी विषय का चिन्तन आरम्भ हो सकता है।

विषय का चिन्तन क्यों होने लगता है? क्योंकि हमारे भीतर विषय के संस्कार हैं। इन्द्रियों में पूर्वानुभूत विषयों के संस्कार और उनके प्रति रस होने के कारण ध्यान की प्रवृत्ति होती है। 'कैसे सुन्दर खाने खाये!' खाने की तस्वीर सामने आती है। रसना में स्वादों की प्रतीति होने लगती है। खाना खाने का संस्कार जागृत होकर पुष्ट होता है। दुबारा स्मरण करना सुगम हो जाता है। तीसरी बार याद करना और भी सुगम हो जाता है।

स्वादु भोजन करने से प्राण की जो तृप्ति हुई थी वह तृप्ति तीक्ष्ण हो जाती है। अत: वह फिर तृप्ति चाहता है। फलत: यह जब-जब स्मृति जागृत होती है, प्राण की तृप्ति की माँग एक रास्ता देखकर बलवती हो उठती है। वह मन को प्रभावित करती है। स्वादु-भोजन के प्रति एक आकर्षण भीतर स्थिर हो जाता है। उसकी बात सुनने में रस आने लगता है। यही आसक्ति की पहिचान है। जो रस के विषय में सत्य है, वही कामादि के विषय में भी लागू होता है।

इतना इस विषय में और जानना है कि सहज प्रवृत्तियाँ ही इस विषय-चिन्तन का आधार बनती हैं। पशु में मन का योग न होने से चिन्तन असम्भव होता है, अत: वह निजी प्राण के क्षेत्र तक सीमित रहती हैं। यहाँ मन उन संस्कारों को फिर फिर जागृत करता है और स्मृति के द्वारा आनन्द ले सकता है। अत: वह सहज प्रवृत्तियाँ अपनी प्राणगत सीमाओं का परित्याग करके विकृत हो जाती हैं। तभी मनुष्य असंयमी हो जाता है और उसे संयम की आवश्यकता पड़ती है। पशु विषय का ध्यान नहीं कर सकता। उसमें ध्यान करने का यन्त्र – मन, अभी जगा नहीं है। अत: विषय के आकर्षण

से वह बचा रहता है। (यद्यपि मनुष्य अपने संसर्ग से उसे भी असंयमी और रोगी बना सकता है।)

संग चिपकने की योग्यता होती है। जहाँ आसक्ति होती है, उधर व्यक्ति का मन खिंचता है। जैसे पानी के लिये बना हुआ रास्ता होता है इस प्रकार से मन के बहाव के लिये वह विषय होता है जिसके प्रति आसक्ति हो। बिना चेष्टा के ही मन उधर लग जाता है। आसक्ति प्रीति का ही पूर्व रूप है।

संग-लगाव – यह सामान्य व्यक्ति की स्थिति है। जो व्यक्ति अभी प्रवृत्ति-पथ पर हो, जो प्रभु के सम्मुख नहीं हुआ वह विषय के चिन्तन से आसक्ति को बोता है। परन्तु एक ऐसी भी स्थिति आती है जब आसक्ति निर्मूल हो जाती है, जब व्यक्ति प्रभु की चेतना में ऐसा समा जाता है कि आसक्ति सम्भव ही नहीं होती। अब उसे न तो विषय का सेवन बाँध सकता है और न उसकी चर्चा। नये संस्कार का निर्माण ही असम्भव हो जाता है। आसक्ति हो तो कैसे हो। यह स्थिति बिल्कुल भिन्न स्थिति है। जब तक उसका अनुभव न हो जाये, व्यक्ति को विश्वास ही नहीं होता कि यह सम्भव है। जगी हुई आसक्ति से काम उत्पन्न होता है। क्या है यह काम? काम को मनोभव कहते हैं। मन से पैदा होता है काम। काम का स्वरूप है इच्छा। इच्छा व्यक्ति के मन को गतिशील करती है। इच्छा स्थूल प्राणमय जगत की माँग भी हो सकती है और बुद्धिजन्य ज्ञान की लालसा भी हो सकती है। जहाँ भी मन अपने केन्द्र को छोड़कर बाहर जाता है वहीं काम है। यही काम का स्वरूप है। काम बेचैन करता है। भीतर की स्थिरता को भंग करता है। हलचल पैदा करता है। व्यक्ति निज केन्द्र को छोड़कर बाहर आता है। वह सेन्टर आउट होता है।

इसी का प्राणमय में स्थूलतम रूप है विषय – सम्भोग। अंग्रेजी में उसे सैक्स कहते हैं।

किसी प्रकार की तृप्ति के लिए चेतना के बाहर गतिशील होने की प्रवृत्ति का नाम काम है। बढ़ी हुई आसक्ति का परिणाम यही होता है। जिससे लगाव होता है उसे हम चाहने लगते हैं। भीतर हलचल का आरम्भ होता है। जीवन में यह लीलायें रोज देखने को मिलती हैं। सभी नशे इसी प्रकार से सीखे जाते हैं। सभी बुरी आदतों की गुलामी भी इसी प्रकार से पनपती है।

जगी हुई इच्छा ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों भीतर उथल-पुथल बढ़ती है। प्राण तड़फड़ा उठता है अपनी तृप्ति के लिये। मन आकुल हो उठता है अपनी पूर्ति के निमित्त। प्राण की फड़फड़ाहट की कामान्ध पुरुष से और अच्छी तस्वीर मैं नहीं जानता। लोभी के लोभाभिभूत होने में, माँ के मोहासक्त होने में, प्रिया के प्रियतम के लिये आतुर होने में और धर्मान्ध व्यक्ति के धर्म-प्रचार की चेष्टाओं में हमें उस प्रबल हलचल का दृश्य मिलता है।

इस कोटि पर पहुँची हुई हलचल को क्रोध कहते हैं। व्यक्ति मथ डाला जाता है। आपे से बाहर सा हो जाता है। क्रोध अर्थात् गुस्सा भी यही है। जो अवस्था गुस्से में मनोमय-कोष की हो जाती है वही कामना के द्वारा प्रबल मन्थन के द्वारा हो जाती है। उसका परिणाम होता है गहरी थकावट। हमारे ज्ञान-तन्तु-संस्थान पर ज़ोरदार दबाव होता है। वह थककर चूर हो जाता है। शारीरिक थकावट से यह कहीं अधिक गहरी होती है।

इसी प्रकार की हलचल से व्यक्ति को सम्मोह होता है। मोह अचेतन अवस्था को कहते हैं। सम्मोह शब्द का अर्थ होता है बिल्कुल अचेत – संज्ञाशून्य। व्यक्ति अपने मानसिक सन्तुलन को खो बैठता है। अचेत व्यक्ति को कुछ भी बोध नहीं होता – न बाहर का न भीतर का। ऐसी ही स्थिति उस की हो जाती है।

इस अवस्था का परिणाम स्मृति-भ्रंश होता है। याद गड़बड़ा जाती है। मैं कौन हूँ? कहाँ पर हूँ? क्या करने जा रहा हूँ? मेरी क्या अवस्था है? यह सभी भूल जाता है। पुराने अनुभवों को भी भूल जाता है। अन्धा सा हो जाता है व्यक्ति, देखते हुए भी नहीं देखता।

तब बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि विवेक शक्ति है। सही तथा गलत, उचित तथा अनुचित आदि का बोध बुद्धि से ही होता है। बुद्धि ही तो कर्म का मार्ग दिखाती है। पर ऐसी अवस्था में व्यक्ति विवेक रहित हो जाता है। परिणामस्वरूप विनाश को प्राप्त होता है।

प्रणश्यति – पूरी तरह से नष्ट होता है? क्या भाव है प्रणश्यति का? क्या मनुष्य-योनि से भ्रष्ट होकर व्यक्ति नीची योनियों में चला जाता है? अन्यत्र भगवान् ने कहा तो है कि 'मैं इन्हें आसुरी योनियों में फेंकता हूँ, मुझे न पाकर अधम गति को प्राप्त करते हैं।' यद्यपि यह सभी कुछ कहा है परन्तु

यहाँ इतने बड़े अर्थ लगाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। व्यक्ति कुकर्म कर बैठता है, पापाचरण कर डालता है बस, इतना ही समझना काफी होगा। वह भटक जाता है सत्पथ से।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का वर्णन करते-करते इस प्रसंग की क्या आवश्यकता थी। इन्द्रियों के व्यापार के बारे में ठीक जानकारी आवश्यक है, स्थितप्रज्ञ की आन्तरिक स्थिति को साधने के लिए। दूसरे, भगवान् न केवल स्थितप्रज्ञ के लक्षण ही कहते हैं, वह तो उस स्थिति को लाभ करने का मार्ग भी दिखाते हैं।

विषय का चिन्तन ही इस पतन परम्परा का मूल है। इसे ही काट डालने से न तना होगा, न शाखायें, न पत्ते, न फूल और न फल। विषय का पेड़ ही सूख जायगा। पतन की सम्भावना ही जाती रहेगी।

स्थितप्रज्ञ की स्थिति संयम पर आश्रित है। आरोह के रास्ते पर ही ऐसी स्थिति ऐसे उपायों द्वारा प्राप्त की जाती है। भक्त तो इस प्रसंग से और ही कुछ सीखता है। यदि विषय का चिन्तन करने से विषय में आसक्ति जगती है तो प्रभु का चिन्तन करने से उसमें आसक्ति क्यों न जगेगी और फिर उसे पाने की लालसा क्यों न उग आयेगी? अतः प्रभु का चिन्तन करना चाहिए।

स्थितप्रज्ञ को मन का वशीकार होता है और इन्द्रियों का। मन के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। इन्द्रियों के वशीकार का प्रसंग चल रहा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥64॥

जिस आदमी का अन्तःकरण अपने वश में है, जिसने अपने ऊपर (मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर) पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह राग-द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ भी मन की प्रसन्नता व निर्मलता को प्राप्त करता है॥64॥

एक ओर चलने का परिणाम दिखा दिया। व्यक्ति पतित हो जाता है। परन्तु क्या विषयों के सेवनमात्र का यही परिणाम होता है? क्या विषयों का सेवन करता हुआ व्यक्ति विषयों की फाँस से बचा रह सकता है? रह सकता है, निश्चय ही, यह उत्तर है श्री भगवान् का। यदि यह असम्भव होता तो मनुष्य के लिए प्रवृत्ति में रहते हुए उसके बन्धन से परे रहना असम्भव ही

हो जाता। कर्म का बाह्य त्याग ही एक-मात्र रास्ता होता और वह भी व्यक्ति को थोड़ी दूर ही ले जाता। क्योंकि कर्म का नितान्त त्याग असम्भव है। कर्म करेगा तो विषयों का सेवन बलात् हो ही जायगा।

गीता का योग तो वस्तु-स्थिति को स्वीकार करके चलता है। यह कोरा आदर्शवाद नहीं है। व्यक्ति को जब तक शरीर में रहना है आँखों को, हाथ पाँवों को, जिह्वा को काम में लाना ही होगा। विषयों का सेवन करना ही होगा। अतः ऐसा उपाय चाहिए जिसके द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ भी विषयों के बन्धन से परे रह सके। इसके अतिरिक्त स्थिति – विषयों का नितान्त असेवन – कोरी कल्पना ही है। तो क्या उपाय है? राग-द्वेष से रहित होकर विषयों का सेवन करे। आगे तीसरे अध्याय के 34वें श्लोक में कहा है –

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

'इन्द्रिय के विषय के प्रति राग और द्वेष बने रहते हैं। (साधक को) उनके वश में नहीं होना चाहिये। वह इसके शत्रु हैं।'

राग तथा द्वेष से रहित होकर विषयों का सेवन करे। आँख से देखे परन्तु उस देखने में आँख में जो सुन्दर वस्तुओं के प्रति आसक्ति है, उससे प्रभावित न हो। कान मधुर शब्द ही सुनना चाहता है। जिह्वा स्वादु भोजन ही चखना चाहती है। इसके विपरीत अनुभूतियों से दूर भागती है। जो व्यक्ति अपने व्यवहार में इन्द्रियगत राग तथा द्वेष से प्रभावित हो जाता है वह जिन अनुभूतियों के प्रति इन्द्रियों में राग होता है उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जिनके प्रति द्वेष होता है उनसे भागने की चेष्टा करता है। जो राग-द्वेष से अप्रभावित है वह सहज में प्राप्त होने वाले अनुभवों को स्वीकार करता चला जाता है, न किसी अनुभूति के पीछे भागता है और न किसी से दूर भागता है। यह सम-स्थिति है।

साधक का दृष्टिकोण ऊँचा हो जाता है। वह इन्द्रियों का उपभोग सुख प्राप्त करने के लिए नहीं करता। वह उन्हें सुख का साधन मानकर चलता ही नहीं। इन्द्रियाँ तो शरीर को चलाने के लिए और शरीरगत चेतना के लिए इस स्थूल जगत् में अनुभव करने का साधन हैं। वह घोड़े हैं जिनकी सवारी

करके इस जीवन में विभिन्न कार्य और अनुभूतियाँ की जा सकती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना ज्ञान अथवा कर्म का क्षेत्र है। उसका उसी क्षेत्र में उपयोग करना ठीक होता है। उसको सुख प्राप्ति का साधन बनाने से ही राग द्वेष-कृत बन्धन होता है।

जिह्वा की उपयोगिता है। भोजन को चबाने में जिह्वा सहायक होती है पर इसके अतिरिक्त भोजन के ठीक चुनाव में भी सहायक होती है। यह बात जंगली जानवरों में स्पष्ट दीखती है। यदि हम दुरुपयोग के द्वारा जिह्वा को धर्मच्युत नहीं कर देते तो हमारी जिह्वा हमारे लिए पथ्य-अपथ्य का निर्णय कर सकेगी। इस प्रकार से धर्मनिष्ठ जिह्वा का अनुकरण करना बुद्धिमत्ता ही है। यह उसका सदुपयोग है। यह संयम ही है। यह रागद्वेष से अभिभूत होना नहीं है।

इसके विपरीत हठधर्मिता के कारण अनापशनाप खा जाना न संयम ही है, न रागद्वेष से रहित होना ही और न ही बुद्धिमत्ता है। यह कोरी मूर्खता है और उसके द्वारा आत्मघात है।

जब साधक का साधन चलता है, जब प्रभु की कृपा होती है, जब महाशक्ति का अवतरण होता है तो इन्द्रियाँ स्वत: धर्मनिष्ठ होती चली जाती हैं। रागद्वेष शान्त हो जाते हैं। प्रलोभन ही नहीं रहते अत: संयम की समस्या ही मिट जाती है। वह उतरती हुई ऊँची चेतना इन्द्रिय जगत् में नूतन ऊँचा साम्राज्य स्थापित कर देती है। समत्व का भाव इन्द्रियों में भी आ जाता है।

यहाँ पर जिस साधन-पथ की चर्चा हो रही है, उसमें तो इन्द्रियों को बरतते हुए चेष्टा करनी है रागद्वेष से अप्रभावित रहने की। व्यक्ति को जागरूक रहना होगा। रागद्वेष के कारण होने वाली रुचियों को पहिचान कर निकाल डालना होगा।

जो इस प्रकार व्यवहार करता है उसमें क्या कुछ होता है। इस साधना के आगे क्या प्राप्ति है – यह चर्चा की है।

इन्द्रियों के लिए एक विशेषण का प्रयोग किया गया है – आत्मवश्यै: – जो अपने वश में हैं। इन्द्रियाँ राग द्वेष के प्रभाव से विषयों के वश में हो जाती हैं। विषय बलात्कार से खींच ले जाते हैं। वायुर्नावमिवाम्भसि – जैसे वायु नौका को जल पर खींच ले जाती है। जैसे-जैसे रागद्वेष निकलते जाते हैं इन्द्रियों पर से विषयों का अधिकार दूर होता जाता है।

जब तक रसगुल्लों से प्रबल राग है मनुष्य देखकर रह नहीं सकता। भरे पेट भी रसगुल्ले दीख जायें तो ललचा जायेगा। उसकी जिह्वा पर रसगुल्लों का अधिकार है, वह उसके वश में नहीं है। उसके वश में हो तो वह चाहने पर रोक पाये। परन्तु वह तो चाहता हुआ भी नहीं रोक पाता। वह जानता है पेट भरा है, खाने से परेशानी होगी, फिर भी खाये बिना नहीं रहता।

आत्मवशीकार का प्रमाण है चाहने पर रोक सकना। हम जब चाहे आँख न देखे तो आँख न देखे। जब हम चाहें न खायें तो न खायें। जादूगर के खेल इस वशीकार का प्रमाण नहीं प्रतीत होते। जो व्यक्ति प्रबल संकल्प के बल से एक अचम्भा कर सकता है वही उस संकल्प के ढीले पड़ने पर विषय के प्रति राग से अभिभूत भी हो सकता है। जिसकी इन्द्रियाँ सहज ही में विषयगत आकर्षणों से रहित हो गई हैं वही वशीकार वाला है। जिसे अभी खींचने की आवश्यकता होती है वह इस रास्ते का साधक है।

साधक के लिये एक विशेषण का प्रयोग हुआ है – विधेयात्मा – जिसकी आत्मा आज्ञाकारी है – (आत्मा का अर्थ है आपा, मन-बुद्धि इन्द्रियाँ तथा शरीर सभी का इस शब्द के अर्थ में समावेश हो जाता है) जिसने अपने पर अधिकार प्राप्त किया है। प्रायः मन-बुद्धि आदि अपने-अपने रागद्वेष रखते हैं और हमारे इस शरीर के अधिष्ठान-चैतन्य के पूर्णरूपेण अनुगामी नहीं होते। वह सभी अपने-अपने रास्ते चलना चाहते हैं। अतः एक विचित्र अराजकता व्यक्ति के भीतर बनी रहती है। कभी बुद्धि के द्वारा विद्रोह होता है, कभी हृदय के द्वारा। कहीं प्राण ही चिल्लाता है और कहीं पर यह शरीर। हम इस पुरी के राजा होते हुए भी राजा नहीं। प्रजा के सभी अंग हमारे आज्ञाकारी नहीं।

जैसे-जैसे साधक रागद्वेष से ऊपर उठने की चेष्टा करता है वैसे-वैसे वहाँ पर एक राज्य स्थापित होता जाता है। सभी की दृष्टि अधिष्ठान-चैतन्य पर केन्द्रित हो जाती है, सभी आज्ञाकारी हो जाते हैं।

जब इस प्रकार की स्थिति आ जाती है तो प्रसादमधिगच्छति – प्रसाद को प्राप्त करता है। क्या है यह प्रसाद? प्रसाद प्रसन्ता को, निर्मलता को कहते हैं। जल का निर्मल होना प्रसन्न होना कहलाता है। निर्मल हुई चेतना गड़बड़ से रहित होती है। पारदर्शी होती है। भीतर की सारी अवस्था व्यक्ति

को स्पष्ट दीखती है। अपना आपा अपने से छिपा नहीं रहता। भीतर के धोखे मिट जाते हैं।

यह अवस्था होने पर दिल भी भीतर से खिल उठता है। हँसी फूट पड़ती है। व्यक्ति प्रसन्नचित्त रहने लगता है स्वभावतः ही। इसीलिये कहा है –

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥65॥

प्रसाद हो जाने पर इस व्यक्ति के लिये सभी दुःखों की हानि हो जाती है। प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि जल्दी ही भली भाँति स्थिर हो जाती है।।65।।

प्रसाद हो पाता है तनावों के और संघर्षों के मिट जाने पर। विषयों का आकर्षण एक तनाव पैदा करता है जो विषय के लाभ से शान्त होता है। परन्तु जल्दी ही फिर से वही स्थिति पैदा हो जाती है। भीतर संस्कारों के उभाड़ के कारण एक अलक्षित संघर्ष भी चला करता है, जब तक भीतर वासनाओं का डेरा रहता है। पूर्ण निर्मल शान्त स्थिति तो इसके भी समाप्त हो जाने पर आती है।

ऐसी स्थिति आने पर सभी दुःखों की हानि हो जाती है। दुःख तो रागद्वेष से ही पैदा होता है। इन्द्रियों के क्षेत्र में अथवा मन-बुद्धि के क्षेत्र में यह उपजा करते हैं। भीतर की शान्त समावस्था में दुःख की प्रतीति कैसे हो सकती है? दुःख तो प्रसाद से बिल्कुल विपरीत अवस्था होती है।

प्रायः समझा जाता है कि जिसे नाना प्रकार के भोग उपलब्ध होते हैं, जो धन-धान्य में खेलता है वह सुखी है और प्रसन्न रह सकता है। बाहर की अवस्था से सुख को मापा नहीं जा सकता। सुख तो व्यक्ति के चैतन्य की स्थिति है। वह किस प्रकार से परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया कर रहा है, उस पर निर्भर करता है। एक ही परिस्थिति में कोई सुखी कोई दुःखी होता है। यदि हमारे भीतर एक निर्मलता, एक समता और सौम्यता बनी रहती है तो बाहर भले ही कुछ भी क्यों न हो, हम प्रसन्न रहते हैं। जब इस अवस्था का अभाव होता है तो हम दुःखी हो जाते हैं। जितना ही रागद्वेष से रहित होकर इन्द्रियों तथा मन के व्यापार करते हैं उतना ही दुःख से बचे रह सकते हैं।

'प्रसाद' शब्द आन्तरिक सौम्यता का बहुत सुन्दर परिचायक है। वह जो प्रसाद है वह आनन्द का पूर्वरूप है। विषय की लालसा उसमें बाधक

होती है। किसी के प्रति भी जगी हुई द्वेष अथवा घृणा की तरंग उसे बिगाड़ देती है।

योग-दर्शन में चित्त प्रसाद की चर्चा आती है –

'मैत्री करुणा मुदितोपेक्षारम्'...

चित्त को प्रसन्न करने के लिए पुण्यवानों के प्रति मित्र भावना, अपुण्यवान् लोगों के प्रति उपेक्षा, सुखी लोगों के प्रति मुदिता (खुशी) और दुखियों के प्रति करुणा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है। पतंजलि ऋषि ने यह सूत्र पढ़ाया है चित्त को प्रसन्न रखने का।

जो बात भगवान् ने इन्द्रियों के जगत् में कही है उसे ही मनोमय जगत् में योगाचार्य दूसरे तरीके से सिद्ध करना चाहते हैं। व्यावहारिक जगत् में यह उतनी ही सत्य है जितनी कि भगवान् की कही बात इन्द्रियों के जगत् में। पूरा प्रसाद दोनों के अभ्यास से ही हो पाता है। मन की खिन्नता का कारण इन्द्रिय-गत रागद्वेष ही नहीं होता, मनोगत व्यथाएँ भी होती हैं। जब हम सुखी को देखकर डाह करते हैं या दुःखी को देखकर व्यथित होते हैं तो प्रसाद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार से अनुचित भावों की जागृति परेशानी का कारण होती है।

पहले भी यह लिखा जा चुका है कि इन्द्रियों तथा मन की स्थिरता होने से ही बुद्धि की स्थिरता होती है। यही बात यहाँ कही गई है। प्रसन्नचित्त व्यक्ति की बुद्धि जल्दी ही स्थिर हो जाती है।

प्रसन्न रहना बहुत उत्तम स्वभाव है। हँसमुख व्यक्ति न केवल स्वयं हँसता है, वह अपने चारों ओर प्रसन्नता का प्रसार भी करता है। प्रसन्न रहने से मानसिक तनाव दूर हो जाते हैं। व्यक्ति में प्राण का प्रवाह स्वच्छन्द रूप से बहता रहता है। तन तथा मन दोनों पर ही स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ता है।

आध्यात्मिक जीवन और सहज प्रसन्नता यह साथ-साथ जाने वाले हैं। जिस व्यक्ति में निष्ठा जगी है, प्रभु के प्रति निर्भरता जगी है, वही वास्तव में प्रसन्न रह पाता है। वही हँसते-हँसते संसार की अग्नि-परीक्षाओं को सहन कर सकता है, वही भय से मुक्त रह पाता है। वही रागद्वेष से परे प्रभु की गोद में विहार कर पाता है।

हमारी प्रसन्नता कितनी गहरी है, यह प्रमाण है हमारी आध्यात्मिक निर्भरता का – हमारी अनन्य निष्ठा का।

खिले रहना स्वभाव ही हो जाना चाहिये प्रभु भक्त का। जो उसकी कृपा की छाया में रहता है उसे चिन्ता कैसी?

गम्भीरता भी समय पर होनी ही चाहिए। परन्तु गम्भीरता में हम डूबे रहें रात दिन यह अनुचित है। मुर्झाये से रहना, मुहर्रमी मुद्रा बनाए रहना मुझे तो आध्यात्मिक जीवन के प्रतिकूल ही प्रतीत होता है। जिस रास्ते को मैं जानता हूँ उसमें तो इसके लिए गुंजायश नहीं है।

'जितना हम प्रसन्न रहने लगते हैं उतना ही हम भीतर भी सम रहने लगते हैं' यदि ऐसा कहूँ तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भीतर वाले के स्वभाव को बदलने का यह एक उपाय है। प्रयोग करके इसकी सत्यता की जाँच की जा सकती है।

वह मजाकिया स्वभाव जिसमें कोरी चंचलता है, जिसमें सहनशीलता नहीं, जिसमें हँसी ऊपर-ऊपर की है वह प्रसन्नता नहीं कही जा सकती। जिस स्वभाव में एक ओर यह ठट्ठेबाज़ी है और दूसरी ओर क्रोधभरी लाल-लाल आँखें, यह प्रसन्नता नहीं होती। वह रजोगुण का प्रदर्शन मात्र होता है। प्रसन्नता तो दुखिया के दिल को खिला सकती है। प्रसन्नचित्त के पास जाने से दु:ख भूल जाता है। क्रोध उससे कोसों दूर की चीज है। क्लबों की हँसी प्रसन्नता से बहुत न्यारी होती है।

बुद्धि की स्थिरता और वास्तविक प्रसन्नता साथ-साथ ही जाने वाले हैं। रागद्वेष से रहित चित्त ही प्रसन्न रह पाता है, रागद्वेष से रहित बुद्धि ही स्थिर हो पाती है।

श्री रामचन्द्र जी सहज प्रसन्न थे। बनवास का आदेश हुआ तो मुखश्री म्लान नहीं हुई। भीतर राज्य के प्रति राग न था। कैकेयी अथवा दशरथ के प्रति द्वेष न था। तभी वह प्रसन्न रह पाये। सो इस प्रसाद के प्रतीक हैं श्री राम।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शन्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥66॥

अयुक्त की बुद्धि नहीं होती और न ही अयुक्त की भावना होती है। भावनारहित को शान्ति नहीं होती और अशान्त को सुख कहाँ से हो सकता है॥66॥

पिछले श्लोकों में तो 'प्रसन्नचित्त की बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है' ऐसा कहा था। यह युक्तायुक्त का प्रसंग कैसा? क्या संगति है इस वर्तमान चर्चा की?

पहिले भी कहा गया है बुद्धि की स्थिरता मन तथा इन्द्रियों के वशीकार पर निर्भर करती है। जो इन्द्रियों को अपने काबू में करता है, जो रागद्वेष रहित होकर उनके द्वारा विषयों का सेवन करता है – वही युक्त है। एक ओर तो युक्त होने का फल कहा कि चित्त प्रसन्न हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। अब उसके अभाव का परिणाम बताते हैं। युक्त न होने से शान्ति नहीं हो सकती है।

युक्त का अर्थ है – समाहित, सन्तुलित प्रयत्न वाला। युक्त वह है – जिसकी चेष्टायें अनापशनाप नहीं होतीं, अपितु किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये ठीक यन्त्रित होती हैं। जो अपने रास्ते पर चलने के लिए सम्यक् प्रयत्न करता है वह युक्त है। युक्त का अर्थ है योगयुक्त।

जिस व्यक्ति में संयम नहीं है जो रागद्वेष से ऊपर उठने की चेष्टा नहीं करता उसकी बुद्धि नहीं होती। बुद्धि न होने का अर्थ है विवेक का अभाव।

उसकी बुद्धि में स्थिरता नहीं होती, वह चंचल मति वाला होता है।

अयुक्त के भावना भी नहीं होती। भावना हमारे मन की रचनात्मक शक्ति होती है। श्रद्धा का ही नाम है भावना। मति की चंचलता में श्रद्धा असम्भव है। पल में हम किसी को आदर की दृष्टि से देखते हैं और दूसरे ही पल दिमाग में फितूर होता है और हम उसे गोली से मार देने के लिए तैयार हो जाते हैं। अभी भगवान् के आगे दण्डवत् नमस्कार करते हैं और थोड़ी देर बाद ही हमें भगवान् पर क्रोध आ जाता है और हम उनके चित्र को फाड़ देने के लिए उद्यत हो जाते हैं। बुद्धि के अभाव में श्रद्धा असम्भव है। जो ऐसी अस्थिर है वह भावुकता होती है, वह भावना थोड़े ही हो सकती है।

जो इन्द्रियाँ और मन में निवास करने वाले रागद्वेष का शिकार है, जो इनसे ऊपर उठा नहीं है उसमें भावना हो नहीं पाती है। ऐसे व्यक्ति के आदर का क्या मूल्य है? ऐसे व्यक्ति के प्रेम की क्या कीमत है? क्या विश्वास है ऐसे व्यक्ति की उपासना का? बेचारे को अपने पर ही विश्वास नहीं हो पाता। वह तो रागद्वेष का खिलवाड़ बना है। काम-क्रोध का खिलौना बना है। वह दया का पात्र है।

जब तक व्यक्ति में भावना नहीं जागृत होती तब तक शान्ति नहीं हो पाती है। बिना निष्ठा के चैन नहीं होती। बिना विश्वास के निष्ठा नहीं बनती। निष्ठा होती है तो भावना पनप पाती है। तब व्यक्ति की बिखरी हुई मानसिक-शक्ति एकमुखी होकर प्रवाहित हो पाती है। तब व्यक्ति मन से परे की सत्ता के संस्पर्श को प्रतीत कर सकता है, तब शान्ति होती है।

माँ भी तो स्त्री है। मातृ-भावना के जागृत होने पर माँ का स्पर्श शान्ति देता है। उसके अभाव में काम-वासना जागृत होने पर वही स्पर्श आग लगा देता है। भावना व्यक्ति के जीवन को बनाती है। भावना ऊँचे आदर्शों को जागृत करती है। भावना ही व्यक्ति की शक्तियों को स्थिर रूप से प्रवाहित होने के लिये मार्ग देती है। हृदय और मस्तिष्क एक ही ओर सुदृढ़ रूप से कदम उठा पाते हैं और उसका परिणाम होता है चैन। हमारी अशान्ति का कारण इच्छायें रहती हैं। परन्तु इच्छाओं के अभाव में भी कभी-कभी चैन नहीं होता। हमारी शक्तियों को प्रकट होने के लिये जब तक समुचित क्षेत्र नहीं मिलता तब तक वे हमें खाया करती हैं, भीतर द्वन्द्व मचाती रहती हैं। भावना से यह काम सुगमता से हो जाता है। जितनी दृढ़ और ऊँची भावना मनुष्य में जगी होती है उतना ही वह ऊँचा हो पाता है।

धर्म-ग्रन्थ, हमारा इतिहास और महापुरुषों के चरित्र व्यक्ति में ऊँची भावनाओं को जागृत करते हैं। वह अलक्षित रूप से मानवता के स्तर को ऊँचा करती है और मनुष्य के लिए शान्ति का स्रोत बन जाती हैं।

अन्त में कहा अशान्त को सुख कहाँ? कितना ज़ोरदार सत्य है। यदि यह समझ में आ जाये तो मनुष्य जीवन की कितनी भूलों से बच सके। 'शान्ति सुख का स्रोत है' यह भूल कर हम सुख को धन में, मान में, पुत्र-पौत्रादि में खोजते हैं। उस खोज में हम दूसरों पर अन्याय करते हैं। अपने उतावलेपन से काम-क्रोध के शिकार हो जाते हैं। अपने लिये परेशानी मोल ले लेते हैं। ढूँढने चले थे सुख हाथ लगा दु:ख। 'बनने चले थे छब्बे, चौबे महाशय दुबे हो गये' ठीक यही बात होती है।

शान्ति सुख का स्रोत है। वह द्विविध है। परिस्थिति से ठीक बैठाव बैठ जाने से शान्ति हो जाती है। भीतर का बैठाव ठीक बैठाना नितान्त आवश्यक है। उसके अभाव में हम परिस्थिति को ठीक प्रकार से स्वीकार नहीं कर पाते। भीतर के ठीक बैठाव के लिये शक्तियों को समुचित मार्ग देना होगा।

उसके लिये भावना चाहिये। उसके लिये व्यक्ति को योगयुक्त होना होगा। अतः बाहर खोजने से सुख हाथ न लगेगा। योगयुक्त हो जाने से वह स्वयं मिलेगा, बिना माँगे वह पीछे चला आयेगा। इसी निर्णय पर हमें भगवान् की वाणी ले जाती है। फिर लौटकर इन्द्रिय-संयम के विषय पर आते हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥67॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥68॥

(विषयों में) विचरण करती हुई इन्द्रियों में से जिसके पीछे भी मन चल पड़ता है वही इन्द्रिय मनुष्य की बुद्धि का हरण कर लेती है, जिस प्रकार जल पर (चलने वाली) नौका को वायु बहा ले जाती है॥67॥

इसलिए हे वीर! जिसकी इन्द्रियाँ सभी प्रकार से विषयों से हट चुकी हैं और अपने काबू में हैं उसी की बुद्धि भली प्रकार से स्थिर है॥68॥

60वें श्लोक में भगवान् ने खतरे की सूचना दी थी। साधारण व्यक्ति का क्या कहना, प्रयत्नशील बुद्धिमान् भी फिसल जाता है। यह मन बड़ा प्रमाथी है। अब उसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं।

इन्द्रियाँ विषयों का सेवन करती ही हैं। जब व्यक्ति की चेतना देह में उतरेगी, इन्द्रियाँ अपना काम करेंगी ही। आँखें देखेंगी, कान सुनेगा ही, जिह्वा रस लेगी ही, इत्यादि। इन्द्रियों के ये व्यापार व्यक्ति के बन्धन के कारण नहीं होते। आखिर पशुओं में भी इन्द्रियाँ हैं। वे भी विषयों का सेवन करते हैं। परन्तु वे स्वभाव से च्युत नहीं होते। विषयों के सेवन के लिए अन्धे नहीं हो जाते। विषयों का सेवन जीवन-यात्रा के चलाने के लिए और सन्तति क्रम को बनाए रखने के लिए स्वभावतः करते हैं। उनका जीवन-क्रम एक सा चलता जाता है परन्तु मनुष्य के लिए तो सर्वस्व ही हो जाता है विषयोपभोग। मानो इसके अतिरिक्त जीने का उसके सामने प्रयोजन ही नहीं। वह जीवन-यात्रा के निमित्त और सन्ततिक्रम को चालू रखने के निमित्त विषयोपभोग नहीं करता। वह तो सुख के लिए करने लगता है। अतः अपने जीवनोद्देश्य से पतित हो जाता है। कसूर किसका है? इन्द्रियों का? इन्द्रियों

का दोष! वह तो पशुओं में भी रहती हैं और परेशान नहीं करतीं – दोष तो है मन का। मन से मनन होता है विषय का। फिर आसक्ति जागती है। कामना पैदा होती है। उसे पूरा करने के लिए व्यक्ति फड़फड़ाता है और क्रमशः विनाश के गड्ढे में गिरता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाने से।

जिस भी इन्द्रिय के पीछे मन लग जाता है वही व्यक्ति की बुद्धि का हरण कर लेती है। जिह्वा से रस का आस्वादन किया था, खाना खाने में। मन से व्यक्ति सोचने लगता है। रसेन्द्रिय (जिह्वा) बल पा जाती है, अपनी तृप्ति माँगती है। व्यक्ति जिह्वा का दास हो जाता है। खाने में विवेक-शून्य हो जाता है, खाने के लिए जीने लगता है। मन के बल को पाकर इन्द्रिय बली हो जाती है। बली हुई इन्द्रिय भोग को माँगती है। व्यक्ति उस बल के आगे झुक जाता है। विवेक को खो बैठता है।

उदाहरण दिया है। पानी पर नौका चलती है। खेवइय्या जिधर चाहता है डाँड के सहारे ले जाता है, परन्तु जब ज़ोर की हवा चलती है तो डाँड बेकार हो जाता है। वह हवा अपने साथ बहा ले जाती है नौका को। वह कहीं टक्कर खाकर डूब जाती है। अतः इन्द्रिय-संयम का रहस्य है – मन को इन्द्रिय से युक्त न होने दें। विषय का सेवन करें परन्तु उसका मनन न करें। मनन करने से व्यक्ति फँस जाता है और मतिभ्रष्ट हो जाता है।

बड़े-बड़े बली, वर्षों की तपस्या पल भर में खो बैठते हैं। हमारा इतिहास-पुराण तो इन गाथाओं से भरा हुआ है। ऋषि, मुनि काम के वशीभूत हो जाते थे, इसलिये ज़ोर की चेतावनी देते हैं।

इसलिये कब समझा जाय कि व्यक्ति की बुद्धि भली प्रकार स्थिर है? जब उसकी इन्द्रियाँ पूरी तरह से उसके वश में हों।

सर्वशः का अर्थ है सभी ओर से। यदि कहीं भी किसी प्रकार की दुर्बलता है तो व्यक्ति की बुद्धि चंचल हो उठेगी। यह इन्द्रिय-संयम के प्रकरण का अन्तिम श्लोक है। मानो सारी बातचीत का सार निकाल कर रख दिया कि जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ पूरी तरह से काबू में हैं उसी की बुद्धि पूरी तरह से स्थिर है।

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक होगा कि संयम के दो उपाय हैं। एक तो है बुद्धि और संकल्प बल के आधार पर इन्द्रियों को और मन को काबू करने का। दूसरा है प्रभु की शरण जाने का। प्रभु की शरण होने से प्रभु की

चेतना उसमें उतर आती है और संयम की समस्या ही हल हो जाती है। इन्द्रियों में से विषयों के प्रति सहज आकर्षण ही समाप्त हो जाता है। रस की ही निवृत्ति हो जाती है फिर पतन की सम्भावना ही क्या? पहिला तरीका तो विस्फोटक ज्वालामुखी पर घर बनाने जैसा है। न जाने कब ज्वालामुखी फूट पड़े और व्यक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दे। उसमें हमेशा जागरूकता की आवश्यकता है। अत: कभी निश्चिन्तता नहीं। दूसरे उपाय में कभी चिन्ता ही नहीं। सम्भालने न सम्भालने की जिम्मेदारी प्रभु पर रहती है।

जो पतन की प्रसिद्ध गाथायें हैं वे संयमवादी लोगों की हैं, तपस्वी तथा वैरागियों की हैं। प्रभु शरणापन्न निरभिमान हुए भक्तों की नहीं हैं। वे इतना ही बताती हैं कि वह मार्ग खतरे वाला है, छुरे की पैनी धार पर चलने का सा है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:॥69॥

जो सब भूतों के लिए रात्रि है, संयमी व्यक्ति उस (रात्रि) में जागता है। जिस रात्रि में भूत जागते हैं, वह आँख वाले मुनि के लिए रात्रि है।।69।।

सामान्य प्राणियों और संयमी व्यक्तियों में अन्तर को स्पष्ट रूप से कहा है। जो उसका दिन सो इनकी रात, जो इनकी रात सो उनका दिन।

क्या रात को जब सूर्यास्त हो चुकता है, संयमी व्यक्ति जगा रहता है और दिन में सोया रहता है? क्या इसका दीखने वाला अर्थ ही प्रधान है? विलायत में तो लोग रात के दो बजे तक और कभी-कभी तो तीन बजे तक भी जगते हैं और प्रात: 8-9 बजे तक सोते रहते हैं। भारत में भी कुछ साहिब लोग ऐसा नहीं तो इससे कुछ कम करते हैं। पर वे संयमी तो हैं नहीं। उधर तिब्बत में तो ऐसे साधकों के परिचय मिलते हैं जो सोते ही नहीं। क्या दिन क्या रात, वे आसन पर बैठे ही बैठे व्यतीत कर देते हैं। क्या यह संयम की पराकाष्ठा है? डेविड ओनील की तिब्बत विषयक पुस्तक में ऐसी जानकारी मिलती है।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जितना आहार लघु और सात्विक होता है, उतनी ही निद्रा की कमी हो जाती है। थोड़ी नींद से ही काम चल जाता है। रात्रि का समय एकान्त-शान्त समय होता है। दुनिया सोया करती

है। उस समय प्राण भी शान्त हो जाते हैं। अत: मन सुगमता से निश्चल हो जाता है। इसलिये संयमी लोग रात को अभ्यास करते हैं। कोई अर्ध रात्रि को ही जग जाते हैं। जब विषयी लोगों के सोने का समय होता है, उनकी नींद पूरी हो चुकी होती है। वह आसन पर जम जाते हैं। विषयी दिन में प्राय: देर तक सोते हैं और रात को देर में सोते हैं। संयमी जल्दी सोता है और बहुत जल्दी जगता है। ऐसा करने वाले को प्राय: दिन में खाकर थोड़ा सोने की आवश्यकता होती ही है। आधी रात से जगा हुआ व्यक्ति यदि दिन में सुस्ताये तो ठीक ही है। अत: वह दिन में सोता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह दिन भर सोता है। परन्तु इसका इतना ही अर्थ नहीं समझना चाहिए। इसके पीछे तो ध्वनि है – गूढ़ अर्थ प्रतीत होता है।

विषय-वासना में, इन्द्रिय सुखों में और मन की तृप्तियों में सदा जगा करते हैं विषयी लोग। यही उनके लिए दिन होता है। जहाँ यह प्राप्त नहीं वहाँ उन्हें कोई रुचि नहीं। वहाँ उनके लिए अन्धकार है, रात्रि है। संयमी की इन बातों में रुचि नहीं। यह सभी उसके लिए रात्रि है। इनके अभाव में ही उसका काम बनना है, उसके भीतर स्थिरता होती ही है। अत: इनका अभाव दिन है उसके लिए।

इस प्रकार विषयी लोगों की रात उसका दिन और उसकी रात्रि विषयी लोगों के लिए दिन होता है। कितना परस्पर विरोध है। इसका और भी अभिप्राय है –

लौकिक मूल्य आँकने के पैमाने उसके नहीं हो सकते हैं। वह दुनिया के आचार को मापदण्ड बनाकर अपने को ढालने की चेष्टा नहीं कर सकता। ऐसा करने से वह पतित हो जायगा। उसका लक्ष्य विषयी लोगों से न्यारा है। उसे अपने कर्मों का समर्थन दूसरे के कृत्यों में नहीं, अपने को होने वाले लाभ और उस रास्ते पर चलने वाले लोगों की अनुभूतियों में ढूँढना होगा। लोक-निन्दा अथवा लोक-प्रशंसा उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखती है। महत्त्व रखती है उसके ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति। उसकी दृढ़ता की, उसकी मति की स्थिरता और उसकी ऊँची निष्ठा की परीक्षा होती है। अनेक बार रास्ते पर चलने में बहुमत सत्य का और ऊँचे पथ का सूचक नहीं होता। सार वाले लोग डगर को छोड़कर चलते हैं। जो डगर को छोड़कर चले हैं उन्हीं ने कुछ पाया भी है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि जो डगर को छोड़कर चलता

है, वह झाड़ी-झंकाड़ों में, गड्ढों-गहिरों में अपने को खो भी सकता है।

दुनिया की दृष्टि में संयमी पागल होता है। उसे अपनी स्थिति को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। दुनिया के लोग वैसा क्यों सोचते हैं, यह भी समझना चाहिए और उनके प्रति प्रेमपूर्ण तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। किसी दिन बेचारे ऊँचे तथ्यों को समझ पायेंगे और रास्ते पर आ सकेंगे।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥70॥

जिस प्रकार से नदियों का जल अचल प्रतिष्ठा वाले सागर में समा जाता है, ऐसे ही कामनाएँ जिसमें समा जाती हैं वह शान्ति लाभ करता है, कामनाओं की पूर्ति चाहने वाला नहीं॥70॥

एक सुन्दर दृष्टान्त देकर स्थित प्रज्ञ की अवस्था को दर्शाया है। समुद्र में नद और नदियाँ हमेशा गिरते हैं। इतनी महान् जलराशि के समुद्र में जाने पर भी समुद्र में बाढ़ नहीं आती है। वह अपनी सीमाओं को लाँघता नहीं है। वर्षा-ऋतु में तो यह जलराशि और भी अधिक हो जाती है, परन्तु सागर में बाढ़ नहीं आती। ठीक ऐसी ही स्थिति होती है स्थितप्रज्ञ की। कामनाएँ उसमें समा जाती हैं, उथल-पुथल पैदा नहीं करती हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में समा जाती हैं, ठीक वैसे ही।

तो क्या स्थितप्रज्ञ में भी कामनायें होती हैं? वास्तव में कामना तो समाप्त हो जाती हैं जब अवस्था परिपक्व होती है, यद्यपि देखने को कामना सी होती है। वह खाता है, पहनता है, घर-गृहस्थी की तथा और दूसरी जिम्मेदारियों को निभाता है। उस सिलसिले में स्फुरण होते हैं। परन्तु वह उनमें लिप्त नहीं होता। वह तो पानी पर की सी लकीर होते हैं, उनका भीतर की स्थिर, शान्त अवस्था पर कोई प्रभाव नहीं होता।

जिसकी ऐसी अवस्था हो गई है वह शान्ति लाभ करता है। उसकी शान्ति सहज और स्थायी होती है। उसे भंग करने का कोई सामान ही नहीं

होता क्योंकि कामना ही तो व्यक्ति को अशान्त करती है।

कामकामी – कामनाओं की तृप्ति की चाह न करने वाला शान्त व्यक्ति तो जगने वाली कामनाओं को जानता है। वह कामना को अशान्ति का बीज समझता है और पचा जाता है। अयुक्त व्यक्ति अपने को कामना से जोड़ लेता है। उसे अपनी कामना समझता है और उसकी पूर्ति को अपनी पूर्ति समझता है। परिणाम होता है कामना का उसे चलायमान कर देना। अतः यह अशान्त हो जाता है।

इन्द्रियों का संयम और कामनाओं का परित्याग – यही दो प्रधान साधन हैं बुद्धि की स्थिरता और शान्ति लाभ करने के। यदि स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को निचोड़ा जाये तो हम इसी सिद्धान्त पर आते हैं।

स्थितप्रज्ञ की इस मौलिक स्थिति से भी एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है। वास्तव में वह स्थिति ही क्रमशः इस परिपाक को प्राप्त करती है। यह आगे वाले श्लोक में बताया गया है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥71॥

जो पुरुष सभी कामनाओं को छोड़कर निस्पृह हुआ ममता तथा अहंकार से रहित हुआ व्यापार करता है वह शान्ति को पाता है।।71।।

'प्रजहाति यदा कामान्' – 'जब कामनाओं का परित्याग कर देता है' 55वें श्लोक में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के सम्बन्ध में यह बात कही गई थी। पिछले श्लोक में भी वही बात कही थी। कामना के नितान्त अभाव में 56 तथा 57 श्लोक में कही समता स्वतः आती ही है। परन्तु यहाँ तो ममता तथा अहंकार के परित्याग को कहा है, यह अभी तक नहीं कहा था। निस्पृह तो विगतस्पृहः ही है (श्लोक 56)।

ममता – मेरे पने का भाव है। यह वस्तु मेरी है। यह मेरा पति, मेरा पुत्र, मेरी पत्नी, मेरा मकान, मेरा पैसा, यह सभी ममता के रूप हैं। इस ममता से हम अपनी दुनिया बनाते हैं। दुनियाँ तो एक ही है परन्तु इस ममता के द्वारा उसमें से हम अपनी निजी दुनियाँ की रचना करते हैं। वह एक किला होता है जिसके लोहे के दरवाजे होते हैं। उसमें हम अपने को बन्द कर लेते हैं और उसकी चाबी को उस किले के बाहर फेंक देते हैं। उस

ममता के लोहमय किले में बन्द हम बहुत देर भूले रहते हैं। हम नहीं जानते हम कैद हैं। संसार की चोटें लगने पर, जिसे मेरा कहा था उसके सरक जाने पर दु:ख होता है। जगते हैं मोह की निद्रा से और अपने को कैद पाते हैं। हमने ही बनाया था किला। हमने ही अपने को कैद किया है, पर हम अपने को निकाल नहीं सकते हैं। ऐसा अनुभव होता है, फड़फड़ाते हैं।

वह ब्याह कर आई थी, अपनी पत्नी में अपनापन जोड़ा। इस पर नाज़ होने लगा। संसार में सभी से सुन्दर सुशील दीखने लगी। उसके प्यार को पाया, उस प्यार पर भी ममता हुई। बच्चे पैदा हुए। उनमें अपनापन बसा। वह भी प्यारे लगे, क्योंकि अपने थे। इस ममता ने जीवन में रस डाला। सुख का, स्वर्ग का सा अनुभव हुआ। जीवन आनन्दमय हो गया। बच्चे की ममता पर चोट आई। उसने ममता को ठुकराया। पर बंधे थे, छोड़ नहीं सकते थे। बुरा लगता था, पर भूल नहीं सकते हैं। बच्चा मर गया। बुद्धि समझती हुई भी नहीं समझती कि यह संसार का खेल है। ऐसा होता ही आया है। दिल के तो दिमाग होता ही नहीं। आह! उसका तो जिगर का टुकड़ा था! उसकी आशाओं की सजीव मूर्ति थी। हृदय के प्यार के लिए एक मात्र सजीव आधार था। 'हाय! कहाँ गया मेरा लाल! मेरा प्राणों का प्यारा।' यह सभी ममता का खेल है।

उपनिषद् कहता है, 'पुत्र के लिए पुत्र प्यारा नहीं होता, अपने लिए प्यारा होता है।' ऐसी ही बात पत्नी आदि के लिए सत्य है। पुत्र तो सभी कोई किसी न किसी के हैं। जहाँ अपनापन है ममता है, वहीं प्यार है। वही बन्धन है।

ममता शान्ति की बाधक है, यह स्पष्ट ही है। परिवर्तनशील संसार से ममता के मजबूत धागे से बंधे हम भी हमेशा चलायमान रहते हैं। सुख-दु:ख के दोला पर डोलते हैं।

ममता की निवृत्ति होती है ज्ञानी के लिए मिथ्यात्व में। यह सभी मिथ्या है, भ्रम है। न किसी का बेटा न किसी की माँ। सभी माया है। सांख्य वाले की सोच में यह सभी प्रकृति की रचना है। भक्त के लिए निवृत्ति होती है समर्पण में। वह कहता है, 'यह सभी तेरा'। 'तेरी देन तेरी भेंट चढ़ाऊँ। देना चाहूँ विधि नहीं जानूँ, मैं तेरा-तेरा गाऊँ'। तेरे ही नाते से सभी नाते। तेरे ही नाते से सभी का प्यार, सभी की सेवा, तेरी इच्छा में मेरी इच्छा।

इसमें बन्धन नहीं होता, जीवन में रस रहता है। प्रभु रहते हैं सभी बातों में, ममता का अभाव हो जाता है।

और फिर? सभी प्रभु हो जाते हैं। तू ही बाप है। तू ही माँ है, तू ही पुत्र है।

सृष्टि सारी श्याममयी है।

जित देखूँ तित श्याममयी है।
वासुदेवः सर्वमिति। सभी वासुदेव है॥

यहाँ जाकर ममता की नितान्त परिशान्ति होती है। व्यक्ति बन्धन से परे होता है। कैसी आनन्दमयी अवस्था है।

इतना ही नहीं निरहंकार भी होना होगा ब्राह्मी-स्थिति के लिए। निरहंकार – अहंकार से रहित। अहंकार होता है – 'मैं करता हूँ' – यह भाव, ऐसी प्रतीति। कर्तृत्व की भावना ही अहंकार है।

आप सोचेंगे, यह तो सत्य है ही कि हम करते हैं, इसकी निवृत्ति क्यों करें? वर्तमान स्थिति में यह सच है कि आप करते हैं, आपकी यह प्रतीति है। परन्तु भीतर-स्थित चैतन्य के जग जाने पर तो ऐसा भान नहीं होता। तब तो व्यक्ति अपने को साक्षी पाता है। यह सारा खेल उसे मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा होता दिखाई पड़ता है। वह तटस्थ इस तमाशे को देखता है। यही वास्तविक स्थिति है। वर्तमान-स्थिति अज्ञान की है।

वह निर्मल साक्षी चेतना अपने को उलझा लेती है अपने यन्त्रों में। मन से एक हो जाती है। बुद्धि और इन्द्रियों से एक हो जाती है। उनके कामों को अपना काम और उनकी माँगों और तृप्तियों को अपनी माँगें और तृप्तियाँ अनुभव करती है। उनकी सीमाओं से सीमित हो जाती है। 'मैं मरता हूँ। मैं जीता हूँ। सुखी हूँ, दुःखी हूँ। मैंने अच्छा किया, बुरा किया' ऐसा अनुभव करने लगता है। आत्मा अपने को अनात्मा प्रतीत करता है। अविद्या का प्राथमिक परिणाम अस्मिता है। वही क्रिया के पक्ष में अहंकार होता है यही दुःख-परम्परा का मूल कारण है।

कौन करता है? गीता का उत्तर है –

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥3/27॥

प्रकृति के गुणों के द्वारा ही पूर्णरूपेण किये जाने वाले कर्मों को अहंकार से विमूढ़ आत्मा वाला व्यक्ति, मैं करता हूँ ऐसा मानता है।

क्रिया, गति, यह तो प्रकृति का धर्म है। आत्मा तो चेतना है, अकर्ता है। यह सांख्य का सिद्धान्त है। ब्रह्मनिर्वाण की स्थिति तो आत्मतत्व में स्थित है। अतः इस आत्मतत्व में स्थिर होने के लिए अहंकार से परे होना आवश्यक है ही। प्रकृति के गुणों से परे व्यक्ति आत्मतत्व में स्थिर अपने को पूर्ण-रूपेण अकर्ता ही जानता है। तब वह प्रकृति के बन्धनों से परे होता है। यही योग-दर्शन का कैवल्य अथवा केवली-भाव है।

इससे परे की भी एक स्थिति है। ऊपर कही स्थिति तो नैष्कर्म्य की सिद्धावस्था है। परन्तु वह स्थिति तो ईश्वर-भाव की स्थिति है। व्यक्ति सभी कुछ करता है और कुछ भी नहीं करता।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥4/18॥

जो कर्म में अकर्म को देखता है और जो अकर्म में कर्म को देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह युक्त है, वह सभी कर्म करने वाला है।

यह वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति कुछ भी नहीं करता है। व्यक्ति के अहंकार की निवृत्ति इस प्रकार से प्रभु से युक्त हो जाने से होती है।

करन करावन आपे नाथ।
नानक के कछु नाहीं हाथ॥

वह जो प्रकृति में खेल करता है उससे युक्त हो जाने से हम सभी कर्म करने वाले हो जाते हैं।

जो व्यक्ति अहंकार से और ममता से रहित हो जाता है, वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है। उसके भीतर की सभी हलचलें समाप्त हो जाती हैं।

यह स्थिति स्थितप्रज्ञ की स्थिति का परिपाक है। इसका नामकरण किया जाता है। और इस स्थिति के माहात्म्य का वर्णन है आगामी श्लोक में।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥72॥

हे अर्जुन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त होकर फिर मोह नहीं होता। अन्तकाल में भी इस स्थिति में स्थिर होकर ब्रह्मनिर्वाण हो जाता है।।72।।

जिस अवस्था का वर्णन 71वें श्लोक में हुआ है उसकी ओर संकेत करते हुए कहा है – 'यह ब्राह्मी स्थिति है।' 18वें अध्याय के 53वें श्लोक में कहा है – **'ब्रह्मभूयाय कल्पते'** ब्रह्मभाव के योग्य होता है। 54वें में कहा है **'ब्रह्मभूतः' 'ब्रह्मभाव को प्राप्त'।** वहाँ भी 53वें श्लोक में अहंकार, ममता आदि के परित्याग के लिये कहा है। यह ब्राह्मी अवस्था वही ब्रह्मभाव है। जो निष्क्रिय साक्षी-चेतन है, जो सांख्य का पुरुष है, उसमें लीन हो जाना ही ब्राह्मी-अवस्था को प्राप्त करना है, ऐसा समझ में आता है। यही सांख्य का केवली-भाव है। ऐसा पहले कहा जा चुका है।

गीता के 18वें अध्याय को देखते हुए तो यह अन्तिम स्थिति प्रतीत नहीं होती है। 55वें श्लोक से आगे पराभक्ति और फिर भगवान् में 'विशते' – प्रवेश पाने की चर्चा है। इन दोनों में वास्तव में क्या अन्तर है, यदि है तो? इस विषय की चर्चा को हम यहाँ पर नहीं छेड़ेंगे।

ब्राह्मी-स्थिति प्रकृति की, मन, बुद्धि, इन्द्रियों की, हलचल से बिल्कुल परे की शान्त स्थिति है। व्यक्ति कामना, अहंकार और ममता से छूट चुका होता है, इतना इस विषय में हम जानते हैं।

इस स्थिति को प्राप्त करके फिर मोह नहीं होता। अविद्या का आविर्भाव ही मोह है। मैं मन हूँ, बुद्धि हूँ अथवा इन्द्रिय हूँ, मैं कर्ता अथवा भोक्ता हूँ। यह सभी मोह है। जब व्यक्ति इस अवस्था को पा लेता है, तो फिर इस प्रकार से नहीं सोचता।

समाधि की अवस्था में तो आत्मतत्व में या ब्रह्म में स्थिति होती है। उत्थान की अवस्था में संकल्प-विकल्प जागते ही हैं। परन्तु समाधिगत चेतना इस प्रकार से भीतर बसी होती है कि यह सभी खेल सामने होने वाले तमाशे की तरह लगता है। व्यक्ति को धोखा नहीं हो पाता। यह परिपक्व हुई स्थिति वाले की दशा होती है। वही परिपक्व दशा ही ब्राह्मी-स्थिति है।

फिर कहा, **'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'।** अन्तकाल में भी इसमें स्थिर होकर ब्रह्मनिर्वाण हो जाता है। क्या अर्थ है इस 'भी' का? यदि जीवन में यह अवस्था भली प्रकार से प्राप्त न हुई हो, मरते समय ही व्यक्ति को प्राप्त हो जाय, तो भी ब्रह्मनिर्वाण को लाभ करता है। ब्रह्मनिर्वाण

क्या होता है? पहले ब्रह्मनिर्वाण का विचार करना होगा। निर्वाण बुझ जाने को कहते हैं। दीपक का निर्वाण होता है। महात्मा बुद्ध की परम-शान्ति की अवस्था को निर्वाण कहते हैं। वही बौद्ध-साधना का लक्ष्य है। ब्रह्म में निर्वाण, ब्रह्मतत्व में हमेशा के लिए गति, क्रिया तथा व्यथा से रहित हो जाना ही ब्रह्मनिर्वाण को पा जाना है। चेतना का ब्रह्म में या आत्म-तत्व में लीन हो जाना, यही मोक्ष भी कहलाता है। यह प्रकृति से नितान्त वियोग की अवस्था है। समाधि की चेतना में हमेशा के लिए लीन हो जाना, फिर व्युत्थान की सम्भावना ही न रहे। उपनिषद् भी तो कहता है कि इसके प्राणों का उत्थान नहीं होता इत्यादि। यही है ब्रह्मलीन होना।

जब तक शरीर है तब तक व्यक्ति की चेतना कभी न कभी शरीर में उतरती है। कहा जाता है कि व्युत्थान न हो तो 40 दिन में शरीर पात हो जाता है। इस केवली-भाव को लाभ करने पर भी प्रारब्ध के क्षय के लिए शरीर चलता ही है ज्ञानी का भी, जैसे कुम्हार का चाक एक बार घुमाया हुआ छोड़ने पर भी कुछ देर चलता ही है। नए संस्कार का निर्माण नहीं होता है। पिछला संस्कार ही क्षीण होता है इस अवस्था में। यहीं पर जीवन मुक्त और देह मुक्त की अवस्था का विवेक किया जाता है।

भक्त की स्थिति नितान्त भिन्न होती है। उसकी चर्चा फिर।

तो इस ब्रह्मनिर्वाण को अन्तकाल में भी ब्रह्मस्थित होकर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। यदि मरण से पहले ही व्यक्ति ने इस आत्मभाव में स्थिति लाभ कर ली है और उसे उस चेतना पर अधिकार हो गया है तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करेगा। परन्तु यदि वैसा नहीं हुआ, विशेष प्रयत्न से अन्त समय में ही यह ज्ञान उपजा है और इस स्थिति की प्राप्ति हुई है, तो भी ब्रह्म-निर्वाण मिल जायेगा। उसे स्थिति के परिपाक के लिए इस संसार में लौटना नहीं पड़ेगा। मरते समय की अवस्था व्यक्ति की गति का निर्णय करती है। आठवें अध्याय में 5वें श्लोक में इसी विषय की चर्चा है। 'अन्त मता सो गता'। यह तो प्रसिद्ध ही है कि जो अन्तकाल में ब्रह्मस्थित हो सो निर्वाण को पाता है।

इस श्लोक के साथ यह अध्याय समाप्त होता है। इस अध्याय को 'सांख्ययोग' ठीक ही नाम दिया गया है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार ही प्रकृति-पुरुष विवेक की, आत्म-अनात्म-तत्व की चर्चा है, तदनुसार ही

संयम की साधना है। और उसी के अनुकूल ही ब्राह्मी-स्थिति और ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति है।

यह सांख्य श्री शंकराचार्य का वेदान्त नहीं है, यह तो स्पष्ट ही है। यहाँ मायावाद की, संसार के मिथ्यात्व की और ब्रह्म के अनिर्वचनीयत्व की चर्चा नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि साधना में संयम समान रूप से ही है। सिद्धि भी एक ही है। सिद्धान्त का भेद होते हुए भी सिद्धि का एक होना विस्मय की बात नहीं है। सिद्धान्त की तो बुद्धि तक की गति होती है। मन व बुद्धि को शान्त करने के विविध उपाय हैं और यह उन्हीं के साथ समाप्त हो जाते हैं। भीतर की जगी हुई चेतना तो मन की गतियों से परे की होती है।

गीता के इस अध्याय का आश्रय उपनिषद हैं। दूसरे अध्याय के बहुत से श्लोक तो उपनिषदों से ही लगभग वैसे ही रख दिये गए हैं। किसी को जिज्ञासा हो तो 'Gita by Gandhi' में श्री महादेव देसाई की भूमिका देखें। बड़े परिश्रम से उपनिषदों तथा गीता का इस विषय में मिलान कर रखा है। दूसरा अध्याय हमें पुराने उपनिषदों का सिद्धान्त दे देता है। तदाश्रित साधन और सिद्धि भी कही है। भक्ति और भगवान् का अभी तक काम नहीं है।

यह ब्राह्मी-स्थिति कर्म के साथ कहाँ तक मेल खाती है? इसमें तो कर्म का अभाव-सा दीखता है। यह साधना तो हमें कर्म के स्वरूप से ही अभाव की ओर ले जायेगी। ऐसी समस्याएँ लेकर हम इस अध्याय को समाप्त करते हैं।

॥श्री राम॥

अध्याय 3

दूसरे अध्याय का नाम सांख्ययोग है और वही वास्तव में उसका प्रधान विषय भी है। उसमें हमें कर्मयोग की मानो भूमिका मात्र ही प्राप्त होती है। फलाशा से कर्म करने वालों की गति, कर्मयोग का मूल सूत्र और उसके अनुसरण का परिणाम वहाँ थोड़े शब्दों में वर्णन हुआ है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण तो सांख्ययोग की साधना के लिए भी उतने ही महत्त्व वाले हैं जितने कि कर्मयोग के रास्ते पर चलने वालों के लिए। वर्तमान अध्याय कर्म के आधारभूत तत्वों का, कर्म के प्रति ऊँची निष्ठा के बनाने का और इस रास्ते की अड़चनों का विशद वर्णन करता है। अतः इसका नामकरण समुचित ही है। नैष्कर्म्य की सिद्धि का वर्णन अभी आगे चलकर होगा।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥1॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥2॥

अर्जुन बोला – हे जनार्दन! यदि आप बुद्धि को कर्म से बड़ी मानते हैं तो मुझे (इस) घोर कर्म (अर्थात् युद्ध) में, हे केशव! क्यों लगा रहे हैं।।1।।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गड़बड़ सी बात कहकर आप मेरी बुद्धि को मोह में डाल रहे हैं। निश्चयपूर्वक एक ही बात कहियेगा जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ?।।2।।

भगवान् ने पिछले अध्याय के श्लोक 49, 50 तथा 51 में बुद्धि की प्रशंसा की थी और श्लोक 49 में कर्म को बुद्धि से बहुत नीचा कहा था। अर्जुन ने इसका आशय ठीक नहीं समझा। वह उलझ गया। कर्म अवर है,

उसने सोचा और तिस पर भी भगवान् उसे कह रहे हैं युद्ध कर। कैसी अजीब बात है! क्या यह जानबूझकर गड्ढे में धकेलना चाहते हैं? पर ऐसा कैसे हो सकता है। वह तो उसके परम हितू हैं और बहुत समझदार हैं। ऐसी विचारधारा में उलझे हुए उसने भगवान् के सामने अपनी मानसिक-स्थिति प्रकट कर दी।

'आप यदि सममुच बुद्धि को कर्म से बड़ा मानते हैं तो मुझे क्यों कहते हैं युद्ध कर।'

हम दूसरों के वाक्य को अपने संस्कारों के अनुसार ही समझते हैं। संस्कार-भेद से ही बुद्धिभेद हो जाता है। कहने वाले का तात्पर्य कुछ होता है, समझने वाला कुछ और ही समझ लेता है। जीवन के बहुत से मन-मुटाव इसी प्रकार से ही होते हैं। कैसा सुन्दर उदाहरण है।

भगवान् ने बुद्धि शब्द का प्रयोग कर्मयोग – निष्काम कर्म – की निष्ठा के लिए किया था। बिना कर्म के वह निष्ठा तो लंगड़ी है, निरर्थक है। कर्म शब्द का प्रयोग (2/49) सकाम कर्म के अर्थ में किया था, उन श्लोकों का विवेचन देखने से यह स्पष्ट हो जायेगा। भगवान् का प्रयोजन था समुचित निष्ठा को जागृत कर देना। कामना को निकाल देने के लिए वह प्रेरणा-मात्र थी।

अर्जुन की दृष्टि में युद्ध घोर कर्म है। उसकी घोरता की चर्चा उसने अपने विषाद के प्रकट करने में की ही थी। दूसरा अध्याय अर्जुन ने कुछ समझा ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है। वह दार्शनिक उलझनों के योग्य ही न था। वह कर्म के लिए एक निष्ठा चाहता था, जिस अवलम्बन के मिलते ही वह रणक्षेत्र में कूद गया। कोरे दार्शनिक विचार उस पर कुछ प्रभाव न रखते थे।

अर्जुन स्पष्टवादी था और यदि अपने सखा कृष्ण के सामने भी वह अपने को न खोलता तो उसकी अपनी समस्या का हल ही कैसे मिलता? रोगी को तो डाक्टर के सामने रोग प्रकट ही करना होता है। शरणागत को तो अपनी व्यथा कहनी ही चाहिए। गुरु के सामने तो शिष्य को नि:संकोच होकर अपनी दुर्बलता रख ही देनी चाहिये, सच्चाई की यह माँग है। इसके बिना न तो दूसरा व्यक्ति हमारी सहायता कर सकता है, न ही हम उसे ग्रहण कर पाते हैं।

सो अर्जुन ने कह दिया, ''यह गड़बड़ शड़बड़ क्या कह रहे हैं? मेरी समझ में कुछ नहीं आया। आप तो मुझे और उलझाते जा रहे हैं। मुझे तो साफ-साफ कहियेगा। वह रास्ता दिखाइये जिस पर चलकर मेरा कल्याण हो। **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्',** तेरी शरण में हूँ। आज्ञा करो। हाँ, आज्ञा के साथ उसे निभाने की प्रेरणा और बल भी तो देना होगा।''

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥3॥

श्री भगवान ने उत्तर दिया – 'हे निष्पाप! मैंने पहिले ही इस श्लोक में दो प्रकार की निष्ठा का वर्णन किया है। ज्ञानयोग के अनुसार ज्ञानियों की निष्ठा होती है और कर्मयोग के अनुसार कर्मयोगियों की'॥3॥

निष्ठा वह विश्वास है, जो हमें रास्ता दिखा सके जीवन में आगे बढ़ने का। निष्ठा हमारी साधना का मार्ग है। दो ही मार्ग हैं – ज्ञान का मार्ग और कर्म का मार्ग। दोनों का वर्णन संक्षेप में दूसरे अध्याय में भगवान् ने कर दिया था।

क्या है ज्ञान का मार्ग? **ज्ञान** – समुचित विवेक, आत्मा और अनात्मा का विवेक, प्रकृति-पुरुष का विवेक। यही साधन है उनके लिये जो ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करते हैं। समुचित विवेक के द्वारा व्यक्ति प्रकृति के बन्धनों से मुक्त हो अपने आत्मभाव में प्रतिष्ठित हो सकता है – यह है मौलिक धारणा उस रास्ते पर चलने वालों की। **कर्म** गौण है। उपासना भी गौण है। वे उतनी ही मात्रा में ग्राह्य हो सकते हैं जितनी मात्रा में वे विवेक के सहायक हों। स्वतन्त्र रूप से उनकी कोई उपयोगिता नहीं है साधना की दृष्टि से ज्ञान के मार्ग में।

आत्मा अमर है, प्रकृति परिवर्तन शील है। हम आत्मा हैं। विकारों से नितान्त और सदैव परे हैं। विकार प्रकृति के धर्म हैं, हम आत्मा हैं, अविकारी हैं। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर सब प्रकृति के विकार हैं, अनात्मा हैं, हम इससे भिन्न हैं। हम इनके धर्मों और विकारों से अछूते हैं। वह है उस मार्ग का विवेक-प्रधान रूप। विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं के द्वारा इसे दृढ़ किया जाता है। निश्चय की ही कीमत है उस रास्ते में। निश्चय और अनुभूति का

अन्तर इतना धुन्धला है कि दोनों को अलग करना कठिन हो जाता है।

कर्म की निष्ठा! इस निष्ठा में कर्म साधन है आन्तरिक विकारों के शोधन का। काम, क्रोध, राग, द्वेष और अहंकार से निवृत्ति पाने का साधन कर्म ही है। समुचित निष्ठा, अर्थात् इस प्रयोजन के लिए साधन की दृष्टि से किया गया कर्म। यह सभी कुछ कर देता है, यह है कर्मयोगियों की मौलिक धारणा। विवेकादि ग्राह्य हैं उतनी मात्रा में जितना वह इस प्रकार से कर्म करने के लिये सहायक हो सकते हैं। अपने में वह गौण हैं। कर्म ही प्रधान है और उसमें भी निष्ठा जिसे भगवान् ने बुद्धि कहा है।

बिना समुचित निष्ठा के किया कर्म तो बन्धन का कारण होता है, यह तो पहिले कहा ही जा चुका है।

यह जो ऊपर कहा है वह कोरी कर्म की निष्ठा है। इसके अनुयायी हमें मिलते नहीं है।

भगवान् ने भक्ति की अलग से कोई निष्ठा नहीं कही। वास्तव में कर्म के बिना भक्ति प्रभाव शून्य होती है। केवलमात्र भावों की जो उड़ान होती है वह न आन्तरिक शोधन कर सकती है और न ही जीवन को बदल सकती है, किसी ऊँची चेतना की जागृति के द्वारा; और कर्म बिना भगवान् के अवलम्बन के, बिना यज्ञेश्वर की ऊँची भावना के दूभर हो जाता है, नीरस हो जाता है। कर्म के प्रति वह कोरी निष्ठा रह भी सकती है बिना प्रभु की भक्ति के, यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है। अत: कर्म की निष्ठा वास्तव में भक्ति की ही निष्ठा है। वह प्रभु-भक्तों की निष्ठा है। इन दोनों को अलग करने से दोनों प्राणहीन हो जाते हैं।

ज्ञान का मार्ग कर्म का निराकरण करता है परन्तु यह मार्ग कर्म को प्रधानता देता है। प्रधान अवलम्बन ही कर्म है। इसके बिना बुद्धि और भक्ति दोनों निरवलम्ब हो जाते हैं। अत: इस निष्ठा को कर्म की निष्ठा या कर्मयोग कहा। भक्ति की अलग से कोई निष्ठा नहीं हो सकती और न ही बुद्धि की, यह स्पष्ट हो ही गया है। साधना में जो परस्पर विरोध है वह स्पष्ट ही है। जीवन के प्रति ये दो निष्ठायें दो दृष्टिकोणों की सूचक हैं। ज्ञानमार्ग का अवलम्बन लेने वाला जीवन को हेय कहता है। कर्म उसकी दृष्टि में हेय है। लौकिक नाते और तदाश्रित कर्त्तव्य सभी हेय हैं। वह सभी प्रकृति के खेल

हैं, यदि हम शंकर-सिद्धान्त को उस मार्ग का प्रतिनिधि मानें तो यह सभी मिथ्या हैं। मैं मिथ्या, जगत् मिथ्या! जगत् का सौजन्य, स्नेह, सौन्दर्य, सेवा सभी मिथ्या! भगवान् मिथ्या और उसकी भक्ति मिथ्या। सत्य है केवल ब्रह्म और वह मन वाणी से परे है। वह स्वानुभवस्वरूप है। हम ऐसे अद्वैत में हैं जो स्वयं नहीं है। समूचे जीवन का सभी प्रकार से निराकरण ही इस साधना का स्वरूप है। वहाँ अन्वय है तो व्यतिरेक के लिए, पूर्ण व्यतिरेक के लिए।

कर्म की निष्ठा? जीवन को स्वीकार करना है। जीवन की सभी गतिविधियों को साधना रूप में स्वीकार करना है। प्रभु से स्वीकार करवाना है और उस यज्ञेश्वर प्रभु के लिए स्वीकार करना है। संसार के नाते और उनके कर्त्तव्यों को, समाज में अपनी स्थिति और उसकी देनदारियों का प्रभु की आज्ञा के रूप में 'हुक्म' के रूप में स्वीकार करना है और उसकी पूजा समझ कर उन्हें पूरा करना है। सुख और दु:ख को भी, संसार के राग और द्वेष को भी ऐसे ही स्वीकार करना है। यहाँ स्नेह भी है, सौजन्य भी है, सेवा भी, पर है सभी उसी से और उसी (प्रभु) के लिये।

इस निष्ठा के अनुसार तो सभी प्रभु के रूप हैं। उसके अतिरिक्त और यहाँ कुछ है ही नहीं। स्नेह भी उसी का है। वही देता है प्यार और वही लेता है। वही प्रेमस्वरूप है। वही कर्म है। वही गति है। उसी का संकल्प ही इस सारे खेल का करने वाला है। **'करन करावन आपे नाथ'** वही है। **'वासुदेवः सर्वमिति'** यह इस निष्ठा का अटूट गहरा साकार अद्वैत है और यह अनुभवगम्य है। हम उस प्रभु में निवास करते हैं, यह प्रवृत्ति जीते-जागते होती है और वह इसमें निवास करता है, यही द्वैत में अद्वैत है और अद्वैत में द्वैत। कैसी मधुर, गम्भीर वह सर्वतोन्मुखी निष्ठा है जिसमें किसी का निराकरण नहीं। सभी श्याममय हो जाता है, राममय हो जाता है, सत्यं-शिवं-सुन्दरं का साम्राज्य हो जाता है।

इतना आकाश-पाताल का अन्तर है इन दो निष्ठाओं में। एक का साधना-क्षेत्र निरंजन, शान्त वनस्थल है और दूसरी का जीवन की सामान्य परिस्थितियाँ। एक आश्रित है अपने विवेक के, संयम के, तप के बल पर, दूसरी निर्भर है प्रभु की कृपा पर। एक की साधना है भागना, अपने को आँच से बचाना, दूसरी की साधना है अपने को गरक कर देना, डुबो देना, मिटा

देना उसी में, उसी के लिए। माथा ही नहीं, कण-कण टेक देना उसके सामने हमेशा-हमेशा के लिए।

भगवान् कहते हैं इन दोनों निष्ठाओं की सिद्धि एक ही है। पर जो साधना का भेद है उसे समझकर अपने ही रास्ते पर पूरी तरह से चलना, उसी तरह से सोचना और बरतना साधना की अग्रगति के लिए आवश्यक है। सम्मिश्रित निष्ठा, निष्ठा ही नहीं रहती। हमारे पाँव डगमग डोलने लगते हैं। अपनी निष्ठा के अवलम्बन का अर्थ यह नहीं कि हम दूसरे की निष्ठा का खण्डन करें अथवा तिरस्कार करें। हमें उसे स्वीकार करना है पर अपने लिए नहीं।

आज अध्यात्म के क्षेत्र में गड़बड़ दीखती है। विचारधारा ज्ञाननिष्ठा की और मार्ग कर्मनिष्ठा का, बहुत लोगों में देखने को मिलता है। यह लाभप्रद तो दीखती नहीं। ज्ञानमार्ग की विचारधारा विचारों के जगत् में तो सभी कुछ का मिथ्यात्व से निराकरण करके छुटकारा दिला देती है। यह विचारधारा बौद्ध विचारधारा की समरूपा है। आज हिन्दू-समाज में खूब प्रचलित विचारधारा यही है। जीवन के प्रति एक वैराग्य हिन्दू समाज में स्थिर धारणा बनी हुई है पुराने विचार के लोगों में। परन्तु तदाश्रित साधना तो खेल नहीं। अतः एक नैराश्य छाया रहता है। 'धन्य हैं वे लोग जो घर छोड़ पाते हैं, हम तो इस कीचड़ में पड़े हैं।' इस विचारधारा का परिणाम कितना तमोमय हो रहा है। जो साधना हो सकती है – व्यक्ति जिसके योग्य है उसे तो वह अपनाता नहीं और जिसे वह ग्रहण नहीं कर सकता उसके लिए पश्चात्ताप करता है। व्यर्थ में जाती हैं जीवन की घड़ियाँ और अकार्थ जाते हैं वह पश्चात्ताप के आँसू।

संन्यास की निष्ठा सहज सुगम निष्ठा नहीं है। कर्म की निष्ठा स्वाभाविक है। यह बताने के लिए कहा –

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥4॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥5॥

'कर्म के आरम्भ न करने से मनुष्य नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं कर लेता और न संन्यास मात्र से सिद्धि को प्राप्त कर लेता है'।।4।।

'निश्चय ही कोई भी क्षण भर के लिए भी, कभी भी बिना कर्म किये नहीं रह पाता। सभी से प्रकृति के गुणों के द्वारा बलात् कर्म करवाया जाता है'।।5।।

अर्जुन की गलत समझ को दूर करने का प्रयास करते हैं। 'ज्ञान को जो तू कर्म से बड़ा समझता है, वह ऐसे नहीं है। मेरा कहने का कदापि यह तात्पर्य न था।'

नैष्कर्म्य वह अवस्था है जब व्यक्ति कर्म के बन्धन से सदैव के लिए छूट चुका होता है। जब करने पर भी उसमें संस्कार का निर्माण नहीं होता, कर्तृत्व का नितान्त अभाव हो जाने के कारण। यह अवस्था तो सिद्धावस्था है।

कर्म के बाह्य त्याग से – स्वरूप से कर्म छोड़ देने से यह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती। कर्म दो प्रकार के हैं – वह जिन पर हमारी जागृत चेतना का पूरा अधिकार है। हम चाहें तो वह होते हैं न चाहें तो नहीं होते। दूसरा वह कर्म जिन पर हमारा अधिकार नहीं है। हम न चाहें तो भी वह चालू रहते हैं – हमारी हृदय की गति, पाचन-क्रिया और भीतर मानसिक हलचल। प्रायः सामान्य व्यक्ति की मनोगतियाँ उसके अधिकार में नहीं होतीं, न ही विचार और न भाव।

कर्म तो बहुत सूक्ष्म होता है। बाह्य-कर्म के न होने पर भी भीतर कर्म अनचाहे और अनजाने होता रहता है। इन दूसरे प्रकार के कर्मों का तो स्वरूप से त्याग असम्भव होता है। दूसरा, चेष्टा करके कर्म को रोकना भी कर्म होता है। वह भी संस्कार बनाता है। प्रायः करने की अपेक्षा रोकने से अधिक गहरा संस्कार बनता है।

नैष्कर्म्य बाह्य-कर्म परित्याग का परिणाम नहीं है। बाह्य परित्याग तो तैयारी मात्र है। खेत को तैयार करने का परिणाम पौधा नहीं होता। वह तो बीज से पैदा होता है। ज्ञान के मार्ग में तैयारी मात्र होती है कर्म का यथासम्भव बाह्य-त्याग। उससे ही निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती। नैष्कर्म्य तो भीतर जगने वाली ऊँची अहंकार से परे की आत्म-चेतना की जागृति का परिणाम होता है।

यदि न करने से बन्धन-रहित हो सकते तो आलसी लोग और जड़ जीव जो चेष्टा रहित हैं वह क्यों न मुक्त हो जाते? पत्थर तो सबसे बड़ा सिद्ध होता।

कर्म का अभाव मुक्ति का कारण समझना भारी भूल है। इसी भूल का कभी बहुत प्रचार रहा है। उपनिषदों का साहित्य और पौराणिक गाथाएं संन्यास-धर्म का खूब गुणगान करती हैं। किसी समय ऐसी धारणा प्रचलित हो गई थी कि संन्यास लेने मात्र से ही कल्याण हो जाता है। गृहस्थी का तो बन्धन छूट ही नहीं सकता। अतः मरने से पूर्व शिखा-सूत्र के परित्याग के उदाहरण मिलते हैं। क्षुरिकोपनिषद् इस साहित्य का बहुत अच्छा परिचायक है।

शिखा-सूत्र का परित्याग और उसके साथ ही गृहस्थी के लिए विहित कर्मों का परित्याग-मात्र व्यक्ति को मुक्त नहीं कर सकता। आश्रम के परिवर्तन से आश्रमी का रूपान्तर नहीं हो जाता। उसके संस्कारों का क्षय नहीं होता।

तात्कालिक मुक्ति की धारणा के मूल में कल्याण के वास्तविक स्वरूप की अज्ञानता छिपी है। जैसे किसी रस्सी को तोड़ा जाता है वैसे बन्धन के तन्तु को तोड़ना है, ऐसा सोचा जाता है। पर यह काम तो क्षणिक है नहीं। जब तक संस्कारों का नितान्त क्षय नहीं होता, जब तक वासना निर्मूल नहीं हो जाती, जब तक व्यक्ति काम-क्रोधादि से रहित नहीं हुआ, जब तक अहंकार का क्षय नहीं हुआ तब तक मुक्ति कैसी? वह तो मृगमरीचिका ही है। वह ज्ञान की आने जाने वाली झलक मात्र ही है। बिना इस आन्तरिक परिशोधन के ज्ञान टिकाऊ नहीं हो पाता।

सामाजिक बन्धनों का और देनदारियों का विच्छेद कैसे कर सकता है आन्तरिक शोधन? आसक्ति बाहर तो नहीं रहती, वह तो हमारे हृदय में, हमारी बुद्धि में निवास करती है। वस्तुएं तो उसके प्रकट होने के लिए आधार मात्र हैं। वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध छोड़ने से एक दम से उस भीतर की आसक्ति की योग्यता का अभाव नहीं होता है, यह हम जानते हैं। वह छिप जाती है। बस, इतना ही सम्भव है। यदि छोड़ने से ही मुक्ति होती तो सभी गेरुवा वाले मुक्त होते।

बाहर के छोड़ने से घर छूटता है, भीतरी घर की आसक्ति नहीं छूटती। वास्तव में जब तक छोड़ने की प्रेरणा है तब तक बन्धन है। जब तक छोड़ने का अभिमान है तब तक भी बन्धन है।

छोड़ने और पकड़ने से छूटे हुए ही सिद्धि पाते हैं। उनके लिए न कुछ छोड़ने को है और न पकड़ने को।

क्षण भर के लिए भी तो कोई व्यक्ति कभी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। गति तो सृष्टि का मौलिक रूप है। परमाणु भी तो गतिरूप ही है।

गति के रूप में ही शक्ति का आविर्भाव होता है। शक्ति ही प्रकृति का स्वरूप है और गति शक्ति का प्रादुर्भाव। अतः, यह सभी गतिमय है। हमारे तन का कण-कण, इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि – सभी गतिमय हैं। जहाँ प्रकृति में निश्चलता है वहाँ गति एक रूप है। जैसे नदी प्रवाह रूप होते हुए भी एक ही दिखती है क्योंकि उसकी धार नहीं बदलती। मन निश्चल प्रतीत होता है क्योंकि उसके प्रवाह का मार्ग नहीं बदलता। वैसी निश्चलता, नितान्त निश्चलता, मृत्यु में भी नहीं। वहाँ भी तो मन, बुद्धि रहते ही हैं। वैसी निश्चलता हो सकती है केवलमात्र प्रलय में, प्रकृति की साम्यावस्था में। वहाँ सभी कुछ गतिशून्यता के गर्भ में विलीन रहता है। **नासदीय** – सूक्त उस अवस्था की कल्पना करता है।

'तम एवासीत् तमसा मूलमग्रे।'

'अन्धकार ने ही आगे से अन्धकार को ढांप रखा था।'

इसका अर्थ है जब तक हम प्रकृति में हैं अर्थात् हमारी चेतना मन-बुद्धि में आती है, कर्म करना ही होगा। यदि कर्म ही बन्धन रूप है तो हमें बन्धन होगा। अतः मुक्ति का उपाय हो सकता है केवलमात्र प्रकृति से परे हो जाना। उस अवस्था को ही कैवल्य-अवस्था कहा है। यही सांख्य का आदर्श है। यही ज्ञानयोग की सिद्धावस्था है। इसीलिए तो कर्म के बाह्य त्याग का प्रतिपादन होता है ज्ञान के मार्ग में।

कैसी पहेली है! कर्म का हम परित्याग कर नहीं सकते। कर्ममात्र बन्धन है, तो कर्म के परित्याग से छुटकारा कैसे सम्भव है? कर्म का परित्याग कल्याण का हेतु हो सकता है या नहीं, इस बात का तो प्रश्न ही नहीं रहता।

एक प्रकार से हो सकता है कर्म का परित्याग। हमारी आत्मा निष्कर्म है। वह गति तथा विकार से रहित है। यदि हम आत्मभाव में प्रतिष्ठित हो जायें

तो हम कर्म-रहित और बन्धन-रहित हो जायेंगे। यही सांख्य का बन्धन से मुक्त होने का उपाय है।

बाह्य-कर्म का त्याग उस साधना में सहायक है इस आन्तरिक अवस्था को लाभ करने में।

हमसे प्रकृति के गुणों के द्वारा बलात् कर्म करवाया जाता है, **'चलं च गुणवृत्तम्'** गतिशीलता गुणों का स्वभाव है, ऐसा योगदर्शन कहता है। हमारे मन, बुद्धि आदि सब गुणमय हैं। कर्म ही उनका स्वरूप है, गति ही उनका सहज धर्म है। अतः जब तक मन, बुद्धि है तब तक कर्म है।

जब ऐसा लगता है कि हम कुछ नहीं कर रहे हैं तब भी मन आदि में क्रिया होती ही रहती है। वह क्रिया ऐसी स्वाभाविक है कि उसका हमें भान भी नहीं होता। जैसे नदी के किनारे रहने वालों को नदी का शोर नहीं सुनाई देता! जब बाढ़ आती है तभी आवाज़ सुनाई पड़ती है। ठीक ऐसे ही जब विशेषगति होती है तभी हमें पता चलता है कि कर्म हो रहा है।

दूसरे, हमें तब भान होता है कि हम कुछ नहीं कर रहे हैं जब हमारी चेतना, प्रकृति से परे, मन, बुद्धि, अहं से परे, साक्षीभाव में स्थिर हो जाती है। कर्तृत्व का भान नहीं होता। मन, बुद्धि आदि में क्रिया की प्रतीति होती है, परन्तु अपने में कर्तृत्व का भान नहीं होता। इस अवस्था में व्यक्ति कर्म के बन्धन से मुक्त हुआ होता है। यह कर्म की निष्ठा वालों का आदर्श है। इसमें कर्म का स्वरूप से त्याग न होने पर भी कर्म का बन्धन नहीं। करता हुआ भी व्यक्ति अकर्ता है। जल में कमल की भाँति है और इसी के अनुसार ही उसकी साधना होती है। वह कर्म-त्याग की माँग नहीं करती। कर्म को समुचित निष्ठा से करने से ही यह अवस्था प्राप्त होती है। भगवान् सभी कुछ करते हुए भी अकर्ता हैं, इसी प्रकार से उनका भक्त हो जाता है। ऐसा भक्त भगवान् को ही प्राप्त करता है।

गीता के 18वें अध्याय में जो कहा है –

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥18/40॥

कि 'पृथ्वी पर या देवलोक में देवताओं में भी कोई ऐसा सत्व नहीं है जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो' इसके अर्थ को ऊपर लिखित के अनुसार समझना चाहिए।

जो मन-बुद्धि से परे है वह सत्व है। वह आत्मभाव है। जो मन-बुद्धिगत चेतना है वह इन तीन गुणों के नियमों में बंधी हुई है। मन, बुद्धि आदि गुण रूप होते हुए गुणों से कैसे मुक्त हो सकते हैं? जब हमारी चेतना इनमें आती है तो इनके नियमों के अनुकूल ही व्यापार करती है। इनकी सीमायें चेतना की सीमायें हो जाती हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा इन गुणों से परे नहीं जा सकती। वैसा सोचना तो गीता की सारी विचारधारा का ही निराकरण करना होगा। अतः वह गलत होगा।

अब इसी सत्य को साधना के क्षेत्र में लागू करने के लिए कहा –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥6॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥7॥

'जो कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है वह मूर्ख है। उसे मिथ्याचार वाला कहा जाता है'॥6॥

'हे अर्जुन! जो मन से इन्द्रियों का संयम करके कर्मेन्द्रियों से अनासक्त होकर, कर्मयोग को करता है, वह विशेषता को लाभ करता है – अर्थात् वह श्रेष्ठ है'॥7॥

दो तस्वीरें दिखाई हैं और उनकी तुलना की गई है। कर्म, बन्धन का कारण है, विषय-भोग दुःख के स्रोत हैं, ऐसे सोचता हुआ एक व्यक्ति अपने को कर्म से और विषय-भोग से रोके रखता है। परन्तु न तो कर्म की लालसा जाती है और न ही उसके अधीन विषयों के उपभोग की। कर्म करके, धनोपार्जन करके ही तो विषय भोगे जाते हैं। वह करता नहीं, परन्तु उसका मन विषयों की कल्पना करता रहता है।

जब तक व्यक्ति के भीतर लालसायें रहती हैं, रजोगुण की प्रधानता रहती है, तब तक उसकी ऐसी ही गति होती है। जितना कर्म कम होता है, उतनी ही भीतर मन की गति तीव्र हो जाती है। जितना ही विषयों से दूर भागा जाता है, उतना ही मन विषयों के पीछे भागता है, चिन्तन में रहता है।

उपभोग से विरक्ति के द्वारा विषय की लालसा नहीं जाती है। वासना तो बन्दूक में भरे बारूद की तरह होती है। उसका एक सीमा तक क्षय किये बिना चैन हो ही नहीं सकता। बुद्धि समझ-बूझकर शान्त हो सकती है, परन्तु प्राण के विवेक है नहीं, वह तो बिल्कुल जड़ है। उसमें छिपी प्रवृत्ति को तो धीरे-धीरे शान्त किया जा सकता है। उसका स्वभाव बदलना होगा, परन्तु वह एकदम से तो बदल नहीं सकेगा।

जैसे एक चंचल घोड़े को शान्त करने के लिए उसे थोड़ा बहुत थकाना आवश्यक होता है, ऐसे ही इन्द्रियों के शमन के लिए उपभोग भी एक सीमा तक आवश्यक होता है। यही व्यावहारिक सफलता का अनुभव है।

व्यास जी ने कहा है – **'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति'** कि कामना उपभोग के द्वारा शान्त नहीं होती, यह ठीक है। नितान्त शान्ति तो उपभोग के द्वारा नहीं होती। कामी व्यक्ति का काम बढ़ता है उपभोग से। जो इस चाह से भोग करता है कि उपभोग से नितान्त शान्ति हो जायगी, वह भ्रम में है। उनका वेग कम करने के लिए, संस्कार को क्षीण करने के लिए किया उपभोग सहायक होता है साधना में। नितान्त शान्ति तो प्रभु-चरणों को लाभ करके ही होती है। परन्तु उस ओर बढ़ते हुए सहज प्राप्त भोगों को भोगते जाने से रास्ता खुलता जाता है, यही अनुभव बताता है। एकदम से हठात् किया संयम तो चित्त को इतना व्यथित कर देता है कि प्रभु के चरणों की ओर बढ़ना भी कठिन हो जाता है। वैसा करने से न तो संयम ही सिद्ध हो सकता है और न ही प्रभु की ओर बढ़ा ही जा सकता है। बीच का मार्ग ही स्वर्णसूत्र है।

ऐसे व्यक्ति को, जो हठात् संयम करने पर आरूढ़ है, मिथ्याचारी कहा है। मिथ्याचारी का अर्थ है – मिथ्या आचार वाला। उसका बाह्य व्यवहार आन्तरिक अवस्था का सूचक नहीं है। वह बाहर से संयमी है, परन्तु भीतर से दूसरों की अपेक्षा अधिक असंयमी है, विषयी है।

इस प्रकार के लोग दया के पात्र हैं। वे भ्रम में पड़े हैं, मूर्ख हैं। ये संयम के रहस्य को नहीं जानते। अतः भीतर से वे दिन-प्रतिदिन और मैले होते जाते हैं। वे जीवन की सरसता और सौम्यता को खो देते हैं। अपनी हठधर्मिता के कारण और नासमझी के कारण अपने मन और बुद्धि को हानि पहुँचाते हैं।

कभी-कभी भीतर का संघर्ष सुप्तचेतना में चला जाता है। व्यक्ति को लगता है उसका मन शान्त है, परन्तु फिर भी भीतर गहरे में बेचैनी प्रतीत होती है। भीतर मनोग्रन्थी पड़ जाती है जो अलक्षित ही उसके व्यवहार को और दूसरों के व्यवहारों को प्रभावित किया करती है। (इस विषय में अधिक जानकारी के लिए देखिए, गीता-विमर्श, दूसरा अध्याय, श्लोक 59)।

बहुत से देखने में 'धर्मात्मा' आदमी इसी कोटि के हैं। वास्तव में सामान्य व्यक्ति उनसे अधिक निर्मल होते हैं।

7वें श्लोक में दूसरी, इसके विपरीत तस्वीर दिखाई है। वह अनुकरणीय है। वह कर्मयोग के साधक की तस्वीर है।

जो इन्द्रियों का संयम करके कर्मयोग करता है, वह बहुत अच्छा है। कर्मयोग करने का अर्थ है, प्राप्त कर्म को समुचित निष्ठा से करना। प्राप्त भोगों को समुचित निष्ठा से भोगना भी इसी के अन्तर्गत है। ये दोनों बातें साथ-साथ जाती हैं। जो बुद्धि प्राप्त कर्म को स्वीकार करती है वह प्राप्त भोगों को भी स्वीकार करती है। प्राप्त कर्म को स्वीकार किया जाता है कर्त्तव्य रूप में और प्राप्त भोगों को उसके परिणाम के रूप में। फल की आकांक्षा से कर्म नहीं किया जाता। अतः प्राप्त फल से राग नहीं होता और न द्वेष ही होता है। समत्वबुद्धि की यही रीति है। सुख-दुःख में समता का और क्या अर्थ है? कर्म तथा फल के प्रति समत्व ही तो कर्मयोग का मूल मन्त्र है। यह रास्ता है जीवन को समग्ररूप में स्वीकार करने का।

पिछले श्लोक में जिस व्यक्ति का वर्णन है वह कर्मफल को स्वीकार करने को तैयार नहीं। वह न कर्म को ही स्वीकार करता है और न कर्मफल को ही। वह दोनों से भागने की चेष्टा करता है और परिणामस्वरूप दुःखी होता है।

अस्तु, वह कर्मयोग कैसे करता है? वह भोग कैसे भोगता है? उसके कर्म में और भोग में संयम रहता है। संयम का अर्थ है लगाम – जैसे घोड़े की होती है। घोड़े के संयम का अर्थ यह नहीं कि उसे अस्तबल से ही बाहर न निकाला जाये। इसका अर्थ है उसकी गतिविधि का समुचित नियन्त्रण। वह कर्म करता है परन्तु उसमें बह नहीं जाता। वह तामसी कर्ता नहीं बन जाता अपने ज्ञान को खोकर (अध्याय 18, 22)। कर्म भूत बनकर उसके सिर पर सवार नहीं हो पाता। वह मनोयोग से कर्म करता है पर उसे छोड़ सकता है

जब चाहता है। उसके लिए भूलना कठिन नहीं होता। इसी प्रकार से भोग भोगता हुआ वह उसमें बहता नहीं है। भोग में वह बाकी सभी बातों को भूलकर भोग में लिप्त नहीं हो जाता। भोगने की लालसा का वह दास नहीं बनता। उसका संवरण उसके हाथ में होता है। इस प्रकार का भोग उसमें लालसा को जगाता नहीं, वासना को क्षीण करता है।

यह क्योंकर सम्भव होता है? क्योंकि वह अपनी इन्द्रियों को मन के द्वारा काबू किये रहता है। मन लगाम की तरह काम करता है।

वह कर्मेन्द्रियों का उपयोग करने में घबराता नहीं क्योंकि वे ही तो कर्मयोग के साधन हैं।

वह कर्म कैसे करता है? वह भोग कैसे भोगता है? असक्त होकर, अनासक्त हुआ। न कर्म से चिपकता है, न भोग से चिपकता है। उसे पकड़ने का चाव नहीं होता। छोड़ने की लालसा नहीं होती, न खींच होती है। करना है इसलिये करता है। जोश अर्थात् उबाल से रहित होता है, पर कर्म को मनोयोग से करता है, क्योंकि वही तो उसके लिये साधन है।

ऐसा व्यक्ति विशेष है। वह पहले वर्णित व्यक्ति से बहुत आगे निकल जाता है।

अर्जुन की समस्या का हल है मानो इन दो तस्वीरों में। युद्ध न करके अर्जुन मन से युद्ध की कल्पना में व्यस्त हो जायेगा। जीत से प्राप्त हो सकने वाले भोगों की कल्पना उसे भटकायेगी। वह अभी वासना से रहित नहीं है। वह बहुत प्रबल है और उसे बेचैन कर देगी। युद्ध न करके वह मिथ्याचारी हो जायेगा। जैसा भीतर है वैसा बाहर न रहेगा।

यदि वह कर्मयोगी की तरह युद्ध को प्राप्त कर्म समझ करके स्वीकार कर सके और उसे समुचित निष्ठा से करे तो वह कल्याण के मार्ग पर विशेषरूप से आरूढ़ हो जायेगा। जिसे उसने घोर कर्म समझा है वह उसके लिए कल्याणप्रद होगा।

यह दो श्लोक संन्यास के मार्ग में सबसे बड़े खतरे को कितना स्पष्ट कर देते हैं। इसी खतरे को दृष्टि में रखते हुए संन्यास को गार्हस्थ्य और वानप्रस्थाश्रमों के बाद में ही लेने का शास्त्र ने विधान किया है। गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ में हम कर्म और भोग के द्वारा वासनाओं के स्थूलरूप का तो प्रधानतया क्षय कर ही सकते हैं। शरीर की शक्तियाँ भी बहुत दौड़धूप के

लिए उपयुक्त नहीं रहती हैं। उस अवस्था में कर्म का स्वरूप से परित्याग भी इतना परेशानी का कारण नहीं होता। वास्तव में मानवशास्त्र के अनुसार संन्यास तो देहत्याग के लिये ही विहित है, ऐसा प्रतीत होता है। समुचित निष्ठा से जीते हुए जीवन की गाड़ी को जितने दिन खिंचे सो खींचना–ऐसा उद्देश्य प्रतीत होता है।

परन्तु वह विचारधारा तो मानो सर्वव्यापी होकर हिन्दू–समाज में छा सी गई हो, ऐसा दीखता है।

आगामी श्लोक में भगवान् स्वयं अर्जुन के लिए सन्देश देते हैं ऊपर कहे अनुसार ही –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥8॥

'निश्चितरूप से (कहता हूँ) तुम कर्म करो। कर्म अकर्म से बढ़कर है। बिना काम के तो तुम्हारी शरीर यात्रा भी न चलेगी॥8॥

अर्जुन ने पूछा था **'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'** (श्लोक 2) – निश्चितरूप से एक बात कहो जिससे मेरा कल्याण हो'। उसका प्रभु उत्तर देते हैं – 'नियतं कुरु कर्म त्वम् – निश्चित रूप से मैं कहता हूँ, तुम काम करो।' स्पष्ट ही यह शब्द उस प्रश्न का उत्तर है। नियत शब्द के लिये और–और अर्थ ढूँढने की क्या आवश्यकता है? जो तात्विक–विवेचन ऊपर किया है उसका निचोड़ है यह शब्द। अर्जुन के लिये स्पष्ट निर्देश है। भगवान् चाहते थे वह कर्म करे। अर्जुन को जो भ्रम हुआ था उसी के उन्मूलन के लिए ही तो यह प्रसंग चला था।

और स्पष्ट कर दिया, 'काम न करने से, करना अच्छा है'। युद्ध न करने से युद्ध करना अच्छा है। क्यों अच्छा है यह अभी–अभी तो कहा। वे दो तस्वीरें जो अर्जुन के सामने रखीं वे इसी प्रयोजन से थीं। कर्म–अकर्म के सैद्धान्तिक–विवेचन के द्वारा भी तो इसी परिणाम पर पहुँचे थे। कर्म का मार्ग ही सहज स्वाभाविक, प्रकृति के अनुकूल मार्ग है। अर्जुन के लिए वही कल्याणकर है।

अकर्म व्यक्ति को कहीं ले जा नहीं सकता। उसमें अपना कोई धनात्मक–बल नहीं। न ही वास्तव में नकारात्मक बल है उसमें। साधन की

दृष्टि से वह असम्भावना है – केवलमात्र आंशिक सम्भावना है। वह झमेला है। कर्म में धनात्मक-बल है। वह संस्कार क्षीण करेगा, निर्मल करेगा, बन्धन काटेगा। हाँ, समुचित निष्ठा चाहिये, सो तुम पैदा कर सकते हो। समझदार हो। मानो ऐसा निर्देश भगवान् अर्जुन को कर रहे हैं। कितने स्पष्ट और ज़ोरदार शब्द हैं।

एक और लौकिक युक्ति देते हैं। पहिले भी तो ऐसी बात कही थी। (2/35)

'तेरी तो शरीरयात्रा भी नहीं चलेगी यदि काम छोड़ देगा।' इसका स्पष्ट अर्थ यही है। तू क्षत्रिय है। युद्ध नहीं करेगा तो क्या भिक्षा मांगेगा? क्या किसी की दासता करेगा? क्या पराश्रित होकर जीवन व्यतीत करेगा? कैसे शरीर का निर्वाह करेगा?

यह कहा जा सकता है कि अर्जुन ने तो कहा था –

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके॥2/5॥

कि 'इस लोक में भिक्षा माँग खाना अच्छा है गुरुजनों को मारने की अपेक्षा'। पर भगवान् तो अर्जुन को जानते थे। वे तो शब्दमात्र ही थे जो अर्जुन ने विषाद के आवेग में कह डाले थे। वह अपने को भिक्षापात्र लेकर किसी के द्वार पर **'भिक्षां देहि, भगवति'** की पुकार लगाने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। वह वीर था, स्वाभिमान कूट-कूट कर उसके कण-कण में भरा था। भला अर्जुन भिक्षा मांगता? यह असम्भव था।

भगवान् ने इस बात को अर्जुन के सामने रख दिया। सोच लो। क्या कौरवों के भिक्षान्न पर जीवोगे? तैय्यार हो? जैसे पहले उसके स्वाभिमान को उकसाया था यह कहकर कि लोग तो कहेंगे कि अर्जुन डर के मारे युद्ध-क्षेत्र से भाग गया, ठीक वैसे ही।

भगवान् दार्शनिक बातें करते हुए भी न अर्जुन को ही भूलते हैं और न केवलमात्र आकाश में ही उड़ान भरते हैं। वे तो एक दक्ष प्रवक्ता की तरह, एक सिद्ध शास्ता की तरह अर्जुन को प्रभावित करके सन्मार्ग पर लाने के लिए तुले हैं।

इसके उपरान्त आगामी श्लोकों में कर्मसाधना के आधार-भूत यज्ञ के तथ्य का विवेचन आरम्भ करते हैं। बिना यज्ञ की भावना के कर्म की निष्ठा तो नीरस और निर्जीव निष्ठा रह जाती है। कर्म भक्ति-भावना से रहित ही

रह जाता है। वह यज्ञेश्वर से युक्त करने का साधन नहीं हो पाता है। 9वें श्लोक से आरम्भ होकर यह प्रसंग 16वें श्लोक में समाप्त होता है। यह आठ श्लोक विशेष महत्त्व के श्लोक हैं। यज्ञ के बारे में समुचित बोध यहाँ प्राप्त हो जाता है। फिर हम यज्ञेश्वर का अर्थ समझने के लिए तैय्यार हो जाते हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥9॥

'यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्म के अतिरिक्त कर्ममात्र इस लोक में बन्धन का कारण होता है। अतः आसक्ति को छोड़कर, हे अर्जुन! तू यज्ञ के निमित्त कर्म कर'॥9॥

यज्ञ का तत्व गूढ़ तत्व है। यज्ञ का अर्थ सामान्यतया पूजन होता है। परन्तु पूजा कहने से तो यज्ञ के एक ही भाग की अभिव्यक्ति होती है और वह गौण है।

होम, यज्ञ के पूर्ण रूप को प्रकट कर देता है। अग्नि प्रज्वलित की जाती है। देवता को बुलाया जाता है। उसे आहुति दी जाती है। उस आहुति से देवता पुष्ट होते हैं और पुष्ट होते हुए देवता यज्ञ करने वाले को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार से परस्पर पुष्ट करते हुए देवता और प्रजा आगे बढ़ते हैं। देवता भोग प्रदान करते हैं। मनुष्य उनके दिए भोगों में से उन्हें हिस्सा देता है जिससे वे पुष्ट होते हैं। यह क्रम चलता रहता है।

इस विश्व में सभी कुछ परस्पर आश्रित है। जो अलग-अलग स्वतन्त्र निरवलम्ब सत्ता की प्रतीति होती है वह दृष्टि के मान्द्य के कारण। हम गहराई में जा नहीं सकते, इसलिए। मनुष्य मकान में स्वतन्त्र रूप से रहता है। सोचता है मैं कमाता हूँ, खाता हूँ। किसी का क्या लेता हूँ। क्या देता हूँ? मेरा क्या वास्ता किसी से? क्या आभार है किसी का? पर ऐसा सोचना नासमझी है। जिस मकान में वह रहता है उसके बनाने में अनेक पुरुषों ने योग दिया है। मजदूरों ने काम किया है। उनके पास औजार थे। वे औजार कारखाने में बने थे। उस कारखाने को बनाने में अनेकों स्थानों के अनेकों लोगों ने योग दिया था। कहाँ से किस प्रकार से लोहा खोदा गया, फिर वह ढाला गया। वह भी कारखाने में और उसमें अनेकों व्यक्तियों का योग था.... सोचते-सोचते यही समझ में आता है कि मनुष्य का तन्तु-तन्तु इस

विश्व से सटा हुआ है। वह गेहूँ की रोटी खाता है। उसकी भूख की तृप्ति के लिए कितने ही लोगों के सहयोग की आवश्यकता थी। वह किसान जिसने गेहूँ बोया है, उसके भरण-पोषण में योग देने वाले सभी लोग, उस गाँव के शिल्पकार, कपड़ा बेचने वाले, नमक, तेल बेचने वाले और उस के पिता-पुरखे भी सभी उस तस्वीर में आ जाते हैं। हम अकेले नहीं है। हमारी सत्ता ही विकास की अपार परम्परा का परिणाम है। हम तो उस बहती नदी में एक कणिका हैं, अनन्त शृंखला की एक नन्हीं कड़ी हैं। जो अपने को समष्टि से अलग देखता है वह कुछ नहीं देखता।

हम दूसरों पर अवलम्बित हैं। दूसरे इसी प्रकार से आंशिक रूप से हम पर अवलम्बित हैं। मनुष्य, मनुष्य पर अवलम्बित है। पशु मनुष्य पर और मनुष्य पशु पर। वनस्पति-जगत् पशु पर और पशु वनस्पति-जगत् पर। वनस्पति-जगत् मनुष्य पर और मनुष्य वनस्पति-जगत् पर। यह अवलम्बन का ताना-बाना इतना पेचीदा है कि इसे सोचते-सोचते व्यक्ति का मस्तिष्क चकरा जाता है।

और क्या होता है इस परस्पर के अवलम्बन से? इस अवलम्बन-परम्परा से ही तो यह विश्व की लीला चलती है। इसके बिना तो यह खेल चल ही नहीं सकता है। पल भर में कूड़ा हो जायेगा।

मजदूर, मजदूरी करना छोड़ दे तो समाज का सारा ढाँचा बिगड़ जाता है। शिक्षक अपना काम छोड़ दे अथवा समाज का कोई भी अंग अपना काम छोड़ दे तो समाज विशृंखल हो जाता है। सारा सन्तुलन बिगड़ जायेगा।

पशु के सहयोग की आकांक्षा होती है मनुष्य को। पशु से दूध लेता है, खाद लेता है। कीट-पतंग तो वनस्पति-जगत् के जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इनके बिना तो नई सृष्टि ही असम्भव है। वनस्पतियाँ ही पैदा न हों। पशु-पक्षी के संयोग के बिना भी मानव-जीवन नहीं चलता है। वनस्पति-जगत् के संयोग बिना भी असम्भव है और मनुष्य पौधों को बोता है, खाद देता है, रक्षा करता है। तभी तो वे पुष्पित और फलित होते हैं। वह पशुओं को पालता है। तभी तो उन का जीवन चलता है और दूध आदि दे पाते हैं।

इस पारस्परिक अवलम्बन पर आश्रित है इस लोक की लीला।

यह परस्पर अवलम्बन आवश्यक है इस सृष्टि के लिए। जो ऊपर

समझने की चेष्टा की है, यही यज्ञ है। यह व्यापक है। यह विष्णु है। अणु से लेकर मनुष्य पर्यन्त यह अवलम्बन चलता है।

क्या है इस अवलम्बन का स्वरूप? त्याग! आत्मदान! व्यष्टि समष्टि के लिए त्याग करती है तो समष्टि का जीवन होता है। समष्टि समाज के लिए त्याग करती है तो व्यष्टि का जीवन चलता है। समाज के लिए व्यक्ति और व्यक्ति के लिए समाज त्याग करता है, तभी चलता है व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन। ये परस्पर आश्रित हैं। यही है यज्ञ का रहस्य! यही है इस विश्व का नियम! आत्मदान पर आश्रित है यह सारी लीला। आत्मदान ही इसका आदि, मध्य और अन्त है।

पुरुषसूक्त में इस यज्ञ के विशाल स्वरूप का सुन्दर वर्णन है। यज्ञ की अग्नि में पुरुषोत्तम के अंगों को काट-काट करके बलि दी जाती है। एक-एक अंग से सृष्टि होती है। वह परम सत्ता भी बलि देती है। यज्ञ में आहुति देती है अपनी सत्ता की। वह अपने नितान्त अद्वैत को आंशिक रूप में खो देती है, होम देती है प्रकृति की योनि में, तभी प्रकृति में रचना का सामर्थ्य जगता है और विविध सृष्टि होती है।

यज्ञ का स्वरूप है बलिदान – आत्मदान। यह इस सृष्टि का मौलिक नियम है। भले ही यह अनजाने हो अथवा जान-बूझ कर हो। जब तक चेतना समुचित मात्रा में विकसित नहीं होती तो यह आत्मदान अनजाने होता है, प्रलोभन से अथवा लाचारी से होता है। जड़ जगत् में, वनस्पति तथा पाशविक-जगत् में इसी प्रकार से आत्मदान होता है। मनुष्य ही सोच-समझ कर बिना लाचारी अथवा प्रलोभन के आत्मदान कर सकता है। वही सेवा कहलाती है, वही निष्काम यज्ञ होता है। वह भगवान् पुरुषोत्तम का पावन पूजनरूप स्वकर्म होता है। वह उसे निर्मल कर देता है, पुरुषोत्तम से जोड़ देता है। यह है यज्ञ का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप।

अंग्रेजी में यज्ञ को Sacrifice (सेक्रीफ़ाइस) कहते हैं। इसका अर्थ होता है बलिदान।

अब हम 9वें श्लोक को समझने की चेष्टा करेंगे।

प्रभु ने अर्जुन से कहा। जो कर्म यज्ञ के निमित्त किया जाता है वह तो बन्धन का कारण नहीं होता; और सभी कर्म इस लोक में बन्धन करने वाले होते हैं।

यज्ञ के निमित्त कर्म का अर्थ? समाज एक यज्ञ है। उसके लिए, उसकी गाड़ी को चालू रखने के लिए किया कर्म यज्ञ के निमित्त कर्म होगा। वह समाज का यज्ञ कैसे चालू रहता है? यदि व्यक्ति अपने-अपने स्वधर्म का, अपने कर्म का पालन करे तो वह यज्ञ सुचारु रूप से चलता ही जाएगा। यदि मशीन का प्रत्येक पुर्जा अपना काम ठीक करेगा तो मशीन ठीक चलेगी ही। अत: स्वधर्म का पालन यथार्थ कर्म है। जब व्यक्ति अपने प्राप्त कर्म को इसलिए करता है कि समाज का अंश होते हुए मुझे यह करना ही चाहिए अन्यथा समाज की गाड़ी ठीक न चलेगी, तब वह यज्ञ के निमित्त कर्म करता है। वह कर्म उसे बाँधता नहीं।

हमारी भावना बड़ी प्रभावशाली होती है। वही कर्म लोभ से किया जा सकता है। पैसे की खातिर भी तो दूसरों के सिर काटे जाते हैं। क्षत्रिय स्वधर्म की दृष्टि से युद्ध करता है। भय से कर्म किया जाता है और समुचित दृष्टि से भी। दोनों का परिणाम करने वाले के लिए और अन्त में समाज के लिए भी अलग-अलग होता है। ऐसी निकृष्ट भावना से समाज पतित होता है, दु:खी होता है, रोगी हो जाता है।

क्षत्रिय का समाज में एक स्थान है। उसके अनुसार उसका एक कर्म भी है। क्षत्रिय को यज्ञ की भावना से उसे करना चाहिए।

यज्ञ की भावना ही वास्तव में सत्य पर आश्रित भावना है। जैसे ऊपर लिखा है, हम समष्टि से परस्पर जुड़े हैं। उस पर आश्रित है हमारा जीवन। केवल अपने स्वार्थ को देखना, भय से अथवा प्रलोभन से काम करना, समष्टि को, जिसके हम अंश हैं, भूल जाना है, सत्य से च्युत होना है। समाज के बलिदान के परिणामस्वरूप आज हम हैं जो हैं। दूसरों ने हमारा भरण-पोषण किया और उनके परिश्रम से आज भी होता है। उन्हीं ने हमें शिक्षित-दीक्षित किया। आज यदि हम अपने को अवसर आने पर उसके लिए होम नहीं कर देते तो यह चोरी ही तो है।

इस भावना से किया कर्म हमें बन्धन से मुक्त करता है। क्यों? इस भावना से कर्म करके हम समाज की और विश्व की जो अपने प्रति जिम्मेदारी है उसे प्रवाह रूप से चुका देते हैं और लोग हमारे लिए त्याग करते हैं, हम औरों के लिए। अत: कर्जा नहीं रहता हमारे ऊपर। जहाँ हम अपने लिए करते हैं वहीं पर हम पर समष्टि की देनदारी हो जाती है। उसे

चुकाए बिना हम छूट कैसे सकते हैं? अपने लिये काम करना तो चोरी करना है। वह गाँठ बाँध कर सिर पर रखना है, वह मुट्ठी बाँध लेना है, वह सभी बन्धन का कारण होता है, यह स्वाभाविक ही तो है।

इस यज्ञरूप समष्टि में स्वतन्त्रता का सहज, स्पष्ट और सरल उपाय है यज्ञरूप हो जाना। इसका मोटे शब्दों में अर्थ है अपने स्वार्थ की, सुख की, लाभ की चिन्ता न करके दूसरों के स्वार्थ, सुख तथा लाभ की चिन्ता करनी और उसके लिए चेष्टा करनी। बहती नदी में दबाव से बचने का तरीका है उसके साथ उसी रफ्तार से बढ़ते जाना। इस नियम को तोड़ना बन्धन को रचना है। अपने लिये हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ स्वयं डालनी हैं। निःस्वार्थ आत्मदान, त्याग इस सृष्टि का नियम है।

तो यह भी तो एक बन्धन ही है, कर्ममात्र ही बन्धन है, इससे भागना ही चाहिये, कोई अधीर होकर ऐसे कह उठता है।

जब तक हम इस नियम को अपने में बसा नहीं लेते, अथवा जब तक यह हमारे में उतर नहीं आता, तब तक कर्म बन्धन प्रतीत होता है। जब यह हमारे जीवन में उतर आता है तो यह बन्धन नहीं लगता, स्वभाव होता है।

प्रकृति में खेल करने का यही एकमात्र उपाय है। पुरुषोत्तम भी यज्ञ रूप हुआ, यज्ञेश्वर हुआ लीला करता है और बन्धन से परे रहता है। हम भी यज्ञरूप हुए, प्रभु से युक्त हुए कर्म करते हैं तो बन्धन से मुक्त रहते हैं। यह आत्मा में अद्वैत-भाव का ही प्रकृति में अवतरण है जो सेवा की भावना है। प्रभु यज्ञरूप हैं। हम भी यज्ञरूप हैं। अपने सहज स्वभाव की अभिव्यक्ति में क्या दुःख, क्या प्रयत्न, क्या बन्धन? त्याग की भावना, आत्मदान का सहज स्वभाव तो अद्वैत का व्यावहारिक रूप ही है। इसके बिना अद्वैत क्या अर्थ रखता है?

भगवान् अर्जुन से कहते हैं, तू युद्ध कर। यज्ञ के लिए युद्ध कर। समाज में स्वधर्म के पालन की दृष्टि से, समाज यज्ञ को चालू रखने की दृष्टि से अपना कर्म पूरा कर दे। तुझे बन्धन न होगा।

हाँ, तुझे अपनी दृष्टि विशाल रखनी होगी। आसक्त होने से तो बन्धन होगा ही। आसक्त होना तो अपने लिए, अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए, किसी प्रकार की निजी व्यक्तिगत तृप्ति के लिए कर्म करना है। वैसे करना गलत होगा।

कर्मयोग के आधारभूत यज्ञ का तत्व कितना विशाल है। कर्मयोग किस ऊँचे अवलम्ब पर आश्रित है इसका दिग्दर्शन इस श्लोक में कैसा सुन्दर हो जाता है।

इस सृष्टि में यज्ञ का क्या स्थान है, यह हमें 10वें श्लोक से पता चलेगा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥10॥

पूर्वकाल में प्रजापति ने प्रजा के साथ-साथ ही यज्ञ को भी रचा। उसने प्रजा को कहा (आदेश किया) इस (यज्ञ) के द्वारा तुम अपनी (संख्या-) वृद्धि करो। यह (यज्ञ) तुम्हारी मनोकामना को पूरी करने वाला हो॥10॥

प्रजा का स्वामी उसको रचने वाला प्रजापति होता है। ब्रह्मा को प्रजापति कहा जाता है। ब्रह्मा ने प्रजा को रचा। अपने तपोबल से यह रचना की गई। परन्तु इस रचना का क्रम आगे चलना चाहिये, तभी तो सृष्टि का क्रम चलेगा। यदि प्रजा में आगे रचना की योग्यता न हो, तो प्रजातन्तु विच्छिन्न हो जायेगा। ब्रह्मा को ही फिर रचना करनी होगी। इस प्रजा के क्रम को चलाये रखने के लिए यज्ञ आवश्यक था। नई उत्पत्ति और उसका भरण-पोषण दोनों कामों के होने से ही सृष्टि-क्रम चल सकता है। अतः यज्ञ के द्वारा ये दोनों ही सिद्ध होते हैं। ब्रह्माजी ने प्रजा के साथ ही यज्ञ को रच दिया।

यज्ञ के एक विशाल रूप का परिचय मिलता है ब्रह्माजी के निर्देश में – 'यज्ञ से सन्तान वृद्धि करो'। सन्तान की उत्पत्ति एक यज्ञ है। इसी दृष्टि से ही आर्य-संस्कृति में प्रजनन को देखा गया है। 'गर्भाधान' सोलह प्रधान संस्कारों में गिना जाता है। उत्पन्न होने पर बच्चे का 'जातकर्म' किया जाता है। इस कर्म की पवित्रता के विषय में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता। सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता लाभ करने के लिए मनु स्वयं तप करते हैं। तप से ही यह योग्यता उनको प्राप्त होती है जिससे वह सृष्टि-क्रम को चालू कर सकते हैं।

आधुनिक विचारधारा, जिसकी उत्पत्ति पश्चिम के भौतिक विज्ञान में है, प्रजनन की पवित्रता की कल्पना नहीं कर सकती। उस दृष्टि से तो यह

कामलीला मात्र है। परन्तु उस दृष्टि से तो जीवन में कुछ पवित्र, कुछ ऊँचा रहता ही नहीं। सभी कुछ मिट्टी हो जाना है। मनुष्य भी मिट्टी की पूतरी और उसका भविष्य भी मिट्टी। क्या विस्मय, यदि प्रजनन रूपी महान् यज्ञ में उस वाद को कोई तथ्य नहीं दिखाई देता।

घर-गृहस्थी कीचड़ है, इस प्रकार के विचार तो बौद्ध-काल की भारत को देन है। पुराने ऋषि तथा पुरातन संस्कृति तो गृहस्थी को महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं। यह पवित्र यज्ञ-कर्म समझा जाता था। इससे ही देवलोक जीता जाता था। इसी पर अन्य सभी आश्रम भी निर्भर करते थे। समाज की धुरी था गार्हस्थ्य और इससे भागने की प्रवृत्ति हमें उस समय दिखाई नहीं देती। उपनिषदों के वक्ता और श्रोता, किसी विरले अपवाद को छोड़कर सभी गृहस्थी ही तो हैं।

मुझे तो ऐसे ही लगता है कि हमारी पनपती हुई कामुकता ने, बढ़ते हुए लोभ और राग ने गृहस्थी को नीची दृष्टि से देखना सिखाया। भीतर के विकार से बाहर हमें सड़ान्ध आने लगी। उसका परिणाम समाज के लिए और समाज के घटकों के लिए भयानक हुआ है। गृहस्थी के पतन का, गृहस्थी के अनादर का परिणाम हुआ है, सर्वतोन्मुखी अधोगति। यह समझना बिल्कुल कठिन नहीं।

सन्तान एक यज्ञ है। एक आश्रम जिसमें यह यज्ञ हो सकता है, पवित्र है। यज्ञ-भावना से पैदा की गई सन्तान बन्धन का कारण नहीं होती। वह व्यक्ति की कामलिप्सा को शान्त कर देती है। ऋण चुका कर व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सन्तान यज्ञ है। माता तथा पिता त्याग करते हैं। प्रजनन कर्म में रजो-वीर्य का त्याग होता है और शक्ति का त्याग होता है। सन्तान की उत्पत्ति और उसका भरण-पोषण तो सारी की सारी त्याग की एक लम्बी और आदरणीय गाथा होती है। इसके द्वारा समाज का पोषण होता है। इस प्रकार के त्याग के परिणामस्वरूप ही हमें भी स्थूल शरीर प्राप्त हुआ था। वह त्याग केवलमात्र हमारी माता की ओर से ही नहीं, उसमें तो पिता-पुरुखों का भी त्याग सम्मिलित है। समष्टि व्यक्ति के लिए त्याग करती है और व्यष्टि त्याग करके समष्टि का पोषण करती है। यही तो है यज्ञ का स्वरूप। सन्तान यज्ञ है और पवित्र है। इस यज्ञ के बिना तो सृष्टि का खेल ही समाप्त हो जाता

है। यह आदेश वनस्पति-जगत् से लेकर मनुष्य जगत् तक तो लागू होता ही है। जड़-जगत् की दृष्टि में दूसरी बाह्य शक्तियों का ही प्राधान्य होता है।

और 'यज्ञ तुम्हारी मनोकामनाओं को पूरा करने वाला हो।'

मनोकामनाओं की पूर्ति का सर्वोत्तम उपाय है यज्ञ, अर्थात् त्याग। त्याग करके हम अपनी शक्ति को होम देते हैं दूसरों के लिये और परिणाम-स्वरूप हमें दूसरों का सहयोग प्राप्त हो जाता है जिसमें हमारी मनोकामनायें पूरी हो जाती हैं। हमारी वासनाओं की तृप्ति हमारे पर ही तो निर्भर नहीं करती। वह तो अनेकों के समुचित सहयोग पर आश्रित होती है। वह सहयोग प्राप्त हो सकता है यज्ञ के द्वारा ही।

आधुनिक भाषा में कहा जाता है, प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए कीमत देनी होती है। वह कीमत है त्याग। वही यज्ञ है। मकान बनाने में पैसे की आवश्यकता है। पैसा पैदा करने के लिए काम करना होता है। जो काम दूसरों के लिए होगा, वह यज्ञ होगा। क्षुधा की निवृत्ति के लिये गेहूँ चाहिए। गेहूँ लाने के लिए कोई दूसरी चीज बदले में देनी होगी। उस दूसरी चीज को पैदा करने के लिए श्रम चाहिये। उस दूसरी चीज से किसी दूसरे का काम सिद्ध होगा। यहाँ भी यज्ञरूप श्रम की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है।

जब व्यक्ति इस प्रकार से यज्ञ न करके अपनी कामना को पूरी करने की चेष्टा करता है तो वह चोरी करता है। बिना कुछ त्याग किये वह प्राप्ति चाहता है, यह समाज के नियम के प्रतिकूल है। अतः समाज को असह्य है। समाज उसे दण्ड देता है। इसी प्रकार से वे सभी कर्म जो यज्ञ रूप नहीं, जिनमें दूसरे व्यक्तियों का, समाज का हित साधन न होकर, किसी का अहित होता है वे समाज की दृष्टि से दण्ड्य हैं। यज्ञ समाज का मूलभूत नियम है। समाज के रहते हुए ही हमारी मनोकामनायें पूरी हो सकती हैं और उसके लिए एकमात्र उपाय है यज्ञ। समाज हमें पग-पग पर स्वार्थ-त्याग का नियम सिखाता है। मूर्ख व्यक्ति उसे पढ़ना नहीं चाहता। स्वार्थ के कारण वह स्वयं परेशान होता है और दूसरों को भी परेशान करता है।

स्वार्थ की सिद्धि के लिए त्याग की आवश्यकता है। हमारी मनोकामनाओं की सिद्धि यज्ञरूपी श्रम की मांग करती है। कितना सरल नियम है। इसके समझ जाने से व्यक्ति तथा समाज सुखी हो सकते हैं। इसके अवलंघन का परिणाम भयंकर होता है सभी के लिए।

यह नियम वनस्पति और पशु जगत् में कुछ अर्थ नहीं रखता क्योंकि वहाँ मनोकामना ही नहीं होती।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥11॥

'इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को पुष्ट करो, वे देवता तुम्हें पुष्ट करें। एक दूसरे को पुष्ट करते हुए परम श्रेय को तुम सभी प्राप्त करोगे'॥11॥

देवता वे दिव्य शक्तियाँ हैं जो इस स्थूल रचना को करने में और इसे चालू रखने में सहयोग देती हैं। शरीरों के निर्माण में कई शक्तियाँ सहयोग देती हैं। तभी यह अद्‌भुत रचना माता के पेट में अनजाने ही हो जाती है। वनस्पति-जगत् तथा पाशविक-लोक के आश्चर्य सभी इन अनदेखे ही काम करने वाली शक्तियों के कारण हैं। एक पत्ते की रचना में विश्व के आश्चर्य छिपे हैं! फूल की एक पंखुड़ी अनन्त की लीला की झाँकी देती है। यह सभी उन दिव्य ज्ञानवती शक्तियों के कारण सम्भव हैं।

आज का विज्ञान, नेचर अर्थात् प्रकृति कहकर सभी टाल देता है। यह तो अपने परिमित बोध की अथवा अपनी अज्ञता की घोषणामात्र है। सूक्ष्म-लोकों से इस स्थूल पर विशाल जानकारी और सामर्थ्य रखने वाली अनेक सत्ताएं काम करती हैं, यह हम जानते हैं। मिट्टी का अणु-अणु और शरीर का कण-कण उनके ही निर्माण का परिणाम है।

इतना ही नहीं इस लोक के क्रम को ठीक चालू रखने के लिए, सन्तुलन बनाये रखने के लिए, कर्म के समुचित परिपाक के लिए, प्रकृतिगत, अग्नि, जल, वायु आदि की समुचित क्रियाओं के लिये दैवी शक्तियाँ सहकारी रूप से काम करती हैं, यह निश्चित है। उनकी ठीक क्रिया और तरीकों को समझ लेना सुगम नहीं, यह हम मानते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों में भी गहराई में जाने वालों ने स्थूल से परे शक्तियों की सम्भावना को अपने तरीके से स्वीकार भी किया ही है। देखिये जेम्स जीन्स का 'मिस्टीरियस यूनिवर्स'।

प्रभु कहते हैं 'इन देवशक्तियों का यज्ञ के द्वारा पोषण करो'। क्या उनका पोषण हो भी सकता है? यदि हो सकता है तो कैसे? यह प्रश्न है। हाँ उनका पोषण हो सकता है। जो स्थूल में है उसका पोषण स्थूल अन्न से

होता है। जो प्राणमय में ही निवास करता है, उसका पोषण प्राण से होता है और मनोमय में निवास करने वालों का मनोमय से। वह देव सत्तायें सूक्ष्म ही हैं इनकी स्थिति प्राण तथा मनोमय में होती है। इनकी पुष्टि के लिए प्राणमय और मनोमय भोजन की आवश्यकता है। वह भोजन अग्निहोत्र के द्वारा उनको पहुँचाया जा सकता है।

अग्नि में होम किया अन्न देखने में जल जाता है। परन्तु वास्तव में उसका स्थूलांश ही भस्म होता है। जैसे मनुष्य शरीर के साथ प्राणमय रहता है इसी तरह अन्न के साथ प्राणमय रहता है। उसी के कारण तो उसमें से पौधे के उगने की सम्भावना रहती है। उसमें जीवन होता है। स्थूल तो उस प्राण का आधार होता है। अग्नि के प्रभाव से वह भस्म हो जाता है जैसे स्थूल शरीर। वह प्राणांश तो इस प्रभाव के परिणाम-स्वरूप बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह सुगमता से प्राणमय कोषों में समा सकता है।

अग्नि-होत्र करने में देवता का आवाहन किया जाता है। सूक्ष्म-दृष्टि रखने वाले जानते हैं कि वह देवता बुलाये जाने पर आ जाता है। अग्नि में होम किये अन्न के सूक्ष्म भाग का वह उपभोग करता है। इससे उसके प्राणमय शरीर की पुष्टि होती है।

इस कर्म में हमारी श्रद्धामयी भावनायें भी जागृत होती है। वह देवता के मनोमय-कोष के लिये भोजन हो जाती हैं। वेद के मन्त्रों का उच्चारण भी शक्ति का प्रसार करता है जिससे देवता के मनोमय कोष की पुष्टि होती है।

इस प्रकार के अग्निहोत्र, मन्त्रपाठ तथा जप देव के प्राणमय तथा मनोमय शरीर का पोषण करते हैं। वह पुष्ट हो जाता है। पुष्ट हुआ वह हमारा पोषण करता है। वह अपने कर्म को और भी सुचारुरूप से कर सकता है। हम इस प्रकार से उसका पोषण करके उसे अपने अनुकूल भी कर सकते हैं।

इसी रहस्य को समझते हुए अग्निहोत्र नित्यकर्म में समाविष्ट था। ऐसे लगता है कि कोई समय था जब मनुष्य सूक्ष्म शक्तियों के प्रति आज की अपेक्षा बहुत अधिक ग्रहणशील था और वह शक्तियाँ इसके सन्निकट थीं। परस्पर आदान-प्रदान लगभग वैसे ही होता था जैसे मनुष्य-मनुष्य में होता है। पर आज का युग और ही है। दोनों के बीच में विकासक्रम ने ही एक बड़ी खाई खोद दी है।

यह यज्ञ केवलमात्र मनुष्य तथा नीचे के लोकों में ही व्याप्त नहीं। यह देवलोक पर्यन्त व्यापक है। इस विशाल सृष्टि-योग में देवता भी उसी प्रकार से अपनी आहुति देते हैं जैसे अन्य लोक।

यज्ञ, व्यष्टि और समष्टि सभी को आगे ले जाने वाला होता है। यज्ञ के द्वारा व्यक्ति निर्मल होता चला जाता है। स्वार्थ और अहं की सीमाओं को लाँघता है, अपने को समष्टि में खोना सीखता है। समष्टि अपने को व्यष्टि में खोती हुई आगे बढ़ती है। यज्ञ के द्वारा हम यज्ञेश्वर प्रभु के समीप होते हैं। वही तो हमारी त्यागमयी आहुतियों को स्वीकार करता है।

यज्ञ विकास का मूल मन्त्र है। जड़-जगत् त्याग करके, अपने आपको खोकर ही वनस्पति-जगत् में प्रवेश पाता है। पेड़-पौधों का अंश बन जाता है। पेड़-पौधे अपना खोकर ही तो पशु-शरीर में स्थान पाते हैं और पशु अपने त्याग के कारण ही, मनुष्य की सेवा के परिणामस्वरूप मनुष्य शरीर के भागी होते हैं। मनुष्य देवयोनि को ऐसे ही लाभ करता है। देवता इस प्रकार से अपने कर्त्तव्य-रूप योग को करते हुए ऊँचे उठते जाते हैं और देवयोनि को लाँघकर बन्धन-रहित हो जाते हैं। यज्ञ ही कल्याण का मार्ग है। जानबूझकर कर किया गया यज्ञ बहुत तेजी से आगे ले जाता है।

मनुष्य यज्ञ के द्वारा देवताओं को पुष्ट करे और देवता मनुष्यों को बढ़ायें। इस यज्ञ के द्वारा दोनों का परम कल्याण होता है।

परम कल्याण का अर्थ परम निश्रेय ही लेना होगा। यज्ञ व्यक्ति को विकास की चरम सीमा तक ले जा सकता है। उसके बन्धनों का नितान्त विच्छेद कर सकता है। यज्ञमय हुआ व्यक्ति प्रकृति के बन्ध को काट देता है, वह प्रकृति में रहता हुआ इससे परे रहता है। यही पाठ है जो व्यक्ति को पूरी तरह से पढ़ना होता है प्रकृति से। इसे ही आपा खोना कहते हैं। यही अहं से नितान्त मुक्ति है। कर्मयोग एक सीढ़ी ही नहीं, अन्त तक ले जाने वाला साधन है। गीता के योग का सिद्ध तो कर्मयोगी होता ही है। यज्ञमय हुए बिना सिद्धि कैसी?

यज्ञ के परित्याग की हम कल्पना ही कैसे कर सकते हैं। (अध्याय 18 श्लोक 3)।

यहाँ देवता से पुरुषोत्तम की सूक्ष्म शक्तियों का अर्थ लेना है। भगवान् के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥12॥

'यज्ञ के द्वारा पुष्ट किये गये देव मनोवांच्छित भोगों को निश्चित ही देंगे। जो व्यक्ति उनके दिए भोगों का उनको दिए बिना उपभोग करता है वह तो चोर ही है'॥12॥

यह यज्ञ की विशाल भावना है जिसका ऊपर वर्णन हुआ है। इस यज्ञ-भावना को ऋणात्मक दृष्टि से देखा जाता है। यज्ञ-भावना के उल्लंघन का अर्थ क्या है, यह कहा है?

यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवताओं का पोषण करता है। वह पुष्ट और तुष्ट हुए अपने कर्म को और सुचारुरूप से कर पाते हैं। परिणाम-स्वरूप धनधान्य की समृद्धि होती है। पशुओं की वृद्धि होती है। अनाज बहुत होता है। यह सभी उनकी कृपा का परिणाम है। मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिए। जो उनकी देन है उसमें उनका हिस्सा भी निकालना चाहिए। अग्निहोत्र करना चाहिए। दूसरे यज्ञ करने चाहियें, यज्ञ की भावना की तो यही माँग है। वह दूसरों को पुष्ट करे, दूसरे उसका पोषण करें। परन्तु स्वार्थवश मनुष्य बुद्धि को खो देता है। वह सभी भोगों को अपने लिए उपभोग करता है। जो ऐसा करता है वह तो चोर ही है। जो देवताओं का भाग है उसे भी स्वयं खाकर चोरी करता है। परिणामस्वरूप वह अपने ही हित का हनन करता है। वह भोग ही उसे प्राप्त नहीं होते। देवता लोग उस प्रकार से दे ही नहीं सकते हैं ऐसे व्यक्ति को।

पहाड़ में लोग घट पीसने जाते हैं। घट (पनचक्की) वाले का भाग नियत होता है। वह घट के उपयोग का किराया है। घट वाले ने घट लगाया है। उसकी देख-रेख करता है। उसकी मरम्मत करवाता है, गूल के टूट जाने पर उसको फिर से बनवाना होता है। इस सभी के लिए वह पीसने वालों से अपना भाग लेता है। इसी से उसकी आजीविका आदि चलती है। यदि घट पीसने वाले आटा पीस कर ले आयें, वहाँ पर घट वाले का भाग न रखें तो घट बहुत दिनों तक चालू न रह पायेगा। पीसने वालों की सुविधा समाप्त हो जायेगी। इसी प्रकार से देवों का भाग यदि उन्हें न दिया जाये तो बहुत दिनों तक देव भी हमारा भली प्रकार से पोषण न कर पायेंगे।

गवर्नमेंट शासन प्रबन्ध के लिए शान्ति-स्थापना तथा दूसरी रेल, सड़क शिक्षादि के प्रबन्ध के लिए कर लेती है। यदि व्यक्ति इनका उपयोग तो करे परन्तु कर न दे तो वह चोर होगा। ठीक ऐसी ही स्थिति यहाँ पर है। यह हमारी देनदारी है देवों के प्रति, जो हम देवोपासना के द्वारा-अग्निहोत्र के द्वारा पूरी करते हैं। यह देवऋण से मुक्त होने का उपाय है। अग्निहोत्र नित्यकर्म समझा जाता था और किसी समय घर-घर में नित्य होता ही था।

आज परम्परा उठ चुकी है। आज उन देवों से सम्पर्क भी लुप्त हो चुके हैं, ऐसा प्रतीत होता है। देवोपासना की वह विधि आज के युग के लिए नहीं रही। आज वह सुविधायें भी प्राप्त नहीं हैं। वह तुरन्त ही विचित्र हो गया प्रतीत होता है इस कलिकाल में।

आज मनुष्य की दृष्टि देवों से परे देवाधिदेव तक जाती है। यज्ञ में यज्ञेश्वर के ऋण से मुक्त होने के लिए दूसरे ही उपाय आज के युग में सुकर हैं। उनकी चर्चा आगे होगी। वह दृष्टि और वह निष्ठा हमें सभी ऋणों से मुक्त कर देती है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥13॥

'यज्ञ-शेष को खाने वाले सन्त सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं परन्तु जो लोग अपने लिए पकाते हैं, वह पाप का भोग करते हैं।'॥13॥

पुरानी परिपाटी के अनुसार अग्नि रखी जाती थी। वह गृहस्थी के यहाँ रात-दिन जला करती थी। उसी में से आग लेकर चूल्हे को जलाया जाता था। उसे आहवनीय कहते थे। उसमें होम करने के लिए अन्न पकाया जाता है। होम करने के उपरान्त बाकी अन्न का उपयोग किया जाता है। वह पकाया जाता था मुख्यरूप से होम के लिए। बाकी यज्ञ-शेष रहता था। उसे प्रसाद-रूप सेवन किया जाता था।

आज भी वैष्णव घरों में खूब पवित्रता के साथ रसोई बनाई जाती है। ठाकुर जी को भोग लगाया जाता है। उसके उपरान्त देवों के प्रसादरूप में उस अन्न का सेवन किया जाता है। वह प्रसाद हो जाता है। वह मंगलकर होता है। पवित्र करने वाला होता है।

'यज्ञ-शेष का आस्वादन करने वाले सन्त हैं'। अग्निहोत्र तो देवताओं के निमित्त किया गया यज्ञ है। वह विशाल होने पर भी आंशिक ही तो है। वह जिसने समूचे जीवन को यज्ञेश्वर के विशाल यज्ञ में आहुति बना दिया है, जिसका जीवन यज्ञमय हो गया है उसके लिये तो सभी यज्ञशेष ही हो गया है। वह जो पाते हैं साक्षात् यज्ञेश्वर से पाते हैं। उसे सभी कुछ उसके द्वारा उपयुक्त और उपयुक्त ही दीखता है। वह स्वयं अपने को और सभी को यज्ञशेष के रूप में ही देखता है। वह सबसे बड़ा यज्ञशेष का आस्वादन करने वाला है। वह सन्त है। जो उपासना के पथ पर चला है, वह किसी दिन देव में देवाधिदेव की झलक पायेगा ही। उसका यज्ञ आंशिक से समग्र होकर ही रहेगा। यज्ञ तो ऐसी भावना है जो आंशिक रह ही नहीं पाती बहुत देर तक। बलात् वह सीमाओं को छेदती हुई समग्र हो जाती है और साधक को यज्ञेश्वर की झाँकी दे देती है।

जो प्राप्त हुए भोगों में से देवों का भाग निकाल देता है वह भला है, वह चोर नहीं जैसे ऊपर के श्लोक में कहा, उसके ठीक विपरीत है। वह सभी पापों से छूट जाता है। उसे भोग बांधते नहीं। यही द्विविधा तो पाप से छुटकारा दिलाती है।

यज्ञशेष के खाने से भोग की लालसा समाप्त होती है। बढ़ती हुई भावना और उसके कारण प्राप्त होने वाली कृपा दोनों मिलकर उसे भोगलिप्सा से मुक्त कर देते हैं। यज्ञ-शेषाशी (यज्ञ का बचा हुआ भाग खाने वाला) यज्ञेश्वर की कृपा का पात्र होता है। उसे कर्म नहीं बाँधता क्योंकि उसका कर्म यज्ञ के निमित्त होता है। वह तो बँध ही नहीं सकता, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं।

ईशावास्योपनिषद् के प्रथम श्लोक का उदाहरण असंगत न होगा।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

वर्तमान श्लोकों के भावों के अनुरूप ही है इसका अर्थ। उस यज्ञेश्वर के द्वारा छोड़ा हुआ-अर्थात् यज्ञशेष का उपयोग करो। जो उसने तुम्हारे लिए छोड़ा है, वही तुम्हारे लिए है। उसे ही सेवन करो। जो तुम्हारे लिए नहीं है, किसी और के लिए है, उसका लोभ मत करो।

अपने लिये पकाना, अपनी भोगलिप्सा की तृप्ति के लिए पकाना है। अपनी जिह्वा की रुचियों का दास हो जाना है। वह अपनी निम्न प्रवृत्तियों

को निमन्त्रित करना है एक ओर, और दूसरी ओर जीवन की प्रभु चरणों में जुड़ी हुई डोरी को ढीला करना है। उसके समीप होने के लिये एक अवसर खो देना है।

अपने लिये पकाना पेट की उपासना करना है, इस शरीर की रक्षा को मुख्य रखकर पकाना है। वह पूजा नहीं रह जाती है। हाँ, जब अपने में भी बैठा हुआ यज्ञेश्वर ही आहुतियाँ ग्रहण करता दीखने लगता है, वही मंगलमयी माँ ही प्रसाद पाती दीखती है, तो दूसरी बात है। तब तो खाना भी यज्ञेश्वर का पूजन ही हो जाता है। वह बन्धन का नहीं मोक्ष का कारण होता है।

आज की भौतिक मनोवृत्ति और आध्यात्मिक दृष्टि-कोण का अन्तर यहाँ भी स्पष्ट हो जाता है। एक का पकाना अपने स्वादों के लिए होता है, दूसरे का देवोपभोग के लिये। भौतिकवादी कहता है यह तो अपने को धोखा देना है। जो अपने को अच्छा लगा सो बना लिया और भोग लगा दिया। क्या बड़ी बात है इसमें? वह बेचारा नहीं जानता कि भावना बड़ी चीज होती है। वह जीवन को बदल देती है। साधक प्रभु के लिये जीने लगता है। उसका जीवन ही क्रमशः नैवेद्य हो जाता है इस छोटी सी क्रिया के परिणाम-स्वरूप।

अपने लिए पकाने का अर्थ है अपने लिए कमाना भी अर्थात् कामोपभोग के लिए परिश्रम। अपने लिए कमाना और उसका अपने लिए ही उपभोग – यह स्वार्थमय जीवन है। यज्ञमय जीवन इसके विपरीत होता है। उसमें यज्ञ के लिए, गृह में अथवा जीवन में स्थापित देवता के पूजन के लिए श्रम किया जाता है, अपनी गणना नहीं होती। देव को खिलाये बिना आप खा ही कैसे सकता है सेवक। गृहस्थी अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए कमाता है – अपने धर्म के लिए कमाता है। मैं चार दिन ऐश से जीऊँ वाली बात तो यज्ञमय-जीवन में कहीं स्थान ही नहीं रखती।

अपने लिये पका कर आप ही खा लेना तो पाप का उपभोग करना है। पंचमहायज्ञ का नित्य कर्मों में विधान है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, अतिथियज्ञ और पशुयज्ञ। यह पाँचों ही नित्य करने वाले होते हैं। बलिवैश्वदेव किये बिना खाना तो पाप का खाना है। जिनका दिया हम खाते हैं उन्हें तो हिस्सा देना ही चाहिए।

आज के युग में जब दृष्टि देव से देवाधिदेव तक जाती है तो भावना भी बदलती है। वह कर्म जो एक विधि की पूर्ति निमित्त किया जाता था विशाल दृष्टि से देखा जाने लगता है। हमारी कमाई का एक अंश (यथासम्भव दशमांश) तो दूसरों की, जिनकी जिम्मेदारी पारिवारिक दृष्टि से हम पर नहीं, जो अनाथ हैं, अपाहिज हैं, ज़रूरत वाले हैं, उनके लिए लगना ही चाहिए। समाज में जो समाज-हित करने वाली संस्थाएँ हैं जो सामाजिक-जीवन के दु:खों को दूर करने और समाज कल्याण की साधना करती हैं, उनकी भी सहायता होनी चाहिए। प्रभु के भक्तों की, जिन्होंने अपना जीवन उसकी सेवा में हार दिया है, सेवा हमारे द्वारा होनी चाहिए।

लोकसेवा आज यज्ञ का विशाल अर्थ प्रकट करती है। वह जीवन जिस में हमारा सुख, हमारा स्टैण्डर्ड (जीवन का मापदण्ड) ही गणनीय है, परन्तु हमारे पड़ौसी के बिलबिलाते हुए बच्चे, फटे हुए तन के चिथड़े और चारों तरफ की व्यथा कोई स्थान नहीं रखते वह तो यज्ञमय नहीं है। जो अपने सुख को दूसरों के दु:ख पर बढ़ती देता है वह जीवन तो त्यागमय नहीं। वह दिल अभी कठोर है प्रभु-चरणों के पधारने के लिए। वह मन्दिर अभी अंधियारा है करुणा की, प्रेम की मधुर ज्योति के बिना।

वर्तमान युग अर्थ-लोलुपता सिखाता है, भोगलिप्सा जागृत करता है। आजकल का उठता हुआ जीवन का मापदण्ड, मनुष्य की आँखों को धुँधला कर देता है, कानों को बहरा कर देता है। हाय! दुखिया का दु:ख भी तो उसे हिला नहीं पाता। अपने इर्द-गिर्द ऐसा झमेला पालता है धनिक, कि उसे दीखता ही नहीं कि मैं कहाँ से बचाऊँ किसी दुखिया के दु:ख को दूर करने के लिए। आज कितने सच्चे लगते हैं मुझे महात्मा ईसा के शब्द कि धनिकों के लिए प्रभु का द्वार बन्द है। अन्धी हो गई है आज दुनिया, धन की लिप्सा से, उपभोग की लिप्सा से। तभी तो आज जीवन यज्ञमय नहीं। तभी तो आज दु:ख का साम्राज्य है।

पर दोष धन का नहीं। दोष है हमारे लोभ का और भोग-लिप्सा का। उनका संवरण चाहिये। धन को बपौती मत समझो, प्रभु का समझो तो दे पाओगे। दो! दो! दो! जितना दे सकते हो दो! जीवन देने के लिए ही तो है। दूसरों के दु:खों को हरने के लिए ही तो है। आज यज्ञ का यही उज्ज्वल विशाल रूप है।

यज्ञ का अर्थ है मिटा देना दूसरों के हित के लिए अपने को। यह उस यज्ञेश्वर की सजीव उपासना है।

बलिवैश्वदेव की दस आहुतियों से आज काम न चलेगा। जीवन की आहुति मांगते हैं यज्ञेश्वर प्रभु! समूचे व्यवहार में अपनी दृष्टि यज्ञमयी कर देनी होगी। दूसरों के लिए जीना और दूसरों के हित के लिए मरना होगा।

यह आज यज्ञ की सजीव मूर्ति है। यही सेवा का व्यावहारिक सिद्धान्त है।

बलिवैश्वदेव हमें पशु-पक्षी से लेकर देवताओं पर्यन्त सभी से जोड़ देता है। वह छोटा सा भाग किस प्रकार भावना के द्वारा हमें समष्टि के प्रति अपने आभार को प्रकट करने का अवसर देता है। मनुष्य की दृष्टि मानव लोक तक ही सीमित नहीं रहती, वह तो समूची सृष्टि को माप देती है। ऋषियों के विधान कितने ऊँचे हैं। इस बलिवैश्वदेव को करते हुए भी विशाल बलिवैश्वदेव करना ही होगा। तभी जीवन यज्ञमय हो पायेगा। तभी कर्म की निष्ठा को पूरा अवलम्बन मिल सकेगा।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥14॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥15॥

'भूत अन्न से होते हैं, अन्न बादल से पैदा होता है, बादल यज्ञ से होता है और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है'॥14॥

'कर्म को तू ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान। ब्रह्म अक्षर से पैदा होता है। इसलिए सर्वगत ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है'॥15॥

पिछले श्लोक में कहा था कि अपने लिए पकाने वाला पाप को ही खाता है। क्या पकाया जाता है? अन्न। उस अन्न का यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका पता हमें 14वें श्लोक में चल जाता है।

कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है। यज्ञ केवल मात्र भावना ही नहीं। भावना का क्रिया के क्षेत्र में कर्म के रूप में अवतरित होने से ही यज्ञ सम्पन्न होता

है। बिना कर्म के, बिना शारीरिक तथा मानसिक श्रम के यज्ञ असम्भव है। अतः कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति है।

यज्ञ से पर्जन्य होता है। पर्जन्य है बरसने वाला बादल। दूसरे शब्दों में यज्ञ से वृष्टि होती है। यह बड़ी प्रबल धारणा रही है कि यज्ञ किया जायेगा तो इन्द्रदेव प्रसन्न होंगे और वृष्टि करेंगे। अनावृष्टि होने पर बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे, अब भी किये जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो यह धारणा है कि देवता मन्त्र के अधीन रहता है। अतः विधिवत् किये हुए यज्ञ के द्वारा वृष्टि निश्चित रूप से करवाई जा सकती है और कर्म भी इसी प्रकार से यज्ञ के द्वारा सम्भव है। सन्तानोत्पत्ति के लिए पुत्रेष्टि-यज्ञ हुआ करते थे। पुराणों में तो ऐसे सफल यज्ञों के कई उदाहरण हैं। यज्ञों की एक विद्या थी। मन्त्रों के द्वारा हम सूक्ष्म शक्तियों को प्रभावित कर सकते हैं, यह निश्चित है, अनुभवगम्य है। यदि वह देवसत्ता के अधिकार की बात हो तो वह सम्पन्न भी हो सकती है। इसमें कोई विस्मय नहीं प्रतीत होता। पर आज यह विद्या तो लुप्तप्राय है। इस प्रकार की उपासना को ग्रहण करने वाले देवों के पद भी और प्रकार के देवों के लिए हैं, ऐसा लगता है। आज के युग के उपास्य देव और ही कोटि के हैं।

यज्ञ से वृष्टि होती थी, यह विस्मयकर प्रतीत नहीं होता। उन लोगों की यह धारणा उस समय की अनुभूति पर ही आश्रित प्रतीत होती है।

वृष्टि होने से अन्न होता है। बिना वर्षा के अन्न नहीं हो पाता। उस समय वृष्टि पर ही निर्भर रहा जाता था अन्न के लिये। कृत्रिम उपायों का उपयोग यदि होगा तो नगण्य। आज इतना होने पर भी अन्न की उत्पत्ति प्रधानतया वृष्टि पर ही निर्भर करती है।

अन्न होता है तो प्राणी जीवन धारण करते हैं। अन्न से ही अन्नमय शरीरों का पोषण होता है।

इस प्रकार अन्न का यज्ञ से इतना घना सम्बन्ध है। यज्ञ के प्रताप से हुए अन्न को यज्ञ के लिये ही पकाना चाहिये और यज्ञशेष के रूप में खाना चाहिये। यही उचित है, अन्यथा किया उपभोग चोरी होगी, पाप कर्म होगा।

इसी कारण कार्य-परम्परा को आगे बढ़ाया जाता है। यज्ञ में अक्षरब्रह्म प्रतिष्ठित है, इसलिये यज्ञ भगवान् का पूजन है। यह उसका विधान है। उसके समीप होने का अनुपम उपाय है।

कर्म ब्रह्म से उत्पन्न होता है। ब्रह्म का अर्थ है वेद। यज्ञ का अर्थ है अग्निहोत्र। यज्ञ अथवा बड़े-बड़े यज्ञ जिनमें देवार्चन होता था अन्न की आहुतियों द्वारा। यही अर्थ ऊपर के श्लोक में लागू होता है। यज्ञ के विशाल रूप का ही यह यज्ञ प्रतीक है।

यज्ञ का विधान वेदों में है। ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद के ही अंश हैं। कल्पसूत्रादि भी वेद के ही भाग हैं। उनमें यज्ञों का विधान है। यजुर्वेद यज्ञों का विधान करता है। अतः यज्ञ-विषयक कर्म की उत्पत्ति वेद से ही है।

वेद अक्षर से उत्पन्न हुआ है। अक्षर क्या है? 15वें अध्याय में इसका उत्तर मिलता है: –

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥16॥

'लोक में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। सभी भूत तो क्षर पुरुष हैं और कूटस्थ अक्षर कहा जाता है'॥15/16॥

कूटस्थ सत्ता अक्षर ब्रह्म है।

कूटस्थ का अर्थ है खूँटे की तरह गड़ा हुआ। अचल, ध्रुव, अविकारी, अविनाशी सत्ता ही अक्षरब्रह्म है। वेद ब्रह्म है। वह अक्षरब्रह्म नहीं। वह सर्वगत ब्रह्म नहीं। इन दो विशेषणों के प्रयोग से ब्रह्म के अर्थान्तर को स्पष्ट किया गया है।

अक्षरब्रह्म तो चेतन-सत्ता है जिसे सांख्य शास्त्र पुरुष कहता है प्रकृति की अपेक्षा से। यह पुरुषोत्तम का ही एक भाव है।

वेद की उत्पत्ति अक्षरब्रह्म से होती है। चेतन-सत्ता ही से तो ब्रह्माजी को वेद प्राप्त होते हैं। वही तो सभी का आदि-स्रोत है। अतः यज्ञ का आदि-स्रोत भी तो वही अक्षरब्रह्म है। बाप बेटे में बसा होता है। उस बाप का बाप (दादा) बेटे के बाप में बसा होता है। अतः वह बेटे के बेटे में भी बसा होता है। यही बात यहाँ पर भी लागू है।

इसलिए सर्वगत ब्रह्म नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म से वेद और वेद से यज्ञ। अतः ब्रह्म वेद में निवास करता है, वेद यज्ञ में निवास करता है, इसलिये ब्रह्म यज्ञ में निवास करता है।

सर्वगत – जो सब जगह गया हुआ है, जो पहिले से ही सभी स्थानों में प्राप्त है। सामान्यत: जिसे सर्वव्यापक कहा जाता है, जिसमें सभी निवास करते हैं और जो सभी में निवास करता है।

दूसरे अध्याय में आत्मा के वर्णन में भी 'नित्य: सर्वगत: स्थाणु' कहा था (श्लोक 24)। वास्तव में आत्मभाव में और अक्षरब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार यज्ञ के महत्त्व को दिखाकर, इस प्रसंग को आगामी श्लोक से समाप्त करते है: –

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य:।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥3/16॥

'इस प्रकार से चलाये हुए चक्र के साथ जो नहीं चलता, वह इन्द्रियों के सुख में खेलने वाला है। उसका जीवन पापमय है। उसका जीना व्यर्थ है'।

यज्ञमय चक्र यहाँ चल रहा है। सभी कोई दूसरों के लिए त्याग करते हैं। इस विश्व के कण-कण से लेकर देव पर्यन्त सभी भूत दूसरों के लिए उत्सर्ग करते हैं अपनी सत्ता का। उसी से यह विश्व का क्रम चलता है। उसी यज्ञ का एक छोटा सा अंश है जिसका वर्णन 14वें श्लोक में ऊपर आया है – यज्ञ-वर्षा-अन्न-भूत-कर्म। यह चक्र यज्ञेश्वर प्रभु द्वारा ही चलाया हुआ है। वह इसमें यज्ञरूप होकर बसे हुए हैं। जो भी इस चक्र में आया है उसे इस चलती गाड़ी को हाथ लगा कर, अपनी आहुति डालकर आगे धकेलना ही चाहिये। ऐसा करने से ही उसका कल्याण होगा। यह उसका कर्त्तव्य है। उसके विकास का नियम भी है। यह उसको यज्ञेश्वर से युक्त भी कर देगा।

जो व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञमय नहीं बनाते, जो दूसरों के लिये, समाज के लिये अपने कर्त्तव्य को नहीं करते, जो त्याग करने के लिये उद्यत नहीं हैं, जो इस यज्ञमय प्रवाह के साथ नहीं बहना चाहते, उनकी स्थिति क्या है? वे इन्द्रियाराम हैं, इन्द्रियों के सुखों में रमण करने वाले, उन्हें ही सबसे बड़ा समझने वाले और उनकी प्राप्ति के लिये ही मर मिटने वाले इन्द्रियाराम होते हैं। भोगलिप्सा ही जीवन की प्रधान प्रेरणा होती है ऐसे लोगों के जीवन में।

वे अघायु हैं। अघ पाप को कहते हैं। उनका जीवन पापमय है। पाप हमारी अधोगति का कारण होता है। काम-क्रोध के वशीभूत होकर हम न चाहते हुए भी पाप करते हैं। जिसके जीवन में काम की प्रधानता है उसका विवेक रह ही कैसे सकता है? वह पाप में तो प्रवृत्त होगा ही। निम्न प्रवृत्तियों का ही साम्राज्य हो सकता है वैसे जीवन में। वह अतिपाशविक स्थिति है, आसुरी सम्पत्ति का यह लक्षण है। यज्ञरहित जीवन पापमय जीवन है, इसमें क्या सन्देह है?

वह जीवन व्यर्थ है, जिसे जीने से हम आगे नहीं बढ़ पाते विकास के क्रम में अथवा किसी दूसरे का हित नहीं कर पाते, या समष्टि को आगे बढ़ने में सहायता नहीं कर पाते। ऐसा जीवन तो निष्फल है ही। क्या सच्चाई है ऐसे जीवन में? भोग तो भोगे जाते हैं, ऐसा सोचा जा सकता है। परन्तु क्या वह आनन्द स्थायी रहता है? क्या वह सुख अपने साथ दु:ख को उत्पन्न नहीं करता? क्या वह भोग की लिप्सा को और बढ़ा नहीं देता? क्या उससे व्यक्ति किसी स्थायी लाभ को प्राप्त करता है? उस प्रकार के भोगों के द्वारा तो व्यक्ति अपनी शक्ति, आयु और भविष्य को क्षीण करता है। अपने लिए और दूसरों के लिए दु:ख का संचयमात्र करता है। वह जीवन न केवल व्यर्थ है, वह तो हानिकारक भी है।

कितनी स्पष्ट भाषा है! आज के युग का आदर्श इन्द्रिय-सुखों को लाभ करना ही तो है। ऊँची बातें तो मस्तिष्क अथवा वाणी तक ही सीमित रहती हैं। व्यवहार में हमारी सभी प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक इन्द्रिय-सुख लाभ की ओर होती हैं। वह यज्ञ का ऊँचा आदर्श तो दूर की कल्पना है। हम कठपुतली बने नाचते हैं नीची प्रवृत्तियों के हाथों में।

जीवन को बदलने के लिये जीवन की दिशा बदलनी होती है। वह बदलती जाती है, आदर्श को बदलने में। आदर्श को बदलने का अर्थ है अपने मूल्य आँकने के पैमाने को आमूलचूल बदल देना, अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदल देना।

हम यहाँ अपने सुख-लाभ के लिये नहीं हैं। यज्ञ में अपने जीवन का उत्सर्ग कर देना ही हमारा प्रधान काम है। उसी में हमारा कल्याण है। उसी में समष्टि का हित है। वही कर्म की निष्ठा है। यही व्यवहारगत साधन है। यज्ञशेष रूप प्राप्त भोगों को भोगने का हमें अधिकार है। भोगों की प्राप्ति के

निमित्त श्रम जीवन की शक्ति का दुरुपयोग है, व्यभिचार है, पाप है।

क्या यह नियम सभी पर लागू है? क्या इसका कोई प्रतिवाद भी हो सकता है? इसका उत्तर आगामी श्लोक देंगे।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥17॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥18॥

'परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही सुख मानने वाला हो और आत्मा में ही तृप्त रहता हो और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कुछ करने को नही'॥17॥

'उसका न तो किये से प्रयोजन है और न ही यहाँ न किये से कुछ प्रयोजन है। और न ही सभी भूतों से किसी प्रकार का स्वार्थ सम्बन्ध ही है'॥18॥

अर्जुन के लिये तो 16वें श्लोक में ही निर्देश है। युद्ध कर्म-यज्ञ है। वह तुझे करना ही चाहिए। उसे न करना जीवन को व्यर्थ खोना होगा।

परन्तु इस कर्मयोग की साधना का नियम सभी पर ही तो लागू नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति भी तो व्यक्ति तभी प्राप्त कर सकता है जब वह कर्म के नियम से परे हो जाए, उसके लिये कुछ करना शेष न रहे। इसी स्थिति का वर्णन करते हैं इन दो श्लोकों में।

तीन विशेषण उसी स्थिति के लिये बरते गए हैं **'आत्मरतिः' 'आत्मतृप्तः'** और **'आत्मन्येव सन्तुष्टः'।**

आत्मा में ही रमण करने वाला आत्मरति कहलाता है। रमण करना होता है सुख-लाभ करना। इन्द्रियों में रमण करने वाला जैसे इन्द्रियाराम होता है वैसे ही आत्मा में रमण करने वाला आत्माराम अथवा आत्मरति होता है। जब तक व्यक्ति अपने भीतर आनन्द के स्रोत को पा नहीं जाता, जब तक अपने को आनन्दमय-भाव में अनुभव नहीं कर लेता तब तक वह आनन्द की खोज प्रकृति में करता है। इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि के द्वारा वह सुख लाभ करने की चेष्टा करता है। परिणाम-स्वरूप प्रकृतिगत स्पन्दनों में बँधता है। उस पर

देनदारी आती है। दु:ख तो लाभ करता ही है। परन्तु जब धीरे-धीरे अपने भाव में जगता है तो समझ आती है कि आनन्द तो मैं ही हूँ। मेरे ही आनन्द का लघु अंश छन कर, विरला होकर प्रकृति में जाता है। सुख बाहर की वस्तुओं में, घटनाओं और व्यक्तियों में नहीं, मुझ में ही है। व्यक्ति उस आत्मा के आनन्द को लाभ करता है। उसे बाह्य सुख की अपेक्षा नहीं रहती। यही आत्मरति है। अपनी सत्ता की मस्ती है।

आत्मतृप्त है वह जो अपने से ही तृप्त है। जिसे तृप्त होने के लिये प्रकृति की किसी अनुभूति की आवश्यकता नहीं। थोड़ा सा ही अन्तर है आत्मरति और आत्म-तृप्ति में। रति है मस्ती, आनन्दमय-भाव। तृप्ति है बाह्य वस्तुओं की अनपेक्षा। बिना तृप्ति के मस्ती नहीं होती है। तृप्ति होती है तो मस्ती आ ही जाती है। मन की कामनाओं का अभाव ही तृप्ति का कारण होता है।

'आत्मन्येव सन्तुष्ट:' अपने से ही सन्तोष पाये हुए। सन्तोष होता है लाभ की चरमावस्था में। जब तक किसी प्रकार के भी अभाव की प्रतीति होती है सन्तोष नहीं हो सकता। जब तक ऊँची अनुभूतियों की भी लालसा बनी रहती है, जब तक अभीप्सा बाकी है तब तक सन्तोष नहीं होता। जब वह भी स्वत: शान्त हो जाती है तभी सन्तोष की स्थिति आती है। फिर भटकना बीत गया होता है। जो पाने को होता है, सो पा लिया होता है।

ये तीनों विशेषण क्रमश: इन्द्रियों, मन और बुद्धि विषयक-लालसाओं की शान्ति के द्योतक प्रतीत होते हैं। जब तक इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि का पूर्ण समर्पण नहीं हो जाता, वह स्थिति जिसका वर्णन है, लाभ नहीं हो सकती। किसी प्रकार के अभाव की प्रतीति उस अवस्था की सूचक नहीं।

वह स्थिति पूर्ण स्वच्छन्दता की स्थिति है। किसी प्रकार की कोई भी अपेक्षा शेष नहीं रहती। प्रकृति में कोई प्रयोजन नहीं रहता। मन, बुद्धि और इन्द्रियों के बन्धन से भी व्यक्ति परे होता है।

यज्ञ के द्वारा व्यक्ति कर्म के बन्धन से रहित हो जाता है। उसकी चेतना अहं से परे आत्मभाव में प्रतिष्ठित हो जाती है। अविद्या का बन्धन कट जाता है। वह प्रकृति में रहता हुआ भी उससे परे रहता है। उस पर प्रकृति की कोई देनदारी नहीं होती। ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य समाप्त होता

है। कर्म का कुछ प्रभाव उस पर पड़ ही नहीं सकता। अतः उसके लिए कुछ करणीय ही नहीं रहता। कर्त्तव्य तभी तक हैं जब तक अहं है। जब तक विकास की सम्भावना है कर्त्तव्य के कर्म द्वारा। जब वह नहीं रहती तो कर्त्तव्य नहीं रहता है। वह इस सारे यज्ञ-चक्र का साक्षी होता है। उसका अपना आपा और तदाश्रित स्वार्थ की सम्भावना मिट गई होती है। यही स्पष्ट किया गया है 18वें श्लोक में।

उसके किए से कुछ प्रयोजन नहीं होता। कर्म के करने से सामान्यतया कर्ता प्रभावित होता है और संस्कार का निर्माण होता है जिससे उसे फल मिलता है, परन्तु वह व्यक्ति तो नैष्कर्म्य अवस्था में है। अतः किये का उस पर कुछ असर ही नहीं होता। संस्कार ही नहीं बनता। अतः कर्म का फल भी उससे नहीं चिपकता है। उसका किया तो उसके लिए पानी पर लकीर ही है।

न किए से भी उसका कुछ मतलब नहीं। कर्त्तव्य कर्म के न करने से भी व्यक्ति में संस्कार बनता है। 'मुझे वह करना चाहिए था, हाय! मैंने वह नहीं किया, मुझे पाप लगेगा अथवा लोकनिन्दा प्राप्त होगी' – ऐसी विचारमाला जागृत होती है, जब तक व्यक्ति में कर्तृत्व है और अहंबुद्धि है। परन्तु जब वह अहंबुद्धि से परे हो जाता है तब सोचता ही नहीं। हो गया तो भी ठीक, न हो गया तो भी ठीक। करते हुए 'मैं करता हूँ' की भी प्रतीति नहीं होती। किए में 'मैंने किया' ऐसा भान नहीं होता। अतः कैसे हो सकता है हर्ष और विषाद! ऐसा व्यक्ति यदि कर्त्तव्य के बन्धन से परे है तो क्या विस्मय!

बच्चे के लिए कर्त्तव्य नहीं होता। वह समझता ही नहीं। 'चाहिए' का उसे भान हो ही नहीं सकता। जब वह बड़ा होता है तो उस प्रकार से सोचने लगता है। तब कर्त्तव्य का उसके लिए विधान होता है। विक्षिप्त और मूढ़ के लिये भी कर्त्तव्य नहीं होता। पशु के लिए भी कर्त्तव्य नहीं होता। इसी प्रकार से सन्त के लिए भी कर्त्तव्य नहीं होता।

इतना ही नहीं उसके लिए उल्टा-सुल्टा सभी एक हो जाते हैं। नैतिक-जगत् के पाप-पुण्य का भाव उसमें से उठ जाता है। उसे उस तरह में बुरा लग ही नहीं सकता। एक विचित्र समता छा जाती है भीतर। इसी कारण से सभी को समान-रूप से स्वीकार कर लेता है। सन्त और डाकू

दोनों को वह एक ही भाव में गले लगा लेता है। उसके लिए तो सभी गतियों में सर्वत्र प्रभु ही होता है।

यह स्थिति स्वार्थ से नितान्त परे की स्थिति है, अपना कोई मतलब ही नहीं रहता सिद्ध करने को। किसी प्रकार की निजी कामना नहीं रहती। उसकी पूर्ति के लिए दूसरों का उपयोग करने का अर्थ ही क्या? वह तो बालवत् स्थिति है। माँ की गोद में सन्त खेला करता है, उसके इशारे पर नाचा करता है। उसको योग-क्षेम की स्वयं चिन्ता नहीं होती। जैसे बच्चे के लिए माँ को होती है, ऐसे ही उसके लिए मंगलमयी माँ को होती है। कैसी आनन्दमयी अवस्था है। वास्तव में वह पूर्ण रूपेण यज्ञमय हुआ होता है क्योंकि उसमें अहं ही नहीं होता जो यज्ञ के प्रतिकूल प्रवृत्ति जागृत कर सकता।

परन्तु उसे यज्ञमय भी तो नहीं कहा जा सकता। वह जो होता है सो निजी संकल्प से नहीं होता। जो वह है उसके लिए श्रेय दें तो किसे दें। वह यज्ञेश्वर से एक हुआ होता है। यज्ञेश्वर का संकल्प उसके द्वारा सिद्ध होता है।

यह जो अवस्था है, इस अवस्था में व्यक्ति कर्म नहीं कर सकता है, ऐसा अनुमान करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, ऐसे व्यक्ति के कर्म की प्रेरणायें प्रकृति में नहीं होंगी। उसको किसी अभाव की प्रतीति ही नहीं होती, अतः उसकी पूर्ति के लिए चेष्टा कैसी, परन्तु ऐसा व्यक्ति भागवत-संकल्प के द्वारा चालित हो सकता है। लौकिक-दृष्टि से वह बड़े कर्म को करने वाला महान् व्यक्ति भी हो सकता है। वह क्या होगा, कैसे होगा, यह उसके हाथ में नहीं। यह तो प्रभु के हाथ में होता है। कर्म करते हुए भी वह भीतर वैसा ही रहता है जैसा न करते हुए। यही उस स्थिति का अचूक प्रमाण है।

मध्ययुग में अनेक उच्चकोटि के सन्त हुए हैं। वे अजगरी वृत्ति में नहीं थे। वे तो लोकसंग्रह करने वाले थे, गृहस्थी थे। शासन करने वाले थे। लोगों को सत्पथ देने वाले थे। कबीर तथा नानक और उनके शिष्यगण ऐसे ही सन्त थे।

परन्तु अर्जुन तो अभी साधना की दृष्टि में बच्चा था। यह भाव तो उसके लिये दूर था। यह लक्ष्य लेकर वह चल सकता था। उसे तो कर्म के लिये

आवाहन था। उसे युद्ध-रूपी यज्ञ में अपने श्रम की, युद्ध कलाकौशल की और आवश्यकता हो तो प्राणों की भी आहुति डालने के लिए प्रभु प्रेरित कर रहे थे। यही बात कही है –

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥19॥

'इसलिये आसक्ति से रहित होकर लगातार करणीय कर्म को भली प्रकार से कर। अनासक्त-भाव से कर्म करते हुए व्यक्ति परम स्थिति को – (पर तत्व को) प्राप्त कर लेता है'॥19॥

तू अभी साधक है! तुझे कर्म के साधन को करना चाहिये। मनोयोग से और अनवरत – बिना ढिलाई के करना चाहिये। कार्य-कर्म ही तेरे लिए करणीय है। कार्यकर्म प्राप्त कर्म होता है। वही स्वधर्म होता है। वह आज तेरे लिये युद्ध है। सो तुझे निश्चय ही करना चाहिए। परन्तु उसमें से आसक्ति निकाल दो, कर्त्तव्य की दृष्टि से करो। साधन की दृष्टि से करो। यज्ञ की दृष्टि से करो। यह ऊँची भावना नितान्त आवश्यक है।

ऊपर समझाया ही तो गया है कि अक्षरब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अतः यज्ञरूप कर्म करने से यज्ञ में निवास करने वाले परम व्रत की प्राप्ति होनी निश्चित है। अनासक्त कर्म ही यज्ञरूप हो सकता है। जिस कर्म की प्रेरणा में कोई लिप्सा है, वह तो यज्ञरूप हो ही नहीं सकता। फलाकांक्षा कर्म को यज्ञरूप नहीं होने देती। अतः वह परम-तत्व की प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता।

इतना तात्विक विवेचन करके अर्जुन को रास्ता दिखाकर, उदाहरण देकर उसे पुष्ट करते हैं। फिर लौकिक दृष्टि में भी उसी प्रयोजन के लिये युक्ति देते हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥20॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥21॥

'निश्चित ही जनकादि ने कर्म के द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त किया था और लोकसंग्रह की ओर देखते हुए भी तुम्हें (युद्ध) करना ही चाहिये'।।20।।

'श्रेष्ठपुरुष (समाज में) जो-जो करता है वही दूसरे लोग करते हैं। वह जिसको प्रमाणित करता है लोग उसी के पीछे चलते हैं'।।21।।

जनकादि ने कर्म के द्वारा सिद्धि प्राप्त की। जनक सिद्ध था। वह ज्ञानी था। बड़े-बड़े ऋषि लोग उसकी सभा में आते थे। शुकदेव जी को व्यास जी ने शिक्षा प्राप्त करने के लिये जनक के पास भेजा था। जनक के सिद्ध होने में तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं। हम यह भी नहीं जानते कि वह कभी सब कुछ छोड़-छाड़ कर जंगल में गया हो साधना के लिये। उसने तो राजकार्य को ही साधन बना लिया था। कार्यकर्म करते हुए ही वह परमतत्व को लाभ कर गया था। 'जैसे जनक ने किया वैसे तू भी कर सकता है। जनक भी क्षत्रिय था। तू भी क्षत्रिय है'।

जनक ही नहीं और राजा लोग भी इसी कर्मनिष्ठा के अनुयायी हुए हैं। इस बात का परिचय हमें चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में ही मिलेगा।

इतना कहकर लोकदृष्टि से कहते हैं कि लोकहित की दृष्टि से भी तुझे युद्ध करना ही चाहिए। यदि तेरे जैसा उच्च-कोटि का क्षत्रिय आज युद्धक्षेत्र को छोड़ देगा, युद्ध को जघन्य कर्म समझता हुआ उससे विमुख होगा, तो क्षात्र-धर्म का ही हनन हो जायगा। समाज में क्षात्र-कर्म लुप्त हो जायगा, समाज विच्छृंख्लित हो जायगा। क्योंकि तू आज समाज में मान्य है, इसलिये तेरे कन्धों पर एक बोझा है। तू जो चाहे वह नहीं कर सकता है। तुझे अनुयायी लोगों का भी ध्यान रखना होगा। अनुकरण की अपेक्षा करनी होगी। लोकमर्यादा का ख्याल रखना होगा। कभी तुझे लोकहित का ख्याल करते हुए अपने हित की भी बलि देनी होगी। आखिर तू इतना स्वार्थी कैसे बनेगा?

बहुत गम्भीर समस्या है? क्या अर्जुन जिसे अपने लिये अहितकर समझता है, पापमय समझता है, उसे वही कर्म करना चाहिये समाज की मर्यादा को बनाये रखने के लिये? भगवान् का तो निश्चयात्मक उत्तर प्रतीत होता है, 'हाँ, करना चाहिये'।

यदि व्यक्ति यह समझ गया है कि समाज की बनी हुई मर्यादा सभी के हित के लिए है और उसका बना रहना ही हितकर है तो उसे अपनी बलि

देनी ही होगी, समाज की बलिवेदी पर। हाँ, यदि वह समझता है कि यह मर्यादा हानिकर है, नई मर्यादा होनी चाहिये तो दूसरी बात है। तब उसे नई मर्यादा की स्थापना के अनुकूल ही व्यवहार करना चाहिये। यज्ञमय जीवन का यही तो सन्देश है कि दूसरों के, समाज के हित में अपने वर्तमान और भविष्य को भस्म कर दो खुशी-खुशी। अपनी तृप्ति का यही उत्सर्ग है, अध्यात्म का व्यावहारिक रूप है। यह ऊँची साधना है। इसमें छिपा है समाज में व्यवहार का रहस्य। कोई भी त्याग इसके लिये बड़ा नहीं है।

पश्चिम की विचारधारा, जिसका आधार व्यक्तिगत रुचियों की तृप्ति है, इतने बड़े त्याग की माँग पर चिल्ला उठती है। क्या हम अपने को बिल्कुल ही कुचल दें? क्या अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर दें? यदि ऐसा करने से दूसरों को लाभ होता है तो खुशी-खुशी करना होगा। यदि हमारी तृप्ति दूसरों के लिए अहितकर है, तो वह त्याज्य ही है।

हाँ, इतना अवश्य कहना है कि जहाँ मर्यादायें, जहाँ समाज के बन्धन अत्याचार रूप हो गए हैं, जहाँ वह समाज के विकास के लिये बेड़ियाँ बन गए हैं, वहाँ अपनी बलि देकर भी उनको बदल डालना अध्यात्म के व्यवहार की माँग है। लक्ष्य सामने रहना चाहिए स्पष्ट रूप से। त्याग की भावना सतत जागृत रहनी चाहिए और हाँ! अधीरता से प्रयत्न न होना चाहिए। जल्दी में ही सभी कुछ कर डालने की लालसा न होनी चाहिए।

भगवान् तो यह समझते थे कि क्षात्रधर्म समाज के लिए आवश्यक है। ऊँची क्षात्र मर्यादा के बिना समाज की गाड़ी चल नहीं सकती। इसीलिए सन्देह रहित शब्दों में अर्जुन को यह कह दिया।

लोक-निन्दा भी हितकर है। लोक-निन्दा का भय भी एक महान् शील है जो अविकसित मनों को बुराई से बचाती है और डटे हुए लोगों को माँज कर निर्मल करती है, निर्भय करती है। जो लोग अभी बुराई-भलाई में विवेक नहीं कर सकते, उनके लिए लोक-निन्दा का भय ही एकमात्र साधन है ठीक रास्ते पर रखने का। समाज में उन्हें रहना है। हमें भी उन्हें समाज में रखना है। वह हमारे छोटे भाई हैं। कुछ समय पूर्व हम भी उनकी स्थिति में थे। कल को वे भी भले बुरे में विवेक करने योग्य हो जायेंगे।

सत्य और उचित होते हुए भी समाज की दृष्टि से कुछ व्यवहार अकरणीय हो सकता है। सामाजिक मर्यादाओं का पालन समाज के लिए

हितकर है, सो करना ही चाहिए। उसे करने में जिस त्याग की माँग हो सो यज्ञ है। वह व्यक्ति को निर्मल कर देता है, ऊँचा उठा देता है।

समझदार व्यक्ति, ऊपर उठा हुआ व्यक्ति भयरहित होता है। उसे लोक-निन्दा का भी भय नहीं होता। वह यदि कोई कर्म नहीं करता अथवा करता है तो लोकहित की दृष्टि से ही वैसा करता है।

वास्तव में अर्जुन तो इतनी ऊँची स्थिति में था नहीं। जब तक व्यक्तिगत समस्या प्रधान रहती है, तब तक सभी व्यवहार व्यक्तिगत दृष्टि से ही हो पाता है प्रधान-रूप से। जैसे अर्जुन विषाद में डूबा हुआ था। वह तो लोक-संग्रह के विषय में सोच ही नहीं सकता था। वह इतने बड़े त्याग की कल्पना ही न कर सकता था। जब व्यक्तिगत समस्या प्रायः छूट जाती है, तब दृष्टि खुलती है। तब निजी स्वार्थ गौण हो जाता है। तब वह दूसरों के लिए त्याग करने के योग्य हो जाता है। यही मानव-प्रकृति की सीमा है। पर भगवान् ने जो कहा, सो सोलह आने ठीक है। वह व्यावहारिक होते हुए भी आध्यात्मिक बात है। वह व्यवहार में उतरा हुआ अध्यात्म है। वह सेवा का ऊँचा सिद्धान्त है, यज्ञमय जीवन की झलक है। वही सत्य है।

ऐसे व्यवहार को देखने वाले इसे असत्य अथवा दम्भ-पूर्ण कह सकते हैं। यह लोक-प्रशंसा के लिए किया गया है, ऐसा भी सोचा जा सकता है। परन्तु यदि हमारी भावना लोक-हित के लिए त्याग की है तो वह व्यवहार ठीक है। हमारे और समाज के लिए कल्याणकारी होगा।

दो प्रवृत्तियाँ प्रायः मनुष्यों में रहती हैं। बगावत – प्रतिरोध की भावना, जिसके कारण हमें समाज के बन्धन गलत दीखते हैं। भीतर से अधीरता होती है कि सभी मटियामेट कर दें। दूसरी, लोक प्रशंसा की चाह। हम लोक निन्दा से डरते हुए आचरण करते हैं। समाज के अनुकूल ही चलते हैं, विवेक किये बिना ही। इन दोनों के कारण होने वाला व्यवहार ऊँचा नहीं होता है। दोनों में ही हमारा अहं हमें छलता है और समाज के विषय में समुचित बुद्धि जागृत नहीं होती। साधन-क्रम में ये दोनों प्रवृत्तियाँ क्रमशः क्षीण होती हैं। तभी व्यवहार समुचित हो पाता है।

समाज हमारे लिए साधना का क्षेत्र है। सेवा का क्षेत्र है, यह न भूलना चाहिये। उसमें प्रभु विराजते हैं। इसलिये वह हमारे लिये पूजा का साधन है।

जो बात 20वें श्लोक के अपरार्ध में कही थी, उसे ही 21वें श्लोक में खोलकर रख दिया।

यह लोक का नियम है। छोटे बड़ों का अनुकरण करते हैं। यह अनुकरण स्वाभाविक-सा होता है। अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य में आरूढ़ है बचपन से ही। विवेक तो समाज में इने-गिने लोगों में ही जगता है। 'गतानुगतिका लोका:' एक दूसरे के पीछे चलना ही नियम है। इसलिये श्रेष्ठ लोगों की, अग्रणी लोगों की भारी जिम्मेदारी होती है। उन्हें अपने लिये ही नहीं व्यवहार करना होता है, दूसरों के लिये बरतना होता है। अनुकरण होगा, इस बात का ध्यान रखना होता है।

वह जिस बात को प्रमाणित करेंगे और व्यवहार में लायेंगे उसे ही प्रमाणित करेंगे और लोग। वैसा ही वह आचरण भी करेंगे।

लोकमर्यादा के लिए, पातिव्रत्य की मर्यादा को कायम रखने के लिए, श्रीराम ने सीता जी जैसी साध्वी पतिव्रता को घर से निकाल दिया। वह सीता जी के लिए ही कष्टप्रद बात न थी, वह श्रीराम के लिये भी कम से कम उतनी ही घोर थी। वह बहुत बड़ा त्याग था। श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। उनके कर्त्तव्य की यह माँग थी। सो प्राणों से प्यारी होने वाली सन्तान की माता तथा जिसके लिये उन्होंने रावण जैसे योद्धा को और राक्षसों की अक्षोहिणियों को मारा, सीता जी को त्याग दिया। देखने वाले इसे अत्याचार कहते हैं, समाज की ओर से। परन्तु समझने वाले इसे महान् त्याग कहते हैं, समाज की मर्यादाओं और उसके ऊँचे आदर्शवाद को बनाये रखने के लिये।

इसमें सन्देह नहीं कि अध्यात्म तो सभी मर्यादाओं को लाँघ जाता है अन्त में। सभी धर्मों का अवलम्बन छोड़ना ही होता है। किसी मर्यादा की, किसी भी धर्म की प्रभु के मार्ग में स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है। कोई भी धर्म प्रभु से ऊँचा नहीं रहता। कोई भी प्रभु से प्यारा नहीं रहता। परन्तु कर्त्तव्य को प्रभु से स्वीकार किया जा सकता है। जहाँ अध्यात्म अनिवार्यरूप से किसी सामाजिक अवलम्बन की माँग करता है, वहाँ कीमत देने को सहर्ष तैयार रहना चाहिये। सौम्य आध्यात्मिकता तो सामाजिक मर्यादाओं में भी निभ पाती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

लोक की निम्नकोटि की विचारधारा से सभी आध्यात्मिक व्यक्तियों को टक्कर लेनी पड़ी है और उनका बलिदान भी हुआ ही है। महात्मा

ईसा, शमस्तबरेज, गुरु तेगबहादुर और महात्मा गाँधी इसी कोटि में आते हैं। इन लोगों ने हँसते-हँसते अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है अपनी धारणाओं की खातिर।

श्रेष्ठ पुरुष का जीवन अपने लिये नहीं होता। उसे स्वतन्त्रता की बलि देनी होती है लोकहित के लिये। यही उसके लिये कल्याण का मार्ग है। जो व्यक्ति इस भावना से नेतृत्व करता है, सहर्ष कीमत देता है, उसका जीवन सर्वथा मंगलकारी होता है।

अब भगवान् अपना उदाहरण देते हैं –

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥22॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥23॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥24॥

'हे पृथापुत्र (अर्जुन)! मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। न कुछ मुझे अप्राप्त है जो मुझे पाना शेष है। तो भी कर्म में मैं लगा ही हुआ हूँ'॥22॥

निश्चय ही यदि मैं कभी भी आलस्य से रहित होकर कर्म न करूँ, तो बड़ी हानि हो जाय, क्योंकि मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही (चले हुए) रास्ते का अनुसरण करते हैं॥23॥

यदि कहीं मैं कर्म न करूँ तो यह लोक दुःखी हो जाएँ और मैं संकर का करने वाला हो जाऊँगा। इन प्रजाओं को मार डालूँगा'॥24॥

अभी तक श्रीकृष्ण ने अपनी भगवत्ता का सीधा परिचय नहीं दिया है। वह अपने काल के श्रेष्ठ पुरुष थे। समाज में उनका मान था। एक राज्य के वह स्वामी थे। उसी भाव में कहते हैं।

अपना उदाहरण देते हैं। 'मेरी ओर देख! मेरे पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। मैं कर्त्तव्य के बन्धन से भी परे हूँ। वह स्थिति जिसका वर्णन ऊपर

हुआ है, उसमें रहता हूँ। आत्माराम हूँ, अपने में ही तृप्त और सन्तुष्ट हूँ। त्रिलोकी में किसी प्रकार की भी मुझ पर कोई जिम्मेदारी नहीं है। न ही मुझे कोई अभाव प्रतीत होता है जिसकी पूर्ति के लिए मैं कर्म करूँ। फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ।

मनुष्य बन्धन से कर्म करता है – बाहर के बन्धन से जिसे कर्त्तव्य कहते हैं अथवा भीतर के बन्धन से जिसे अभाव कहा जाता है। यह साधारण मनुष्यों की स्थिति है। परन्तु मुक्त हुआ व्यक्ति कर्म करता है किसी और ही प्रेरणा से। स्वयं उत्तर देते हैं – अगले (अर्थात् 23वें) श्लोक में।

लोग उसी रास्ते चलते हैं जिस रास्ते मैं चलता हूँ। मेरे अपने कर्म ही प्रमाणरूप लिये जाते हैं और उनका अनुकरण होता है। यथा राजा तथा प्रजा। जैसे राजा करता है वैसे ही प्रजा करने लगती है। राजा के बालों का बनाव, कपड़ों का पहराव, बोलने का तरीका तक तो लोगों में प्रचलित हो जाता है। राजा जिसको अच्छा मानता है वही फैशन हो जाता है।

लोकशिक्षण का सबसे सुगम उपाय है स्वयं आचरण करना। वाणी की शिक्षा उदाहरण की अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली होती है। अपने आचरण के प्रतिकूल शिक्षा तो कदाचित् ही दूसरों के आचरण को बदल सकती है और हमारा आचरण बिना वाणी के ही दूसरों को बदल देता है। महात्मा ईसा अपने शिष्यों को विनय का पाठ पढ़ाना चाहते थे। स्वयं जलपात्र और अंगोछा लेकर शिष्यों के चरण धोने आरम्भ कर दिये। कोरे उपदेश से उनका यह आचरण अधिक महत्त्वशाली था।

यदि श्रीकृष्ण स्वयं कर्म न करें तो यह आशा कैसे कर सकते हैं कि लोग अपने-अपने धर्म का, स्वधर्म का आचरण करेंगे। स्वधर्म में लगने से ही लोगों का कल्याण होता है। जितने श्रम से और मनोयोग से वह अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे उतना ही उनका हित होगा, वह विकास-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे। इस लोक में भी वह उतना ही लाभ ले सकेंगे।

इसलिये लोगों को स्वधर्माचरण सिखाने के लिये ही भगवान् अपने को बिना आलस्य के काम में लगाये रहते हैं। उनके कर्म का प्रयोजन लोकशिक्षण ही है। निजी किसी प्रकार का लाभ नहीं। वह समाज में ऐसी जगह पर हैं कि उन्हें यह करना ही चाहिये अन्यथा उस स्थान से ही हट जाना चाहिए।

प्रभु के कर्म न करने का परिणाम क्या होगा? अधिक खोलकर 24वें श्लोक में कहा।

यह सभी लोग दु:खी हो जायेंगे। स्वधर्म आचरण में आलस्य का परिणाम होता है दु:ख। कृषकवर्ग यदि आराम करने लगें तो उपज कम हो जायेगी। लोग भूखों मरेंगे और कृषकों की दूसरी-दूसरी आवश्यकताएँ कपड़ा, तेल, नमक आदि पूरी न हो पायेंगी। इस तरह सर्वत्र दु:ख व्याप्त हो जायगा। यदि शूद्रवर्ग अपने काम को न करेगा तो भी समाज के काम न चलेंगे। वह स्वयं भी दु:खी होगा और समाज में भी क्लेश होगा। यही हाल दूसरे वर्गों का होगा। समाज तो एक सजीव शरीर की तरह है। यदि कोई भी आवश्यक भाग अपने काम में सुस्ती करता है तो सारे शरीर में दु:ख होता है। जो व्यक्ति सोचता है कि मैं कर्म नहीं करता तो दूसरों को क्या? वह बहुत संकीर्ण दृष्टि वाला आदमी है। वह सामाजिक जीवन के रहस्य को नहीं समझता। समाज में रहता हुआ कोई व्यक्ति अकेला नहीं। वह तो विशाल समष्टि का अंग है जैसे हृदय, फेफड़े, अन्तड़ियाँ, यकृत आदि शरीर के आवश्यक अंग हैं।

भगवान् यदि काम न करेंगे तो संकर हो जायेगा, खलबली मच जायेगी। समाज की चलती हुई गाड़ी डगमगा जायेगी। जब कोई व्यक्ति अपने स्वधर्म को छोड़ता है तो किसी दूसरे को उसको पूरा करना होता है। वह उसे ठीक तरीके से कर नहीं पाता। उसका निजी कर्म भी अधूरा रह जाता है। इस प्रकार से सभी काम-काज में गड़बड़ हो जाती है। सारे सिलसिले बिगड़ जाते हैं। यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष निकम्मा रहकर दूसरों के सामने गलत आदर्श रखता है तो समाज में इस प्रकार की अव्यवस्था के लिए वह देनदार हो जाता है। अत: यदि भगवान् काम न करेंगे तो वह संकर के कर्ता होंगे, कारण बन जाएँगे।

अन्त में प्रजा का विनाश ही होगा। इस प्रकार की अव्यवस्था अन्त में लोगों को नष्ट कर देती है। जीवन धारण भी कठिन हो जाता है। यदि समाज में चलना है तो किसी प्रकार की व्यवस्था होनी आवश्यक ही है।

इस प्रकार से भगवान् ने बताया कि बिना किसी स्वार्थ के भी कर्म में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। अर्जुन विजय नहीं चाहता, न चाहे। उसे भोग लहू में लथपथ दीखते हैं, उनकी चाह नहीं करता, न करे। तो भी उसे युद्ध करना

ही चाहिए। युद्ध न करके वह एक गलत आदर्श रख देगा लोगों के सामने, जिसका परिणाम सर्वथा हानिकर होगा समाज के लिए। उस हानि के लिए अर्जुन देनदार होगा। लोकशिक्षा के निमित्त स्वधर्माचरण की मर्यादा को बनाये रखने के लिए ही सही, अर्जुन को युद्ध अवश्य करना ही चाहिए।

कर्म करने के लिए वह एक ऊँचा दृष्टिकोण होता है। यह व्यक्तिगत दृष्टि नहीं, सामाजिक-समष्टिगत दृष्टि है। यह व्यक्तिगत कर्त्तव्य और उनसे होने वाले हित की दृष्टि है। यह अहं का सीमित भाव नहीं, लोककल्याण का ऊँचा विशाल भाव है। इसमें अपने कल्याण की और कष्ट की अपेक्षा नहीं, समष्टिगत कल्याण और दु:ख की अपेक्षा है।

कहा जाता है कि हिन्दू-संस्कृति व्यक्ति प्रधान संस्कृति है। उसमें सामाजिक-हित का विचार नहीं। व्यक्ति के निजी कल्याण की ही चर्चा और उसके लिये प्रेरणा है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति समाज का मौलिक घटक है। उसकी उन्नति समाज की उन्नति है। समाज का जीवन व्यक्तियों के लिए साधना का क्षेत्र है अध्यात्म की दृष्टि से। परन्तु इतना ही नहीं। दूसरी ओर सामाजिक जीवन के विषय में, जो व्यक्ति की जिम्मेदारी है, वह स्वधर्म के सूत्र में बंधी है। वह स्वधर्म का आचरण करता हुआ समाज को स्वत: ही पुष्ट करता चला जाता है। यदि ऊपर लिखा यज्ञ का दृष्टिकोण समझ में आ गया हो तो ऐसे आरोप के लिए गुंजाइश नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त वे व्यक्ति जो समाज के अग्रणी हैं, जिन पर समाज की सुव्यवस्था की देनदारी आती है, उनके लिये लोक-शिक्षण के धर्म का कैसा सुन्दर प्रतिपादन है। लोक-शिक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग का ऊँचा उपदेश है। इसी लोक-कल्याण के निमित्त तो महात्मा बुद्ध ने निर्वाण का त्याग किया था।

हाँ, इतना अवश्य है कि यह विचारधारा प्रत्येक को समाज का नेता और व्यवस्थापक मानकर उसके कन्धों पर जिम्मेदारी नहीं लादती। सामान्य व्यक्ति को तो स्वधर्माचरण करना है, इतना उसके लिए पर्याप्त है। उतना करने से ही समाज में सुव्यवस्था रहती है।

वास्तव में जब प्रत्येक व्यक्ति नेता बनने की चेष्टा करता है, अपनी व्यवस्था देता है तो समाज में गड़बड़ होती है। समाज की बहुत सारी

परेशानियों का स्पष्ट कारण है इस प्रकार के नेता। जिस समाज में सभी नेता हों और अनुयायी कोई न हो उसकी स्थिति की कल्पना क्या की जा सकती है? वह समाज उच्छृंखल होगा। जो नेतृत्व स्वतः ही लादा न जाए और सहज में दूसरों द्वारा स्वीकृत न हो जाय वह भयावह होता है अपने लिए और दूसरों के लिए।

अब व्यवहार का नियम प्रतिपादित किया जाता है –

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।25।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।26।।

'हे अर्जुन कर्म में आसक्त हुए मूर्ख लोग जिस प्रकार से कर्म करते हैं, समझदार व्यक्ति लोक-संग्रह करने की इच्छा से अनासक्त होकर उसी प्रकार से कर्म करें'।।25।।

'उस कर्म में आसक्ति रखने वाले लोगों में बुद्धि-भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए। समझदार व्यक्ति स्वयं योगयुक्त हुआ सभी कर्म करता हुआ दूसरों से वैसा ही करवाये'।।26।।

लोक-संग्रह शब्द का ऊपर भी प्रयोग आया है (श्लोक 20)। इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। संग्रह होता है इकट्ठा करना। लोक-संग्रह है समाज की व्यवस्था को बनाये रखना।

समझदार व्यक्ति के कर्म लोक-संग्रह की दृष्टि को प्रधान रखकर होते हैं, व्यक्तिगत दृष्टि की प्रधानता से नहीं। वह ऐसे नहीं सोचता कि मुझे कोई चाह नहीं, मैं कर्म क्यों करूँ। मैं क्यों अपने को झमेले में डालूँ। जो व्यक्ति स्वयं निकल जाता है उसका कर्त्तव्य होता है दूसरों को निकालना। किसी ने उसे निकलने में सहयोग दिया। दूसरों की वह सहायता करे। यही तो परम्परा है जिससे विकास का मार्ग चलता है।

अध्यापक को अपने लिए प्रथम और दूसरी कक्षा की पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। उसे वर्णमाला भी आती है। परन्तु वह दूसरों को पढ़ाने के लिए स्वयं पढ़ता है, सिखाता है, बार-बार पढ़कर सुनाता है। यदि

वह सोचे कि मैं तो जानता हूँ, क्यों पढ़ूँ मैं इन जाने हुए पाठों को, तो शिक्षा असम्भव हो जाएगी। परिणाम की कल्पना की जा सकती है।

यज्ञ की भावना के ओतप्रोत हो जाने से कर्म बन्धन नहीं प्रतीत होता। दूसरों का हित, स्वभाव ही हो जाता है। उसके विपरीत आचरण हो नहीं पाता।

लोक-शिक्षा के लिए कर्म करना होगा। बाहर से देखने में वैसे ही कर्म करना होगा जैसे दूसरे करते हैं। उसी लगन से, उसी श्रम से। बेगार की तरह नहीं। अन्यथा लोक-शिक्षा न हो सकेगी। विपरीत शिक्षण हो जायेगा।

भीतर अन्तर होना चाहिये। लोग तो कर्म में आसक्ति रखते हुए करते हैं। चिपक जाते हैं कर्म से और उसके परिणाम से अतः बंधते हैं। विद्वान् व्यक्ति को कर्म से चिपकना नहीं चाहिए। उसी कर्म को उसी तरह से अनासक्त होकर केवल-मात्र लोक-शिक्षा के निमित्त, सामाजिक-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए करना होगा। वह स्थिति जो उसकी है वह दूसरों की नहीं। उसके लिये कर्मफल कुछ मूल्य नहीं रखता। परन्तु दूसरों के लिये तो कर्म की प्रेरणा ही वही है।

वर्णमाला का ज्ञान अध्यापक के लिए कुछ अर्थ नहीं रखता परन्तु शिक्षा आरम्भ करने वालों के लिए तो वह नींव है। जब शिक्षक शिष्यों की स्थिति को भूल जाता है और अपनी स्थिति की बातें शिष्यों को बताने लगता है तो उसका परिणाम बुरा होता है। शिष्यवर्ग जो उनके लिए आवश्यक है उसकी उपेक्षा करते हैं। अतः उनका विकास रुक जाता है। उन्हें दुःखी होना पड़ता है।

शास्त्रों में पात्रत्व के इतने नियम इसलिये हैं। जो जिस योग्य है उसे वही बोध देना चाहिए। चौथे दर्जे के लड़के के लिये चौथे दर्जे की पुस्तकें हितकर होंगी, हाई स्कूल की नहीं। रोगी को मूँग की दाल का पथ्य ही अनुकूल होगा, दही-बड़े नहीं।

एक अवस्था में खूब मनोयोग से आसक्त होकर कार्य करना ही हितकर है। आसक्ति कर्म में प्रवृत्त करती है, जगा देती है सुप्त शक्तियों को। विचार तथा क्रिया-शक्ति पनपती है। सुख-दुःख की भट्टी में डालकर तपा देती है मनुष्य को। फिर वह अनासक्ति के अर्थ को समझने लगता है। बिना इस प्रकार के अनुभव के, अनासक्ति के अर्थ को वह समझ नहीं पाता है।

अकर्मण्यता के लिये अनासक्ति की आड़ लेता है, अपने विकास को रोकता है तथा अपने लिए दु:ख बोता है।

जो लोग अभी कर्म में आसक्त हैं, जिनके विकास की माँग है खूब आसक्त होकर कर्म करना, उनकी बुद्धि में भ्रम नहीं पैदा करना चाहिए। उन्हें कर्म में तथा उनके फल में अनासक्ति का उपदेश न देना चाहिए। वह अभी नासमझ हैं, इसे ग्रहण न कर पायेंगे। यदि वह प्रभावित हो जायेंगे तो कर्म ही छोड़ बैठेंगे।

प्रश्न हो सकता है, 'आखिर वह इस अवस्था से पार कैसे होंगे, यदि उन्हें उपदेश न दिया जायेगा?'

अनुभूति ही जीवन में अग्रगति का प्रधान साधन है। तैय्यार हुआ फल इशारे से टपक पड़ता है। अनुभव भीतरी बोध के लिये व्यक्ति को तैय्यार कर देता है। फिर बाहर से कही गई बात ठीक समझ में आ पाती है। बिना उस तैय्यारी के बाहर की बात समझी ही नहीं जाती। जब अनुभव से व्यक्ति में परिपाक होता है तो आवश्यक ज्ञान बाहर से प्राप्त हो जाता है और भीतर से भी स्फुरित हो जाता है। योग्य गुरु का काम है स्थिति को जानकर उसके अनुकूल ही आदेश करना। नेता को सामान्य लोगों की स्थिति के अनुकूल ही बरतना होता है। उसे व्यक्तिगत आचार्य का काम नहीं करना है।

इसका अर्थ है ज्ञान की बातें न बघारे। स्वयं सभी कर्म करे जिनको करना वह दूसरों के लिये हितकर समझता है। वह आप करे और दूसरों से करवाये। स्वयं उसे योगयुक्त होकर कर्म करने चाहिएँ। कर्म-निष्ठा से, यज्ञ-भावना से भरकर, कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। कर्म करने में यह काम उसे करना है यह नहीं, ऐसे विवेक के लिए गुंजाइश नहीं। उसे कर्म अपने लिये नहीं करने हैं, दूसरों के लिए उदाहरण स्थापित करने के लिए करने हैं।

ऐसा लग सकता है कि कितना कृत्रिम होगा वह जीवन जिसमें कर्म लोक-शिक्षा के लिए करने पड़ेंगे! कितनी घोर परतन्त्रता है ऐसे व्यवहार में! कितना असहज भाव!

यह भी एक साधना है और इसे साधना रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। इस स्थिति में भी अहंकार शेष है। इस स्थिति में भी कर्त्तव्य की

प्रतीति अभी बाकी है। यह साधना सर्वसाधारण की साधना से ऊँची है। इसमें अपनापन खोना होता है। अतः यह तीव्रता से आगे ले जा सकती है।

वह योग जो ईश्वर के चरणों में सर्व-समर्पित करने का है, वह तो इस स्थिति से एक ओर होकर जाता है। सभी जिम्मेदारियाँ प्रभु की हो जाती हैं। अपने को उस पर डाल देना होता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य से व्यक्ति परे हो जाता है क्योंकि बुद्धि को भी तो रख देना होता है श्रीचरणों में। एक ही नियम होता है, एक ही मर्यादा होती है, एक ही गणनीय बात रह जाती है – प्रभु की प्रेरणा! उसका हुक्म! संसार में कोई भी बात, कोई भी धर्म अपने में महत्त्व का नहीं रहता। प्रभु ही सेवा हो जाते हैं। वही लोक-संग्रह हो जाते हैं। एकमात्र उनका आदेश ही पालनीय होता है और जैसे-जैसे समर्पण होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी प्रेरणा स्पष्ट होती जाती है। वह स्वयं ही यन्त्री बनकर इस यन्त्र का संचालन करने लगता है।

व्यवहार की जटिलतम समस्या का अन्तिम हल यही है। इसी हल को पाकर तो अर्जुन को चैन हुआ था। वह जो बेचैन हो सकती है और जो बेचैन करती है, उसी बुद्धि की अन्त में बलि देनी होती है प्रभु के चरणों में। फिर सभी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

इस प्रकार से दूसरों के लिए कर्म तो परेशानी का कारण प्रतीत होता है परन्तु वह परेशानी तो कर्तृत्व के रहस्य को न जानने से होगी। जो इस रहस्य को जान गया है वह करने से परेशान नहीं हो सकता।

कर्तृव्य के रहस्य का विवेचन किया जाता है। प्रसंग से प्राप्त ही है यह विषय।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥27॥

'कर्म सभी प्रकार से प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं। अहंकार से विमूढ़ हुआ व्यक्ति 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है'॥27॥

कौन करता है कर्मों को? क्या आत्मा करता है? आत्मा अविकारी चेतन है। उसमें क्रिया कैसी? क्रिया तो विकार है। आत्मा तटस्थ है, सर्वगत है। वह कर्ता नहीं हो सकता। तो प्रकृति करने वाली है – उसके गुण करने वाले हैं। परन्तु प्रकृति तो जड़ कही जाती है। वह तो अन्धी है। उससे कर्म

सुचारुरूप से हो ही कैसे सकते हैं? पुरुष की समीपता मात्र ही प्रकृति को कर्म करने योग्य कर देती है। पुरुष (अर्थात् आत्मा) की चेतना प्रतिफलित हो जाती है प्रकृति में और कर्म होता है। वह चेतना मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित हुई उन्हें चेतन की तरह व्यवहार करने में योग्य बना देती है।

सूर्य एक सुन्दर उदाहरण है। सूर्य स्वयं कुछ नहीं करता। पर सूर्य का उदयमात्र जागृत कर देता है प्राणी जगत् को। लोग बिस्तर छोड़कर अपने-अपने कामों में लगते हैं। पशु-पक्षी अपना कोलाहल आरम्भ कर देते हैं। बर्फ पिघलती है और नदियों का पानी बढ़ता है। फूल खिलते हैं। वनस्पतियाँ पुष्ट होती हैं। यह सभी कुछ होता है परन्तु इन व्यक्तिगत कर्मों के लिये सूर्य की जिम्मेदारी नहीं। उसी रोशनी में कोई भला काम करता है, कोई किसी का गला काटता है। सूर्य उन दोनों कामों से अलिप्त है। आत्मा ठीक सूर्य की भाँति है। उसकी समीपता मात्र से प्रकृति में हलचल होती है। कर्म होने लगते हैं। किसी भी प्रकार के कर्मों के करने न करने की जिम्मेदारी आत्मा पर नहीं आती है।

कर्म तो प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं। कर्म गति है। प्रकृति के गुण भी गतियाँ ही हैं विभिन्न प्रकार की। **'चलं च गुणवृत्तम्'** – गतिशीलता गुणों का स्वभाव है। ऐसा योग दर्शन भी कहता है। आत्मतत्व तो चेतन है। अमिश्रित चेतना है उसका स्वरूप। उसके द्वारा कर्म कैसे हो सकता है।

यही बात गीता में भगवान् ने 13वें अध्याय के 20वें श्लोक में कही है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

अर्थात् 'प्रकृति' – कार्य करण और कर्तृत्व में कारण कही जाती है और पुरुष सुख तथा दुःख आदि के भोक्तृत्व में कारण कहा जाता है। 'कही जाती है' ऐसा कहा है। पुरुष के लिए भी भोक्तृत्व 'कहा जाता है' ऐसा निर्देश किया है। इसके साथ ही हमें उसी अध्याय का 26वाँ श्लोक पढ़ना होगा –

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

'जो भी कोई स्थावर अथवा जंगम (चलने फिरने वाला) सत्त्व (भूत) पैदा होता है, वह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है। हे अर्जुन! तू ऐसा समझ।

इसका अर्थ है कि प्रत्येक भूत, प्रकृति पुरुष के संयोग से होता है। कोई भी भूत नितान्त जड़ अथवा नितान्त चेतन नहीं है। वह सभी सम्मिश्रित खेल है।

प्रकृति पुरुष के रहस्य को और समझ लेने से वर्तमान प्रसंग ठीक स्पष्ट हो पायेगा।

सातवें अध्याय में प्रभु ने कहा –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥4॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥5॥

अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन तथा बुद्धि और अहंकार, यह मेरी आठ प्रकार से विभाजित प्रकृति है। यह अपरा है। इससे भिन्न मेरी परा प्रकृति है। हे अर्जुन! वह जीवरूपी है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।

इसका तात्पर्य है कि भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं – अपरा और परा। अपरा तो वही है जिसे सामान्यतया प्रकृति कहते हैं। उसी को 13वें अध्याय में क्षेत्र कहा है। परा है 'जीव-भूता'। वही पुरुष है। वही क्षेत्रज्ञ है। वास्तव में यह दोनों भगवान् की – पुरुषोत्तम की दो प्रकृतियाँ है, अलग सत्तायें नहीं हैं, इसीलिए अलग नहीं की जा सकती हैं। हम अपने मस्तिष्क की सीमाओं में बंधे हुए इनकी अलग-अलग कल्पना करते हैं। वास्तव में तो वह एक सत्ता पुरुषोत्तम ही द्विविध लीला करती है।

यही कारण है कि इनका परस्पर वियोग कल्पनातीत है। जैसे हम किसी भूत से चेतना अथवा गति को अलग नहीं कर सकते, वास्तव में वैसे ही हम किसी कर्म में से चेतना अथवा गति को अलग नहीं कर सकते। प्रत्येक क्रिया दोनों ही भावों का सम्मिलित परिणाम है, मानुषी दृष्टि से देखने में। हाँ, प्राधान्य का अन्तर होता है। इसी तत्व का स्मरण रखते हुए 13वें अध्याय

के 20वें श्लोक में 'कहा जाता है' ऐसा प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। 'नितान्त वैसा ही है' ऐसा नहीं। यही वस्तुतः सत्य भी है। यही गीता का निजी दृष्टिकोण भी है, परन्तु यह दृष्टिकोण स्पष्ट तो क्रमशः ही हो पाता है।

सांख्य का दृष्टिकोण तो जड़-चेतन के विभाजन पर आश्रित है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। प्रकृति गुणमयी है – गतिरूपा है, चेतन गतिरहित विशुद्ध चेतना है। यही उस सिद्धान्त का अन्तिम निर्णय है। इससे परे किसी सत्ता की वह कल्पना नहीं करता। दोनों के संयोग से क्रिया होती है। परन्तु क्रिया सम्भव है केवलमात्र प्रकृति में ही। वही तो विकारी है। पुरुष तो विशुद्ध चेतना होने के कारण अविकारी, अकर्ता है। वह तो लंगड़ा, अपाहिज, केवलमात्र आँख है। उसकी दृष्टि से प्रकृति को दिशा मिलती है और वह कर्म करने लग जाती है। उसका कर्तृत्व यदि है तो वह इतना ही कि वह देखता है।

कर्मयोग तो सांख्य के सिद्धान्त को लेकर ही चलता है। जब वह कर्म ब्रह्मार्पण योग (चौथा अध्याय) के स्वरूप को प्राप्त करता है तो सांख्य सिद्धान्त की सीमाओं को लाँघकर गीता के पुरुषोत्तम योग में प्रतिष्ठित हो जाता है। धीरे-धीरे ही दृष्टि को विकसित किया गया है। सामान्य मन्तव्यों को परिष्कृत करके ऊँचा रूप दिया है भगवान् ने गीता में।

वर्तमान श्लोक इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। विद्वान् को कर्म करने के लिए भगवान् ने ऊपर के 25वें तथा 26वें श्लोकों में प्रेरित किया था। कर्म करने से कोई हानि तो होगी ही नहीं, यह समझाने की चेष्टा की गई है वर्तमान तथा आगामी श्लोक में।

वास्तव में 'सभी प्रकार से प्रकृति के गुणों के द्वारा ही कर्म किये जाते हैं।' कर्म गतिरूप है। प्रकृति के गुण तो प्रकृति की गतियाँ ही हैं। कर्म उन्हीं गतियों के विलास मात्र हैं। पुरुष तो अविकारी, चेतन, साक्षीमात्र है। वह प्रकृति के खेल का द्रष्टा है। वह इस तत्व को भूलकर अहंकार के वशीभूत हुआ अपने को प्रकृति के गुणों से – मन, बुद्धि, इन्द्रियों से एक कर लेता है। अपने को मन समझता है और 'मैं सुखी अथवा दुःखी होता हूँ' ऐसा प्रतीत करता है। 'मैं राग करता हूँ मैं द्वेष करता हूँ' ऐसा भान उसे होता है। वास्तव में यह सभी विकार मन के हैं। आत्मा तो विकार-रहित है। उसमें विकार कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार बुद्धि से एक हुआ आत्मा सोचता है

'मैं विवेक करता हूँ। मैं भूल करता हूँ।' वह वास्तव में न विवेक करता है, न भूल ही करता है। अभ्यास के कारण ही यह प्रतीति होती है। जैसे शीशे पर लगे हुए धब्बे व्यक्ति को अपने मुँह पर लगते हैं, जैसे गाड़ी पर चलने में जमीन चलती दीखती है, ठीक वैसे ही यह प्रतीत होती है। यही हालत इन्द्रियों के विषय में आत्मा की होती है।

ऐसी प्रतीति आत्मा को अहंकार के कारण होती है। अविद्या का पर्दा पड़ जाता है। आत्मज्ञान का अभाव होता है। फिर यह विभेदकर अहंतत्व प्रकट होता है जो उसे इस प्रकार के भ्रम में डाल देता है। इस अहंकार से भूले हुए आत्मभाव वाला वह, अपने को कर्ता मानने लगता है।

यह बुद्धि-आश्रित विवेक की साधना है। यह ज्ञान-मार्ग का रास्ता है। इसी बात का आग्रह योग-वासिष्ठ भी तो करता है। श्रीराम जी को इसी युक्ति के बल पर तो राज्य कार्य सम्भालने का आदेश वसिष्ठ जी ने किया था। यही निश्चय है इस रास्ते वालों का जिस पर जमे रहने से कल्याण होता है उन लोगों की दृष्टि से।

आगामी श्लोक इसी बात को और स्पष्ट कर देता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥28॥

हे वीर! गुण तथा कर्म के विभाग को जानने वाला तो गुण, गुणों में बरतते हैं, ऐसा समझ कर आसक्ति नहीं रखता॥28॥

मूर्ख व्यक्ति तो अपने को कर्ता समझता है। कर्ता समझता है तो कर्म से आसक्ति होती है, फलाकांक्षा होती है और फल से लगाव हो जाता है। उसके लिए आसक्ति-रहित होना कठिन काम है।

परन्तु जो तत्त्ववेत्ता है – वास्तविकता को जानने वाला है, उसकी दशा और होती है। किस वास्तविकता को जानने वाला? गुण तथा कर्म के विभाग को जानने वाला। विभाग, विभेद-अन्तर-प्रत्यन्तर। पूरी तरह से समझने वाला कि कर्म क्या होता है, गुण क्या होते हैं, एक दूसरे से इनका क्या सम्बन्ध है इत्यादि, सभी कुछ जानने वाला ही तत्त्ववेत्ता है।

वह क्या जानता है? गुण ही गुणों में बरतते हैं। सभी कर्म सिवाय गुणों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के और कुछ नहीं है। प्रकृति की ही गतियाँ हैं

जो कर्म के रूप में प्रकट होती हैं। चेतन-सत्ता जो पुरुष है वह तो केवलमात्र साक्षी है।

मानुषी गतियों का कारण भीतर के संस्कार तथा सहज प्रवृत्तियाँ और परिस्थिति के द्वारा होने वाले प्रभाव होते हैं। हम एक वस्तु को देखते हैं। भीतर लोभ की सहज प्रवृत्ति के कारण प्राप्ति की इच्छा जगती है। बुद्धि रास्ता ढूँढती है। इन्द्रियाँ उस रास्ते पर चलती हैं। वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। यह सभी व्यापार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के हैं। यह प्रकृति रूप हैं। अत: यह सभी कर्म प्रकृति में उथल-पुथल मात्र ही तो हैं। हम तो सभी कुछ के साक्षी-मात्र ही हैं।

जब विरोधी शक्तियाँ, भीतर अथवा बाहर से प्रबल होती हैं तो यह प्रवृत्ति हार जाती है। बुद्धि सोचती है 'नहीं यह काम अच्छा नहीं'। यदि यह सोच प्रबल होती है तो प्राप्ति की इच्छा दब जाती है। यह बुद्धि जो प्रकृति का ही अंश है उसकी गति का परिणाम है।

इसी प्रकार से बाहर के जगत् में होता है। कहीं तापमान बढ़ता है, हवा का दबाव कम हो जाता है। दूसरे स्थान में हवा वेग से चलती है। उस दबाव को सम करने के लिए आँधी आ जाती है। ऐसे ही वर्षा होती है। भूकम्प आते हैं। सूर्य का प्रकाश यहाँ जीवन देता है। पेड़-पौधों को प्राण देता है। वह बढ़ते हैं।

यह सारा खेल तो प्रकृति का ही है। पुरुष तो द्रष्टा मात्र है। वह न तो कर्ता है और न वास्तव में भोक्ता ही है, इस सिद्धान्त के अनुसार।

दु:ख तथा सुख तो मन के विकार हैं। मानापमान भी मन का ही विकार है। रोग तथा नैरोग्य यह शरीर के धर्म हैं। उसमें होने वाले परिवर्तन हैं। काणापन और तीव्र दृष्टि यह इन्द्रियों के परिवर्तन हैं। बुद्धि का मन्द और कुशाग्रता बुद्धि के विकार हैं। यह सभी तो प्रकृति हैं। पुरुष पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। आँख के फूट जाने से पुरुष अन्धा-काणा नहीं हो जाता, शरीर के रुग्ण होने से वह रोगी नहीं होता, अच्छे कर्म से वह अच्छा नहीं होता, बुरे कर्म से वह बुरा नहीं होता, जय से उसकी वृद्धि नहीं होती, पराजय से उसकी हानि नहीं होती। वह तो दोनों ही अवस्थाओं का निर्विकार साक्षी-मात्र है।

अत:, वह क्यों लगाव रखे अथवा द्वेष करे, वह क्यों एक प्रकार के

परिवर्तन को चाहे और एक प्रकार के परिवर्तन से भागे? वह क्यों एक प्रकार के कर्म की माँग करे और एक प्रकार के कर्म से द्वेष करे? वैसा करना अपने को न जानना है, अज्ञानता है। यही ज्ञानमार्ग की निष्ठा है।

इस प्रकार की आत्मनिष्ठा व्यक्ति को प्रकृति, उसके गुण तथा कर्मों से उदासीन कर देती है। प्रकृति के खेल में रुचि नहीं रहती। अतः, प्रकृति की पकड़ समाप्त हो जाती है। व्यक्ति प्रकृति में उलझता नहीं। उससे न्यारा अलग हो जाता है, अपने में स्थित हो जाता है। प्रकृति की सभी गतियों से नितान्त दूर रहना ही सिद्धि है उस पथ की। इसी को केवलीभाव अथवा आत्मनिष्ठा कहते हैं। यह प्रकृति-पुरुष विवेक का परिणाम है।

इस मार्ग पर चलने वाले के लिए भी करने का निर्देश किया है। क्योंकि 'वह' कुछ करता ही नहीं, प्रकृति ही करती है, तो उसे कुछ करने में क्यों आपत्ति हो? जो अकर्ता है उसके लिए प्रकृति के करने न करने में अन्तर ही क्या। आसक्ति के अभाव में कोई अन्तर हो ही नहीं सकता, आसक्ति होने पर ही अन्तर प्रतीत होता है।

इसी सांख्य-सिद्धान्त पर मिथ्यात्व की पुट लगने से मायावाद प्रकट होता है। कर्ममात्र ही मिथ्या है। कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भी मिथ्या है। कैसा कर्म? क्या प्रयोजन? व्यक्ति के पाँव ही इस पृथ्वी से उठ जाते हैं। वहाँ युक्तियों का भी वास्तव में प्रश्न नहीं, बुद्धि का भी प्रवेश नहीं। मिथ्यात्व की आँधी सभी को बहा ले जाती है। गीता में तो उसकी ओर संकेत दिखाई नहीं पड़ते। यह तो पुराने सांख्य-सिद्धान्त की सीमाओं में ही रहती हुई प्रतीत होती है। उस पर मायावाद लादना उससे बलात्कार करना प्रतीत होता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥29॥

प्रकृति के गुणों के कारण पूरी तरह से मोह में पड़े हुए (लोग) गुणों तथा कर्मों में आसक्त होते हैं। पूर्ण बोध रखने वाला व्यक्ति उन अपूर्ण बोध वालों को चलायमान न करे॥29॥

गुण-कर्म के विभाग को जानने वाला तत्त्ववेत्ता आसक्त नहीं होता है, यह पूर्वले श्लोक में कहा है। इसके विपरीत, जो उस तत्त्व को जानने वाले नहीं, वह आसक्त होते हैं। यह इस श्लोक में पूर्वार्ध में कहा है।

'प्रकृति के गुणों के द्वारा संमूढ'। संमूढ़ का अर्थ है भली प्रकार से मूढ़ – मोह में पड़ा हुआ, अचेत हुआ। जब व्यक्ति को अपना और अपनी परिस्थिति का ठीक भान नहीं रहता तब वह मोह में पड़ा कहा जाता है। प्रकृति के गुणों का ऐसा ही प्रभाव होता है। वह अविनाशी अविकारी चेतनतत्त्व गुणों के प्रभाव से अपने को भूल जाता है। 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ और क्या कर रहा हूँ' उसे इस बात का भान नहीं रहता। प्रकृति के गुणों का खेल बड़े वेग से चलता है। उसे आत्म-विस्मृति हो जाती है। वह खेल देखने में इतना डूब जाता है कि वह अपने को उसमें खो देता है।

अहंकार, बुद्धि, मन और इन्द्रियों का खेल प्रकृति के गुणों का ही खेल है। प्रकृति गुणों के रूप में ही तो प्रकट होती है। गुण उसकी क्रिया के रूपमात्र ही तो हैं। आत्मा इनकी गतियों में लीन हुआ अपने को इनसे एक कर लेता है। अत: इनके विकारों को अपने में प्रतीत करने लगता है। फलत:, आसक्ति होती है। किसी गति से राग और किसी से द्वेष, कभी किसी गुण के प्राबल्य की चाह होती है और किसी के दूर हो जाने की। सुखमयी गतियाँ इष्ट और असुखमयी अनिष्ट होती हैं। आत्मा बजाय गुणों से परे रहने के, अभ्यास के कारण अपने को गुणों में आया हुआ-सा प्रतीत करता है। गुणों में लगाव होता है और कर्मों में भी। 'मैं ऐसा कर पावूँ। मुझसे ऐसा न हो। हाय! ऐसा क्यों किया'? ऐसी प्रतीति करने लगता है। कभी सुखी और कभी दु:खी प्रतीत करता है। यह सभी वास्तव में प्रकृति में होता है। **आत्मा** – जिसे सांख्यसिद्धान्त पुरुष कहता है – तो इन विकारों से नितान्त परे है। आसक्ति भी आत्मा का धर्म नहीं। यह भी प्रकृति का ही धर्म है। परन्तु प्रकृति के आरोपित हो जाने के कारण ऐसी अनुभूति होती ही है।

विचारशील लोग यहाँ पर प्रश्न करते हैं – वह जो अविनाशी, अविकारी चेतनतत्त्व है वह इस प्रकार से मोह में क्यों फँसता है? सांख्यसिद्धान्त के पास वास्तव में कुछ उत्तर है नहीं इस प्रश्न का। 'क्यों और कैसे तो हम जानते नहीं। वह फँसा हुआ है, इतना हम जानते हैं। उस बन्धन से छुटकारे का रास्ता भी हम जानते हैं।' यह उत्तर सांख्यसिद्धान्त देता है। वास्तव में यह प्रश्न बुद्धि के जगत् में हल हो ही नहीं सकता। बुद्धि जिस तत्त्व को जान नहीं सकती है, उसके बारे में ऐसी जिज्ञासा तो कोरी कल्पना के क्षेत्र में ही व्यक्ति को प्रेरित कर सकती है। वह सभी बेकार है।

इस प्रकार के प्रश्नों के चिन्तन में समय खोने के बजाय अपना आगे का रास्ता निकालने की चेष्टा करनी चाहिए। मकान के आग लगने पर कोई सोचने बैठे 'आग कैसे लगी होगी' और बुझाने की चेष्टा न करे तो वह मूर्खता है। ऐसे ही इस बन्धन से मुक्त होने के बजाय ऐसे प्रश्नों में उलझे रहना शक्ति और समय का दुरुपयोग है। समय आने पर यह प्रश्न स्वत: ही समाप्त हो जाते हैं।

यह सभी सांख्य का दृष्टिकोण है।

जो आत्मतत्त्व को जानने वाले हैं उन्हें ऐसे लोगों से कैसे बरतना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर दिया है इस श्लोक के दूसरे आधे भाग में। ऊपर भी 25 तथा 26वें श्लोक में विद्वान को कर्म करने और अविद्वान् से कर्म करवाने के लिए निर्देश किया है लोकसंग्रह के हेतु। ऐसा ही यहाँ भी कहा है।

वहाँ कहा – 'भ्रम न पैदा करे, बुद्धिभेद न जागृत करे'। यहाँ पर कहा – 'चलायमान न करे'।

अपात्र को ज्ञान से अजीर्ण हो जाता है। वह उसे समझता नहीं है, समझ सकता ही नहीं वास्तव में। परिणामस्वरूप वह उसके लिए तमोगुण अथवा रजोगुण के प्रोत्साहन का साधन बन जाता है। सांख्यसिद्धान्त का दुरुपयोग तो बहुत आसानी से होने लगता है।

सांख्यसिद्धान्त तो आत्मज्ञान बताता है। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के भलीभाँति परिमार्जन के बिना व्यक्ति यह समझ ही नहीं सकता। न केवल बुद्धि की कुशाग्रता ही चाहिए अपितु निर्मलता भी तो चाहिए। उसकी स्थिरता भी चाहिए। परन्तु आज तो समझा जाता है कि तीव्रता ही काफी है। यदि इससे विज्ञान की पेचीदगियाँ समझी जा सकती हैं तो वेदान्त की पेचीदगियाँ हम क्यों नहीं समझ सकते? वास्तव में ऐसा है नहीं। उपनिषद् में कहा है –

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

'यह बुद्धि तर्क के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती'। बुद्धि का निर्मल होना नितान्त आवश्यक है। विज्ञान तो एकांगी बोध है। पुस्तकों से और प्रयोगों से वह प्राप्त किया जा सकता है। उसके लिए भी निर्मलता तो चाहिए

ही परन्तु उतनी नहीं जितनी आत्मज्ञान के लिए। आत्मज्ञान तो अपना ज्ञान है। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की निश्चलता से ही आत्मतत्त्व स्पष्ट भासित हो सकता है। उनकी गति से तो अभ्यास जायेगा नहीं। हिलते हुए शीशे में मुख की वास्तविक आकृति का बोध नहीं हो सकता। मैले शीशे में भी नहीं हो सकता। प्रकृति तो आत्मा के लिए शीशे का काम करने को है। ज्यों ही यह निर्मल और स्थिर होती है आत्मा अपने को इनसे अलग अविकारी, अकर्ता, अभोक्ता जान लेता है और भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए बुद्धि का निर्मल होना नितान्त आवश्यक है।

बुद्धि की निर्मलता स्वयं स्थिरता लाती है। रजोगुण ही चंचलता और मैलेपन का कारण होता है। इसी कारण से गुरु शिष्य से सहवास की और ब्रह्मचर्य की मांग करते थे। जब वह पात्र हो जाता था तभी ज्ञानोपदेश होता था। सांख्य तो पात्रत्व पर ही निर्भर करता है।

परन्तु आज तो हम इस ज्ञान को पुस्तकों के रूप में बाजार से सस्ता ही खरीद सकते हैं और पढ़ सकते हैं। बिना पात्रत्व के इस प्रकार का अध्ययन 'वाचा वेदान्ती' बनाता है। आजकल सभी काम आसान किए जा रहे हैं। बड़े स्तर पर उत्पादन की चेष्टा होती है। ऐसे ही ज्ञानी भी बनते हैं पर वह सभी जापानी माल से हो जाते हैं।

न केवल पात्रत्व ही चाहिए, वक्ता भी स्वयं आत्मनिष्ठ हो तभी आत्मबोध हो सकता है। ऐसा निश्चित रूप से उपनिषदों का कथन है। दूसरी बात की कमी होने पर भी कुछ प्राप्त नहीं होता।

पात्रत्व के अभाव में ऐसे ज्ञान से केवल हानि ही नहीं होती है, यह कर्त्तव्य के परित्याग की आड़ भी बन जाता है। व्यक्ति जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है, अतः पतित होता जाता है। भलाई और बुराई के विवेक को खोकर गड्ढे में गिरता है। भारत की वर्तमान दशा में 'वाचा वेदान्त' भी एक कारण समझ में आता है। बातें आकाश की होती हैं और निवास पाताल में। कहना वेदान्त और चरित्र अतिनीच। वेदान्त के अनुयायी भारत की अपेक्षा व्यवहार में विदेशों के लोग बहुत ऊँचे हैं। इतना स्वार्थ तथा बेईमानी तो वहाँ नहीं जितनी यहाँ हो रही है। यह वेदान्त का अजीर्ण है।

'मैं अकर्ता हूँ, सदैव शुद्ध हूँ' – इस विचारधारा का परिणाम होता है कर्त्तव्य-परित्याग, 'मुझे क्या करने को है! मैं तो पूर्ण हूँ, बुराई-भलाई तो

प्रकृति में होती है, मुझमें तो नहीं।' ऐसा सोचने तो लगता है पर अपने को निर्मल करने की चेष्टा नहीं करता।

श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र पर भाष्य करते हुए कहा कि साधन-चतुष्ट्य सम्पन्न व्यक्ति ही उस ज्ञान का अधिकारी है। उसके बिना यह ज्ञान व्यक्ति और समाज के लिए हानिकर सिद्ध होता है। यही कारण था कि यह ज्ञान गुप्त रखा जाता था और गुरु से शिष्य तक ही आया करता था।

'कृत्स्नवित्' – समूचा जानने वाला, जो प्रकृति तथा पुरुष दोनों को जानता है। जो प्रकृति को ही जानता है वह अधूरा जानने वाला है। वह 'अकृत्स्नवित्' है।

अपने आत्मज्ञान को अपने तक ही रखे। अपात्रों को देकर उन्हें कर्म के पथ से च्युत न करे। वैसा करने से उनका अहित होगा। कर्म तो विकास का मार्ग है। उसी से निर्मल हुआ जाता है। उसी के द्वारा ही स्थिरता भी लाभ की जाती है। उसी के द्वारा ही व्यक्ति समय पाकर पात्र बन सकता है। यदि हमारी बातें किसी व्यक्ति को उसके विकास पथ से गिरा दें तो हम उसके अहित का कारण बनते हैं।

इच्छा एक अवस्था तक व्यक्ति को विकास में अग्रसर करती है। रजोगुण से ही व्यक्ति सत्वगुण में प्रवेश कर सकता है। तमोगुण से तो सीधा सत्व में प्रवेश नहीं किया जा सकता है। जब तमोगुणी व्यक्ति ज्ञान की बातें सुनता है तो वह और तमोगुण में डूब जाता है। रजोगुणी व्यक्ति भी ज्ञान की बातें सुनकर इच्छा की प्रेरणा को खो बैठता है। वह भी तामसिक होने लगता है। वह जो सात्त्विक है, ज्ञान की चर्चा से लाभ उठा सकता है, वही गुणों का अतिक्रमण कर सकता है।

जानने के साथ ही व्यक्ति पर बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। पात्रत्व का विधान इसीलिए किया गया था। कुपात्र में विद्या स्वयं दूषित होती है और पात्र को दूषित करती है।

इसलिए कहा – उन अधूरे बोध वाले लोगों को पूरा बोध रखने वाला चलायमान न करे, कर्म के पथ से चलायमान न करे। 'अकृत्स्नवित्' मन्द है। जिसमें समझ की तीव्रता नहीं वही मन्द कहलाता है, सो ठीक ही है, अधूरा बोध ही उसकी मन्दता का प्रमाण है।

सांख्ययोग के दृष्टिकोण की चर्चा करने के उपरान्त भगवान अपनी निजी बात कहते हैं –

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥30॥

मुझ में सभी कर्मों का अध्यात्मनिष्ठ चित्त से संन्यास करके, आशा तथा ममता से रहित, उद्वेग से रहित होकर युद्ध कर॥30॥

भगवान् अर्जुन को भली प्रकार से जानते थे। वह कर्म तथा भावना-प्रधान व्यक्ति था। बुद्धि सबसे प्रधान न थी उसके व्यक्तित्व में।

कर्म की निष्ठा ही उसके विकास का नैसर्गिक मार्ग था। अतः, लौट-फिरकर उसे उसी का निर्देश करते हैं। यह मध्यम पुरुष में अर्जुन को सीधा निर्देश है – तू युद्ध कर।

ज्ञानी को लोकसंग्रह के निमित्त कर्म करना ही चाहिये। अपने ज्ञान द्वारा दूसरों को कर्त्तव्य-पथ से च्युत न करना चाहिए।

अब अर्जुन को रास्ता बताते हैं 'तू युद्ध कर'। कर्म तो व्यक्ति को नहीं बाँधता। आसक्ति बन्धन का कारण हो जाती है। समुचित भावना से किया कर्म तो बन्धन काट देता है। वह प्रभु से जोड़ देता है। वही स्पष्ट रूप से कहते हैं।

'अध्यात्मनिष्ठ चित्त से मुझमें कर्मों का संन्यास करके।' 'संन्यास' पूरी तरह से त्यागना होता है। जिस वस्तु का संन्यास होता है उसमें अपनापन तनिक नहीं रहता। अपनापन बाकी रहे, तो संन्यास पूरा नहीं होता। संन्यास का अर्थ है पूरा त्याग।

कर्मों का पूरा त्याग करना होगा। उन्हें प्रभु को दे देना होगा। वस्तुयें तो सुगमता से दूसरे को दी जा सकती हैं। कर्म कैसे दिए जा सकते हैं। स्थूल-वस्तु स्थूल क्रिया के द्वारा सौंपी जाती है, सूक्ष्म सूक्ष्म-क्रिया के द्वारा। कर्म को सौंपने के लिये चित्त को आत्मा में बसाना होगा। कर्म तो अहंकार से लेकर ठोस शरीर की चेष्टाओं तक सभी गतियों का समुच्चय होता है। उसके पूरे अर्पण के लिये अहंकार से परे चेतना में प्रतिष्ठित होना होगा। अन्यथा कर्म के स्थूल-भाव का तो समर्पण हो पायेगा, सूक्ष्मतम कर्मांश असमर्पित रहेगा। इसलिए कर्म की गति से बिल्कुल परे होना आवश्यक है।

चित्त को आत्मभाव में प्रतिष्ठित होना होगा, कर्म से ऊपर उठकर कर्म प्रभु को सौंप देना होगा।

जिसको कुछ दिया जाता है उससे भी युक्त होना आवश्यक होता है। अत: भगवान् से भी जुड़ना होगा यदि कर्म उन्हें सौंपना हो। उनमें युक्त होने के लिये भी आत्मभाव में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। मन-बुद्धि से परे जाना होगा। ऐसा करने के लिए अपने को ढीला छोड़ना होता है। केवलमात्र कर्म-समर्पण की भावना को जागृत रखते हुए, प्रभु के भीतर प्रवेश कर जाना होता है। इस प्रकार कर्मों का समर्पण होने लग जाता है। जैसे हम वस्तुएँ लेते और देते हैं वैसे ही संस्कार भी ले और दे सकते हैं। कभी-कभी दूसरे के रोग का संस्कार, आशीर्वाद देकर अच्छा करने वाले को स्वयं भोगना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण परमहंस को मथुरा बाबू की पत्नी का उदर-विकार स्वयं भोगना पड़ा। इस प्रकार के उदाहरण अनेक मिलेंगे। वह कर्म संस्कार के आदान-प्रदान को प्रमाणित करते हैं।

मन-बुद्धि से परे हुए बिना यह संन्यास हो नहीं सकता। केवलमात्र बुद्धिगत संकल्प इसे सिद्ध नहीं कर सकता। जगी हुई प्रबल भावना और प्रभु-चरणों की प्रीति ही व्यक्ति को ऊँचा ले जाती है, तभी सामान्यतया यह सम्भव होता है। जो रहने ही लगा हो उस स्थिति में उसके लिये किसी विशेष चेष्टा की आवश्यकता नहीं होती। उसके कर्म तो सहज में समर्पित ही होते हैं। वास्तव में वह अहंकार से रहित होने के कारण कर्म के बन्धन से ही रहित होता है। उसके लिए कर्म संन्यास का प्रश्न ही नहीं रहता।

वास्तव में प्रभु-चरणों के प्रति जगी हुई दृढ़ श्रद्धा और प्रीति के बिना यह समर्पण सम्भव नहीं है। वैसा होने पर यह सहज होने लगता है।

भगवान् ने अपनी ओर इशारा करते हुए 'मयि' – 'मुझ में' कहा है। अपने को पुरुषोत्तम रूप में प्रगट किया है। इससे पूर्व दूसरे अध्याय के श्लोक 61 में 'मत्पर:' में यह संकेत हुआ था। चौथे अध्याय में इस रहस्य को पूरी तरह से खोला गया है। अर्जुन के लिये रास्ता ही यही था। प्रभु-चरणों के आश्रित हुए बिना उसे शान्ति हो ही न सकती थी। उसी के लिए उसे क्रमश: तैयार किया जा रहा है।

सभी कर्मों का संन्यास करना होगा। भले तथा बुरे, लौकिक दृष्टि से जैसे भी कर्म हैं वह सभी प्रभु के अर्पण करने होंगे। जो भले कर्मों का ही अर्पण करता है उसका संन्यास अपूर्ण है और जो बुरे कर्मों का अर्पण करता है उसका भी। प्रभु की दृष्टि में भलाई-बुराई मानुषी दृष्टि की तरह नहीं है। वह बुराई से दूषित नहीं होता और भलाई से उज्ज्वल नहीं होता। व्यक्ति कर्मों का पूर्णरूपेण समर्पण करके ही उससे पूरी तरह से जुड़ सकता है और समर्पण भी पूरा होना चाहिए। कर्म के किसी अंश से भी चिपकन न रहनी चाहिए।

इस प्रकार के समर्पण का परिणाम होगा – आशा तथा ममता का अभाव। युद्ध में विजय की आशा होगी तो युद्ध का समर्पण कैसा होगा? आशा तो व्यक्ति को बाँधती है। कर्म को भी बाँधती है। जय हो अथवा पराजय हो, यह तो अर्जुन के सोचने का काम नहीं। जब युद्ध ही उसका न रहा तो जय-पराजय पर उसका अधिकार कैसा? कर्म ही प्रभु अर्पण हो गया तो फलाकांक्षा कैसी?

आशा का अभाव समर्पण को पूरा करता है। पूरा होता हुआ कर्म का समर्पण आशा को क्षीण करता जाता है। क्रमशः ही समर्पण का ढंग सीखा जाता है। यही बात ममता के विषय में सत्य है। कर्म में ममता संन्यास के अभाव की सूचक है। कर्म प्रभु का हो गया तो कर्म में ममता कैसी?

और यह जाल सारा ममता का ही तो था। यह मेरा ताऊ, यह मेरा भाई! इसी के कारण तो अर्जुन युद्ध करने से हट रहा था। इस ममता के कारण ही तो कर्त्तव्य के विषय में भ्रम जगा था। इस ममत्व को छोड़ना होगा। सभी कुछ प्रभु का है, यही वास्तविकता है। इसी का बोध ममत्व से मुक्त कर देता है। ममत्व के बन्धन से मुक्त होकर ही अर्जुन युद्ध कर सकता था।

क्या कर्मों का संन्यास समर्पण है? समर्पण में किसी को अर्पण करने की भावना आवश्यक होती है। भगवान् में कर्मों का संन्यास तो समर्पण ही है। भगवान् उस समर्पण को स्वीकार करने वाले होते हैं।

'विगतज्वर' ज्वर रहित होकर। ज्वर से तात्पर्य मानसिक विषाद है। जैसे शारीरिक ज्वर ढीला कर देता है ऐसे ही विषाद ढीला कर देता है। वह तन तथा मन दोनों को ही ढीला कर देता है। इस विषाद को छोड़कर युद्ध करने के लिए अर्जुन को भगवान् ने निर्देश किया।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥31॥

'जो मनुष्य मेरे इस मत का नित्य अनुसरण करते हैं, जो श्रद्धा से युक्त और असूया (दोष दृष्टि) से रहित हैं, वह भी कर्मों के द्वारा मुक्त हो जाते हैं'॥31॥

किस मत का अनुसरण? कर्मों का भगवान् में संन्यास करना। कर्मों के संन्यास के लिये भगवान् ने निर्देश किया है। जो लोग उस निर्देश का पालन करते हैं अर्थात् कर्मों को मुझ में त्याग करते जाते हैं, ऐसे लोग भी मुक्त हो जाते हैं।

उनकी मुक्ति का उपाय होते हैं कर्म ही। कर्म साधन होते हैं बन्धनों को काट डालने के, संस्कारों और वासनाओं को क्षीण करने के। स्पष्ट ही तो कहा है 'कर्मों के द्वारा मुक्त होते हैं'। यही तो कर्मयोग का मौलिक रहस्य है। कर्म साधन हैं। यही गीता का अर्जुन के लिये सन्देश है इसी का नाम है कर्मनिष्ठा।

लोग तो कहते हैं – **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। यहाँ तो कहा है कर्मों के द्वारा मुक्ति होती है। समुचित भावना से किए गए कर्म व्यक्ति को निर्मल कर देते हैं। जितना व्यक्ति निर्मल होता है उतना ही उसमें आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है।

समुचित भावना से किया गया कर्म उपासना होता है। वह भगवान् से साधक को जोड़ देता है। भगवान् की कृपा का पात्र हो जाने से तथा उन्हीं की कृपा से साधक ज्ञान को लाभ कर लेता है। दशम अध्याय में यह कहा है –

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥10/11॥

'उनके अज्ञानान्धकार को मैं कृपा करके प्रज्वलित ज्ञान के दीपक द्वारा नष्ट कर देता हूँ'।

भक्त को ज्ञान-प्राप्ति के लिए अलग से कुछ नहीं करना होता। वह तो प्रभु उसे स्वयं दे देते हैं। वास्तव में जितना ही कर्म की साधना के द्वारा वह

निर्मल होता है उतना ज्ञान प्रकट होता जाता है। उसके बन्धन टूटते जाते हैं, वह हल्का होता जाता है।

वह जो ज्ञान के मार्ग की उत्कृष्टता दिखाने को कहा जाता है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती उसमें कुछ सार नहीं। वह तो केवलमात्र दिमाग की बेकार की दौड़ है। वह ज्ञान बुद्धि का ज्ञान नहीं जिससे व्यक्ति निर्बन्ध हो सकता है। वह तो आत्मा का प्रकाश है, बुद्धि से परे की चेतना का उदय है। वह तर्क से थोड़ा हो पाता है? उसके लिए तो भीतर निर्मल होना चाहिए और माँग होनी चाहिए। वह ज्ञान तथा कर्म का जो झगड़ा है वह नासमझी पर आश्रित प्रतीत होता है।

प्रश्न रह जाता है – किस प्रकार का कर्म संन्यास है जिससे मुक्ति हो जाती है?

'नित्य-नित्य' का कर्म-समर्पण तो भावना से ही हो पाता है। यदा-कदा जगे हुए भाव से तो न कर्मों का समर्पण हो पायेगा न स्वीकृति होगी। जब वह भावना निरन्तर भीतर जागृत रहती है, कर्म करने से पूर्व, कर्म करते समय और उसकी पूर्ति पर भी जो भावना बनी रहती है वही फलवती होती है। कभी सन्देह न जगे, तभी वह नित्य कही जा सकती है।

कर्म के समर्पण से तो वर्तमान कर्मों का ही समर्पण होगा, पूर्व कर्म के संस्कार कैसे कटेंगे? यह पूछा जा सकता है।

कर्म समर्पण साधक को भगवान् से युक्त कर देता है। उसकी कृपा से व्यक्ति उसकी चेतना को पाने लगता है। वह अवतरण उसे प्रभु के रंग में रंग देता है। भगवान् कर्म के संस्कार से रहित हैं, अतः उस चेतना के अवतरण के फलस्वरूप साधक भी कर्म-संस्कार से रहित हो जाता है। भगवान् नित्य हैं, मुक्त हैं। साधक भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार से बन्धन कटते हैं भक्त के।

इस कर्मोपासना के लिए दो बातें आवश्यक हैं। साधक को श्रद्धावान् और दोष-दृष्टि-रहित होना चाहिए। श्रद्धा के अभाव में कर्म-संन्यास नहीं हो सकता और न स्वीकृति ही हो सकती है दूसरी ओर से। श्रद्धा ही हमारी अतिमानस चेतना को जागृत कर सकती है। जागृत हुई वही चेतना समर्पण कर सकती है कर्म का। कर्म से जो अतीत है वही तो कर्म का संन्यास कर सकती है।

दोष दृष्टि हमारे किये पर धूल डाल देती है। भगवान् में दोष देखने से श्रद्धा का हनन होता है। साधना ही समाप्त हो जाती है। साधक तो साधक ही है। वह भगवान् को तोलने योग्य कैसे हो सकता है? आज का युग तर्क का है, सब किसी को सब कुछ कहने का अधिकार है। उस अधिकार का दुरुपयोग करके हम अपने को हानि पहुँचाते हैं। अध्यात्म में तो कुतर्क के द्वारा हम अपनी जड़ें काट लेते हैं। फिर चाहते हुए भी हम श्रद्धा नहीं कर सकते। भगवान् की चेतना को लाभ करके ही उसे जाना जा सकता है। उससे पूर्व तो आलोचना अपनी निपट मूढ़ता की घोषणा करनी है।

इस उपासना में – कर्म-संन्यास के योग में – दोष-दृष्टि होगी तो भी हमारी साधना सफल न हो सकेगी। उस दोष-दृष्टि से तो निष्ठा का ही अभाव होगा। कर्म ही असत् – निर्वीर्य हो जायेगा, किए हुए से लाभ नहीं होगा। दोष-दृष्टि नकारात्मक दृष्टि है। इससे हम अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं। वह व्यक्ति को संशयात्मा बना देती है और पतित करती है।

'तेऽपि' – वह भी। जिनकी ऊपर चर्चा हुई वह तो मुक्त होते ही हैं, यह भी मुक्त हो जाते हैं। ऊपर 27, 28, तथा 29वें श्लोक में सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार साधना का विवेचन हुआ है। प्रकृति-पुरुष-विवेक पर आश्रित दृष्टि वालों के विषय में कहा है। वह ज्ञान की निष्ठा का मार्ग है, 30 तथा 31वें श्लोक में कर्मनिष्ठा वालों के लिए कहा है। जो कर्म को ही साधना बना देते हैं वे भी मुक्त हो जाते हैं। कर्मनिष्ठा भी वैसे ही बन्धन को काटती है जैसे ज्ञान की निष्ठा। यह दूसरा मार्ग तो भगवान् ने अर्जुन के लिए कहा था।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥32॥

जो लोग इसमें दोष-दृष्टि रखते हुए मेरे मत का अनुसरण नहीं करते वह सभी ज्ञान से रहित हैं। उन मूर्खों को तू पथ-भ्रष्ट जान॥32॥

'मत' मनन की हुई, मानी हुई बात को कहते हैं। ऊपर वाले श्लोक में भी तो 'मे मतम्' – 'मेरा मन्तव्य' – इसी विषय में कहा था। वह मन्तव्य है कर्म-समर्पण के विषय में भगवान् का निर्देश। वही जो 30वें श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को कहा।

जो लोग उसका अनुसरण करते हैं वह मुक्त हो जाते हैं। जो उसका अनुसरण नहीं करते उनकी क्या गति है? यही इस श्लोक का विषय है।

वह लोग पथभ्रष्ट हैं। 'तान्विद्धि नष्टानचेतसः' उन मूर्खों को तू पथभ्रष्ट जान। कितनी प्रबल उक्ति है। जो इस कर्म-समर्पण के मार्ग का अनुसरण नहीं करते वह पथभ्रष्ट हैं। तो क्या वह लोग जो ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं वह पथभ्रष्ट हैं? ऐसा नहीं। उनका तो वर्णन पहिले ही हो चुका है। वह इस श्रेणी में नहीं आते।

'अचेतसः' – मूर्ख, जिनके भीतर अभी चेतना भलीभाँति जगी नहीं, जिनकी विचार की योग्यता अत्यन्त सीमित है।

'नष्ट' का प्रयोग पथभ्रष्ट के अर्थ में हुआ है। जिन लोगों ने अपने विकास का मार्ग खो दिया है वह नष्ट ही तो हैं। वह भटकते रहेंगे।
ऐसा होता है कुतर्क करने से। इस साफ रास्ते में भी दोष-दृष्टि पैदा कर ली जाती है। 'भला कर्मों का समर्पण ही कैसे हो सकता है?' इस विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। जैसे वस्तुओं का समर्पण हो सकता है वैसे ही कर्मों का भी समर्पण हो सकता है। केवलमात्र व्यक्ति को कर्म की गति से ऊपर उठना होता है।

और कुतर्क किया जाता है – 'बुरे काम हम भगवान् को कैसे सौंपें?' प्रत्येक कर्म में भलाई और बुराई लगी हुई है। नितान्त भले कर्म मनुष्य कर ही नहीं सकता। अपने समस्त वर्तमान कर्मों को चाहे वे जैसे भी हों, प्रभु को सौंपना होगा। इससे प्राप्त होगी प्रभु की समीपता और चित्त की निर्मलता। जैसे मनुष्य के लिए बुराई तथा भलाई होती है, वैसे प्रभु के लिए नहीं होती। वह तो दोनों से परे है। वह उसे छू ही नहीं पाती। इसलिए कर्ममात्र को प्रभु अर्पण करने से डरना भोलापन है, प्रभु को न समझने के कारण है।

भला भगवान् को क्या करना है हमारे कर्मों से? व्यर्थ में क्यों उस पर बोझा लादें? ऐसा भी सोचा जा सकता है।

निस्सन्देह प्रभु को हमारे कर्मों से कुछ लेना-देना नहीं। परन्तु वह हमारी भावनाओं को तो स्वीकार करता है। सामान्य सहृदय व्यक्ति भी दूसरे के प्रेमोपहार को ग्रहण कर लेता है, चाहे वह उसके लिए बेकार ही क्यों न हो। तो क्या प्रभु हमारे समर्पण को स्वीकार न करेंगे? वह अपने लिए स्वीकार नहीं करते, हमारे लिये करते हैं। हमें अपने समीप करने के लिए, निर्मल

करने के लिए, विकास क्रम में तेजी से आगे ले जाने के लिए करते हैं। जो महान् है वह निःस्वार्थ होता है। प्रभु दयामय हैं। वह भक्त के हित के लिए सभी कुछ करते हैं। जो सीमित है, अल्प है, अतृप्त है उसी की क्रियायें अपने लिए होती हैं। जो आप्त-काम है, भूमा है और नित्यतृप्त है उसकी क्रियाएं अपने लिए न होकर दूसरों के लिए होती हैं। जो बात एक सन्त के जीवन में दीखती है वह क्या प्रभु में और भी बढ़-चढ़कर न होगी।

'भला यादव कृष्ण के प्रति कर्मों के समर्पण से क्या होगा? वह तो सामान्य मनुष्य है। इतनी बढ़-चढ़कर बातें कर रहा है।' ऐसी दृष्टि रखने वाले लोग भी तो उस काल में थे। भगवान् के जीवन काल में थोड़े लोग ही निश्चयात्मक रूप से उनको पहिचान पाये थे। उनकी आलोचना होती थी, ऐसा प्रतीत होता है। 18वें अध्याय में भी 'अनसूयश्च' 'दोष-दृष्टि रहित' कहा है (श्लोक 71)। यह आलोचना थी, सम्भवतः इस बात का सूचक है।

जो कृष्ण को सामान्य मनुष्य देखते थे उनके लिये वह सामान्य मनुष्य ही थे। परन्तु जिन लोगों ने उनमें पुरुषोत्तम को पहचाना था उनके लिए वह साक्षात् पुरुषोत्तम थे। बिना ग्रहणशीलता के हम सूर्य के प्रकाश को भी तो नहीं ले पाते हैं। बिना मुँह खोले हम सामने रखा अन्न भी नहीं ग्रहण कर पाते। वह पुरुषोत्तम किसी से बलात्कार नहीं करता। इसलिये वह भावनामय मनुष्य के लिये ही प्रकट होता है और उसी पर कृपा करता है विशेष रूप से।

मेरी दृष्टि में तो गीता की वाणी ही भगवान् की भगवत्ता का परम प्रमाण है। सिवाय पुरुषोत्तम के यह किसी के मुख से निकल ही नहीं सकती।

अर्जुन भी तो कृष्ण में भगवान् को नहीं पहिचानते थे। भगवान् को श्रीमुख से कितना कहना पड़ा और विश्वरूप दिखाना पड़ा, तभी अर्जुन को विश्वास हुआ और उसे कर्म की निष्ठा प्राप्त हो सकी। यदि सामान्य व्यक्ति में ऐसा विश्वास न जगे तो विस्मय की बात नहीं है।

कर्म का समर्पण उपासना का तरीका है। कर्म-समर्पण हमें प्रभु से जोड़ देता है। उसकी चेतना हमें अपने रंग में रंगने लगती है। हम उस जैसे होते जाते हैं। विकार दूर होने लगते हैं। ज्ञान का क्रमशः आविर्भाव होता है। राजस तथा तामस छोड़ते जाते हैं। यह सरल उपाय है कर्मबन्धन से रहित होने का और इस प्रकार से प्रकृति के पार हो जाने का।

'सर्वज्ञानविमूढ़ान' – सभी ज्ञान में निपट मूढ़। ऐसे लोग बिलकुल मूर्ख हैं, वह कुछ भी नहीं जानते। अध्यात्म के मार्ग की उनकी तनिक भी जानकारी नहीं। इसीलिये तो बहकी-बहकी बातें करते हैं।

निपट मूढ़ वह होता है जो जानता नहीं है और यह भी नहीं जानता कि मैं जानता नहीं हूँ। उलटा अपने को पण्डित समझता है। भगवान् और भगवान् के इस रास्ते में दोष देखने वाले ऐसे ही हैं। यदि वह अपने को पण्डित न समझें तो दोष न देखें। शान्त रहकर समझने की चेष्टा करें। अतः वह विमूढ़ हैं।

कर्म की निष्ठा में सहज में विश्वास नहीं होता। बाहर से इसमें कोई अजीबपन नहीं। कोई बाह्य तप नहीं करना होता। कुछ विशेष छोड़ना नहीं होता और न ही पकड़ना होता है। जैसे व्यक्ति रहता और अपने कर्म करता था वैसे ही करते जाना होता है। केवलमात्र अपनी भावना को बदल देना है। कर्म के प्रति दृष्टि बदलनी है और जीवन का केन्द्र बिन्दु भगवान् को बनाना होता है। इस सूक्ष्म परिवर्तन के महत्त्व को स्थूल मति शीघ्रता से ग्रहण नहीं कर पाती। इसीलिए तर्क-वितर्क होते हैं।

इस श्लोक में भगवान् ने बड़ी ज़ोरदार भाषा में कहा है कि जो कर्मनिष्ठा को नहीं समझते हैं वह मूर्ख हैं, पथभ्रष्ट हैं। अर्जुन की भी तो वैसे लोगों में ही गणना थी। वह भी तो बातें बना रहा था कि पाप होगा और अनाचार फैलेगा। कर्मनिष्ठा में पाप-पुण्य का कोई प्रश्न ही नहीं है। वह तो व्यक्ति को इस मानुषी स्तर से उठाकर कर्म करना सिखाती है। इन तुच्छ बातों में फँसा हुआ व्यक्ति अपने लिये ताना-बाना बुनता चला जाता है और उलझता जाता है। सीधा सरल उपाय है इस स्तर से ही ऊपर हो जाना। समुचित भावना से यह सुगमता से हो सकता है।

व्यक्ति का व्यवहार किस प्रकार से नियन्त्रित होता है, इस पर आगामी श्लोकों में विचार किया गया है। कौन रास्ते को पा जाता है और कौन भटकता है? यह कैसे होता है? इस पर प्रकाश डाला गया है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥33॥

'ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार बरतता है। (सभी) भूत प्रकृति का अनुसरण करते हैं। निग्रह क्या करेगा?'।।33।।

वह लोग जो इस रास्ते पर विश्वास नहीं करते उनका क्या दोष है? ऐसी ही उनकी प्रकृति बन गई है। मूढ़ व्यक्ति अपनी मूर्खता से लाचार होता है, ज्ञानवान् अपने ज्ञान से।

हमारा व्यवहार हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र ही तो होता है। जैसे हम होते हैं वैसे ही तो हमारा व्यवहार होता है। हमारा मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा शरीर हमारे व्यक्तित्व के घटक हैं। जैसे वह हैं, जिस प्रकार के इनके संस्कार और स्वभाव हैं वैसी ही इनकी गतियाँ होंगी। वैसा ही हमारा व्यक्तित्व होगा, उसके अनुकूल ही हमारे कर्म होंगे।

बाजे के तारों से अलग-अलग स्वर निकलते हैं। जिस कोटि का तार होता है, छेड़ने से वैसी ही झंकार देता है। राजसिक मन की गतियाँ राजसिक होंगी ही। सात्विक बुद्धि गहरे में जायेगी ही।

ज्ञानवान् व्यक्ति अपने ज्ञान को अलग नहीं रख सकता। वह उसकी प्रत्येक चेष्टा में झलकेगा। इसी प्रकार से मूर्ख व्यक्ति की मूर्खता छिपी न रह सकेगी। यह सर्वत्र ही नियम है। भूतमात्र अपनी प्रकृति का अनुसरण करता है। यह जड़-जगत् में सत्य है और चेतन-जगत् में भी। पत्थर अपने गुरुत्वाकर्षण के नियम का पालन करता है, वनस्पतियाँ और पशु भी अपने-अपने स्वभाव से बढ़ते और परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। व्यवहार सत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है। जो सत्ता है वैसी ही व्यवहार में प्रकट होती है।

परिवर्तनशील सत्ता को भूत कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे becoming कहा जाता है।

'निग्रहः किं करिष्यति?' निग्रह क्या करेगा? बलात्कार से क्या होगा। कुछ न होगा। वह व्यर्थ है। बलात्कार होता है बलपूर्वक किसी भूत की चेष्टा को बदल देना। जब तक बाह्य-शक्ति ज़ोरदार रहेगी, वह चेष्टा बदली रहेगी; जब वह बाह्य-शक्ति हटा ली जायेगी, वह चेष्टा फिर पूर्ववत् होने लगेगी। इस प्रकार के आकस्मिक प्रभाव से भूतों में परिवर्तन नहीं होता।

तो क्या परिवर्तन की गुंजाइश ही नहीं? इसका अर्थ कदापि यह नहीं। यदि व्यक्ति का व्यवहार बदल ही न सकता तो सभी शास्त्र और सदुपदेश

व्यर्थ होते। व्यक्ति का व्यवहार बदल सकता है परन्तु उसके लिए व्यक्ति की प्रकृति को ही बदलना होगा। यदि हम चाहते हैं कि ज्ञानवान् व्यक्ति की तरह व्यवहार करें तो हमें ज्ञानवान् होना होगा। यदि हम चाहें कि हम बहुत शारीरिक परिश्रम कर पायें तो हमें शारीरिक बल का उपार्जन करना होगा।

प्रकृति बदली जा सकती है। सभी साधना इसी सत्य के आधार पर टिकी है। विचार की दृढ़ता होने पर वह कर्म में परिणत होता है। वह बार-बार करने पर स्वभाव बनता है। इस प्रकार क्रमशः प्रकृति ही बदल जाती है।

प्रकृति का परिवर्तन समय माँगता है और धैर्यपूर्वक निरन्तर चेष्टा की माँग करता है। जो व्यक्ति पल भर में अपने को बदलना चाहते हैं वह तो कभी सफल नहीं हो पाते। सामान्यतया लोग अपने बदलने के काम को ही सबसे सुगम समझते हैं और इसीलिये शायद इसके लिए निरन्तर प्रयत्न नहीं करते। अंग्रेजी पढ़ने के लिए, डाक्टरी अथवा इंजीनियरिंग सीखने के लिए बरसों लगातार और नियमपूर्वक परिश्रम किया जाता है, तब सफलता होती है। परन्तु अपने को बदलने के लिए न कुछ विचारा जाता है, न चेष्टा की जाती है। समझा जाता है बस, संकल्प के बल पर ही हम सोना बन जायेंगे। परिणामस्वरूप विफलता होती है और व्यक्ति हतोत्साहित हो जाता है।

प्रकृति का परिवर्तन तो एक ओर तेजी से दौड़ती हुई गाड़ी की दिशा बदलना है। एक दम से स्टीरिंग घुमाने से गाड़ी उलट जाती है या स्टीरिंग टूटता है। गाड़ी को हल्का करके धीरे-धीरे दिशा बदली जाती है। ऐसे ही जीवन में करना होता है।

यह भी एक विज्ञान है। इसके भी सुपरिचित नियम हैं। प्रयास से सीखा जा सकता है और धैर्य से प्रयोग में लाया जा सकता है।

जो भी काम हम एक बार करते हैं वह दूसरी बार करना सुगम हो जाता है। अतः, नया स्वभाव डाला जा सकता है।

जैसा हम सोचते हैं वैसा ही हमारा विचारमय कोष होता चला जाता है। स्पष्ट सोचने की चेष्टा से स्पष्ट सोचने योग्य हुआ जाता है।

जैसे हमारे भाव होते हैं वैसा ही हमारा मनोमय कोष होता चला जाता है, प्रेम करने से प्रेम करने वाला और द्वेष करने से द्वेष करने वाला। हमारी चेष्टायें हमें बनाती हैं। हम अपना नव-निर्माण करते चले जाते हैं, प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल चेष्टा के द्वारा। कर्म हमारे निर्माण का साधन है, अतः बहुत

महत्त्व रखता है। हमारा भविष्य इस प्रकार से हमारी वर्तमान चेष्टाओं पर निर्भर करता है। हमारी प्रकृति हमेशा नये ढाँचे में ढलती चली जाती है।

हम जैसे बनना चाहें वैसे प्रभावों को भीतर से जागृत करें और बाहर से संग्रहीत करें। बाह्य प्रभाव भी हमारी प्रकृति के निर्माण में विशेष रूप से गणनीय हो सकते हैं, परन्तु भीतर से विचारशीलता जग जाने पर।

इस विषय में इतना और स्मरण रखने को है कि जैसे-जैसे हम विकास क्रम में आगे बढ़ते हैं, अधिक परिवर्तनशील होते चले जाते हैं। पत्थर की अपेक्षा वनस्पति, वनस्पति की अपेक्षा पशु और पशुओं की अपेक्षा मनुष्य अधिक प्रगतिशील हैं। मनुष्यों में आगे बढ़े हुए अधिक तेजी से आगे चलते हैं। रफ्तार बढ़ती जाती है।

प्रकृति को ही बदल डालने की ओर इशारा है इस श्लोक में। बलात्कार कुछ स्थायी परिवर्तन न कर पायेगा। उस पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

तो व्यक्ति कैसे अपने को बदले?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥34॥

'इन्द्रिय का इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष विशेष रूप से होता ही है। व्यक्ति उनके वश में न आ जाय। वह दोनों (राग तथा द्वेष) उसके शत्रु हैं'॥34॥

व्यक्ति कर्त्तव्य के पथ से च्युत कैसे होता है? कौन सी चीज़ उसे अपने रास्ते से बे-रास्ता कर देती है? राग तथा द्वेष ही उसे रास्ते से भटकाते हैं।

इन्द्रियों में अपने विषयों के प्रति राग तथा द्वेष स्वाभाविक हैं। आँख का विषय रूप है। सुरूप के प्रति राग होता है। सुन्दर रूप देखकर सुख होता है, अतः एक आकर्षण होता है। मानो आँख और सुरूप में एक बन्धन हो जाता है जो दोनों को समीप लाता है। वह आकर्षण आँख में रहता है। इसी प्रकार कुरूप के दर्शन से बुरा लगता है। कुरूप एक विचित्र तनाव पैदा करता है। आँख उसे अपने दृष्टि-पथ से दूर धकेलना चाहती है। यह द्वेष है। जैसे आँख में है, ऐसे ही और इन्द्रियों में भी अपने विषयों के प्रति राग और द्वेष रहते हैं। जहाँ अनुकूलता होती है वहाँ आसक्ति होती है, जहाँ प्रतिकूलता होती है वहाँ द्वेष होता है।

इन्द्रियाँ तो ज्ञान तथा कर्म की विशेषभूत (Specialised) सामर्थ्य हैं। देखने का सामर्थ्य चक्षु हैं और सुनने का कान। जो स्थूल दिखाई पड़ते हैं वह गोलक हैं। वे यन्त्र हैं जिनके द्वारा वह सामर्थ्य प्रकट होता है। वे स्थूल इन्द्रियाँ बिना सूक्ष्म सामर्थ्य के बेकार होती हैं।

हमारे शारीरिक जीवन का इन्द्रियों के साथ घना सम्बन्ध है। खाकर हम जीते हैं। देखकर ही खाने को प्राप्त करते हैं। हाथ-पाँवों को चलाये बिना भोजन की उपलब्धि कैसे हो? हमारी सहज प्रवृत्तियों का उदय भी इन्द्रियों में होता है। इन्द्रियगत राग-द्वेष का सहज प्रवृत्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो खाद्यपदार्थ जीवन धारण के लिए हितकर होता है वही पशु ग्रहण करता है। उसकी घ्राणेन्द्रिय (नासिका) और जिह्वा उसे ठीक बता देती हैं। जहाँ जीवन धारण के लिए अनुकूलता नहीं होती वहाँ से पशु भागता है।

हमारे इन्द्रियगत राग-द्वेष का मूल तो पाशविक सहज प्रवृत्तियों में मिलता है। जो जीवन धारण के अनुकूल होता है उसमें सुख की प्रतीति होती है, अतः वहाँ राग होता है। जो जीवन धारण के लिए अहितकर होता है वहाँ द्वेष होता है। इस राग-द्वेष के कारण ही जीव-लीला चल पाती है। पशु-जगत् में विकासक्रम की यह आवश्यकता ही है। आत्म-रक्षा की सहज प्रवृत्ति इसके मूल में है।

इन्द्रियों में एक प्रकार की चेतना जागृत होती है जो इस राग-द्वेष के लिए जिम्मेदार होती है। हम इसे प्राणगत चेतन (Pranic Consciousness) कहते हैं। वह एक भूतसत्ता को धारण कर लेती है। उसका भी एक प्रारम्भिक व्यक्तित्व होता है। राग-द्वेष इसी चेतन का स्वभावमात्र होता है। जैसे मनुष्य के राग-द्वेष होते हैं वैसे ही इस भूतसत्ता के होते हैं। कुछ उसे रुचिकर लगता है, कुछ अरुचिकर।

मनुष्य में मन का उदय होता है। संस्कारों को जागृत कर लेने और उनके परस्पर जोड़-मेल मिलाने की सामर्थ्य जग जाती है। मनुष्य मनन करते लगता है। मनन से संस्कार का बल बढ़ता है। कल्पना का जगत् भी खुल जाता है। रुचियाँ तथा अरुचियाँ तीव्र हो जाती हैं। इन्द्रियगत राग-द्वेष मन को प्रभावित करते हैं और मनुष्य के मन द्वारा प्रभावित होते हैं। वे अपने पुराने जीव धारण के प्रयोजन से दूर हो जाते हैं। सुख तथा दुःख की प्रतीति इस प्रकार से

सहज स्वाभाविक उपयोगिता से सम्बद्ध नहीं रहती। प्राण तथा मन का निजी धर्म प्रबल हो जाता है।

प्राण प्रबलता और प्रबलतम स्पन्दनों को पाकर अपनी जड़ता को खोना चाहता है। अत: व्यक्ति में नित्यनूतन वेगवती अनुभूतियों की माँग जगती है। काम की लिप्सा और तीखे भोजन की लोलुपता इसी का सूचक है। अतृप्तता भी प्राण का ही स्वभाव है। अत: वह फिर-फिर इन्द्रियगत तीव्र अनुभवों को चाहता है। राग-द्वेष अपनी उपयोगिता को खो देते हैं। उनका क्षेत्र अब प्राण के निजी स्वभाव पर निर्भर करने लगता है। मन कल्पनामय मनन के द्वारा इन्हें प्रबल कर देता है।

इन्द्रियों का उपयोग है जीवन धारण के लिए और इस स्थूल-जगत् में क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए जिससे हम विकास-पथ पर अग्रसर हो सकें। कर्म और योग ही तो विकास का सीधा मार्ग है। परन्तु इस प्रकार से इन्द्रियों में जगा हुआ राग-द्वेष व्यक्ति को पथ-भ्रष्ट करता है। राग सुख की लालसा को प्रबल करता है। इन्द्रियाँ सुखमयी अनुभूतियाँ चाहती हैं और दु:खमयी अनुभूतियों से दूर भागना चाहती हैं। यह सुख से राग और दु:ख से द्वेष जैसे-जैसे प्रबल होता है हमारा जीवन इन्द्रियों में केन्द्रित होने लगता है। मन उसी विषय का मनन करता है, बुद्धि उसकी प्राप्ति के उपाय सोचती है। शरीर उसके लिए चेष्टायें करता है। हम इन्द्रियों के सुख की प्राप्ति के लिये ही जीने लगते हैं। जो दास है सो स्वामी बन जाता है। घोड़े पर सवार सवारी नहीं करता, सवार पर घोड़ा सवार होकर सैर करता है। यह जीवन का दुरुपयोग है। जीवन का वैफल्य है।

हम अच्छा खाने के लिए जीने लगते हैं। मुधर गानों को सुनने से ही जीवन को सार्थक मानते हैं। मधुर गन्धों के बिना और सौन्दर्य के बिना जीवन को व्यर्थ समझते हैं। आज ऐसा ही तो सोचा जाता है कि यदि इन्द्रियों के सुख नहीं तो जीवन क्या है? वनस्पति की तरह उगना है या पड़े-पड़े सड़ना है। यह भौतिकवाद का दृष्टिकोण है।

जीवन की उपयोगिता, जीवन की इन्द्रिय-सुख के लिए बलि देना नहीं है। यह उसकी दुरुपयोगिता है। यह कौड़ी की खातिर हीरे को खोना है।

यह उलट-फेर क्योंकर होता है? इन्द्रियगत राग तथा द्वेष के कारण। यह राग-द्वेष प्रबल होकर बुद्धि पर अधिकार पा लेता है। हम विवेक को भी खो

देते है। इन्द्रियगत सुख ही जीवन का परम लक्ष्य दीखने लगता है। हम भूल जाते हैं कि इन्द्रियाँ तो हमारे उपयोग के लिए हैं। इनके द्वारा हम कर्म करके विकास के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। वह भूलोक में अनुभव के साधन-मात्र हैं।

इस राग-द्वेष का इतना घोर परिणाम होता है इसलिए इनको शत्रु कहा है। शत्रु से अहित होता है, राग-द्वेष से अहित होता है।

घोड़ा रास्ते चलता हुआ रास्ते के किनारे पर उगने वाली घास से प्रलोभित होकर रुक जाता है। रास्ता छोड़कर घास खाने लगता है। उसकी यात्रा अधूरी रह जाती है। ऐसा ही हाल मनुष्य का होता है। वह अपने को इन्द्रियों में खो देता है। वह इन्द्रियाँ अपना सुख ढूँढने में जीवन लगा देती हैं।

अतः चेतावनी दी है – 'उनके वश में न आये'। शत्रु को पहिचान लेने से बचा जाता है। यह श्लोक हमें पहिचान बताता है। राग-द्वेष को पहिचानता हुआ व्यक्ति ही स्वधर्म पर चल सकता है, अन्यथा पग-पग पर वह रास्ते से बहक जायेगा। राग-द्वेष ही तो व्यक्ति को स्वधर्माचरण से रोकते हैं। व्यक्ति सोचता है 'जरा ठहरो जी, अभी खाना खाया है। पहुँच ही तो जायेंगे। कौन सभी लोग समय पर पहुँचेंगे। सोचता है वर्षा हो रही है, कोई नहीं आने का, हम जा कर क्या करेंगे'।

यह आकर्षण – यह इन्द्रियगत सुख-लिप्सा व्यक्ति को अन्धा करती है। उचित-अनुचित का विवेक गंवा देती है और कभी-कभी तो पशु से भी नीचे ले जाती है।

इससे अपने को भरसक बचाने का प्रयत्न करना चाहिये।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥35॥

गुण-रहित स्वधर्म भली प्रकार से निभाये गए परधर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है। स्वधर्माचरण में मृत्यु भी श्रेष्ठ है। परधर्म तो भय का कारण है॥35॥

यह सारी चर्चा अर्जुन को स्वधर्म में प्रेरित करने के लिए ही थी। इन्द्रियगत राग-द्वेष व्यक्ति की बुद्धि को भ्रमित कर देता है, उसे स्वधर्म से च्युत कर देता है। यह बताकर फिर लौट करके मौलिक-तत्त्व का ज़ोर से प्रतिपादन करते हैं वर्तमान श्लोक में।

श्लोक के पूर्वार्ध में तुलना की गई है। तुला के एक ओर गुण-रहित स्वधर्म है और दूसरी ओर स्वनुष्ठित परधर्म है। इन दोनों में कौन बड़ा है? गुण-रहित स्वधर्म ही बड़ा है। यह भगवान् की निश्चित मति है।

स्वधर्म के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। कर्म-योग के मौलिक सिद्धान्त का विवेचन करते समय स्वधर्म को व्यक्ति तथा समाज दोनों दृष्टियों से समझना होगा। व्यक्तिगत दृष्टि से स्वधर्म व्यक्ति के विकास का मार्ग है। तीसरी कक्षा के विद्यार्थी का स्वधर्म उस कक्षा की पाठ्य-पुस्तकों का अध्ययन होता है। माता का स्वधर्म बच्चे का पालन-पोषण होता है। उसी से मातृत्व का विकास हो पाता है। व्यक्तिगत दृष्टि से स्वधर्म वह कर्म है जो हमें विकास क्रम में अधिकाधिक तेजी से आगे ले जा सकता है, वह जो हमारी स्थिति के लिये बिल्कुल ठीक है। उसके करने से हममें प्रतिक्रिया नहीं होती है। पश्चात्ताप नहीं होता। वह हमारी वर्तमान प्रकृति के अनुसार होता है।

स्वधर्म के इस स्वरूप को समझ लेने से व्यक्ति उलझता नहीं। पाप-पुण्य का इसमें प्रश्न ही नहीं। सुख-दु:ख का भी कोई प्रश्न नहीं। वह सभी बातें गणनीय नहीं हैं। गणनीय है तो केवलमात्र कर्म की विकास-क्रम में उपयोगिता। वही स्वधर्म की निर्णायक हो सकती है।

इसका अर्थ स्पष्ट है कि व्यक्ति के, अर्थात् उसकी प्रकृति के परिवर्तन के साथ-साथ स्वधर्म बदलता है। कर्म करने वालों को नये ढाँचे में ढालता चला जाता है। करने वाला बदलता है और उसका स्वधर्म भी बदलता है। विकास-क्रम में यह स्वाभाविक ही है। शूद्रयोनि से वैश्य योनि, फिर क्षत्रिय और फिर ब्राह्मणयोनि – यह योनि-क्रम भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। पुरानी धारणा इसी प्रकार थी।

परधर्म क्या है? जो हमारा स्वधर्म नहीं, किसी दूसरे का स्वधर्म है। दूसरे व्यक्ति को जब हम उसका कर्म करते हुए देखते हैं, उसे उसमें सुखी देखते हैं और उसके कर्म की प्रशंसा सुनते हैं तो हम ललचा जाते हैं। सोचते हैं 'वह काम अच्छा है, जो हम करते हैं सो अच्छा नहीं'। ललचाकर हम अपना काम छोड़ देते हैं। ऐसा होता है बहुत बार धन के लोभ से, मान की चाह से और कभी स्वधर्म में क्लेशादि के भय से। मैंने एक डाक्टर को डाक्टरी छोड़कर ठेकेदारी करते देखा है।

प्राय: हम दूसरे का काम भलीभाँति कर ही नहीं सकते। दूसरे के कर्म के लिए हमारा उपयुक्त संस्कार नहीं रहता। परन्तु कभी दूसरे का काम बड़ा आसान होता है। हम आसानी से उसे कर सकते हैं और अच्छा कर सकते हैं। तो क्या हमें वैसा करना चाहिए? 'हमें अपना कर्म करने में कष्ट उठाना पड़ता है, परिश्रम होता है। दूसरे का काम हम आसानी से कर सकते हैं। क्यों न उसे ही कर लें'। ऐसा प्रलोभन होता है। यह है प्रलोभन ही। वैसा करने से हम विकास-क्रम में आगे न बढ़ पायेंगे। चौथे दर्जे के विद्यार्थी के लिए तीसरे दर्जे के प्रश्न सुगम होते हैं। चौथे के प्रश्नों की अपेक्षा वह उन्हें सुगमता से कर सकता है। तो क्या वैसा ही करना चाहिए? वैसा करने से उसका कुछ हित नहीं होता। पढ़े हुए पाठों के पढ़ने से न जानकारी बढ़ती है न योग्यता ही बढ़ती है। इसी कारण से हमें परधर्म को इसलिए नहीं करना है कि हम उसे सुगमता से कर सकते हैं। हमें तो आगे बढ़ना है। आरामतलबी तो व्यक्ति को आगे नहीं ले जाती। समुचित प्रयास से ही व्यक्ति आगे बढ़ता है। स्वधर्म उस बात की माँग करता है। करना तो स्वधर्म ही चाहिए, भले ही उसके करने में कष्ट क्यों न हो। स्वधर्माचरण ही व्यक्ति को आगे ले जा सकता है। कठिनाइयाँ व्यक्ति में बल की जागृति करती हैं। वह उसे योग्य और धीर बनाती हैं। कठिनाइयों से मनुष्य ऊँचे उठा करते हैं।

यह आगे जाना क्या है? यह विकास क्या अर्थ रखता है? गीता की भाषा में भागवती-चेतना – भगवद्-भाव की प्राप्ति – ही तो जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। वह है चेतना के विकास की चरम सीमा। उस ओर बढ़ना आगे जाना है। हमारी अग्रगति ही हमारे कर्म की उपयोगिता का मापदण्ड है। अस्तु।

यह तो है स्वधर्म के विषय में व्यक्तिगत दृष्टि।

व्यक्ति समाज का अंग है। वह जो कुछ है, समाज की देन के परिणाम स्वरूप है। जैसे बीज से पेड़ के बनने में बीज का निजी तो केवलमात्र सामर्थ्य ही होता है। बाकी सभी कुछ जल तथा भोजनतत्व तो उसे पृथ्वी और वातावरण से मिलते हैं। ऐसा ही हाल मनुष्य का है। शरीर के पोषण के लिए, बुद्धि तथा इन्द्रियों के विकास के लिए और आज के खाने-पीने आदि सभी व्यापारों के लिए वह दूसरों का आभारी है। गेहूँ की एक रोटी के लिए उसे सैंकड़ों हजारों का आभार है। गेहूँ का बीज जहाँ से आया,

जिसने हल चलाया, जिसने हल बनाया, जिसने उसका लोहा खोदा, जिसने खोदने वालों की आजीविका का प्रबन्ध किया, उन सभी का आभारी होता है मनुष्य। फिर यातायात के साधनों को बनाने में जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष योग है उन सब के प्रति गेहूँ की रोटी खाने वाले की देनदारी है। इस उदाहरण से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि हमारा जीवन कितनी मात्रा में समाज की देन है। समाज की इस अनन्त देन के बिना हमारी इस भूलोक में क्या सत्ता है, इसकी कल्पना की जा सकती है। समाज व्यक्ति को देता है और व्यक्ति समाज को देता है। जो व्यक्ति समाज से लेता है परन्तु देता नहीं, वह समाज का चोर है।

समाज में एक व्यवस्था है जिससे यह आदान-प्रदान का क्रम चलता है। उस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति को कुछ काम करना होता है। सभी व्यक्तियों को एक सा काम तो दिया नहीं जा सकता। व्यक्तियों में भेद है। प्रकृति के और कर्म भी अनेक प्रकार के हैं जो सभी होने चाहियें। अत:, जिसको जो काम मिले उसे वही करना चाहिये। तभी समाज की व्यवस्था ठीक चलती है। जैसे एक बड़े कारखाने में जिसको जो काम सौंपा जाता है, वह वही काम करता है तभी कारखाना ठीक चल पाता है। जब कोई व्यक्ति अपने काम को छोड़कर दूसरे के काम को करता है तो वह अव्यवस्था का कारण होता है। जिसका काम वह करता है वह बेकार हो जाता है या किसी दूसरे के काम को छीनता है। जो व्यक्ति अपना काम छोड़ता है, उसका काम कौन पूरा करेगा? सम्भवत:, वह न किया ही रह जायेगा। समाज को उससे हानि होगी।

यदि सभी लोग तकलीफ वाला काम न करना चाहें, तो समाज की गाड़ी चल ही नहीं सकती। जब वह काम समाज का है और हमें सौंपा गया है तो हमें करना ही होगा। वैसा करके ही हम समाज के प्रति अपनी देनदारी को चुका सकते हैं। हम दूसरों के परिश्रम की देन को खाते हैं तो हमें भी दूसरों के लिये परिश्रम करना चाहिये। आदान-प्रदान पर ही तो समाज की व्यवस्था आश्रित है।

यहाँ भी पाप और पुण्य का प्रश्न नहीं। जब हमें समाज की देनदारी चुकानी है, तो चुकानी ही है। उसके लिए अभी ही कष्ट उठाना पड़े तो अभी उठाना चाहिये। लोगों ने भी तो हमारे लिए कितना कष्ट उठाया है। यदि

बाद में उठाना पड़े तो वह भी उठाना ही चाहिये। पाप से बाद में कष्ट होता है। यही तो है पाप का स्वरूप। समाज के प्रति देनदारी को चुकाने में यदि बाद में कष्ट उठाना पड़े, नरक में भी जाना पड़े, तो उसके लिए भी तैयार रहना ही चाहिए। अतः, पाप अथवा पुण्य का यहाँ भी प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। वह तो अत्यन्त स्वार्थ-मूलक दृष्टि है। वह व्यक्ति को कर्त्तव्यभीरु बना देती है। वर्तमान तथा आगामी सुख या दुःख तो हमारे कर्म की दिशा के निर्णायक न होने चाहियें। व्यक्तिगत दृष्टि से विकास और सामाजिक दृष्टि से समाज का हित ही हमारा पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। स्वार्थ तो व्यक्ति तथा समाज दोनों को विनाश की ओर ले जाता है।

इस श्लोक के अपरार्ध में उसी बात को और अधिक बल देकर कहा है।

स्वधर्माचरण में मृत्यु श्रेष्ठ है। स्वधर्म प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् है। प्राण देकर भी स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिए। आखिर जीवन की उपयोगिता किसमें है? व्यक्तिगत दृष्टि से, विकास में। वह जीवन ही किस काम का जो हमें प्रभु की ओर ले जाने में असमर्थ रहे। यदि हम स्वधर्म को न करके जान बचा सकते हैं तो यह बचाई हुई जान व्यर्थ होगी। वह जीवन बेकार का बोझा होगा। और यदि प्राण देकर हम स्वधर्म को निभाते हैं, तो वह मृत्यु हमें प्रभु की ओर ले जाने वाली होगी। अतः, मृत्यु प्रशंस्य है, स्वधर्माचरण का परित्याग निन्दनीय है।

और 'दूसरे का धर्म भयदायक है'। व्यक्तिगत दृष्टि से भयदायक है। क्योंकि दूसरे के धर्म का पालन करने से व्यक्ति आगे नहीं बढ़ पाता। उसे परधर्म को करने के लिए स्वधर्म का त्याग भी करना ही पड़ता है। अतः वह पतन का कारण हो जाता है। सामाजिक दृष्टि से परधर्म का आचरण भयदायक है क्योंकि अव्यवस्था का कारण होता है। उससे समाज को हानि पहुँचती है। हम अपनी देनदारी न चुकाकर उलटा समाज का अपराध करते हैं।

पाप-पुण्य की दृष्टि तो अति संकुचित स्वार्थमयी दृष्टि है। इस दृष्टि के अनुसार जीवन के महत्तम तत्व सुख तथा दुःख ही हैं। वह किसी भी मूल्य पर ले लेने चाहियें। परन्तु सुख की अन्धाधुन्ध खोज ही सुख का हनन कर देती है। वैसा करने में स्वार्थ और तन्मूलक पाप पनपता है, अतः वह दुःख

का कारण बन जाती है। सुख संग्रहीत हो नहीं पाता है क्योंकि सुलभ हुआ सुख अपने रस से रहित हो जाता है। अतः यह दृष्टि वास्तविकता से दूर है, अव्यावहारिक है, व्यक्ति को आगे नहीं ले जा सकती, उसे स्वार्थी और सुस्त बना देती है। कर्त्तव्यपरायणता के लिए इसमें गुंजाइश नहीं है।

कर्मयोग की विशाल दृष्टि इन क्षुद्र गणनाओं से ऊपर रहती है। वह अभ्युदय तथा निःश्रेयस् का रास्ता दिखाती है। वह व्यक्ति तथा समाज का कल्याण कर सकती है।

यहाँ पर यह प्रसंग समाप्त होता है।

क्या कारण है व्यक्ति के पथभ्रष्ट हो जाने का? यह इस स्थिति में सहज उत्पन्न होने वाला प्रश्न है। इस अध्याय के अगले श्लोक इसी प्रश्न के विवेचन के लिये हैं। अर्जुन प्रश्न उठाता है –

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥36॥

अर्जुन बोला – अब, हे वार्ष्णेय! न चाहता हुआ भी मनुष्य किसके द्वारा प्रेरित किया गया पाप करता है, मानो बलपूर्वक पाप में लगा दिया गया हो॥36॥

यह मनुष्य की सामान्य समस्या है। वह जानता है बुराई को, हटना चाहता हुआ भी हट नहीं सकता। दुर्योधन ने यही तो कहा था। **'जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'** – मैं अधर्म को जानता हूँ, परन्तु हटता नहीं अर्थात् हट नहीं सकता।

विकास-क्रम में एक स्थिति होती है जब बुरे-भले का विवेक नहीं होता। वह पशु की सी स्थिति है। उसमें बुराई से बचने या न बचने का प्रश्न ही नहीं। आगे चलने पर विवेक जगता है। बुराई को व्यक्ति बुराई जानता है परन्तु निम्न प्रकृति इतनी प्रबल होती है कि व्यक्ति अपने को रोक नहीं सकता। सामान्य मनुष्य की यही अवस्था है। अर्जुन का प्रश्न इसी अवस्था के विषय में है। इस अवस्था में भीतर संघर्ष चलता है, आदमी गिरता-उठता चला जाता है। धीरे-धीरे विवेक प्रबल होता है और निम्न प्रकृति अपेक्षाकृत

दुर्बल होती जाती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति का अपने व्यवहार पर अधिकार बढ़ता चला जाता है। उसकी लाचारी कम हो जाती है।

अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से पूछा। 'अथ' प्रसंग के परिवर्तन का सूचक है। मैं अब इस विषय में जानना चाहता हूँ। 'प्रयुक्त' का अर्थ है लगाया हुआ, जोड़ा हुआ, प्रेरित किया हुआ। 'पूरुषः' मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स्त्री-पुरुष के भेद से तात्पर्य नहीं है। जो हमारी चेतन-सत्ता है, जो मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों की अधिष्ठाता है वही 'पुरुष' है।

मनुष्य जो पाप करता है उसमें कौन उसे प्रेरित करता है? वह चाहता तो नहीं कि वह पाप करे, परन्तु मानो कोई दूसरी शक्ति उसे करने के लिए बाधित कर देती है। जब आँधी बहुत ज़ोर की होती है तो व्यक्ति अपने को भूल जाता है। उसे भलाई-बुराई का, करने योग्य अथवा न करने योग्य का, विवेक नहीं रहता। काम तथा क्रोध का वेग ऐसा ही होता है। यह मूढ़ अवस्था है। जब वह आँधी बीत जाती है तब मनुष्य पछताता है। तब उसे पता चलता है कि मैं क्या कर बैठा। मैंने कितना पाप कर डाला! तब तो कुछ भी उसके हाथ में नहीं रहता। जो होना था सो तो हो ही चुकता है।

एक दूसरी अवस्था है। जब आँधी आने लगती है तब मनुष्य को दिखाई पड़ती है। उसे हटाना चाहता हुआ भी हटा नहीं पाता। जब आँधी आती है तब भी जानता है कि आँधी आ रही है, परन्तु रोकने में अपने को लाचार पाता है। व्यक्ति उस आँधी में भी साक्षी बना रहता है, निर्लिप्त रहता है।

निम्न प्रकृति के खेल को देखता है, जैसे कोई दर्शक सिनेमा में खेल देखता है। ऐसा तब होता है जब वास्तविक निवृत्ति आरम्भ हो जाती है, संस्कारों का क्षय होने लगता है। प्रवृत्ति में तो साक्षी भाव असम्भव होता है। व्यक्ति निम्न प्रकृति की गतियों में अपने को खो देता है। वह कामरूप हो जाता है क्रोधरूप हो जाता है। उस समय विवेक शून्य होता है।

'बलादिव नियोजितः' मानो बलपूर्वक किसी ने लगा दिया हो। काम-क्रोध का प्रभाव ऐसा ही होता है। मनुष्य परवश हो जाता है। उसे दोष देना उसकी लाचारी को न समझना है। आवश्यकता है ऐसे व्यक्ति की सहायता करने की जिससे वह अपनी लाचारी पर विजय पा सके। जब हम पाप को ठीक समझ लेते हैं, तो न पापी पर क्रोध आता है और न ही उससे

घृणा होती है। वह दयनीय प्रतीत होता है। जैसे रोगी के उपचार की आवश्यकता होती है, ऐसे ही उसके उपचार की आवश्यकता प्रतीत होती है। वृष्णि वंश का होने के कारण भगवान् को 'वार्ष्णेय' ऐसा सम्बोधित किया गया है।

आगामी श्लोकों में हमें काम-क्रोध का बड़ा गहरा विवेचन मिलेगा।

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥37॥

श्री भगवान् ने कहा – 'यह काम है, यह क्रोध है, रजोगुण से पैदा होने वाला। यह महापेटू है, महापापी है। इसे तुम इस विषय में वैरी जानो'॥37॥

क्या होता है काम? क्या होता है क्रोध?

तृप्ति की चाह काम है। तृप्ति के लिए वह बाहर की ओर झांकता है। यह करता है व्यक्ति को बहिर्मुखी। व्यक्ति मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् में उपभोग की कामना करता है। इसका मौलिक रूप है कामना, इच्छा, चाह। महात्मा बुद्ध इसी को तन्ना-तृष्णा कहा करते थे।

इसके प्रभाव में आकर व्यक्ति की चेतना बाहर दौड़ती है। जब यह प्रबल होता है तो व्यक्ति अपनी भीतर की स्थिरता को खो बैठता है – अकेन्द्रित (Centre out) हो जाता है। इसी का विशेषरूप वासना होती है वह जो स्त्री में पुरुष के लिए और पुरुष में स्त्री के लिए। वासना से व्यक्ति पागल हो जाता है। उसकी तृप्ति के साधन की ओर दौड़ता है। अकेन्द्रित हो जाता है। यह तो क्षणिक आवेग होता है, जो इतना घोर होने के कारण पहिचाना जाता है। सामान्यतया काम अलक्षित रूप से हमें प्रभावित करता रहता है।

'क्रोध' गुस्सा होता है। गुस्से में भीतर का मन्थन होता है। जैसे हँडिया में मट्ठे का मथानी से मन्थन होने पर जो उसकी दशा होती है वही दशा व्यक्ति की क्रोधावस्था में हो जाती है। लाल-लाल आँखे, फड़कते हुए होंठ और काँपता हुआ शरीर, इसकी तस्वीर है। व्यक्ति अपने में नहीं रहता। वेग से बहती हुई नदी के सामने पर्वत की चट्टान आने पर उसकी जो दशा होती है वही दशा मनुष्य के भीतर हो जाती है।

काम तो बाढ़ की नदी है, क्रोध उसमें भंवर है। यदि काम आँधी है तो क्रोध वायु का गोला है। काम का वेग वस्तु को प्राप्त करके समाप्त हो जाता है कुछ समय के लिए, क्रोध तो व्यक्ति को नचाता है वायु गोले की भाँति, भंवर की तरह। उसमें पड़कर निकलना मुश्किल हो जाता है।

वस्तुतः यह दो रूप होते हुए भी एक ही हैं। भीतर से एक-सा प्रभाव रखते हैं। व्यक्ति को अकेन्द्रित कर देते हैं। भीतर वाला मथा जाता है। व्यक्ति पागल हो जाता है, पथ-भ्रष्ट हो जाता है इसके प्रभाव में। इसलिए ज़ोर देकर कहा **'काम एष क्रोध एष'** – 'यह काम है, यह क्रोध है।' एक ही शत्रु के दो रूप हैं।

'रजोगुणसमुद्भवः' रजोगुण से पैदा होता है। रजोगुण गति है, परिवर्तन है, चंचलता है। काम और क्रोध तो तीव्र हैं ही। वह आँधी हैं – प्रबल बाढ़ हैं। रजोगुण के शान्त होने पर ये भी शान्त हो जाते हैं।

'महाशनः' बहुत खाने वाला। कामना की तृप्ति तो असम्भव होती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

'कामनाओं की पूर्ति करने से कामना (काम) शान्त नहीं होती। जैसे घी डालने से अग्नि और बढ़ती है, ऐसे ही पूर्ति करने से कामना और बढ़ती है।'

इसी को निन्यानवें का चक्कर कहा जाता है। 99 होने के उपरान्त 100 होता है। फिर व्यक्ति दूसरे सैंकड़े की सोचने लगता है, फिर तीसरे की। इस प्रकार से व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति कभी होती ही नहीं। जितनी प्राप्ति होती है उतनी ही चाह बढ़ती है। **'ज्यों प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'** वस्तुतः सत्य है। इसी बात को प्रकट करने के लिए कहा है कि काम बहुत पेटू है। खाते-खाते यह अघाता ही नहीं।

यह काम तो बड़ा पेटू है और यह क्रोध 'महापाप्मा' – बड़ा पापी है। यह महापाप है क्योंकि पापों का मूल है। जब काम जगकर क्रोध का रूप धारण करता है तब भीतर आँधी आती है – फिर व्यक्ति की मति भ्रष्ट होती है।

वह दूसरे अध्याय में जो कहा था – **'कामात् क्रोधोऽभिजायते'** काम से क्रोध पैदा होता है। वह ठीक ही तो है। इन दोनों में केवल अवस्था-भेद

ही तो है, बहता पानी टकराने पर खलबली करता है, बहती हुई आँधी रुकावट आने पर ही तोड़फोड़ कर पाती है।

यह काम जब क्रोध के रूप में परिणत होता है तभी व्यक्ति को पाप कर्म में प्रवृत्त करता है। काम-वासना के विषय में भी यही बात है। जब बढ़ा हुआ काम व्यक्ति को अन्तर्मथन की अर्थात् क्रोध की अवस्था में ले आता है तभी तो वह पागल होता है। तभी वह उचित-अनुचित के विवेक को खो बैठता है, तभी वह पाप कर्म करता है।

यह क्रोध महापाप है। पापों का मूल होने के कारण महापाप कहा गया है। यदि भीतर क्रोधमयी, गड़बड़ वाली स्थिति न आये तो व्यक्ति बुराई न कर सके।

अन्तिम पाद में कहते हैं 'इसे तुम इस विषय में शत्रु जानो'। अर्जुन ने पूछा था कौन है जो व्यक्ति से बलात् पाप करवाता है। उसका उत्तर है – 'यह काम बुराई करवाता है, यह क्रोध करवाता है, यही शत्रु है, इसके दो रूप हैं, इन्हें पहिचान लो।'

काम-क्रोध के शत्रुत्व की चर्चा तो प्रचलित ही है। इनका विकासक्रम में जो स्थान है उसे पहिचानना आवश्यक है। तभी हम इनको ठीक समझ पायेंगे और इनसे निवृत्ति प्राप्त कर सकेंगे।

जड़ जगत् में काम-क्रोध नहीं है। वनस्पति-जगत् में इसके स्पन्दन प्रारम्भ होते हैं। पशु में स्पष्ट होते हैं और मनुष्य में प्रबल होते है।* इसकी प्रवृद्धि के साथ ही हम शक्ति का उदय भी देखते हैं। चेतना का विकास भी इसके साथ लगा है। विकास की एक स्थिति तक लाने में यह व्यक्ति के लिये प्रेरक होते हैं। काम ने ही मनुष्य को आज के विज्ञान की स्थिति लाभ करवाई है। मस्तिष्क में उड़ान भरने का सामर्थ्य दिया है।

बढ़ता हुआ काम एक ओर तो बल जागृत करता है, दूसरी ओर स्वार्थ बढ़ाता है। व्यक्ति के अहं को पुष्ट करता है। उस कारण से व्यक्ति बुराई करता है। दूसरों पर अत्याचार करता है। बलात्कार करता है। इस पापाचरण के परिणाम-स्वरूप दु:ख होता है उसे भी और समाज को भी। काम के कारण होने वाले हित और इस अहित को – दोनों को समझने की

*इस विषय में अधिक जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक 'उत्पादिनी शक्ति' देखनी चाहिए।

आवश्यकता है। काम का आधार अहं ही होता है और बन्धन भी अहं से ही होता है। ममता का तन्तु भी इसी से बँधता है। जब इस प्रकार से अन्तर्विरोधात्मक स्थिति पैदा हो जाती है तब व्यक्ति तैयार होता है काम से ऊपर उठने के लिये। काम व्यक्ति को तमोगुण से रजोगुण में ला सकता है, परन्तु सत्व में प्रवेश करने के लिए इसे लांघना होता है। जो तमोगुण से रजोगुण में लाने के लिए सहायक होता है वही सत्त्वगुण में जाने में बाधक होता है।

इसी का विशद वर्णन आगामी श्लोकों में किया जाता है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥38॥

जैसे धुएं से अग्नि और मल से दर्पण ढका जाता है तथा जैसे झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह (ज्ञान) ढका हुआ है।

कैसे ढका है? इसके लिए तीन उदाहरण दिये गये हैं॥38॥

'धुएं से जैसे आग ढकी जाती है', इसी प्रकार से काम-क्रोध से ज्ञान ढका जाता है। ज्ञान तो अग्निरूप है ही। अज्ञान के अन्धकार को दूर कर देता है, इसीलिए ज्ञानाग्नि कही जाती है। काम-क्रोध धुएं की तरह हैं। धुआँ आग को बुझा तो पाता नहीं, उसकी ज्वालाओं को थोड़े समय के लिए शान्त कर देता है। वायु के मिलने से फिर आग चमक उठती है, धुआँ लुप्त हो जाता है। काम-क्रोध भी ज्ञान के प्रचण्ड होने पर लुप्त हो जाता है।

जैसे मुँह देखने वाले शीशे पर मिट्टी पड़ जाने से वह ढक जाता है, ऐसे ही काम-क्रोध का वेग व्यक्ति के ज्ञान को ढक देता है। शीशे पर धूल पड़ जाने पर मुँह साफ नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार से इस वेग के जगने से व्यक्ति को अपना भान नहीं रहता। मैं क्या हूँ? कौन हूँ? मेरे लिए क्या उचित है और क्या अनुचित है? यह कुछ उसे पता नहीं चलता। हमारा अन्तःकरण रूपी शीशा काम-क्रोध की धूल से ढक जाता है। फिर हम अन्धे हो जाते हैं। आत्मविस्मृति हो जाती है।

तीसरे उदाहरण में कहा, 'जैसे झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, ऐसे काम-क्रोध से ज्ञान ढका रहता है। गर्भ उसमें बन्द रहता है'। वह पैदा होता

है, झिल्ली फट जाती है। झिल्ली का बन्धन उत्पत्ति पर समाप्त होता है। बच्चा माँ के गर्भ में तो झिल्ली के आवरण में ही बढ़ता रहता है। गर्भाधान से ही झिल्ली बनने लगती है। वह बढ़ता है झिल्ली बढ़ती है। एक दिन वह उस झिल्ली से बाहर स्वतन्त्र जीवन के योग्य होता है। पहिले तो उसको भोजन झिल्ली के द्वारा ही मिलता था। प्रकृति उस बन्धन को तोड़ देती है। बच्चा माँ के पेट से बाहर आ जाता है।

जैसे बच्चा माँ के पेट में झिल्ली से घिरा रहता है ऐसे ही व्यक्ति का ज्ञान काम-क्रोध से ढका रहता है। उस काम-क्रोध के आवरण में ही ज्ञान पुष्ट होता रहता है। किसी दिन वह ज्ञान इतना बलवान् हो जाता है कि झिल्ली को फाड़ कर प्रकट हो जाता है।

यह तीनों उदाहरण काम, क्रोध तथा ज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। प्रचण्ड हुई ज्ञान की अग्नि काम-क्रोध को छिन्न-भिन्न कर सकती है। धुएं की अपनी कोई सत्ता नहीं है। उस अग्नि से ही पैदा होकर उसे ढाँपता है और अग्नि के प्रचण्ड होने पर समाप्त हो जाता है।

दूसरा उदाहरण काम-क्रोध कैसे आत्मविस्मृति का कारण होता है, यह बताता है। शीशे में मुँह दिखाने का सामर्थ्य ही नहीं रहता जब उस पर धूल पड़ जाती है। ज्ञान, ज्ञान ही नहीं रहता जब काम-क्रोध की धूल उड़ती है। व्यक्ति वास्तव में जड़ हो जाता है – पशु से भी नीचा हो जाता है, आवेश में आया हुआ।

तीसरा उदाहरण बताता है कि काम-क्रोध से आवृत्त होने पर भी विकास क्रम में ज्ञान की वृद्धि होती चली जाती है। वही जो पहिले ज्ञान को पुष्ट करता था पीछे बन्धन का कारण होता है। काम-क्रोध विकास क्रम की प्राथमिक अवस्था में चेतना के विकास में सहायक होता है। उसे तमोगुण से रजोगुण में ले आते हैं। वही फिर सतोगुण में जाने में बाधक होते हैं। तब उस आवरण का भेद हो जाता है। ज्ञान उस बन्धन से छूट जाता है। झिल्ली के द्वारा ही तो गर्भ को भोजन मिलता है। उससे उसकी वृद्धि होती है। बढ़े हुए गर्भ के लिए झिल्ली ही बन्धन होती है। तब वह फोड़ दी जाती है। कैसा सुन्दर उदाहरण है। यही काम-क्रोध की दशा है।

जब काम-क्रोध विकास में बाधक होता है तो शत्रु होता है। अतः उसको लाँघ जाना होता है। उसे फाड़ देना होता है।

इसी काम-क्रोध की जीवन-लीला का और वर्णन किया जाता है –

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥39॥

'हे अर्जुन! ज्ञानी के नित्य वैरी इस कभी तृप्त न होने वाली कामरूपी अग्नि द्वारा मनुष्य का ज्ञान सदा ढका रहता है'॥39॥

यह एक ही शत्रु दो रूप रखता है। मानो बीच-बीच में उसके रूपों की ओर इशारा करते हैं भगवान् –

'काम एष क्रोध एष', 'महाशनो महापाप्मा',
'कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च'।

ऐसे लगता है कि विशेषण उसी क्रम में दोनों रूपों की ओर अलग-अलग इशारा करते हैं। दोनों एक ही हैं यह भी सदैव स्पष्ट रहता है। उनके गुणों की अलग-अलग झलक भी मिलती है।

यह 'ज्ञानी का नित्य वैरी है'। ज्ञानी कौन और उसका नित्य वैरी कैसे? ज्ञानी वह जिसे ज्ञान हो। जिसे अपना और प्रकृति का बोध हो। इतना ही नहीं, इससे भी परे, जिससे यह दोनों हैं उसका बोध हो। जो उस परमतत्व को समझ से पहिचानता है और विश्वास रखता है उस परमसत्ता में, वह भगवान् की भगवत्ता को मानने वाला ज्ञानी है। भगवान् ने सातवें अध्याय में अपने भजन करने वालों में ज्ञानी को भी गिना है।

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'॥7/18॥

ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है।

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते'॥7/17॥

उन (चारों) में ज्ञानी नित्ययुक्त और एक भक्ति वाला विशेष है। प्रभु में निष्ठा रखने वाला ज्ञानी होता है। उसके पथ पर अनन्यभाव से अग्रसर होने वाला ज्ञानी होता है। यह प्रसंग इस बात को स्पष्ट कर देता है। ज्ञानी से तात्पर्य ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त सिद्ध से नहीं, साधक से है। उसे तो अभी प्रभु को प्राप्त करना है।

ऐसे साधक के लिए काम-क्रोध नित्य वैरी होता है। नित्य वैरी वह होता है जिसके हृदय से वैर कभी जा ही न सके, जिनकी शत्रुता कभी

समाप्त ही न हो, जहाँ मित्रता की सम्भावना ही न हो। भला अन्धकार तथा प्रकाश की मित्रता कभी हो सकती है? वह प्रकृति से विरुद्ध हैं। प्रभु-पथगामी को तो इसे ढकेल बाहर करना होगा। वह इन्हें ठौर दे ही नहीं सकता। सन्तों ने कहा –

'जहाँ काम तहँ राम नहीं, जहाँ राम नहीं काम'।

जैसे रवि-रजनी का संयोग नहीं, ऐसे ही प्रभु के पथ पर चलना और कामना का संयोग नहीं।

गति – इसका अर्थ है, व्यक्ति की अग्रगति में काम-क्रोध बाधक होते हैं। प्रभुपथ के पथिक को इनसे ऊपर उठना होता है। इनसे छूटना होता है। मनुष्य चाहे कि मैं तृप्ति भी करूँ अपने काम की और प्रभुपथ पर आगे भी चलूँ तो यह असम्भव है। जब तक अन्तरात्मा प्रभु और केवल प्रभु को ही चुन नहीं लेता तब तक रास्ता नहीं खुलता। तब तक वास्तव में निवृत्ति आरम्भ नहीं होती। ज्ञानी के अन्तरात्मा ने प्रभु को वर लिया होता है, तभी वह ज्ञानी कहा जा सकता है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इतने मात्र से काम-क्रोध इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि पर से अधिकार हटा लेता है। वह अधिकार तो धीरे-धीरे जाता है। जैसे-जैसे अन्तरात्मा प्रभु के प्रति खुलता जाता है, आता हुआ शक्ति-प्रवाह भगवती चेतना को, पूरे मन, बुद्धि आदि को अपने रंग में रंगता जाता है और काम-क्रोध को स्थानच्युत करता जाता है। बीच की अवस्था में भी काम की लिप्सा तो अन्तरात्मा में कभी नहीं जगती, यदि वास्तव में हमने प्रभु को वर लिया है तो फिर केवल प्रभु की चाहना ही मन में रह जाती है, फिर दूसरी कामनाओं के लिये ठौर कहाँ? फिर काम-क्रोध के लिए स्थान कैसे?

इसलिए कहा है कि यह ज्ञानी का नित्य वैरी है। कैसे ज्ञान को ढप लेता है यह तो पिछले श्लोक में कहा जा ही चुका है।

यह शत्रु 'कामरूप' है। जो अपनी कामना से, अपनी इच्छा से अपना रूप बना ले वह कामरूप कहलाता है। पुराने युद्धों में हमें उदाहरण मिलते हैं। मेघनाद अपने रूप बदल लेता था। शुम्भ और निशुम्भ ने देवी के साथ युद्ध में ऐसा ही किया। ऐसा शत्रु जीतना मुश्किल हो जाता है। यह

कामक्रोधात्मक शत्रु भी कामरूप है। काम के रूपों का अन्त नहीं है। यह कभी परम सात्विक रूपों को धारण करके भी आता है। मुझे एक महिला दु:खी मिली क्योंकि उसके पास पैसा नहीं था जिसे वह दान कर सके। कर्त्तव्य के रूप को धारण करके भी काम आया करता है। वह सत्य तथा पुण्य के रूपों को भी धारण करता है। कामना तो सभी प्रकार से बाँधती है। व्यक्ति को इससे नितान्त परे होना होगा। सभी कामनाएँ उस प्रभु की चाह में भस्म हो जायें। पर, प्रभु की चाह क्या कामना नहीं? वह कामना है और वह स्वत: निवृत्त हो जायेगी जब उसकी उपयोगिता न रहेगी। मालिक के मिलने पर मालिक की चाह की क्या आवश्यकता? अत: उसकी निवृत्ति की चिन्ता न करनी चाहिए। वह स्वयं चली जाती है।

कामना तो अनेक रूप रखती है। त्रिलोकी में इसका प्रसार है। पुत्रेषणा, लोकेषणा तथा वित्तेषणा – यह इसके तीन मुख्य प्रकार हैं। परन्तु इसके भेद-प्रभेद की संख्या नहीं की जा सकती। व्यक्ति धोखे में आ जाता है। पहिचान भी नहीं पाता। काम का गुलाम हुआ व्यक्ति भागता है। परन्तु, सोचता है कि 'मैं तो बन्धन से छूट रहा हूँ।' त्याग तथा वैराग्य का रूप लेकर भी तो काम प्रकट होता है।

'और दुष्पूर अग्नि के द्वारा', वह शत्रु दूष्पूर अग्नि है। **दुष्पूर** – जिसका पेट न भरे। जो और-और ईन्धन मांगती ही जाये उस अग्नि के समान है। जो कुछ उसमें पड़ता है भस्म हो जाता है। उससे वह शान्त नहीं होती, उल्टी और तीव्र होती है। ऊपर कहा भी तो था **महाशन:** – महापेटू। इच्छाओं की पूर्ति और इच्छाओं को जगा देती है। सौ पाकर आदमी हजार चाहने लगता है और हजार पाकर लाख। यह आग ऐसे बुझ ही नहीं सकती।*

क्या यह क्रोध के विषय में भी सत्य है? क्रोध को रास्ता मिल जाय तो वह क्रोध-स्वभाव प्रबल होता है। क्रोध में आया हुआ व्यक्ति यदि किसी को खरी-खोटी सुना ले अथवा किसी को पीट ले तो कुछ समय के लिए शान्त होता है। परन्तु क्रुद्ध होने का स्वभाव तो और प्रबल हो जाता है। उसकी सफलता व्यक्ति को उलटा क्रोध के अधीन कर देती है।

---

*निवृत्ति प्रारम्भ होने पर भोग संस्कार क्षीण होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

शत्रु से खबरदार रहना चाहिए। योद्धा थे भगवान् कृष्ण और योद्धा ही था अर्जुन भी, अतः युद्ध की भाषा में ही इस विषय में चर्चा होती है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥40॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसका टिकने का स्थान कहे जाते हैं। यह इनके द्वारा ज्ञान को ढककर देहधारी को मोह में डाल देता है।।40।।

शत्रु का डेरा कहाँ है, वह किस प्रकार से आक्रमण करता है, उसके साधन, यह सभी बताया गया है।

काम-क्रोध रूपी शत्रु मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों में डेरा करता है। इन सबसे सूक्ष्म, इन सब में बस जाने वाली और बसकर ले जाने वाली गति है काम की। इससे स्पन्दन जगते हैं, आकर्षण होता है और मन, बुद्धि, इन्द्रियों में गति पैदा होती है। बाहर की ओर दौड़ होने लगती है। आसक्ति काम का पूर्व रूप है। वही प्रबल हुई काम कहलाती है। वही बाहर टकराने पर क्रोध होती है।

हम तो वास्तव में आप्तकाम हैं उस पूर्ण के अंश होने के कारण। आत्मसत्ता तो वास्तव में आप्तकाम है। परन्तु वह भाव तो विकास-क्रम में आगे चलकर ही प्रकट हो पाता है। इन यन्त्रों (मन, बुद्धि आदि) द्वारा की गई अनुभूतियाँ विकास के लिए आवश्यक होती हैं। अतः काम की उपयोगिता है। वह इनमें बसकर इन्हें अनुभवों के लिए प्रेरित करता है।

इन्द्रियों में काम कैसे रहता है? इन्द्रियों में भी एक प्रकार की चेतना रहती है। वह बहुत कम विकसित होती है। उस चेतना से अधिष्ठित इन्द्रियों में भी काम निवास करता है। उस प्राण-चेतन की रुचियाँ और अरुचियाँ होती हैं। उन रुचियों की पूर्ति के लिए सदैव भीतर प्रेरणा बनी रहती है। इन्द्रियाँ उनकी प्राप्ति के लिए दौड़ पड़ती हैं। जिह्वा भोजन के विषय में वैसा करती है। आँख रूप के विषय में वैसा करती है। यह काम का प्रभाव है।

मन में काम सुखेच्छा के रूप में निवास करता है। अनुकूल प्रतीति की मांग मन में स्वाभाविक है। यही काम का निवास है। मान की चाह, सम्पत्ति की चाह और पुत्र की चाह, यही सभी मनोगत काम की लीला है। यह

सुख-लालसा मन को कम्पायमान करती है। वह त्रिलोकी माप देता है काम के बल पर।

बुद्धि में काम का रूप क्या है? अपने को दूसरों से पृथक और ऊँचा बनाये रखने की चेष्टा। ममता और अहन्ता इसका बुद्धिगत रूप है। हम वस्तुओं को अपना समझते हैं। उन पर अपना अधिकार समझते हैं। उस अधिकार को बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। ऐसे ही हम मनोगत प्रतीतियों और अपने विचारों को अपना समझते हैं। हमें वह प्रिय और ऊँचे दीखते हैं क्योंकि वह हमारे हैं। बुद्धि में इस प्रकार का लोभ बन बैठता है काम। सर्वत्र अपना अधिकार जमाता है।

काम इन्द्रियों में भोग लिप्सा है, मन में सुखेषणा है और बुद्धि में अधिकार लिप्सा। यह त्रिविध व्याप्ति है काम की।

व्यक्ति के ज्ञान को इन त्रिविध चालों से काम ढक देता है। भोग की चाह जगती है तो व्यक्ति चोरी कर लेता है, अनुचित व्यवहार कर बैठता है। उसका विवेक नष्ट हो जाता है। मति भ्रष्ट हो जाती है भोग लालसा के प्रबल होने पर। कामान्धता इसका बहुत स्पष्ट उदाहरण है।

इसी प्रकार से सुख की लालसा के कारण व्यक्ति व्यवहार करता है। अपने सुख के लिए दूसरे के सुख की उपेक्षा करता है, दुःख देता है। दूसरे के स्वत्व को भी छीन लेता है। मान हरण कर देता है। बढ़ी हुई सुख-लालसा व्यक्ति के ज्ञान को खा जाती है।

यही दशा अधिकार-पिपासा के विषय में है। बुद्धि का सारा प्रयत्न दूसरों को नीचा दिखाने में लगता है। वह उसका दुरुपयोग है। व्यक्ति ठीक-गलत के विवेक से रहित हो जाता है। हिताहित को भी भूल जाता है इस बुद्धिगत काम के प्रभाव से।

यह सब तो हम रोज के व्यवहार में देखते हैं। यह सभी उस बहुरूपिये काम की लीला है।

इस सबका परिणाम होता है व्यक्ति का मोह में पड़ना। विमोह – घना मोह। मोह वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अचेत हो जाता है, जब उसे अपना भान नहीं रहता और न ही रहता है अपनी परिस्थिति का। ऐसी दशा में वह असमर्थ होता है। चेतन होता हुआ भी अचेतन होता है। अपने रास्ते को जानता नहीं। अपने आत्म-भाव से च्युत हो जाता है। मन-बुद्धि आदि के

साथ बलात् अपने को एक प्रतीत करता है। उनकी कामनाओं और भोगों को अपना ही समझता है। उसी प्रकार से सुखी तथा दु:खी होना प्रतीत करता है। इस अध्यास के मूल में काम ही है। यह ऐसा पर्दा डालता है कि हम इन सबसे तद्रूप हो जाते हैं।

इस तद्रूपता के परिणाम स्वरूप ज़ोरदार बाह्य प्रभावों के कारण हम जल्दी जग जाते हैं। यह तो है काम की विकास-क्रम में उपयोगिता। कामाभिभूत व्यक्ति सचेष्ट हो जाता है, जानकारी प्राप्त करता है और बाहर के संयोग-वियोगों से सुख-दु:ख की प्रतीति करने के लिए अधिकाधिक योग्य होता जाता है। जब इस तादात्म्य (अध्यास) की उपयोगिता नहीं रहती तो यह समाप्त होने लगता है। निवृत्ति आरम्भ होती है। साक्षित्व सहज हो जाता है। दूर से खड़ा हुआ ही इन यन्त्रों की लीला को देखता है। तब विमोह दूर होने लगता है। काम का प्रभाव समाप्त होता है। शनै:शनै: मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ भी भागवती चेतना से प्रभावित होती हैं। जब वह चेतना उतर आती है इनमें तब काम के प्रभाव से यह सभी नितान्त रहित हो जाती हैं। तब व्यक्ति मोह की सम्भावना से रहित हो जाता है। तब परम निर्भयता प्राप्त होती है। यह है वास्तव में कामजय। तब स्वराज्य की स्थापना होती है।

काम के चरित्र का वर्णन करके अब अर्जुन को निर्देश करते हैं, बताते हैं क्या करना चाहिए।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥41॥

'हे अर्जुन! इसलिए तुम आरम्भ में ही इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान तथा विज्ञान को नष्ट करने वाले इस पाप को मार डालो'॥41॥

'इस पाप को मार डालो' अर्थात् कामरूपी पाप को मार डालो, समाप्त कर दो। ऐसा कर दो कि यह फिर तुम्हें बहका न सके। शत्रु को मारकर ही चैन हो सकती है।

यह शत्रु क्या करता है? ज्ञान तथा विज्ञान का नाश। ज्ञान – आत्मज्ञान अपना ज्ञान। हम आत्मा हैं। अजर, अमर, अविनाशी हैं। उस परमसत्ता के अंश हैं। यह सभी ज्ञान है। वास्तव में गीता में ज्ञान का अर्थ है परमसत्ता का

ज्ञान, उसके चेतनभाव का बोध। विज्ञान प्रकृति विषयक ज्ञान है। विज्ञान में इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का वर्णन – सभी आता है। जो मापे जाने योग्य देश, काल से सम्बद्ध बातों के विषय में है वह विज्ञान है, जो नानात्व के बारे में है वह विज्ञान है। जो आत्मा-परमात्मा के विषय में है वह ज्ञान है।

काम तो दोनों को ही नष्ट कर देता है। आँधी आती है तो अपनी सुधि नहीं रहती और न पर की रहती है। न भगवान् का स्मरण ही होता है और न माथा ही झुकता है उसके आगे। उसके हुक्म की याद ही नहीं होती। परिस्थिति और व्यक्ति की लाचारियों का भान नहीं रहता। प्रकृतिगत गतियों की समझ लुप्त हो जाती है। ग़लत अनुमान होते हैं और ग़लत ही क्रियायें-प्रतिक्रियायें चलती हैं। समता का अभाव हो जाता है और सौम्यता का भी।

काम-क्रोध पाप तो है ही, पहले कहा ही जा चुका है।

इस शत्रु को मारने के लिए क्या तैय्यारी करनी चाहिए? इन्द्रियों का संयम करना सबसे पहली आवश्यकता है। इसका अर्थ है कामाश्रित इन्द्रियों को अपने वश में करना होगा। काम के अधिकार को हटा कर अपना अधिकार जमाना होगा। काम को मारने के लिये पहले उसे इन्द्रियों के फोर्ट से भगा देना होगा। शत्रु को मारने के लिए उसे पहले आश्रय स्थान से खदेड़ देना चाहिए। यहाँ वही काम करने को कहा है। 'इन्द्रियों के किले से उसे बाहर कर दो'।

इन्द्रियाँ स्थूलतम यन्त्र हैं। वह स्थूल आधार हैं काम का। इन्द्रियों में जो भोगलिप्सा है उसके पीछे न जाने दें इन्द्रियों को। जगने वाली काम तरंग को पहचान कर उसका निराकरण करे, अनुसरण न करे। ऐसा करने से वह दुबला हो जायगा। किसी दिन वह इन्द्रियों के क्षेत्र को छोड़ देगा। विवेक तथा संकल्प बल ही इस काम के करने में सहायक हो सकते हैं।

पहिले मन का संयम अथवा पहले इन्द्रियों का संयम? इन्द्रियों का संयम सुगम है मन के संयम की अपेक्षा। इन्द्रियों की गतियों को रोका जा सकता है। खाना न खाया जाये। जिस वस्तु के लिये इन्द्रियाँ ललचाती हैं वह उसे न दी जाए। यह संयम सुगम है। मन में तो उस वस्तु का चिन्तन होगा ही। उस चिन्तन का रोकना कठिन है, अतः आरम्भ तो सुगम काम से ही करना

चाहिए। जो इन्द्रियों को नहीं रोक सकता वह मन को क्या रोक सकेगा?

इसलिए कहा 'इन्द्रियों को आरम्भ में रोककर'। यही व्यावहारिक बात भी है। स्थूल को रोकने से सूक्ष्म की योग्यता आती है। स्थूल को रोक देने से नव संस्कार का निर्माण नहीं होता। यदि हम भोग के द्वारा संस्कार को पुष्ट करते जायेंगे तो उस पर अधिकार कैसे होगा? किसी दिन हम उसके दास बन जाएंगे। फिर संयम हमारे लिए असम्भव हो जाएगा।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥42॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥43॥

'इन्द्रियों को बलवान् कहते हैं। मन उनसे बलवान् है, मन से बुद्धि अधिक बलवती है। (और) वह तो बुद्धि से भी अधिक बलवान् है'॥42॥

'इस प्रकार (उसे) बुद्धि से अधिक बलवान् जानकर, अपने को अपने से थामकर, हे वीर! कठिनता से हारने वाले काम रूपी शत्रु को मार डालो'॥43॥

इन्द्रियों का पहले संयम करने को कहा। क्यों कर? क्योंकि वह बलवती है। वह काम से प्रभावित होकर व्यक्ति को कुपथ में ले जाती हैं और उनका संयम किए बिना काम का हनन असम्भव है यह तो स्पष्ट हो ही चुका है।

मन इन्द्रियों से 'पर' है – बलवान् है। सूक्ष्म तो वह है ही, इसलिए इन्द्रियों को बहका सकता है। दूसरे अध्याय के 67वें श्लोक में प्रभु ने कहा ही है –

'(विषयों में) विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिसके पीछे लग जाता है, वह इन्द्रिय व्यक्ति की बुद्धि का हरण कर लेती है।' अतः मन में इन्द्रियों को फुसलाने की योग्यता है। जिस इन्द्रिय के विषय का हनन होता है, वह इन्द्रिय बलवती होकर उस विषय की ओर भागती है। वह व्यक्ति के काबू में नहीं रहती। विषयों का सेवन करते हुए भी यदि मन का संयोग विषय के साथ नहीं होता तो ज़ोरदार पकड़ नहीं होती। स्वादु भोजन करते हुए भी यदि

मन किसी चिन्ता में डूबा हुआ है तो स्वाद का पता ही नहीं चलेगा। व्यक्ति आवश्यकता से अधिक नहीं खायेगा। मन से ही काम की जागृति होती है और वह इन्द्रियों को नचा सकता है।

बुद्धि मन की अपेक्षा बलवती है। बुद्धि से विवेक किया जाता है। पुष्ट हुई बुद्धि मन पर लगाम का काम करती है। उसे एक ओर से मोड़कर दूसरी ओर लगा सकती है। जब यह समझ में आ जाता है कि अमुक विषय का चिन्तन व्यर्थ है अथवा दु:खद हो गया तो मन को मोड़ा जा सकता है। बुद्धि में यह योग्यता है, अत: इसे मन की अपेक्षा बलवती कहा।

कभी देखा जाता है कि चेष्टा करने पर भी मन अपने ही रास्ते पर चलता है। व्यक्ति को भय होता है या चिन्ता होती है तो चेष्टा करने पर भी उनका मनन नहीं छूटता। तो क्या बुद्धि बलवान् है या मन? वास्तव में तो बुद्धि में मन को रास्ता दिखाने की सामर्थ्य है। वह सामर्थ्य यहाँ अभी तक प्रकट नहीं हुआ है। विकास-क्रम में वह स्वत: प्रकट होगा। कहीं पर बुद्धि की हार होने से उसकी सहज योग्यता के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। मनोगत आसक्ति का अति प्राबल्य भी तो मन के प्रभावित न होने में कारण हो सकता है। वास्तव में बुद्धि का काम मन की गति-विधि का नियन्त्रण करना है। अत: उसे यह नियन्त्रण करना ही है। इसीलिए उसे मन की अपेक्षा बलवती कहा है –

कठोपनिषद् में एक सुन्दर रूपक आता है –

आत्मानं तु रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। कठ. 1/3/34

'आत्मा को तो रथी समझ और शरीर को रथ। इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं। विषय उनके चलने के मार्ग हैं। बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम।' बुद्धि तो सारथी है इस शरीर रूपी रथ की। वह जिधर चाहे इसे ले जा सकती है। परन्तु सारथी सो जाये या कमज़ोर हो तो घोड़े अपनी मनमानी करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। मन-रूपी लगाम जब तक सारथी के हाथ में रहती है तब तक घोड़े उसके काबू में रह सकते हैं।

इस प्रकार से इन सबकी अपेक्षाकृत स्थिति का वर्णन करके काम के विषय में कहा है – **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** – 'जो बुद्धि से परे है वह

काम है।' यह **'सः'** शब्द काम के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, इसमें सन्देह नहीं प्रतीत होता। प्रसंग में कामरूपी शत्रु की ही चर्चा हो रही है। उसी के मारने का प्रसंग है। इसीलिए उसका बल आंका जा रहा है। आगामी श्लोक भी यही प्रमाणित करता है – 'इस प्रकार से बुद्धि से परे जानकर।' किसे? जिसे मारना है उसे। आत्मा तो बुद्धि से परे है ही। उसे यहाँ इस प्रकार से बताने की आवश्यकता न थी।

काम का अधिष्ठान मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ हैं, यह ऊपर 40वें श्लोक में कहा है। यह काम अधिष्ठाता है। उनसे अधिक बलवान् है तभी तो इन पर अधिकार जमाकर मोह का पर्दा डाल देता है। यही बात यहाँ अधिक स्पष्ट रूप से कही है कि काम बुद्धि से भी बलवान् है। अतः बुद्धि के द्वारा इसका हनन न हो सकेगा। यह बुद्धि को ढक लेगा, पछाड़ डालेगा।

बुद्धि कब स्थिर हो सकती है? जब काम निर्मूल हो जायेगा। बुद्धि स्वयं तो काम को निर्मूल करके स्थिर नहीं हो जायेगी। उससे परे जो आत्मसत्ता है उसे काम का हनन करना होगा, तभी स्थिर हो पायेगी बुद्धि।

कई लोगों ने **'सः'** का अर्थ आत्मा किया है। परन्तु वह तो प्रसंग के अनुकूल नहीं दिखाई पड़ता। वैसा करने से श्लोक भी निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

आगामी श्लोक (43वें) काम को मार डालने की विधि है। शत्रु के सामर्थ्य को आँक कर आक्रमण करने के लिए कहीं अपना डेरा जमाना होता है। अपने पैर भली प्रकार से जमा लेने पर ही आक्रमण करना चाहिए। तभी सफलता सम्भव है। शत्रु के प्रहार को सहने लायक दृढ़ता हो जाने पर ही युद्ध छेड़ा जाता है। सो कहा **'संस्तभ्यात्मानमात्मना'** – 'आत्मा को आत्मा से अच्छी तरह थाम कर'।

आत्म-सत्ता ही हमारा अपना आपा है। यह युद्ध आत्मा को अपने ही सहारे पर लड़ना होगा। प्रकृति में से कोई भी अवलम्बन विश्वास के योग्य नहीं है, अतः वैसा करने से – प्रकृति में कोई अवलम्बन लेने से – धोखा खाना होगा। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सभी काम के अधिकार में आ सकती हैं। उनके आश्रय पर लड़ाई लड़ने से पराजय निश्चित है। इसलिए कहा कि अपने आप ही अपने को सहारा देना होगा। अपने को कैसे स्वयं सहारा दिया जाता है? आत्मविश्वास के द्वारा हम अपने को प्रोत्साहित कर सकते हैं। वह

प्रोत्साहन बड़ा सहारा होता है। 'हम में बड़ा बल है। वास्तव में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ हमारे लिए हैं और इन पर हमारा सहज अधिकार होना ही चाहिए। यह काम तो डाकू है। आत्मसत्ता काम की अपेक्षा बहुत बली है। यह ईश्वरांश है। काम तो प्रकृति की निम्न-गति है। इसको तो सहज में पछाड़ा जा सकता है'। इस प्रकार की विचारधारा के द्वारा अपने में बल तथा विश्वास जमाया जा सकता है।

'संस्तभ्य' कहा है। भली प्रकार थाम कर, क्योंकि इस प्रकार काम को चुनौती देने का परिणाम होगा उसकी ओर से प्रबल प्रहार। वह अपनी सेना को लेकर बुरी तरह टूट पड़ेगा। पहले से ही तैयार हो जाना चाहिए। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों पर वह अधिकार जमाने की चेष्टा करेगा। अतः अपनी मोर्चेबन्दी खूब मजबूत रहनी चाहिए। इस भारी संग्राम में विजय प्राप्त करके ही व्यक्ति अध्यात्म के श्रेय का भागीदार हो सकता है। किसी प्रकार की कमज़ोरी दिखाने का परिणाम भयंकर होगा।

उस शत्रु के बारे में फिर चेतावनी दी है। **'कामरूपं दुरासदम्'।** वह शत्रु कामरूपी है – छलिया है। अनेक रूप धारण करके तुम्हें ठगने की चेष्टा करेगा। वह कभी अहंकार बनकर भी आ सकता है। तुलसी रामायण के बालकाण्ड में वर्णित नारद-मोह की गाथा में काम ही तो गर्व का रूप धारण कर लेता है। अतः खूब चौकन्ने रहना चाहिए।

यह शत्रु **दुरासदम्** है – इसे हराना बड़ा मुश्किल है। बड़े-बड़े योद्धा इसने पछाड़ रखे हैं। अतः धोखे में मत रहना। बड़ी जबरदस्त मार पड़ेगी, उसे सहना होगा। तब कहीं विजय सम्भव होगी।

इसे मारने का एक ही उपाय है। **'संस्तभ्यात्मानमात्मना'** अपने को भली भाँति अपने द्वारा थामे रहना। यह कब होता है? जब व्यक्ति आत्मनिष्ठ रहता है। उस आत्माभाव से नीचे आते ही इसका जाल फैलने लगता है। जिसके लिए आत्मस्थिति सहज हो गई है उसके लिए काम मर गया है।

यह आत्म-संयम का साधन है। इसमें काम के हनन के लिए प्रयत्न करना होता है। इसमें प्रभु का आश्रय नहीं, आत्म-निष्ठा का प्रयत्न है। दूसरा मार्ग है **'शरणागति'** का, प्रभु की भक्ति का। जो प्रभु की शरण गया वह उसका हो जाता है। उससे जुड़ जाता है। उसकी कृपा का प्रवाह उसे अपने रंग में रंग देता है। वह भागवती चेतना को लाभ करता है। वह प्रभु में रहने

लगता है। मन-बुद्धि तथा इन्द्रियाँ भी उसमें निवास करने लगती हैं। तब काम के लिए कहीं ठौर ही नहीं रहती, प्रभु ऐसे आ बसते हैं भक्त के भीतर। भक्त हमेशा के लिये निर्भय हो जाता है। उसे अपने को सम्भालने की आवश्यकता नहीं होती। न ही उसे काम के साथ लोहा लेने की आवश्यकता होती है। उसकी लड़ाईयाँ प्रभु लड़ते हैं और वही विजयी होते हैं। अतः भक्त निरभिमान रह सकता है। शरणागति भी योग है। उसमें सर्व-समर्पण की साधना है।

इस प्रकार से अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने बुराई से बचने का रास्ता भी बताया। अभी तक अर्जुन तो भगवान् को पहिचानता ही न था। दबी जबान से भगवान् ने केवल-मात्र कर्म-संन्यास की बात कही थी। (3/30) समर्पण और शरणागति की चर्चा तो आगे होगी।

यहाँ तीसरा अध्याय समाप्त होता है। कर्मयोग के मौलिक सिद्धान्तों और साधनों का हमें पर्याप्त परिचय प्राप्त हो गया है। आगामी अध्याय में दृष्टिकोण को और ऊँचा उठाने की चेष्टा की गई है।

॥श्री राम॥

अध्याय 4

तीसरे अध्याय में कर्म के भगवान् में संन्यास की चर्चा हुई थी। श्लोक 30, 31 तथा 32 इसी विषय पर थे। भगवान् ने अर्जुन को आदेश किया था कि 'कर्मों का मुझमें समर्पण करके युद्ध कर'। वर्तमान अध्याय इसी विषय का विशद विवेचन करता है। इस अध्याय का नाम है 'कर्म-ब्रह्मार्पण योग' अर्थात् 'कर्म का ब्रह्म में समर्पण विषयक योग'। किस प्रकार से हम अपने कर्मों को ब्रह्म में अर्पण कर सकते हैं, उसके लिए क्या निष्ठा चाहिए और इस प्रकार के समर्पण का परिणाम क्या होता है? इन विषयों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। यही हमें इस अध्याय में मिलेगी।

इस अध्याय का मूल श्लोक है –

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥4/24॥

यह सार रूप में भगवान् के प्रति कर्मों के समर्पण के रहस्य का प्रतिपादन कर देता है। इस योग की सिद्धि को भी बताता है।

सबसे पहले यह समझना आवश्यक हो जाता है कि कर्मों का समर्पण किसके प्रति। वह ब्रह्म जो हमारे समर्पण को स्वीकार कर सकता है वह कौन है? उस तक कैसे पहुँच हो सकती है?

सांख्य मतावलम्बियों का पुरुष तो **'साक्षी चेतः केवलो निर्गुणश्चः'** – 'साक्षी चेतन है, कैवल्य तथा निर्गुण है'। वेदान्त तथा सांख्य सिद्धान्तों का अन्तर वास्तव में बहुत नहीं। वेदान्त का पुराना नाम सांख्य ही है, ऐसा समझ में आता है। शांकर-सिद्धान्त तो व्यर्थ में विरोध उपस्थित करता है आज के कहे जाने वाले सांख्य से।

सांख्य में तत्त्वों की गणना है। 24 तत्त्व हैं – प्रकृति, महत्तत्त्व आदि और 25वाँ है पुरुष। प्रकृति विकारी है। पुरुष अविकारी है, चेतन है, शुद्ध है,

अकर्ता है। वह अविनाशी तो है ही, वह भोक्ता भी नहीं। वह अनेक है।

अद्वैत-वेदान्त का निर्गुण-ब्रह्म भी तो अकर्ता-भोक्ता, नित्य, शुद्ध, चेतन है। वह भी समान रूप से गुणों से अतीत है।

अद्वैत-वेदान्त प्रकृति को असत् कहता है। वह मिथ्या है, शांकर-सिद्धान्त के अनुसार। उसके मिथ्यात्व पर ही तो आश्रित है वह अद्वैत। बस, इतना ही वास्तविक अन्तर है? 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।' जगत् का मूल कारण प्रकृति भी मिथ्या है, असत् है। तात्विक दृष्टि से असत् से अनिर्वचनीय हो जाती है प्रकृति और पुरुष ब्रह्म हो जाता है। अपने पुरुषत्व को खोकर वह भी अनिर्वचनीय हो जाता है। अनेकत्व की सम्भावना ही नहीं रहती। फिर जीव और ब्रह्म का द्वैत भी कहाँ से हो, कैसे हो? एक ज़रा सी चाबी घुमाने से सांख्य अद्वैत-सिद्धान्त के रूप को ग्रहण कर लेता है, अनिर्वचनीय माया की रचना हो जाती है।

यह जो ब्रह्म है, जो अनिर्वचनीय है, वह न तो सुन सकता है, न बोल सकता है, न उसमें शक्ति की कल्पना हो सकती है, न कृपा की सम्भावना है। न उसकी पूजा सम्भव है, न उपासना ही। वह है, यह भी कहते नहीं बनता। क्या वह निर्गुण, अव्यक्त (12वाँ अध्याय) हमारी अर्चना को, हमारे कर्मों के समर्पण को स्वीकार करेगा? क्या है उसका सम्बन्ध इस गतिशील जगत् से, कर्मों से, और कर्मों के करने वाले से? वह तो निर्विशेष है। वह तो सर्वसीमाओं और बन्धनों से परे है। वह नहीं हो सकता हमारा उपास्यदेव। वह नहीं स्वीकार कर सकता हमारे कर्मों का समर्पण।

तब वह कौन सत्ता है जो हमारे कर्मों को स्वीकार करती है? जो हमारे पूजा के फूलों को लेती है और कृपा से हमें निहाल कर सकती है? वह परमसत्ता मनुष्य के लिये मनुष्य होकर उसके मध्य में उतर आती है। वह सगुण रूप में लीलामय हो हमारा उपास्य बन जाती है। हमारा सगा-सम्बन्धी, हमारे जन्म-जन्म का साथी बन जाता है। हमारा इष्ट बनता है। हम उससे प्रेम कर सकते हैं, वह हमसे प्रेम करता है। जिस भी नाते से हम उसे स्वीकार करें, वह तैयार हो जाता है। वह सगुण ब्रह्म है जो हमारे कर्मों को स्वीकार करेगा। इसके रहस्य को समझना आवश्यक है।

मायावादी, अद्वैतवादी बड़े साहस से कहता है तुम्हारा सगुण मिथ्या है। वह मायाविशिष्ट ब्रह्म है। माया तो माया ही है। वह मिथ्या है। जहाँ द्वैत

है वह असत् है। यह ईश्वर की चर्चा, यह कर्मों का समर्पण, यह उपासना और यह भक्ति सभी मिथ्या है, अज्ञानियों की बातें हैं। निश्चय करो 'मैं ब्रह्म हूँ।' बस, इसी से कल्याण होगा।

भक्त का दिल हिल जाता है, दिमाग़ पर चोट पड़ती है, उसके पैरों के नीचे से ज़मीन सरकने लगती है, जब यह विचार सन्मुख आता है कि क्या यह सभी मिथ्या है? कपोल-कल्पना है? हाय!

सब कोई एक स्थान पर खड़ा होकर देखता है। जहाँ खड़ा होकर देखता है उसके अनुसार उसे दृश्य दिखाई देता है। यही विचार की सीमा हो जाती है। हमारे सिद्धान्त, हमारे दृष्टिकोण की सीमायें हैं। वास्तविक सत्ता तो बुद्धि से परे की है। बुद्धि तो अधिकाधिक उसके एक अंश को जान पाती है। भयावह बात यही है कि पण्डित लोग बुद्धि की सीमाओं को भूलकर आंशिक सत्य को पूर्णसत्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं। सभी वाद सत्य का आंशिक वर्णनमात्र हैं। यह भूल जाने पर ही हम दूसरों को ग़लत और अपने को ठीक प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

मायाद्वैत अपरिवर्तनशील को सत् कहता है। परिवर्तनशील उसकी परिभाषा में असत् है, मिथ्या है। बस, यह है उसका दृष्टिकोण। यही उस वाद की सीमा है।

हम तो गीता के दृष्टिकोण को सामने रखने की चेष्टा करेंगे। गीता का उपास्य पुरुषोत्तम है। उसी की उपासना की चर्चा है। उसी के प्रति कर्मों का समर्पण है। उसी की शरण जाना है। वह हमारी भक्ति तथा प्रीति का पात्र है।

वह पुरुषोत्तम कैसा है? 15वाँ अध्याय बताता है वह क्षरब्रह्म तथा अक्षरब्रह्म दोनों से परे है। वही गीता के अनुसार वेदों का प्रतिपाद्य विषय है। वही 'ज्ञेय' है, वही 'क्षेत्रज्ञ' है। (13/2) वह सर्वमय है। वही वासुदेव है। वह विभूतिमान् है। वही निर्गुण है। वही गुणों का भोक्ता है। (13/14)

भगवान्, गीता के वक्ता, ही पुरुषोत्तम हैं। उनसे परे कुछ नहीं। यही उपास्य इष्ट हैं। (7/7) वह उस गुणमयी लीला से परे भी हैं। (7/12)

इस प्रभु की दो प्रकृतियाँ हैं – परा तथा अपरा। परा जीवभूत है, अपरा सामान्यतया कही जाने वाली सांख्य की परिभाषा के अनुसार प्रकृति है। (7/5)

गीता के अनुसार परमसत्ता निर्गुण तथा सगुण है। निर्गुण सगुण से अलग नहीं। सगुण मिथ्या है ऐसी बात की ओर हमें कहीं भी संकेत नहीं मिलता।

इसीलिए तो कहा कि निर्गुण उपासक भी मुझे ही प्राप्त करते हैं। (12/4) यदि सगुण मिथ्या हो तो उसकी प्राप्ति कैसी?

गीता मायाद्वैत का प्रतिपादन नहीं करती है ऐसा ही कहना पड़ता है। जैसे हम अपने वाद की सिद्धि की खातिर उपनिषदों को खींचते हैं वैसे ही गीता को भी। वास्तव में गीता किसी वाद के प्रतिपादन के लिए लिखा गया ग्रन्थ नहीं है; वह तो ऊँची चेतना की सीधी सरल उक्ति है। इसलिए जो भी सीमित बुद्धिवाद उसे अपनी कसौटी पर कसने की चेष्टा करते हैं वह उघड़ जाते हैं, उनका दिवालियापन प्रकट हो जाता है।

गीता बुद्धि की सीमाओं से परे के ज्ञान को आश्रित करके चलती है। भला वह बुद्धि की खाल में कैसे सिमटेगी? खालें फट जायें तो क्या विस्मय!

जब हम गीता की साधना की दृष्टि से इस प्रश्न को देखते हैं तो भी स्पष्ट हो जाता है कि मायाद्वैत का अन्त है। शून्य, निर्जन वन में, जहाँ कोई भी नहीं बात करने को, सेवा करने को, प्रेम करने को, साधक के लिए कर्म साधना नहीं हो सकती है। उसकी सिद्धि तो स्वरूप से कर्म का बहिष्कार है। अजगरी वृत्ति उसका आदर्श है। देहाध्यास से परे रहना उस सिद्धान्त का साधन है। परन्तु गीता तो कर्म को साधना बताती है। रण-क्षेत्र अर्जुन के लिए साधना-क्षेत्र है। 'सिद्धि के लिए कर्म के नितान्त त्याग की आवश्यकता है', ऐसा कहीं नहीं कहा। इसके विपरीत कहा है, अध्याय 18 के 56वें श्लोक में –

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'सब काम सदा करता हुआ भी, मेरे आश्रित हुआ, मेरी कृपा से शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त करता है।'

गीता का योग तो शरणागति में प्राप्त होता है। उसी से चैन होती है श्रोता को। वहीं पर रास्ता मिलता है अर्जुन को और हम कहते हैं कि गीता का पुरुषोत्तम मायाविशिष्ट ब्रह्म है। यह बुद्धि की विडम्बना है!

बुद्धि इस विषय में निर्णायक नहीं हो सकती है। हमारे तेज़ तर्क हमें झमेले में डाल सकते हैं और दूसरों को भी। हम बुद्धि का व्यभिचार कर सकते हैं। बस, भटक सकते हैं।

हमें तो इतना ही कहना है कि मायाद्वैत एक दृष्टिकोण है और वह अपनी जगह पर ठीक है। गीता जो हमें कहती है सो हमें स्वीकार करना है। हम तर्क के आधार पर किसी वाद की पुष्टि अथवा अपुष्टि को अनधिकार चेष्टा समझते हैं। जितना हम एक दृष्टिकोण को समझ सकते हैं उतना ही दूसरे को, यदि बुद्धि का समुचित उपयोग करें तो।

इतना लिखना आवश्यक समझा गया है इस अध्याय को आरम्भ करने से पूर्व। इस मौलिक भ्रम की निवृत्ति के बिना आगामी सारी चर्चा व्यर्थ हो सकती है। अनुभव के आधार की चर्चा हम प्रसंग के अनुसार करेंगे।

श्री भगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥1॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥2॥

श्री भगवान् बोले –

हे अर्जुन! मैंने इस अव्यययोग को विवस्वान् को कहा था। विवस्वान् ने मनु को कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को॥1॥

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस (योग) को राजर्षि लोगों ने जाना। वह योग इस लोक में बहुत समय पाकर लुप्त हो गया॥2॥

कर्म के योग का वर्णन पिछले अध्याय में किया गया था। उस योग के इतिहास का वर्णन करते हैं उसका आरम्भ करने वाला कौन था? किस विधि से उसका प्रचार हुआ? आज उसकी क्या दशा है?

यह कर्म का योग अव्यय है। नष्ट न हो सकने वाला अव्यय कहलाता है। कर्मयोग तो इस सृष्टि का मौलिक आधार है। इसी योग का अवलम्बन लेकर रचना की आदि प्रवृत्ति होती है। पुरुषोत्तम यज्ञ करते हैं और उसमें बलि देते हैं। वहाँ रखी जाती है इस सृष्टि की नींव। वही यज्ञमयी प्रवृत्ति जो

इस योग का मौलिक रूप है, देवों और उपदेवों में काम करती है। तभी यह रचना रची जाती है। कर्मयोग तो सृष्टि का मौलिक नियम ही है। अत: यह योग नष्ट नहीं हो सकता, इसका प्रचार समाप्त हो सकता है। मनुष्य इसको भूल जायें, यह सम्भव है। परन्तु यह रास्ता ही लुप्त हो जाये, ऐसा सम्भव नहीं। प्रभु कहते हैं कि मैंने ही इस योग का उपदेश किया था विवस्वान् को। मनु विवस्वान् को सृष्टि रचना में प्रवृत्त होना था। कर्म किस प्रकार से करना चाहिए, किस निष्ठा का अवलम्बन लेना चाहिए, यह जानना उसके लिए आवश्यक था। अत: इस योग का प्रभु ने उपदेश किया।

पुराणों में वर्णन आता है कि ब्रह्माजी के पुत्रों में से सनकादि ने (नारद भी उन्हीं में हैं) सृष्टिक्रम को चालू करने से इंकार कर दिया। गृहस्थ-धर्म में उनकी अरुचि थी। परन्तु ब्रह्माजी को तो सन्तानक्रम चलाना था, अत: उन्होंने और सन्तान उत्पन्न की और यह सृष्टिक्रम चल सका। श्रीमद्भागवत पुराण में इसका अच्छा वर्णन मिलता है।

इसका अर्थ है कि कर्म को बन्धन समझ कर भागने की प्रवृत्ति आज की ही नहीं है, यह पहले भी थी। कर्मयोग तो रहस्य है, बन्धन रहित रहते हुये कर्म करने का।

विवस्वान् मनु ने अपने उत्तराधिकारी वैवस्वत मनु को इस योग को कहा और उसने यह योग इक्ष्वाकु राजा को दिया। इक्ष्वाकु सर्वप्रथम मनुष्य राजा था। उसने यह योग अपने उत्तराधिकारी को दिया। इस प्रकार इस योग की परम्परा चलती गई। इन राजा लोगों से जनकादि ने इसी परम्परा से कर्म के योग को प्राप्त किया। परन्तु वह भी पुरानी बात हो गई। राजा जनक तो त्रेतायुग में हुए हैं। आज कलि का प्रारम्भ है – द्वापर का अन्त है। इस बड़े समय में यह परम्परा समाप्त हो गई। आज इस योग का जानने वाला कोई नहीं रहा।

भगवान् के समय में इस योग के वेत्ता नहीं थे, ऐसा ही समझ में आता है। या तो सकाम यज्ञों की चर्चा थी या कोरे ज्ञान की चर्चा। या तो कर्म-काण्ड ही था, याज्ञिकों का बोल-बाला था, या कर्मों का स्वरूपत: संन्यास ही।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण:।
यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥18/3॥

कर्ममात्र त्याज्य है, यह एक सिद्धान्त था। परन्तु इस त्याग के पक्ष में भी लोगों का मत था कि यज्ञ, दान और तप तो नहीं छोड़ना चाहिए।

यह जो कर्मयोग का मध्यम मार्ग है, जो कर्मों को करते हुए भी उनको संन्यास सिखाता है, जो कर्म को बन्धन नहीं कहता, साधन कहता है, उसे जानने वाले कोई न थे।

आश्रम-व्यवस्था भी तो कर्मों के स्वरूपतः त्याग की ओर ही इशारा करती है, वानप्रस्थ के बाद कर्मों का पूर्णरूपेण त्याग करने से व्यक्ति मोक्ष को पा सकता है, यही तो मौलिक मन्तव्य है उसके पीछे। वानप्रस्थ तैयारी है, गार्हस्थ्य उसके लिए तैय्यारी है। भोग के द्वारा संस्कारों को क्षीण करके और इन्द्रियों को क्षीण करके व्यक्ति क्रमशः उस पूरे संन्यास के लिए तैय्यार हो जाता है। वैदिक संस्कृति में यह विचारधारा कितनी बद्धमूल है, इसका हमें परिचय प्राप्त हो जाता है।

महाभारत में गिनती के उपाख्यान आते हैं जो इस कर्म की निष्ठा के प्रतिपादक हैं – तुलाधार और जाजलि के, बस दो ही और बाकी ग्रन्थ संन्यास की निष्ठा से भरा पड़ा है। वैराग्य का बोल-बाला है वहाँ और कर्म के, गृहस्थी के, विषयों के, बन्धुओं के परित्याग का। भगवान् बुद्ध की विचारधारा इस संन्यास की परिपाटी का ही तो उद्दाम वैभव था।

वाल्मीकीय रामायण में हमें वह रंग दिखाई नहीं देता। महाभारत में गीता तो एक अजीब सी चीज़ दिखाई पड़ती है, जैसे अन्धियारे में उजाला हो, जैसे संन्यास के काले बादल में बिजली की चमक।

ठीक ही तो कहा भगवान् ने कि यह योग आज लुप्त हो गया है मानव-समाज से।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥3॥

'और यह वही पुराना योग आज मैंने तुम्हें कहा है। क्योंकि तू मेरा भक्त है और सखा भी और यह श्रेष्ठ रहस्य है'॥3॥

यह कर्मयोग जो मैं तुझे कह रहा हूँ, यह कोई नई बात नहीं। यह तो पुराना ही योग है, इसी का अनुसरण करते आये हैं राजर्षि लोग और कर्म के द्वारा ही उन्होंने सिद्धि को लाभ किया है।

यह परम रहस्य है। जो एकान्त में कहने योग्य हो वह रहस्य होता है। वह बात जो कीमती होती है, जो सब किसी के सामने प्रकट करने की नहीं होती, वह रहस्य होता है। यह तो जीवन को स्वर्णमय करने की कुंजी है। बिना पात्र के, बिना सुनने की इच्छा वाले के, इसे किसी के सामने कहना तो सुअरों के सामने मोती बिखेरना है। यह कल्याण करने वाला रहस्य है। (देखिए अध्याय 18, 67)

मैंने इसे तुझे क्यों कहा?

तू मेरा भक्त है, तू पात्र है इस रहस्य को ग्रहण करने के लिए। आज तुझे इसकी आवश्यकता है। आज तू मार्ग की खोज में विपन्न हो मेरी शरण आया है, अतः तुझे कहना उचित ही है।

और तू मेरा सखा भी है, प्यारा है, यह रहस्य भी मुझे प्रिय है, **'इष्टमिष्टेन योजयेत्'।** प्यारे को प्यारे से मिलना ही चाहिए, प्रिय वस्तु को अपने प्रिय को उपहार देना उचित ही है।

'आज इस योग को एक प्यारे रत्न की तरह तेरे हाथों में सौंपा है मैंने, इसे सम्भालकर रखना, जीवन में उतार लेना'। मानो यह मूक प्रतिध्वनि है श्लोक के अपरार्ध के पीछे। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥4॥

अर्जुन बोला –

'तुम्हारा जन्म बाद का है, विवस्वान् तो (बहुत) पहले हो गया है, मैं कैसे मानूँ कि तुमने (ही) पहले (इस योग को विवस्वान् को) कहा था?'॥4॥

भगवान् की बात सुनकर अर्जुन चौंका, ऐं! यह क्या? 'मैंने ही इस योग को विवस्वान् को कहा था'! यह बात करने वाला कृष्ण तो मेरी आयु का है, मुझ से दो चार महीने का ही अन्तर होगा, विवस्वान् को हुए तो युग बीत गये। भला यह कैसे हो सकता है कि कृष्ण ने विवस्वान् को उपदेश दिया हो इस योग का?'

अर्जुन अभी तो कृष्ण को कृष्ण ही मानता था। मनुष्यों में वह मान्य थे, समझदार थे, नेता थे, भले थे, परम मित्र थे अर्जुन के। छोटे-पन में संग-संग खेले थे। अर्जुन जो श्रीकृष्ण की शरण गए थे – **'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** (2/7) वह उसे अपने से बड़ा और अधिक समझदार मानकर गए थे। इससे अधिक कोई भावना प्रभु के प्रति अर्जुन में न थी। जो दो जगह प्रभु ने अपने को भगवद्भाव में प्रकट किया वह तो गौण रूप से था (2/62 और 3/30-32)। अर्जुन का ध्यान नहीं गया, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु वर्तमान स्पष्टोक्ति को वह खो नहीं पाये, सो पूछ ही लिया।

श्री भगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥5॥

श्री भगवान् बोले –

'हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। हे वीर! मैं उन सब को जानता हूँ, तुम नहीं जानते'॥5॥

वह जन्म कैसे हैं?

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥6॥

'अजन्मा होते हुए भी और भूतों का ईश्वर होते हुए भी मैं अव्ययात्मा अपनी प्रकृति को अधिष्ठान बनाकर अपनी माया से जन्म लेता हूँ'॥6॥

यहाँ हमें भगवान् के जन्म के रहस्य का बोध होता है। अवतार क्या होता है, इसका परिचय मिलता है।

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं प्रभु। 'मैंने जो विवस्वान् को कर्मयोग का उपदेश किया सो इस जन्म में थोड़ा किया है। वह तो पुराने किसी जन्म में किया था। वह मुझे स्मरण है। अतः मैं कह रहा हूँ कि मैंने उपदेश किया था।'

'तेरे भी, हे अर्जुन! बहुत से जन्म हो चुके हैं। जन्म-मरण तो संसार ही है। मेरे भी अनेक जन्म हो चुके हैं। मुझमें और तुझमें अन्तर बस इतना है

कि तुम तो पिछले जन्मों के विषय में कुछ भी नहीं जानते, मैं जानता हूँ।

न केवल अपने ही पिछले जन्मों को जानता हूँ, तेरे भी सभी जन्मों को जानता हूँ। उन सभी जन्मों को – अपने और तेरे जन्मों को जानता हूँ। यही अर्थ प्रतीत होता है।

वह जो अजन्मा है, जो अनादि है, अविकारी है वह भला कैसे जन्म लेगा? इस प्रश्न का उत्तर छठे श्लोक में दिया है। मैं जन्म लेता ही हूँ। इसमें कोई सन्देह वाली बात नहीं है। क्या पुरुषोत्तम (तत्व) जो भगवान् थे, वह तत्व जन्म लेता है? वही सत्ता जन्म लेती है, मानुषी शरीर में हमारे बीच में हम सरीखा होकर प्रकट हो जाती है। वह सारी परिस्थितियों में से होकर गुजरती है जिनमें से साधारण मनुष्य गुजरता है। माँ के गर्भ में निवास होता है, प्रसव होता है, शैशव होता है और बाल्यकाल भी। सामान्य व्यक्तियों की तरह खाना, पीना, सोना, जागना, उठना, बैठना होता है। सामान्य भाव भी होते हैं। सारी की सारी मानुषी लीला होती है।

वह बिल्कुल मनुष्य ही होता है देखने में, परन्तु होता है पुरुषोत्तम। क्या प्रमाण होता है उसके पुरुषोत्तम होने का? कैसे जानें कि अमुक व्यक्ति साधारण मनुष्य नहीं? मानव देहधारी कोई भी अपने को आजकल भगवान् कह सकता है। कोई भी दूसरे को भगवान् कह सकता है। वेदान्त और अद्वैत-सिद्धान्त तो सभी को अधिकार देता है **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहने का। तो अपने को भगवान् मानने में क्या देर लगती है? और भी, प्रभु तो सर्वरूप हैं।

सभी कुछ उसी का रूप है, 'वासुदेवः सर्वमिति' सब कुछ भगवान् ही तो हैं। अन्न भगवान्, गाय भगवान्, कुत्ता भगवान्, अतिथि भगवान्। 'सृष्टि सारी श्याममयी है'। तो क्या सभी अवतार हैं, क्या सभी कोई अपने को भगवान् का अवतार कह सकते हैं? जिसे हम अवतार कहते हैं उसमें क्या विशेषता होती है?

यह सभी कुछ प्रभु का ही रूप है। वही एक सत्ता सभी रूपों के द्वारा और नामों के द्वारा प्रकट होती है। उसकी दो प्रकृतियाँ हैं, परा और अपरा (7/4-5)। तीनों गुण उसी से हैं, उसी के रूप हैं। वही जीव है, वही सत्व, रजस् तथा तमोगुण है और इनसे होने वाले भूतमात्र हैं – सकल सृष्टि है। वही तो एकमात्र सत्ता है जो इस सारे पसारे में पसरी हुई है। उसके अतिरिक्त दूसरा क्या है? कौन है?

जो व्यक्ति अपने भीतर प्रकृति से परे अपने आत्म-भाव में उस परम-पुरुष की चेतना को जागृत कर लेता है, भीतर भगवान् में प्रतिष्ठित हो जाता है वही सबके भीतर उस जगती हुई ज्योति को पहिचान पाता है। उसे सभी में बैठा हुआ पुरुषोत्तम ही दीखता है। जब वह कण-कण में उसे देखता है, कण-कण को उसी का ही रूप, उसकी स्थूल में अभिव्यक्ति देखता है तो उसके लिये यह सभी राममय हो जाता है। प्रकृति भी उसी का रूप दीखती है और जीव भी। यह है भी परम-सत्य। यह उसके लिये अनुभवगम्य हो जाता है।

परन्तु जो सभी स्तरों में उसे देखता है, वह कोई विशेष नहीं देखता, सामान्य में विशेष सत्ता को पहिचानता है। मनुष्य को मनुष्य देखता हुआ उसमें पुरुषोत्तम को पहिचानता है। मनुष्य में ज्ञान अथवा शक्ति के अभ्युदय को देखकर भी सभी सम्भावना के आदिस्रोत प्रभु को भीतर जमा हुआ देखता है।

अवतार तो अभिव्यक्ति में विशेषता होती है। वह विशेषता दृष्टिगोचर ही किसी-किसी को होती है। जिस पर प्रभु कृपा करते हैं उसके लिए वह अपने पुरुषोत्तम-भाव को प्रकट कर देते हैं। जो इस योग्य होता है उसी पर यह प्रकट करते हैं। सामान्य व्यवहार साधारण मनुष्यों का सा होने के कारण बुद्धि भ्रमित होती रहती है। व्यक्ति निश्चयात्मक रूप से जान नहीं पाता। भगवान् कृष्ण के समकालीन लोगों में थोड़े ही थे जो यह जानते थे कि यह नर रूप में नारायण खेल रहे हैं, यह सामान्य जीव नहीं हैं। जिस-जिस ने ऐसा जाना वह प्रभु की शरणापन्न हुआ।

जिसके लिए पुरुषोत्तम-भाव प्रकट होता है वही तो जानता है। वह पुरुषोत्तम-भाव शक्ति का, ज्ञान का, आनन्द का अतिशय होता है। प्रेम का अतिशय होता है। सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विग्रह, यही तो पाँच गुण हैं परमेश्वर के। यह प्रकट हो जाते हैं उसके लिए जिस पर कृपा कर प्रभु अपने भगवद्भाव को व्यक्त करते हैं। लौकिक दीखते हुए भी वह अलौकिक कर्म करते हैं। भगवान् कृष्ण की बाल लीलाएँ क्या साधारण बालक का काम था? कितने ही काम हमें भगवान् के जीवन में मिलते हैं जो अपौरुषेय कहे जा सकते हैं। परन्तु बुद्धि के तार तो बड़े लम्बे होते हैं। कौन सी है पौरुषेय और अपौरुषेय में सीमा? किसी के लिए कुछ है और

किसी के लिए कुछ है। इसलिए बुद्धि निर्णय नहीं कर पाती है, हमेशा डोलती है। जब प्रभु कृपा करते हैं तो न केवल परिचय देते हैं, विश्वास भी देते हैं।

बुद्धि को तो हार ही माननी पड़ती है। भगवान् ने अर्जुन को तो स्पष्ट कहा ही था अपना विश्वरूप दिखाने के बाद –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥11/54॥

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार का जाना और देखा जा सकता हूँ। (उसी के द्वारा ही) मुझ में प्रवेश भी पाया जा सकता है।'

अनन्य भक्ति से प्रभु की कृपा होती है। अनन्य भक्ति से पहिचान हो पाती है।

सिद्ध में भी तो बल-पौरुष का अतिशय रहता है। सामान्य मनुष्य क्या जाने कि सिद्ध पुरुष यह कर सकता है और यह नहीं कर सकता? क्या है उसके पास आधार निर्णय करने का? अतः बुद्धि की तो हार ही होती है।

अवतारवाद के विषय में जो आक्षेप होते हैं मतवादी लोगों के, वह जो हम बचपन में शास्त्रार्थों में सुना करते थे, वह भगवान् की भगवत्ता की अनन्तता को न मानने वाले, वादी लोगों की अज्ञानता के परिचय मात्र दीखते हैं आज।

अवतार एक अनुभव गम्य सत्य है। उसकी प्रामाणिकता के लिए बुद्धि के दर पर भीख मांगने की आवश्यकता नहीं। हाँ, बुद्धि के समुचित प्रयोग से उस तत्व को कुछ-कुछ समझा जा सकता है।

इस प्रकार से प्रकट हुए पुरुषोत्तम को अवतार कहा जाता है। वह उतरता है अपने उस मन-बुद्धि से परे के स्तर से इस पार्थिव मानुषी स्तर पर, इसलिए। वह उतरता है अपने उस ऊँचे भाव को लेकर। पुरुषोत्तम-भाव की चेतना को लेकर इस मनुष्य के शरीर में उतरता है। इसलिए कहा जाता है कि उसने अवतार लिया।

बाह्य जगत् में अवतार, भीतर के जगत् में उसी महती चेतना के स्थूल स्तर पर्यन्त हो सकने वाले अवतरण का परिचायक है। भीतर के इस प्रकार के अवतरण की प्रतीति बाहर ऐसे अवतार की सम्भावना की परिचायक है। जो भीतर होता है सो बाहर भी। जो अण्ड में सो ब्रह्माण्ड में।

प्रभु कहते हैं **'सम्भवामि'** – मैं पैदा होता हूँ, मैं जन्म लेता हूँ। यह तथ्य है। इसे स्वीकार करना होगा, भगवान् की वाणी के प्रमाण से। आज भी तो अवतारोपासना का मार्ग प्रचलित है उसकी अनुभूतियों से, उस समय के समकालीन प्रभु कृपापात्र भक्तों के प्रमाण से और बुद्धि साथ दे तो भगवान् की लीलाओं के प्रमाण से। वह जो गीता का प्रवक्ता है, वह जो कृष्ण है, वह भगवान् है। उसकी वाणी उसकी भगवत्ता का प्रबल प्रमाण है। भगवान् के बिना साधारण मनुष्य यह कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक निर्देश पर उसकी निजी छाप प्रतीत होती है।

अब प्रश्न रह जाता है, वह कैसे जन्म लेता है?

क्या साधारण मनुष्यों की तरह? साधारण मनुष्य तो कर्म की गति से प्रेरित मरण के उपरान्त कालान्तर में यहाँ किसी माँ के गर्भ में प्रवेश पाकर, शरीर के अधिष्ठातृ बनकर इस संसार में प्रकट होते है। कर्मफल का भोग उनके लिए प्रेरणा होती है यहाँ आने की। तृष्णा के तन्तु और विकास की मांग खींच लाती है पार्थिव लोक में। भगवान् तो कर्म के बन्धन से सदैव परे हैं। वह यहाँ कैसे आते हैं?

'सम्भवामि आत्ममायया।' 'अपनी माया से जन्म ले लेता हूँ।' ऐसा कहते हैं प्रभु।

माया माप डालने की शक्ति है। जो एक में से अनेक को प्रकट कर देती है। जो सीमा-बद्ध करती है, जो रचना करती है। जो बन्धन का कारण है। जिससे हम एक को नहीं देख पाते हैं। जिससे यह अविद्या है, घोर भ्रम है। जिसने प्रभु को आँखों से ओझल किया है। जो उस प्रियतम को अपने आंचल में छिपा कर विविध खेल दिखा रही है, वह प्रभु की शक्ति माया है। उसकी शक्ति ही है, उससे न्यारी नहीं है। वही स्वयं मायारूप है। उसी शक्तिमय के एक भाव का नाम माया है। जो उस खिलाड़ी का मदारीपन है सो माया है।

वह अनन्त, उसकी शक्ति अनन्त! यह परमेश्वर की स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया है। (श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/8) यह माहेश्वरी मंगलमयी महाशक्ति का ही एक भाव तो है। इसी को भगवान् कहते हैं कि यह दुरत्यया है। (7/14)

इसका अर्थ है कि भगवान् अपनी लीलामयी शक्ति का आश्रय लेकर

प्रकट हो जाते हैं। वह जो इतने ब्रह्माण्डों को प्रकट कर सकता है वह स्वयं भी प्रकट हो सकता है। इसमें विस्मय की क्या बात? हम बच्चे उस अनन्त की सर्वशक्तिमत्ता को बुद्धि के तराजू में तोलने बैठ जाते हैं। प्रभु यह कर सकते हैं, यह नहीं कर सकते। यह बुद्धिगत अहं का उत्तम प्रमाण है। बुद्धि के व्यभिचार का सुन्दर उदाहरण। और कहा –

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय', अपनी प्रकृति को अधिष्ठान बना कर। उसको आधार बनाकर, प्रकृति में ही तो प्रकट होते हैं। गुणों में ही तो प्रकट होते हैं। मन-बुद्धि-इन्द्रियों का आधार बनाते हैं, वही तो शरीर होता है। वही तो सारी लीला का आधार होता है।

अपरा प्रकृति का आधार तो लिया ही जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर क्या जीवभूता परा प्रकृति का भी आधार लेते हैं? क्या किसी जीव में वह उतर आते हैं और उसके जीवभाव को लुप्त कर अपने में लीन कर सारी लीला करते हैं? यह सम्भव दीखता है। जो अपने को सौंप देता हो पूर्णरूपेण प्रभु के चरणों में, प्रभु यदि आवश्यकता होने पर उस जीव को आधार बनाकर यहाँ वांछित लीला करें, तो कोई अबुद्धि-संगत बात प्रतीत नहीं होती। महाप्रभु का जीवन मुझे तो इस बात का पोषक उदाहरण प्रतीत होता है। निमाई पण्डित का क्रमशः तिरोभाव होता गया और महाप्रभु प्रकट होते गए, वह व्यक्तित्व ही और था जो प्रकट हो गया।

पर यहाँ अनेक सम्भावनायें हैं। यह कल्पना का क्षेत्र है, इसका अन्त नहीं। हमेशा ऐसा ही होता है, पर हम कह नहीं सकते। उसके तरीके अनेक हैं, उसके लिए कोई बन्धन नहीं है। हाँ, 'प्रकृति के अधिष्ठान' में यह बात आ सकती है।

श्लोकार्ध तो 'अवतार लेता हूँ, जन्म लेता हूँ', इस बात को ज़ोरदार शब्दों में, विरोध को स्वीकार करता हुआ प्रकट करता है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

'मैं अव्ययात्मा हूँ, मैं अव्यय हूँ, विकारों से परे हूँ। अविकारी होकर भी जन्म लेता हूँ। जन्म लेकर, सभी खेल करके भी अविकारी रहता हूँ। ऊँची चेतना में स्थिर हो जाने पर यह सम्भव प्रतीत होने लग जाता है। 'अजन्मा होता हुआ भी जन्म लेता हूँ'। जन्म-मरण के बन्धन से परे हैं प्रभु, कर्म के बन्धन से परे हैं प्रभु, विकास की आवश्यकता से भी। फिर वह शरीर धारण

करने पर भी कर्म-बन्धन से परे ही रहते हैं। अजन्मा-अजन्मा ही रहता है। 'भूतों का ईश्वर होते हुए भी' जन्म लेता हूँ। भूतमात्र के रचयिता हैं प्रभु। उसके नियन्ता हैं, स्वामी हैं, सभी का नियमन करने वाले प्रकृति में आकर प्रकृति के धर्मों के अधीन कर लेते हैं अपने को। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, जरा-मरण सभी तो व्याप्त होते हैं शरीरगत प्रभु पर। वह ईश्वर अनीश्वर बना लेता है अपने को इस अवतार-लीला में। वह ब्रह्माण्ड का स्वामी छोटे से गर्भ में समा जाता है, वह त्रिलोकी का पति माँ की गोद में खेलता है, वह दूध की चाह से रोता है, घुटनों से रेंगता है, पालने में झूलता है, वह भूतों का अधीश्वर। कैसी बिडम्बना है! माँ यशोदा, देवकी और कौशल्या मोहित हो जाती हैं, नन्द बाबा मोहित हो जाते हैं। वसुदेव चकित हो जाते हैं। यह अवतार का तत्त्व अचम्भा, महान् अचम्भा है। यही है लीला प्रभु की, उस नटवर लीला-धारी की।

इसीलिए श्रीमुख से स्वयं गीता में अनेक स्थलों पर इशारा किया है इसकी दुरूहता की ओर (7/24, 9/24)।

प्रभु अवतार लेने का प्रयोजन कहते हैं –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥7॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥8॥

'जब जब धर्म का क्षय होता है, (और) अधर्म की वृद्धि होती है, हे अर्जुन! मैं तब-तब अपने को पैदा करता हूँ॥7॥

'सज्जनों की रक्षा के लिए, पापियों का विनाश करने के लिए और धर्म की भली-भाँति स्थापना करने के लिए युग-युग में जन्म लेता हूँ॥8॥

दोनों श्लोकों में मिलाकर वास्तव में एक ही बात कही है जो 7वें में कहा है सो 8वें में स्पष्ट हो जाता है।

'जब धर्म का क्षय होता है'। धर्म से तात्पर्य है वह आचरण जिससे मनुष्य मनुष्य बनता है और विकास के मार्ग में आगे बढ़ पाता है। नैतिक आचरण धर्माचरण है। सत्य, संयम, दया, सेवा, त्याग, ईमानदारी – वह जो

दैवी-सम्पत् है, वह धर्माचरण का ही विवेचन है। 16वें अध्याय के पहिले तीन श्लोक दैवी गुणों का आख्यान करते हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥1॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥2॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥3॥

हमारे लिये धर्म के स्वरूप को समझने के लिये इतना ही पर्याप्त है। जब लोगों के व्यवहार में से इनका लोप होने लगे, तो समझना चाहिये कि धर्म का क्षय हो रहा है।

इसके विपरीत गुण, अधर्म के लक्षण हैं। वह भी वहीं मिलेंगे –

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥4॥

जब लोक-व्यवहार में दम्भादि की वृद्धि होती है तो अधर्म का अभ्युदय समझना चाहिये।

धर्माचरण पर आश्रित है समाज की स्थिति। धर्माचरण पर आश्रित है इस लोक में मंगल। वह हमारी बुद्धि की कुशाग्रता पर आश्रित नहीं। हम अपने को चातुरी से ठग सकते हैं, अपने भाइयों को ठग सकते हैं, परन्तु विधाता की विधानकारी शक्तियों को नहीं ठग सकते। हमारा किया पक कर फल के स्वरूप हमारे सामने आता है, ऊपर से बरसता है और पृथ्वी से फूट निकलता है। कहाँ जान छिपा सकता है मनुष्य! उसे कहीं भी ठौर नहीं मिलेगी। अपने किये हुए बुरे से वह भाग नहीं सकता।

यह संसार तो विकास का क्षेत्र है। इस क्षेत्र की उपयोगिता इसमें है कि जो यहाँ आयें तो आवश्यक अनुभव को प्राप्त कर आगे बढ़ते जायें। यदि इस लोक में पापाचरण बढ़ता है तो इसकी स्थिति ही डगमगा जाती है, यहाँ की व्यवस्था ही बिगड़ जाती है। जिनके उपयोग के लिए, शिक्षण के लिये यह रचना रची गई है उनके लिये यह उपयुक्त रहती ही नहीं। अतः इसके सुधार की आवश्यकता होती है।

भगवान् होने ही क्यों देते हैं ऐसा? कोई पूछ सकता है। कर्म की प्रभु स्वतन्त्रता देते हैं मानुषी स्तर में और इसके ऊपर (1) विकास के लिए यह आवश्यक है। कर्म की स्वतन्त्रता का अर्थ है पापाचरण की और पुण्याचरण की – दोनों की स्वतन्त्रता। विकास की अवस्था के अनुसार निम्न प्रवृत्तियाँ अथवा उच्च प्रवृत्तियाँ बली हो जाती हैं और धीरे-धीरे दूसरी प्रकार की प्रवृत्तियों को पछाड़ देती हैं। कलियुग के मध्य तक क्रमशः निम्नप्रवृत्तियों को शक्ति लाभ होता ही जाता है, क्योंकि चेतना पार्थिव स्तरों में अधिकाधिक उतरती आती है। मनुष्य कलिमय होता चला जाता है, परन्तु कलि के मध्यकाल से चेतना की गति लौटती है। क्रमशः उर्ध्वगमन आरम्भ होता है। वास्तविक निवृत्ति आरम्भ होती है। तब ऊँची प्रवृत्तियाँ बल पाती हैं और निम्न प्रवृत्तियों को पछाड़ती चली जाती हैं। ऐसा ही विधान है विकास का। इसमें आवश्यकता पड़ती है बार-बार स्थिति को सम्भालने की।

किसी एक काल में एक ही विकास की स्थिति वाले और एक सी ही अनुभूति की मांग वाले तो रहते नहीं हैं। सज्जनों का विकास और प्रकार के अनुभव मांगता है और दुष्टों का और प्रकार के। अतः इस लोक को उपयोगी बनाये रखने के लिए हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति का होना जितना स्वाभाविक है उतना ही प्रभु की ओर से हस्तक्षेप भी स्वाभाविक है।

अतः पूर्व-कथित को खोलकर कहते हैं, 'अधर्म की वृद्धि के परिणामस्वरूप सज्जनों को क्लेश होता है, दुष्टजन बली होकर उनके लिए जीना असम्भव कर देते हैं। मैं सज्जनों की रक्षा करने के लिए और दुष्टों को दण्डित करने के लिए जन्म ग्रहण करता हूँ।' यह दण्ड भी कर्मानुसार ही होता है, यह न भूलना चाहिए। दुष्टों की दुष्टता अपना ही दण्ड बुला लेती है प्रभु के अवतार के रूप में।

अवतार का और प्रयोजन है धर्म की स्थापना, भलाई और भलाई करने वालों की उन्नति। नीचे लुढ़कती हुई गाड़ी को मानो अवतार आकर थाम लेता है जिससे वह लुढ़क कर चकनाचूर ही न हो जाये। कुछ समय के लिए वह रुक जाती है, परन्तु फिर युगातिक्रम के प्रभाव से लुढ़कने लगती है। फिर आवश्यकता होने पर अवतार प्रकट हो जाता है।

'युगे युगे' – युग-युग में। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक युग में भगवान् अवतार लेते ही हैं या युग में एक ही बार लेते हैं। आवश्यकतानुसार वह समय-समय पर प्रकट हो जाते हैं।

अवतार का एक और महान् प्रयोजन हमें विकास-क्रम में दिखाई पड़ता है। मत्स्य, कच्छप, वराह, नरसिंह इत्यादि अवतार-परम्परा को जब हम देखते हैं तो प्रतीत होता है कि सृष्टि-क्रम में नये सर्ग का आरम्भ करने वाले प्रभु स्वयं ही होते हैं। जैवी विकास-क्रम भी ठीक इसी प्रकार है। पहिले जलजीवी जन्तु मत्स्यादि होते हैं, फिर जल-स्थल-जीवी जैसे कच्छप (कछुआ)। धीरे-धीरे जल से स्वतन्त्र स्थल पर ही जीवन-धारा पनपने लगती है और वराहादि प्रकट होते है।। नरसिंह आधा पशु तथा आधा मनुष्य रूप है। श्रीमद्भागवत में सर्गों का वर्णन भी इसी बात की पुष्टि करता है।

एक तो यह बात समझने की है कि पुरुषोत्तम का अवतार केवलमात्र मनुष्य शरीर में ही नहीं होता, नीचे की योनियों में भी होता है। वहाँ तो धर्माधर्म का प्रश्न ही नहीं है। वहाँ होने वाला अवतार जीवन की धारा को नये क्षेत्रों में प्रविष्ट करने के हेतु होता होगा, ऐसा समझ में आता है। यह दूसरी बात समझने की है।

परन्तु यहाँ पर तो मानुषी अवतार की ही चर्चा है। मानुषी अवतार धर्म-स्थापना के निमित्त होता है। समझ में यह आता है कि अवतार न केवल धर्म-स्थापना ही करता है, उसके द्वारा विकसित होती हुई मानव-चेतना को आगे भी धकेल जाता है। सारा पृथ्वीतल ही उस अवतरित महती-चेतना के प्रभाव से जगमगा जाता है। युगातिक्रम भी मानो उस प्रभाव से रुक जाता हो। कहते हैं जब तक श्रीकृष्ण भगवान् इस जगतीतल पर रहे, कलियुग का प्रभाव व्याप्त नहीं हो सका और यह बात कोई विस्मय की नहीं।

प्रभु का अवतार प्रभु की करुणा का परिचायक है। वह करुणा से प्रेरित होकर ही अपने लिये सीमा-बन्धन स्वीकार करके विकास की गाड़ी को आगे ले जाने के लिए और सज्जनों की रक्षा करने के लिए धरातल पर उतर आते हैं। इस स्थान पर तो वह अपने सज्जनों के रक्षक या दुष्टों के संहारक भाव को ही मुख्यरूप से अर्जुन को बताना चाहते थे। इस युद्ध-क्षेत्र में वह इसी रूप से प्रकट थे। इसी भाव से अर्जुन को शरणापन्न भी होना था। बाकी सभी कुछ मानो आनुषंगिक है।

ऊपर कहा गया था कि अवतार का तत्त्व अनुभवगम्य है। अवतार इतिहास में कालविशेष में होने पर भी एक ध्रुव सत्य हो जाता है। वह स्थूल जगत् से उठ जाता है परन्तु प्रकट हुआ वह व्यक्तित्व सूक्ष्म में रहता है। वह उपास्य इष्ट बन जाता है। उसे साक्षात् किया जा सकता है और उसकी नित्य होने वाली लीला को। वह लीला जो उसने स्थूल में की थी वह सूक्ष्म में अंकित रहती ही है। मानो एक फिल्म बन गई हो, जो जब चाहे व्यक्ति देख सके। इसके अतिरिक्त वह व्यक्तित्व जो उपास्य इष्ट बन जाता है वह सूक्ष्म में क्रियाशील रहता है और लीला करता है। ऐसा ही अनुभव है अवतारोपासना के मार्ग पर चलने वाले भक्तों का। वृन्दावन आज भी श्रीकृष्ण भगवान् की नित्य लीलास्थली है।

आज यह बातें कल्पना नहीं है, ठोस सत्य समझ में आती हैं और बुद्धिगम्य भी हैं।

श्री तुलसीरामायण में अवतार-तत्त्व के विषय में काफी प्रकाश डाला गया है। 'युगे-युगे' के साथ वह प्रसंग रख देना अनुचित न होगा। काकभुशुण्डि जी का कथन है उत्तरकाण्ड में –

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं।।
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ।।
जन्म महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई।।
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटि सत कामा।।

और आगे फिर कहा अपने भ्रम का वर्णन करने में –

अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखउँ जिनस अनेक अनूपा।
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी।।
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखउँ बालबिनोद अपारा।।
दोहा - भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन।।

काकभुशुण्डि जी के भ्रम के वर्णन को तो हम विशेष महत्त्व दे नहीं सकते। वह तो प्रभु की माया थी। वहाँ बुद्धि की गति नहीं। पहला प्रसंग अवश्य यह बताता है कि राम बार-बार अवतार लेते हैं। अवधपुरी में ही और

उसी राम रूप में अवतार लेते हैं। इष्ट तो वही राम रूप ही है काकभुशुण्डि जी का। यह सब तो मानो कह रहा हो कि यह युगातिक्रम बार-बार होने वाला नाटक है, जिसमें एक पार्ट अवतार का भी रहता है। उस नाटक के बाकी पात्र बदलते हैं परन्तु यह पात्र तो स्थायी रहता है। वही लीला थोड़े बहुत अन्तर से फिर-फिर होती है और काकभुशुण्डि जी उसे देखते हैं।

और कहा कि 'रामचरित सत कोटि अपारा।'

अवतार के होने से और क्या हो जाता है यह आगामी श्लोक में कहा -

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥9॥

'हे अर्जुन! इस प्रकार के मेरे दिव्य जन्म और कर्म को जो तत्व से जानता है, वह देह छोड़कर फिर जन्म नहीं लेता, (परन्तु) वह मुझे प्राप्त होता है'।।9।।

'वह मुझे प्राप्त होता है', क्या वह किसी लोकविशेष को जाता है? क्या वह किसी नित्य लीला-धाम में निवास करने लगता है? कृष्णोपासक गोलोक को प्राप्त करते हैं और रामोपासक साकेत को, ऐसी धारणा है। 12वें अध्याय में तो प्रभु ने अव्यक्तोपासकों के विषय में भी कहा था कि वह मुझे ही प्राप्त होते हैं। अपने धाम के बारे में प्रभु कहते हैं।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥8/21॥

'जिसे पाकर फिर लौटते नहीं वह मेरा परम धाम है।'

गोलोक और साकेत को नित्य-धाम कहा जाता है। वहाँ भगवान् साकार रूप में हमेशा साथ रहते हैं और भक्तों से विहार करते हैं और भगवान् अपने में निवास और प्रवेश को भी तो कहते हैं –

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥12/8॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥11/54॥

वह धाम शाश्वत अव्यय पद है। (18/56, 62)

यह सभी देखते हुए यही कहते बनता है कि प्रभु को प्राप्त होना एक ही अवस्था को प्राप्त करना नहीं है। हमारी निष्ठा के अनुसार ही हमारी स्थिति होती है। प्रवेश की माँग करने वाले प्रवेश पाते हैं और लय की माँग

वाले लय को। साकार विहार की याचना करने वाले उसे लाभ करते हैं। इसके अतिरिक्त भी प्रभु कितने भावों में अपने चाहने वालों को तृप्त कर सकते हैं, इसकी कोई सीमा कल्पना में लाना ग़लत प्रतीत होता है। प्रभु की प्राप्ति भीतर से पूर्ण निर्मलता है, विकारों से सदा के लिए रहित हो जाना है और ऊँची चेतना में स्थायी रूप से स्थित हो जाना है। इस भूलोक के विकास की सीमाओं के पार चले जाना है, अत: यहाँ लौटकर आने का प्रश्न नहीं रहता। उसमें अहंकार की निवृत्ति आवश्यक है। अत: कर्म का बन्धन नहीं रहता।

क्या ऊँचा है, क्या नीचा है, यह सोचना व्यर्थ की दौड़ होगी। वह सभी भीतर से एक स्थिति होते हुए बाहर से वैविध्य है। वह गति इस क्षुद्र बुद्धि के फुटरूल पर मापी नहीं जा सकती है। हमारी विचार-सारणी और साधना-शैली निर्णायक होती है हमारी गति के विषय में। प्रभु की प्राप्ति प्रभु की ही प्राप्ति है। उसमें ऊँच-नीच की कल्पना कैसी!

उसे पाने के अनेक पन्थ हैं। अवतार भी एक रास्ता खोल देता है प्रभु प्राप्ति का। उसी का यहाँ वर्णन है।

'जो प्रभु के दिव्य जन्म और कर्म को इस प्रकार से तत्व से जानता है वह उसे पाता है।'

'इस प्रकार से' का तात्पर्य है जैसा ऊपर कहा 'अजोऽपि सन् ... इत्यादि। (श्लोक 5-7)

वह जन्म लौकिक नहीं अलौकिक है और प्रभु का कर्म भी अलौकिक होता है। सामान्य मनुष्यों की तरह वह नहीं होता।

इस रहस्य को जो तत्व से जान लेता है सो जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। तत्व से जानना क्या होता है? यही प्रश्न रह जाता है विचारने को।

सुनने और समझने से बौद्धिक बोध होता है। उससे विश्वास बनता है, भावना जगती है, श्रद्धा अंकुरित होती है, वह भक्ति का रूप धारण कर लेती है। फिर होती है प्रभु की कृपा। वह अनुभव करवा देती है, लखा देती है। तब व्यक्ति की जानकारी बुद्धिगत ही नहीं रहती निजानुभव पर आश्रित हो जाती है। उसके साथ प्रामाणिकता की मोहर होती है। संसार भर के कुतर्क उसे हिला नहीं पाते। वह प्रभु में पैठकर उसे पहिचानना होता है, भीतर उसे जागृत करके उसे अनुभव करना होता है। अवतार के भी जन्म और कर्म,

श्रवण तथा मनन तक सीमित नहीं रहते। वह प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाते हैं, वह प्रत्यक्ष जाने जाते हैं।

भगवान् अर्जुन को जो कह रहे थे वह अपने वर्तमान जन्म के विषय में नहीं कह रहे थे, सामान्यतया कह रहे थे।

इस प्रकार अवतार जन्म-मरण से छूटने का एक रास्ता खोल देता है। उसके दिव्य-जन्म और कर्म का श्रवण, मनन तथा कीर्तन एक साधना हो जाती है उसके तात्विक-बोध की। यह भक्ति का एक मार्ग हो जाता है। प्रभु की लीलाओं को गाकर, उसके नाम तथा गुणों का अनुवाद करके ही अनेक लोग देह छोड़ कर प्रभु को पा लेते हैं। (देखिए दशम अध्याय, श्लोक 8, 9, 10 तथा 11)

इस मार्ग की उपयोगिता का प्रमाण देते हैं –

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥10॥

'राग, भय तथा क्रोध से परे हुए, मन्मय हुए, मेरे आश्रित हुए ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए बहुत लोग मेरे भाव को प्राप्त कर गए हैं'॥ 10॥

'मद्भावमागताः' – मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं अर्थात् प्रभु के भाव को प्राप्त हुए हैं, उससे मिल गए हैं एक हो गए हैं, तद्रूप हो गए हैं, भगवान् के अवतार-भाव को प्राप्त हो गए हैं। यह प्रभु-प्राप्ति ही तो है जिसकी ऊपर चर्चा हुई थी।

कौन लोग? **'बहवो ज्ञानतपसा पूता'** – बहुत से लोग जो ज्ञान के तप के द्वारा पवित्र हुए। कौन सा ज्ञान? पिछले श्लोक में इसका उत्तर है प्रभु के दिव्य-जन्म और कर्म का तात्विक-ज्ञान। उसी ज्ञान का तो यहाँ प्रसंग है, उसी के प्रभाव का वर्णन हो रहा है इस श्लोक में।

वह ज्ञान तप है। तप, तप कहलाता है क्योंकि उससे व्यक्ति तपता है और निर्मल हो जाता है। सोना तप कर मैल को खाता है, व्यक्ति ज्वर से तप कर भीतर के विजातीय द्रव्यों का बहिष्करण करता है। तप पवित्र कर देता है। जो अपावन है उसे भस्म कर देता है। प्रभु के दिव्य-जन्म तथा कर्म का बोध भी यही करता है। इसी से तो प्रभु की लीला पावन कही जाती है उसकी चर्चा करते-करते मनुष्य पवित्र हो जाता है।

जैसा हम सोचते हैं वैसा हम बनते हैं। जिसका हम प्रेम से चिन्तन करते हैं उसकी चेतना हममें बसने लगती है। हम उसके रंग में रंगे जाते हैं। यह सत्संगति का एक सूक्ष्म प्रकार है। प्रभु-भक्तों के गुणगान से व्यक्ति पवित्र हो जाता है, भक्ति से भरने लगता है। प्रभु का गुण-गान, लीला-गान तो प्रभु का ही ठहरा। योगदर्शन कहता है – **'वीतराग-विषयं वा चित्तम्'** समाधि सिद्धि का एक उपाय है वीतराग व्यक्ति में चित्त को लगा देना। यदि वीतराग के चिन्तन से विक्षेप तथा मल दूर हो जाते हैं तो प्रभु के जन्म-कर्म के चिन्तन से क्यों न होगा? और जन्म तथा कर्म का रहस्य बुद्धि से थोड़ा जाना जाता है। जन्म-कर्म का गान करना होता है, मनन करना होता है, प्रभु के प्रति भाव जागृत करना होता है, तभी प्रभु की कृपा होती है। तब व्यक्ति जान पाता है –

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। - मानस
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। – उपनिषद्

'जिसे यह वर लेता है उसी से पाया जाता है'।

तो यह ज्ञान पावन है, पवित्र कर देता है और प्रभु को मिला देता है। मिलने से पहिले-पहिले क्या हो चुकता है मनुष्य में? बोध से पूर्व कैसी स्थिति होनी चाहिए?

'मामुपाश्रिताः' – 'पूरी तरह से मेरे आश्रित हुए।' समीप से पूरी तरह से मेरे पर ही निर्भर हो जाते हैं वे लोग। जितना-जितना हम प्रभु के जन्म-कर्म का मनन करते हैं, उतनी उतनी स्वतः ही निर्भरता आती है। वही एक सहारा, सभी सहारों का सहारा, अपना निजी, अपना परम हितू, अपना सर्वस्व दीखने लगता है। अतः उस पर व्यक्ति अपने को छोड़ता चला जाता है, पूर्ण निर्भरता आ जाती है।

'मन्मया' 'प्रभुमय हुए-हुए' जिनमें प्रभु के सिवाय और कुछ नहीं रहा। जो पूरी तरह से खाली हो गये हैं, जिनके भीतर वह ही एक बसने लगा है, ऐसे रंगे जाते हैं उसके रंग में कि दूसरा रंग ही नहीं रह जाता। बाकी सभी कुछ वासनायें आदि तो दूर रहीं', यह आपा भी – अहं भी उसी रंग में लीन हो जाता है।

जो ऐसे हो गए हैं वह **'वीतरागभयक्रोधाः'** राग, भय, क्रोध से रहित हुये मुझे प्राप्त करते हैं। राग – आसक्ति। प्रभु इतना बस जाते हैं भीतर, कि

आसक्ति के लिए गुंजाइश ही नहीं होती। प्रभु का महान् आश्रय पाकर – उसे हमेशा का साथी पाकर भय कहाँ से? सभी कुछ तो उसके इशारे पर चलता है, सभी कोई उसके इंगित पर नाचता है – 'हुकम अन्दर सब कोय'। और क्रोध? प्रभुमय हुआ होता है। जहाँ दृष्टि पड़ती है मालिक दीखता है, क्रोध किस पर करे व्यक्ति? और भीतर इतना कोमल हो चुकता है कि क्रोध जैसी कठोर वृत्ति जग नहीं पाती। अहं ही डूब जाता है तो चोट कौन खाएगा और फुंकारा कौन मारेगा? सांप ही मर गया तो डंक कौन मार सकता है? क्रोध की भी सम्भावना बीत जाती है।

ऐसी स्थिति हो जाती है इस उपासना के पथ पर चलने वाले की। वह प्रभु को पा जाता है। अनेकों इस प्रकार से तर गए हैं, प्रभु चरणों में समा गये हैं।

इस साधना के रास्ते में करणीय है प्रभु की लीला का चिन्तन, श्रवण और उसका कीर्तन। बाकी सभी कुछ उसकी कृपा से होता है, क्रमशः होता है। लगन से साधन करने से होता अवश्य है। भक्तों के चरित साक्षी हैं, वैष्णवों का इतिहास साक्षी है। भगवान् की वाणी भी तो साक्षी है (अध्याय 9)।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥30॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥31॥

और दशम अध्याय के विषय में तो ऊपर लिखा ही है। (श्लोक 10, 11)

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥11॥

'जो जिस प्रकार से मेरी शरण होते हैं, मैं उसी प्रकार से उन्हें स्वीकार करता हूँ। हे अर्जुन! मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही रास्ते पर चलते हैं॥11॥

इस श्लोक का अपरार्ध तो हमने अभी पिछले अध्याय में पढ़ा था – श्लोक 23 में। परन्तु अर्थ-भेद है प्रसंग-भेद से।

प्रभु की शरण भी तो सभी लोग अपने भावों को लेकर ही होते हैं। हमारे संस्कार और हमारे भीतर की मांग मिलकर निर्णय करते हैं कि हम कैसे प्रभु के समीप होंगे। किस भाव में हम उसकी ओर बढ़ पावेंगे। किसी के लिए दास्य सुलभ है, वह प्रभु को स्वामी की तरह देख सकता है। अपने को उसकी सेवा में लगा देने में ही उसे सुख प्रतीत होता है। कोई उसे पिता करके देखता है। सहज में प्यार कर पाता है उस भाव से। किसी के लिए मातृ-भावना सरल है, सुलभ है और प्रिय है। वह माँ-माँ पुकारकर उससे ऐक्य लाभ कर लेता है। कोई उसे बच्चे के रूप में देखकर ही अपना आपा सुगमता से वार सकती है। समर्पण का सुगम द्वार है, सेवा का सुलभ साधन है और प्रेम का अद्‌भुत स्रोत है यह वात्सल्य। किसी के लिए मधुर रस की माधुरी का ही प्रबल आकर्षण होता है। भक्तों का इतिहास सभी भावों के उज्ज्वल उदाहरण रखता है।

जिसके लिए जो सुलभ होता है उसके लिए वही द्वार है। परन्तु भाव के बिना, भाव की स्थिरता के बिना प्रेम जगना असम्भव प्रतीत होता है। वह शान्त भाव शान्त हुए लोगों के लिए ही प्रतीत होता है, सर्वसामान्य के लिए तो वह दुरूह है। मनुष्य तो मानवी टेकों को लेकर सुगमता के कदम उठा सकते हैं। वह दयामय, लीलामय प्रभु सभी के लिए सभी कुछ हो जाते हैं, स्वामी बन जाते हैं और सेवक भी। योगक्षेम का भार तक तो वहन करते हैं अपने कन्धों पर और हैं चरण चाप देते दुर्योधन के! यह मंगलमयी माँ बनकर उतर आते हैं। अपनी आनन्दमयी, कृपामयी गोद में लेकर निहाल कर देते हैं। अपने पावन स्पर्श से पावन कर देते हैं। अमृतरस बरसा देते हैं माँ बने हुए और बच्चा भी बन जाते हैं। माँ यशोदा के आंगन में अनन्त ब्रह्म घुटने घुटने रींगता है। वह सर्वज्ञ शिशु बना स्तन-पान करता है, माँ की गोद में खेलता है। अपनी सरलता से, अपने अबोध भाव से, अपने प्यार से वात्सल्य की प्रबल धारा बहा देता है जननी में। वह खेलता है कौशल्या माँ की गोद में। वह राधिका के लिए कृष्ण बना उसके प्रबल पावन प्रेमातिशय को स्वीकार करता है। सूफी के लिए वह प्रिया बन जाता है। जो हम चाहें वह हमारे लिए बनने को तैयार है, पर हमें बिकना होगा उसके हाथों। बिकने के लिए तैयार होना होगा। इतनी सी कीमत है उस लीलामय पुरुषोत्तम से जुड़ने की।

वह एक ही होते हुए एक ही समय में किसी के लिये कुछ हो जाता है और किसी के लिए कुछ और। सब कुछ पूरा-पूरा होता है। कहीं कुछ भी न्यूनता नहीं होती। वास्तविकता होती है उसके उत्तर में, नकल नहीं होती। झुठाने वाली बात नहीं होती। विस्मय होता है इस अद्‌भुत सामर्थ्य पर। वह अनन्यशक्ति, ज्ञान और प्रेम-सम्पन्न पुरुषोत्तम है, जो यह खेल करता है। वह साक्षात् सच्चिदानन्द प्रभु है, जो यह करता है। वह निस्सीम ब्रह्म है। हमारा विस्मय हमारी सीमित शक्तियों का परिचय मात्र है। उसे तो अनन्त कहना ही मानो सीमित करना है।

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥

और फिर अयोध्या-काण्ड में अयोध्यावासी रामदर्शन को चित्रकूट जाते है। वहाँ श्रीराम ने क्या लीला की!

जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुखु दारुन दाहू॥
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥

प्रभु को प्रभु समझने से विस्मय नहीं होता। श्रद्धा जगती है, शिर झुकता है और हृदय भी झुकता है उन पावन चरणों में।

प्रभु कहते हैं सभी लोग मेरे ही रास्ते चलते हैं। जो जैसे भी चलता है, सभी मेरी ओर ही चले आ रहे हैं। अव्यक्त के उपासक अपने तरीके से, सगुणोपासक अपने तरीके से। एकत्व से भजने वाले और पृथकत्व से भजने वाले और विश्वतोभाव से भजने वाले (9, 15) सभी मेरी ओर ही तो आते हैं। यह सभी रास्ते मेरे हैं, मेरे चलाये हैं। मेरी अनुमति से चले हैं, यह भी अर्थ इसमें छिपा है। जो कर्मों की सिद्धि के लिये चेष्टा करते हैं, सकाम-यज्ञादि, जप-पाठादि करते हैं वह भी तो मेरे ही रास्ते पर चलते हैं।

जो दूसरे देवताओं की उपासना करते हैं वह भी मेरे रास्ते पर चलते हैं। मुझे जानते नहीं हैं ठीक-ठीक, अतः परम लाभ को पा नहीं सकते (9, 24)।

सभी रास्ते उसके रास्ते हैं। वही तो सभी रास्तों का चलाने वाला है। जो जिस भी रास्ते से और भाव से चलता है वह उसी ओर चलता है। कोई पगडण्डियाँ हैं, कोई चौड़ी मोटर-गाड़ी के लायक सड़कें हैं। कोई हेर-फेर के रास्ते हैं, कोई जंगल के हैं और कोई उतार-चढ़ाव के हैं, पर हैं सभी उसके।

इतना ही नहीं। सात्विक, राजसिक तथा तामसिक-भाव सभी उसी से तो होते हैं। तो कर्ममात्र उसी के रास्तों से होता है। वह अखिल का स्वामी है। सभी चेष्टा किसी न किसी प्रकार से ले जाती है हमें उस ओर। (देखिये लेखक की पुस्तक 'अध्यात्म-विकास' में 'शुभाशुभ' अध्याय को।)

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥12॥

'कर्मों की सिद्धि की इच्छा वाले लोग संसार में (दूसरे) देवताओं का पूजन करते हैं। (क्योंकि) मनुष्यलोक में निश्चित कर्म से होने वाली सिद्धि जल्दी प्राप्त हो जाती है'॥12॥

ऐसे दयामय, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न, सच्चिदानन्द को छोड़कर लोग दूसरे देवताओं का पूजन क्यों करते हैं? यह विस्मय की बात है। यह उपासना का मार्ग है, प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। ऊँचा है इसका लक्ष्य और उसीके अनुसार कीमत भी देनी पड़ती है। उसे अपना करने के लिये उसके हाथों बिक जाना होता है। आपा खो देना होता है। **'सीस दिये ते हरि मिले, तो भी सस्ता जान'** और सभी इच्छाओं की बलि तो पहिले ही देनी होती है।

इस ऊँची चाह वाले कितने हैं यहाँ पर। सहस्त्रों में कोई विरला प्रभु को चाहता है। हम चाहते हैं अपनी चाहों की पूर्ति और सो भी झटपट। प्रभु के द्वार पर तो बिना उसके हुए सुनवाई नहीं। उसका होने के लिये तो महान् मूल्य देना पड़ता है। वह शूरों का मार्ग है और लोग तो वह दर छोड़कर देवताओं की शरण लेते हैं।

अनुष्ठान करने से, व्रत करने से, पूजा करने से, बलि देने से – ऐसे कामों से देवता प्रसन्न होते हैं और हमारी मनोवांच्छित कामना पूरी कर देते हैं। हम मनौतियाँ मनाया करते हैं। अमुक काम हो जायेगा तो मैं यह करूँगा। मानो प्रलोभित करते हैं हम देवों को।

ऐसे खेल देवता खेलते हैं। मानुषी-लोक में इस प्रकार के कर्मों द्वारा जल्दी ही सिद्धि प्राप्त होती है। अलौकिक सिद्धियों का भी लाभ हो सकता है देवताओं की उपासना के द्वारा।

देवोपासना और प्रभु उपासना का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। वहाँ लक्ष्य प्रभु है, यहाँ लक्ष्य कोई सिद्धि है। वहाँ कीमत है सब समर्पण, अनन्य

भावना, यहाँ कीमत है एक विशेष विधि से एक विशेष कर्म का करना। वहाँ निष्कामता है, यहाँ सकामता। वहाँ प्रेम है, यहाँ मतलब।

जो यज्ञेश्वर है, जो पुरुषोत्तम है, जिसके चरणों में हमें कर्मों को अर्पण करना है, उसके स्वरूप का वर्णन हो रहा है। वह अवतार लेता है। वह लीला करता है। वह हमें स्वीकार करता है सभी प्रकार से। वह हमारे उपहार को भी स्वीकार करेगा। हमारे कर्मों की भेंट भी खुशी-खुशी ले लेगा। उसी का और परिचय देते हैं प्रभु स्वयम्।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥13॥

'मैंने रची है चार वर्णों की व्यवस्था, गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार। इसके रचने वाले भी मुझको तू अव्यय अकर्ता (ही) जान'॥13॥

प्रभु का जन्म दिव्य होता है। उसका कर्म-कौशल भी दिव्य है। उस कर्म-कौशल का परिचय देते हैं यहाँ।

इस चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को प्रभु ने स्वयं रचा है। इसे रचकर भी वह अकर्ता बने रहते हैं।

यह व्यवस्था तो समाज का आधार है, इसी के ताने-बाने से समाजरूपी कपड़ा बना है। इतनी महान् व्यवस्था है। प्रत्येक के लिए स्वधर्म का निर्णय इसमें हुआ है। समाज की गाड़ी को चलाने वाली यही व्यवस्था है। इसके बिगड़ने से सभी संकर हो जायेगा, खलबली मच जायेगी।

यह कैसी रची है? प्रत्येक व्यक्ति के गुण तथा कर्मों के विभाग के अनुसार। समान गुण-कर्म वाले एक वर्ण में रखे गये हैं। विभिन्न गुण-कर्मों वाले अलग-अलग वर्णों में।

अर्जुन से प्रभु कहते हैं 'मैं इतना बड़ा काम करता हूँ फिर भी मैं कर्ता नहीं बनता। मुझे कर्तृत्व छू नहीं जाता, अतः कर्म-बन्धन नहीं होता। मैं तो वही अविकारी, शुद्ध, चेतन बना रहता हूँ कर्म करने पर भी।'

प्रतिध्वनि है कि तू इतने छोटे से युद्ध करने से डरता है। डरता है कि पाप से लिपायमान हो जावेगा। देख, मेरी ओर। मेरा अनुसरण कर। मैं तुझे तरीका बताऊँगा। वैसा करने से तू कर्म से बंधेगा नहीं।

यहाँ **'गुण-कर्मविभागशः'** को लेकर खूब खैंचातानी करते हैं

सामाजिक व्यवस्थायें देने वाले लोग। कोई वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मानते हैं और कोई कर्म से। परन्तु गीता के इस वाक्य को सामाजिक झमेले में डालना मुझे अनुचित लगता है। गीता एक विशेष काल का ग्रन्थ होते हुए भी कालातीत है। उसका लक्ष्य सामाजिक व्यवस्था देना नहीं था। वह तो अर्जुन के लिए पथ-प्रदर्शन था। उसे भूल जाने से हम खो जायेंगे। जो गीता हमें देती है और सदा ही दे सकती है वही बहूमूल्य है, वही गीता का गीतापन है। उसी में भगवत्ता छिपी है।

यह श्लोक अपने अलौकिक कर्म को प्रकट करने के लिये है, अर्जुन को रास्ता दिखाने के लिए है।

यह और आगामी श्लोक ब्रह्मार्पण के योग्य स्थिति पैदा कर देते हैं। हमारा इष्ट, पुरुषोत्तम-ब्रह्म, स्वयं कर्म-बन्धन से रहित हुआ कर्म करता है। उसकी उपासना से हम भी वैसे हो जायेंगे। दूसरे, वह उपास्य है, वह हमारी भेंट को स्वीकार करता है। इतनी ही निष्ठा की तो कर्म के अर्पण करने के लिये आवश्यकता है। अतः कहा है –

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥14॥

'कर्म मुझ से चिपकते नहीं हैं। न मेरी कर्मफल में चाह है। जो मुझे ऐसा भली प्रकार से जानता (पहिचानता) है, वह कर्मों के द्वारा बंधता नहीं है'॥14॥

दिव्य जन्म कर्म को जानने वाला जन्म-मरण से छूट जाता है। भगवान् के अकर्तृत्व को जानने वाले कर्म के बन्धन से छूट जाते हैं। यह इस बोध का फल है।

पर क्या मस्तिष्क में इतनी बात लानी काफी है? इतने से न होगा। बोध तो वैसा ही तात्विक होना चाहिए। बुद्धि से परे का बोध जिसे तर्क हिला न पाये। जिस बोध से व्यक्ति कभी डिग ही न सके। जो बोध निष्ठा बन सके जीवन की।

प्रभु की विशाल लीलाओं का, उनकी सृष्टि-स्थिति-संहार-विषयक कर्मों का चिन्तन करने से, उनका श्रवण और कथन करने से ही यह रहस्य खुलता है।

तत्त्ववेत्ता का उपदेश इस बोध को जमा सकता है। पर जब यह अटल बोध हो जाता है तभी इस बोध का फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार का प्रभु हमारा इष्ट हो जाना चाहिए। उस इष्ट के इस गुण का मनन हमारे में भी इस गुण का सञ्चार कर देगा यह बुद्धिगम्य प्रतीत होता है। इष्ट तो जीवन में बस जाता है, उसके गुण उपासक में फूट निकलते हैं। उसका यह गुण भी साधक में प्रकट हो जाये तो विस्मय क्या! जैसे प्रभु कर्मों से नहीं बंधते वैसे उनका भक्त भी नहीं बंधता।

प्रभु का जो-जो गुण हम पहिचान लेते हैं, यदि भीतर उसका निवास हुआ है तो वह हममें प्रकट होने लगता है। जब प्रभु का करुणामय भाव भक्त के सामने आता है तो वह स्वयं करुणा से द्रवित होने लगता है। प्रभु के प्रेम को पहिचान कर वह प्रेम के रंग में रंग जाता है। इसी प्रकार से अपने इष्ट के अकर्तृत्व को पहिचान कर वह भी अकर्ता हो जाता है। कर्म के बन्धन से परे हो जाता है।

इस सत्य के आधार पर प्रभु अर्जुन को आदेश देते हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥15॥

'ऐसा जानकर पूर्वकालीन मोक्ष के इच्छुक लोगों ने कर्म किया। इसलिए तू भी कर्म कर – कर्म (जो) पूर्व के लोगों ने पहिले किया है'॥15॥

आज प्रभु अर्जुन को कोई अनोखी बात नहीं कह रहे हैं। यह कर्म का मार्ग पुराना है। पूर्वकालीन मोक्ष के इच्छुक लोग कर्म करते आए हैं। वह इस रहस्य को जानते थे कि मैं (ईश्वर) कर्म करता हुआ भी अकर्ता रहता हूँ। इस बोध के कारण वह कर्म से भयभीत नहीं होते थे और न ही कर्म के बन्धन में आते थे।

'तो, हे अर्जुन! तुझे भी कर्म करना ही चाहिये, कर्म करने से तेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं होगा, यह निश्चित जान।' **'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'** जिधर से तेरे आगे वाले लोग, इस कर्मयोग-पथ के पथिक गये हैं उससे तू भी चल। उनका कल्याण हुआ है। तेरा भी होगा।'

मुमुक्षु – मोक्ष की इच्छा रखने वाला। प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने की इच्छा वाला। कर्म का बन्धन प्रकृति के बन्धन का ही अंश है।

कर्म-बन्धन से मुक्त होने वाला भी मुमुक्षु ही है। बिना कर्म-बन्धन से मुक्त हुए प्रकृति के बन्धन से मोक्ष कैसा?

जनकादि का नाम तो पहिले दिया ही है। वह इस पथ के पूर्व के पथिक हैं। उन्हीं का उदाहरण अर्जुन के आगे रखा जाता है।

लौट फिरकर भगवान् वही गीता-ज्ञान का ध्रुव-पद गाते हैं 'तू यूद्ध कर, तू कर्म कर।'

करते हुए व्यक्ति कैसे अकर्ता रहता है? यह बड़ी समस्या है। यह तथ्य अकर्म के रहस्य की चाबी है। 13 से 23 तक श्लोक इसका वर्णन करते हैं। नैष्कर्म्य का यह गीता में मिलने वाला सबसे विशद विवेचन है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥16॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥17॥

'कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमान लोग भी भ्रम में पड़ गये। इसलिये मैं तुझे कर्म (के रहस्य) को भी कहूँगा। जिसे जानकर तू अशुभ से मुक्त हो जावेगा'॥16॥

'कर्म की गति जाननी चाहिये और विकर्म की गति जाननी चाहिये और अकर्म की गति (भी) जाननी चाहिये। कर्म की गति गहन है'॥17॥

आगामी नैष्कर्म्य के विवेचन के लिये प्रभु भूमिका बांध रहे हैं।

तू भ्रम में पड़ गया है तो क्या विस्मय। कर्म और अकर्म का विवेक करना तो बहुत कठिन है। बड़े-बड़े पण्डित भी चकरा जाते हैं। कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझने लगते हैं।

इस रहस्य को न जानने के कारण ही तो तू युद्ध से भागता है।

मैं स्वयं कर्माकर्म के रहस्य का वर्णन करूँगा। इनमें विवेक का क्या आधार होना चाहिए, यह बताऊँगा। यदि इसे जान जायेगा तो तू अशुभ से मुक्त हो जायेगा। युद्ध करने में पाप का भय जो तुझे लग रहा है यह निवृत्त हो जायेगा। तू अलिप्त हुआ युद्ध कर सकेगा।

और 17वें श्लोक में इस विषय की गहराई का परिचय-मात्र देते हैं।

कर्म, विकर्म, अकर्म – यह कर्म के तीन भेद यहाँ कहे हैं। विकर्म तो दुष्कर्म है। जो करणीय नहीं है। जिसे करके व्यक्ति पतित होता है। जिसके विषय में शास्त्र स्पष्ट निर्देश करता है कि यह नहीं करना चाहिए।

'गति' शब्द का अर्थ है उसकी सारी जीवन लीला। वह कैसे होता है, क्योंकर होता है और उसका क्या प्रभाव होता है। कर्म की गति को जानना कर्म को उदय से अस्त तक पूरा जानना है।

'गहना कर्मणो गतिः', 'कर्म की गति गहन है', यहाँ कर्म-शब्द तो सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसमें तीनों कर्म विभागों का – कर्म, विकर्म, अकर्म का समावेश होता है।

कर्म की गति बहुत गम्भीर है। कर्म के तार तो जन्म-जन्मान्तर से चले आते हैं। एक कर्म का तन्तु दूसरे कर्म-तन्तुओं से उलझता है। वह कहाँ आरम्भ होता है और कहाँ पर जाकर समाप्त होता है यह योगी लोगों के लिए भी जानना कठिन है। जन्म-मरण की सीमाओं को पार करता हुआ, कभी सामने आकर और कभी पीछे जाकर यह विचित्र रूप से मनुष्य को प्रभावित करता है। कर्म का संस्कार आगे के लिए प्रवृत्ति बनता है और इसीलिए एक बार का झूठ बोलना दूसरी बार झूठ बोलना सुगम कर देता है। एक बार की चोरी फिर चोरी करने के लिए प्रेरणा बन जाती है। प्रत्येक कर्म इस प्रकार से संस्कार छोड़ता है और भविष्य के कर्म को प्रभावित करता है। भलाई तथा बुराई दोनों पक्षों में यह सत्य है।

दूसरा, कर्म फल को लाता है। जैसे बोया हुआ बीज अनुकूल ऋतु आदि पाकर अंकुरित होता है और कालान्तर में पुष्पित होता और फलित होता है, ऐसे ही कर्म के द्वारा प्रकट होने वाली शक्ति फल लाती है। प्रत्येक कर्म प्रकृति के सन्तुलन में एक विक्षेप होता है। प्रकृति की, साम्य के लिए चेष्टा से, उस कर्म के प्रति समुचित प्रतिक्रिया होती है। वह प्रतिक्रिया ही फल के रूप में प्राप्त होती है। तालाब में डाली गिटियाँ पानी में गड्ढा करती हैं, पानी साम्य बनाये रखने की चेष्टा में गड्ढा पूरा करता है। वह प्रतिक्रिया लहर बन जाती है। यही कर्म की गति है। हमसे प्रारम्भ की गति की प्रतिक्रिया हम तक पहुँचती ही है, भले ही कितने समय के उपरान्त पहुँचे। हमारे भीतर साम्य तभी हो सकता है। बाहर से प्राप्त होने वाला प्रायः फल कहा जाता है। परन्तु पूर्ववर्णित संस्कार वास्तव में अधिक महत्त्व का होता है। वह हमारे भविष्य

का निर्माता होता है। भोग तो जीवन को बनाता नहीं, वह तो बुझती हुई आग है।

कर्म व्यक्तियों को परस्पर बांधता है। आपस में लेने-देने हो जाते हैं। राग तथा द्वेष के रस्सों से हम एक दूसरे से बँध जाते हैं। इनके द्वारा प्रभावित हो कर हम जो कर्म करते हैं वह इन रस्सों को और भी मजबूत कर देता है। आपस में देनदारियाँ हो जाती हैं जो चुकानी होती हैं, जिनके लिए हम जन्म-जन्मान्तर में एक दूसरे के समीप आते हैं। अनायास ही राग-द्वेष जग जाता है। पिछले खाते खुल जाते हैं। हम जानते भी नहीं और लेना-देना आरम्भ हो जाता है।

कर्म और कर्म-फल विकास की अनिवार्य आवश्यकता है। कर्म-फल हमारे कर्मों का फल होते हुये भी हमारे लिये महान् शिक्षक का काम करता है। बुराई का क्या प्रभाव होता है, यह हम बुराई करके, स्वयं अनुभव करके जैसा जान पाते हैं वैसा तो और तरीके से जान ही नहीं सकते। ऐसे ही दया और सहानुभूति का पाठ पढ़ा जाता है। ऐसे ही समुचित व्यवहार के पाठ पढ़े जाते हैं। यह सारी अनुभूति हमारी चेतना को विकसित करती चली जाती है। यह बन्धन हमें जगाने और मुक्त करने के लिए ही होते हैं।

इतना और जानने को है कि कर्म कई स्तरों पर होता है। कर्म का मौलिक रूप है गति। यह शरीर से होता है, प्राण से, मन से, और बुद्धि से भी। प्रत्येक स्तर पर गति के अनुकूल संस्कार का निर्माण होता है। विभिन्न स्तरों के संस्कार का क्षय एक बहुत गहरी समस्या है।

जब तक व्यक्ति कर्म के सभी हिसाब साफ नहीं कर देता, सभी के देने चुका नहीं देता, भीतर संस्कार रहता ही है। उस संस्कार की निवृत्ति होने तक बन्धन भी रहता है। अतः मोक्ष के लिए संस्कारों का नितान्त क्षय भी आवश्यक है। इसी तथ्य का अवलम्बन कर कई योगी तो विभिन्न शरीरों को क्रमशः ग्रहण करते हुए जल्दी-जल्दी अपनी देनदारियाँ पूरी कर लेते हैं। शिवसंहिता नामक योग का ग्रन्थ उसकी चर्चा करता है। भोगों और वासनाओं का क्षय सूक्ष्म स्तर में भी हो सकता है। उनके लिए स्थूल नितान्त अनिवार्य नहीं है।

यह कुछ कर्म के विषय में सामान्यतया जानने को है।

अकर्म क्या है? कर्म के अभाव को स्वरूपतः कर्म न करने में अकर्मक

नहीं कहा जा सकता। कर्म का नितान्त अभाव तो असम्भव है (3, 5)। अकर्म का अर्थ कर्म का किसी और प्रकार का अभाव हो सकता है।

संस्कार व्यक्ति को बनाता है, उसे किसी खास रंग में रंग देता है। बाह्य जगत् में दूसरे व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ उसे बांध देता है और फल का कारण है जो भोगना पड़ता है। भोगता हुआ व्यक्ति भोग की वासना में फँसता है और करता हुआ कर्म की वासना में। वासना होती है सूक्ष्मरूप से भीतर बस जाने वाली इच्छा। वह इच्छा पूर्वरूप है। जो कर्म स्वरूप से तो कर्म हो पर परिणाम में ये सभी प्रभाव न रखे वह कर्म होता हुआ भी अकर्म है। जिस कर्म के करने से बन्धन नहीं, वासना नहीं, संस्कार नहीं वह कर्म अकर्म कहलाता है। वह देखने और नाम लेने मात्र को है कर्म, पर गुण से कर्म नहीं है। यही अकर्म का स्वरूप है।

विकर्म में स्वरूप से ही भेद होता है। वह देखने में बुरा तथा अपने लिए या दूसरे के लिए, या दोनों के लिए ही दुःख का कारण होता है, समाज के लिए अहितकर होता है, पतन का कारण होता है।

कर्म तथा अकर्म का विवेक परम गहन है, वह बाहर से नहीं जाना जा सकता। वह भेद तो कर्ता पर आश्रित है। यदि कर्ता राग-द्वेष रहित है, निष्ठावान् है, तो वही कर्म अकर्म होता है जो दूसरे के किये से कर्म होगा। नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त कर्ता तो कर्म को खूब कुशलता से करता है। देखने वालों को उसमें आसक्ति दीखती है। वह धोखे में पड़ जाते हैं। इसके विपरीत वस्तुतः जहाँ कर्म में लापरवाही है, वहाँ राग-द्वेष होते ही हैं। उदासीनता, अकर्त्तव्य-परायणता तो तमोगण के सूचक है, अनासक्ति के सूचक नहीं। तमोगुण के कारण ही भ्रम होता है। बड़े-बड़े पण्डित भ्रमित हो जाते हैं।

स्वयं नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त कर लेने पर अर्थात् अकर्म की योग्यता हो जाने पर व्यक्ति इस रहस्य को जानता है, अन्यथा तो अकर्म को असम्भव प्रतीत करता है।

अकर्म का रहस्य कर्मयोग की सिद्धि का रहस्य है। समुचित निष्ठा उसकी साधना का रहस्य है।

वास्तव में विकर्म की जानकारी भी इतनी सुगम नहीं जितनी समझी जाती है। कानून की लाल किताब तो अनेक बार व्यक्ति को धोखा देती है।

कर्म के विकर्मत्व अथवा सुकर्मत्व का बोध बिना व्यक्ति की मनोवृत्ति और उसकी परिस्थिति को जाने नहीं होगा। परिस्थिति-भेद से कर्म विकर्म हो जाता है, या सुकर्म। युद्ध-क्षेत्र में किसी का सिर काटना स्वधर्म है, सुकर्म है, परन्तु वैसे लोभ से, द्वेष से किसी का सिर काट लेना विकर्म है। प्यार से किसी को चपत मार देना विकर्म नहीं, परन्तु द्वेष से मारना विकर्म है। माँ की भावना रखने वाली महिला को गले लगा लेना विकर्म नहीं है, सहज स्वाभाविक कर्म है। उसके द्वारा मुख को चूमना, स्पर्श करना सभी निर्दोष हैं परन्तु, कामाविष्ट होकर यही कर्म सदोष हो जाते हैं, विकर्म हो जाते हैं।

अवस्था-भेद भी निर्णायक होता है कर्म के गुण में। बच्चे के लिए जो बातें निर्दोष हैं, वह बड़े के लिए नहीं रहतीं। अपढ़ के लिए जो कर्म निर्दोष है, सो सुपठित व्यक्ति के लिए सदोष हो सकता है, वह विकर्म हो सकता है।

जैसे कर्म-अकर्म का भेद गहन है, ऐसे ही कर्म-विकर्म का भी भेद गहन है, आपाततः देखकर निर्णय करने वाले दूसरों से अन्याय करते हैं। पूरी जानकारी के बिना निर्णय करना गलत बात होती है। इसीलिए तो आलोचनाएँ प्रायः अनिष्टकर होती है सब प्रकार से। वह हमारे संस्कारों और अनुभव की सीमाओं की छाया मात्र होती है।

गीता की कर्मनिष्ठा के रहस्य की जानकारी व्यक्ति के दृष्टिकोण को इतना उदार कर देती है कि लौकिक नैतिकता उसको सारहीन दीखती है। वह अधूरे जंगली लोगों के लिए नियम प्रतीत होते हैं और ऐसे समाज की तथाकथित मर्यादाएँ भी। दृष्टिकोण सापेक्षिक हो जाता है।

जो कर्म व्यक्ति को विकास-मार्ग में आगे ले जाने वाला है वह करणीय है और जो उसमें बाधक है सो अकरणीय है। देखिए इसी विषय में 'अध्यात्म-विकास'।

आगामी श्लोक में अकर्म के रहस्य का विविध दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है। उसके समझ लेने से नैष्कर्म्य की स्थिति का समुचित बोध हो सकता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥18॥

'जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह (मनुष्य) मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह युक्त है। वह सभी कर्म करने वाला है'।।18।।

कौन बुद्धिमान् है? स्वरूपत: जो कर्म है, उसमें अकर्म को जो देख सकता है, जो यह समझ सकता है कि मनुष्य कर्म करता हुआ भी कर्म के संस्कार से, उसके बन्धन से परे रह सकता है, वह बुद्धिमान् है।

जहाँ कर्तृत्व नहीं है, जहाँ साक्षित्व है, वहाँ कर्म नहीं है। उससे होने वाला संस्कार बन्धन नहीं होता है। वह अकर्म है। वहाँ तो कर्म केवल देखने मात्र को है।

जिसकी समझ इतनी गहरी हो गई है वह मनुष्य है। पर इतना ही नहीं, इस रहस्य का अपरार्ध भी जानना होगा।

जहाँ स्वरूपत: कर्म का अभाव है, जहाँ व्यक्ति निकम्मा है, हाथ-पांव नहीं हिलाता, आँखें भी मूँदे है, कान भी रूँधे है, वहाँ भी जो कर्म देख सकता है वही वास्तव में देखता है। वहाँ कर्म कैसे? मन गतिशील हो सकता है उस अवस्था में भी। व्यक्ति का मन पूर्व संचित वासना के प्रभाव से उड़ा-उड़ा फिरता है। कलकत्ता और बम्बई की सैर करता है। किसी को मारता है, किसी से लेता है, किसी को देता है। तात्पर्य यह है कि जिसने यह जाना है कि बाह्य कर्म का अभाव अकर्म नहीं है, बाहर से कर्म न करने वाले में अहंकार रह सकता है जो कर्म-बन्धन का कारण हो सकता है, वही वास्तव में कर्म के रहस्य को जानता है। 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' यह सोचना भी तो कर्म है। इसके पीछे भी तो अहंकर्त्तृत्व रह सकता है। यह त्याग के संस्कार का निर्माण करता है, अत: बन्धन का कारण हो सकता है।

जिसने इस द्विविध रहस्य को जाना है वही मनुष्य है। कर्म-अकर्म का जो विवेचन ऊपर किया गया है, उससे यह सभी स्पष्ट हो जायेगा।

कैसे जाना जाता है यह रहस्य, भीतर इस अकर्तृत्व की झांकी पाये बिना? अपने में ही सहज साक्षित्व की जागृति के बिना यह रहस्य समझ में नहीं आता है और यह सब कुछ हो जाता है सुगमता से, प्रभु के चरणों के समीप होने से, उसके नाम के अवलम्बन से और प्रभु के चरणों में जीवन के समूचे समर्पण करने से। यही तो गीतोक्त उपाय है।

ऐसा मनुष्य बुद्धिमान है, समझदार है। एक होती है जानकारी और दूसरी समझदारी। जानकारी तो बाह्य अथवा भीतर के जगत् का परिचय मात्र होता है। समझदारी विवेक बुद्धि होती है जो कर्म में कौशल के रूप में प्रगट होती है। बुद्धिमत्ता समझने की सामर्थ्य होती है। वह जानकारी पर आश्रित नहीं होती है। अपढ़ भी समझदार हो सकते हैं, सुपठित भी मूर्ख हो सकते हैं।

वह बुद्धिमान् है, क्योंकि उसने कर्म में कौशल लाभ किया है। कर्म के फांस से छुट्टी पाई है, उसका रहस्य जानकर।

और वह युक्त है, योगयुक्त है, योगी है। जिसने रास्ते को जाना है और उस पर चलता है, जिसने रास्ते को पा लिया है वह युक्त है। जुड़ गया है उसका तार मालिक से। यदि कसर है तो समय की ही। यह 'युक्तः' शब्द हमें गीता में बार-बार मिलता है और इसी अर्थ में।

और वैसा मनुष्य 'कृत्स्नकर्मकृत्' है – समूचे कर्म का करने वाला। सब कुछ करने वाला वही है। सब कुछ करने वाला तो प्रभु ही है। 'करन करावन आपे नाथ' और गीता का 18वाँ अध्याय श्लोक 61 कहता है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

'हे अर्जुन! ईश्वर सभी भूतों के हृदय प्रदेश में बैठा, सभी भूतों को यन्त्र पर चढ़ाकर अपनी माया से घुमाता है'।

इसलिए कर्ता तो पुरुषोत्तम हैं वह मनुष्य कैसे सभी कुछ करने वाला है?

यह कर्म-अकर्म रहस्य जाना जाता है वास्तव में उस पुरुषोत्तम भाव से एक होकर ही। 'कर्मब्रह्मार्पणयोग' जो अध्याय का विषय है वह तो कर्म के समर्पण से ब्रह्म (पुरुषोत्तम) की प्राप्ति को ही तो कहता है। इस कर्म के समर्पण द्वारा साक्षित्व के भाव के जगने के बाद सर्वत्र उसी का हाथ दीखने लगता है। वही करने-कराने वाला दीखने लगता है। व्यक्ति की निजी चेतना उसी में लीन हो जाती है। वही एक सत्ता सर्वत्र कर्ता दीखती है। वही सभी कुछ करने वाली और कुछ भी करने वाली नहीं है। वह उस सत्ता से न्यारा नहीं रहता। जब सब कुछ वही है तो वह भी वही है।

तब उसे यही रहस्य समष्टि में दीखता है। पुरुषोत्तम तो कुछ नहीं करता परन्तु सभी कुछ उसी से ही तो होता है। उसके अलावा करने वाला भी तो

कोई नहीं। वह स्वयं गतिरहित होते हुए सभी गति का स्वामी और अधिष्ठान है, उसमें ही सभी गति है, कर्म में वह अकर्म निवास करता है। भगवान् जगत् में और जगत् भगवान् में, यह रहस्य स्फुट हो जाता है। वह अपने को उसमें और उसे अपने में देखता है (6/29)।

प्रभु कहते हैं इस रहस्य का वेत्ता सभी कुछ करने वाला होता है। 'वह मुझ से युक्त हो जाता है, मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है'। यह आशय है इस उक्ति का।

इस साधना की सिद्धि का एक विशाल दृश्य हमारे सामने यह श्लोक खोल देता है। दूसरी तस्वीर –

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥19॥

'जिसके सभी समारम्भ काम-संकल्प से रहित हैं, जिसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हो गए हैं, बुद्धिमान् लोग उसे पण्डित कहते हैं'॥19॥

समारम्भ होता है सम्यक् आरम्भ। विशेषरूप से जिम्मेदारी वाला काम, जो होशियारी से ही आरम्भ किया जा सकता है, महत्त्व का बड़ा काम। खाना, पीना, उठना, बैठना आदि दैनिक कृत्य समारम्भ नहीं कहे जाते। वह तो आरम्भ भी नहीं कहे जाते। वह स्वभाव में ही आ जाते हैं। जिसे आरम्भ करने के लिए सोचना पड़े वही समारम्भ होता है।

काम-संकल्प क्या है? संकल्प है मन की कर्म-विषयक निश्चयात्मिक गति। 'मैं ऐसा करूँगा', 'ऐसा नहीं करूँगा' – यह संकल्प कहलाता है। किसी भी बड़े काम के आरम्भ में संकल्प शक्ति का इस प्रकार का प्रयोग स्वाभाविक होता है सामान्य अवस्था वाले व्यक्ति में।

ऐसे संकल्प के लिए प्रेरणा प्रायः काम से आती है। वही काम जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में हुई थी (3, 37), किसी प्रकार की प्राप्ति की चाह व्यक्ति को कर्म में प्रेरित करती है, ऐसा करके मैं यह पा जाऊँगा। ऐसा सुख मिलेगा, ऐसी तृप्ति होगी।

अतः कामाश्रित संकल्प काम-संकल्प है।*

*दूसरा अर्थ हो सकता है 'काम और संकल्प से रहित'। क्या संकल्प से रहित होकर कर्म हो सकता है? समारम्भ हो सकता है यह सन्देहास्पद है। भले ही संकल्प गहरे में जाकर

तो जिस व्यक्ति के काम, काम की प्रेरणा से प्रेरित होकर नहीं होते और **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं** – ज्ञान की अग्नि के द्वारा, जिसके कर्म जल गये होते हैं वह पंडित है। क्या है यह ज्ञान जो कर्मों को भस्म कर सकता है? क्या होता है, कर्मों का भस्म हो जाना?

भस्म हुआ बीज अंकुरित नहीं होता। भस्म हुआ बीज प्रभाव रहित होता है। उसमें वह सभी कुछ जो बीज में था वह नहीं रहता। वह तो भस्म ही होता है, केवल भस्म। देखने में आकार मात्र बीज का होता है। यही दशा कर्म की होती है। देखने में तो कर्म होता है परन्तु कर्म का सा उसमें कुछ प्रभाव नहीं होता। जली हुई रस्सी की भाँति होता है। वह बन्धन का, संस्कार का, वासना का कारण नहीं हो सकता।

कौन सा ज्ञान चाहिये कर्म को भस्म करने के लिए? कर्म-अकर्म का तात्त्विक बोध ही तो वह ज्ञान हो सकता है, वही जिसकी चर्चा ऊपर के श्लोक में हुई थी। वह व्यष्टिगत बोध ही नहीं, वह तो समष्टिगत बोध होता है। वह पुरुषोत्तम-विषयक बोध ही नहीं होता, पुरुषोत्तम की चेतना में प्रवेश से होता है। वह उपास्य इष्ट, यज्ञेश्वर पुरुषोत्तम, ही तो इस रहस्य का स्वरूप है। वह स्वयं ही ज्ञानरूप है।

वह ज्ञान भीतर जाता है तो कर्म भस्म हो जाता है। कर्तृत्व समाप्त हो जाता है। कर्ता-प्रकर्ता वही एक पुरुषोत्तम रह जाता है। इसलिये बन्धन की सम्भावना समाप्त हो जाती है। क्योंकि इस ज्ञान का यह प्रभाव होता है, इसलिये उसे अग्नि कहा। जला देती है अग्नि। कर्म को भस्म करता है ज्ञान। यही समानता है।

ऐसे व्यक्ति को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं। पण्डित का अर्थ है 'पण्डा' वाला। पण्डा तो बड़ी गहरी, बड़ी दूरदर्शी, बड़ी निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। जो ऐसी बुद्धि रखता है वही पण्डित है। उसी पण्डित के विषय में कहा जाता है।

पोथी पढ़ केते भये पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय॥

पत्थर की लकीर की तरह न हो, वह पानी पर लिखी लकीर की तरह हो, पर होना तो आवश्यक ही है। अतः 'कामाश्रित संकल्प से रहित' ही उचित अर्थ प्रतीत होता है।

कौन लोग उसे पण्डित कहते हैं? जो स्वयं बुद्धिमान् हैं। मूर्ख आदमी दूसरों को पण्डित कहे तो उसके कहने की कोई कीमत नहीं। जो स्वयं मूर्ख है उसकी साक्षी का क्या प्रमाण? परन्तु स्वयं बुद्धिमान् (श्लोक 18) जिसे पण्डित कहते हैं वह सचमुच पण्डित है।

ऊपर के श्लोक के बुद्धिमान् शब्द में और इस श्लोक के पण्डित में अन्तर प्रतीत नहीं होता।

इसका अर्थ है कि यदि व्यक्ति कामना से रहित होकर कर्म करता है और उसके भीतर ज्ञान जगा है तो वह कर्म के बन्धन से रहित है। अर्जुन के लिए यह बड़ी बात है। वह भी युद्ध जैसा समारम्भ कर सकता है और बन्धन से रहित रह सकता है।

अब कर्म करते हुए बन्धन से रहित रहने के उपाय बताते हैं। आगामी 4 श्लोक नैष्कर्म्य के व्यावहारिक रूप का विवेचन हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥20॥

'जो मनुष्य कर्मफल के प्रति आसक्ति को छोड़कर नित्य तृप्त तथा आश्रयरहित हुआ कर्म में भली प्रकार से लगा रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता'॥20॥

इसका अर्थ है वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका कर्म कर्म नहीं होता, अकर्म होता है। वह बन्धन से रहित रहता है।

इतना ही नहीं कि कर्म में सामान्यतया लगने से तो बन्धनरहित रहे, परन्तु यदि कर्म में खूब लग जाये तो कर्म से बंधेगा। वह कितना भी अपने को कर्म में डुबो क्यों न दे, वह कर्म के बन्धन से परे रह सकता है। थोड़े कर्म अथवा अधिक कर्म की उसके लिये कोई गणना नहीं होती।

परन्तु ऐसा कब होता है? जब वह इस प्रकार से कर्म करता है।

हमारी निष्ठा और हमारी मनोवृत्ति निर्णायक होती है कर्म-अकर्मत्व में। कर्म का बाह्य रूप तो निर्णायक होता नहीं। इसलिये कहा –

'वह नित्यतृप्त हो, निराश्रय हो और वह कर्मफलासंग के संग को छोड़कर कर्म करे।'

'नित्यतृप्त' – जो हमेशा तृप्त है, जिसे कोई अभाव प्रतीत नहीं होता,

इसलिये जिसमें किसी बात की लालसा बाकी नहीं। जब तक लालसा होती है तब तक वह लक्षित अथवा अलक्षित रूप से हमें प्रभावित करती है। वह मूकप्रेरणा बनी हमें कर्म में लगा देती है। हमारा व्यवहार प्रभावित होता है अतृप्त इच्छाओं के द्वारा। अपने तर्क के कारण हम उसे पहिचान नहीं पाते। बहुत सी अतृप्त इच्छाएं तो वासना रूप से हमारी सुप्त चेतना में निवास करती हैं। ये पर्दे के पीछे सूत्रधार की तरह संचालन करती हैं।

साधना में लगे साधक को इनसे भी मुक्त होना होता है। कैसे हो मुक्त जब यह दीखती ही नहीं? अवतरित होती हुई ऊँची चेतना खोद डालती है हमारे सुप्त और अचेतन मन को और अपने विमल प्रवाह से क्षीण कर देती है यह सब कुछ। उस चेतना की तृप्ति से मन तथा प्राण भी छक जाते हैं।

जब ऐसा होता है तो व्यक्ति होता है नित्यतृप्त और 'निराश्रय – आश्रय-रहित'। किस आश्रय से रहित? गीता में कहा है –

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥6/1॥

कर्मफल के आश्रय से रहित व्यक्ति निराश्रय कहा जा सकता है। परन्तु प्रभु तो साथ ही में कहते हैं, 'कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर'। आसक्ति को छोड़ देने से निराश्रय हो जावेगा।

निराश्रयः – आश्रयमात्र से रहित। जीवन में हम आश्रय बनाते हैं बाहर के जगत् में, भीतर के जगत् में। भविष्य के गर्भ में अपनी आशा के तन्तुओं को ताना करते हैं। उन्हीं के सहारे उसी मरीचिका पर आश्रित हो जाते हैं। कर्मफल भी उसी में से एक है।

निष्ठा वाले को तो आश्रय होता है एकमात्र प्रभु का। अपनी विचारशीलता का, बुद्धि का आश्रय नहीं होता। वह आश्रय लेना भी तो उसके समर्पण की सीमा बन जाती है। उसमें और मालिक में एक दीवार खड़ी कर देती है जो सूक्ष्म होती है और दुर्भेद्य होती है।

और ऐसा होते हुए वह कर्म कैसे करे? कर्मफल की आसक्ति को छोड़ कर कर्म करे। कर्म की आसक्ति को छोड़े और फल की आसक्ति को छोड़े। फल की आसक्ति भी बहुरूपा होती है। केवलमात्र दूसरे की कृतज्ञता की चाह भी इसी का रूप है। प्रशंसा की इच्छा भी यही होती है। कर्म आसक्ति तो कर्म के द्वारा प्राप्त होने वाली तृप्ति के रूप में होती है। वह व्यक्ति को

कर्म में लगाती है। कर्म के अभाव में परेशानी होती है। इतनी ही आसक्ति की अचूक पहिचान है। अभाव परेशान करता है।

ऐसा व्यक्ति ही इस प्रकार से कर्म कर सकता है। उसका कर्म अकर्म होता है। पर यह सब खेल तो नहीं है। अर्जुन पल भर में वैसा कैसे हो सकता था। यह सब कहा है निष्ठा जागृत करने के लिये। रास्ता दिखाने के लिये। कर्म बन्धन ही नहीं होता, कर्म साधना भी हो सकता है।

यदि हम आगे बताये जाने वाले रास्ते पर चलें, **'कर्म-ब्रह्मार्पणयोग'** का अनुसरण करें तो क्रमशः हमारी भीतर की स्थिति ऐसी हो जायेगी। हम नित्यतृप्त हो जायेंगे। प्रभु ही एकमात्र आश्रय हो जायेंगे। हमारा कर्मफलासक्ति का त्याग हमारे लिये सहज स्वाभाविक हो जायेगा। हम कर्म-बन्धन से छूट जायेंगे। हमारा कर्म अकर्म होगा। यह नैष्कर्म्य की तीसरी तस्वीर हमें मिलती है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥21॥

'जो आशा से रहित है, जिसने अपने चित्त और आत्मा पर वशीकार प्राप्त किया है, जिसने सारे परिग्रह को छोड़ा है, वह केवल शारीरिक कर्म करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं करता'॥21॥

'पाप को प्राप्त न करना' पाप से मुक्त होना है, पाप से बच जाना है। पाप से नितान्त बचे रहने का अर्थ है पुण्य से भी बचे रहना। पाप से परे होना पुण्य से भी परे होना है। यह असम्भव है कि व्यक्ति पाप से तो बचा रहे और पुण्य का सञ्चय करता जाये।

प्रायः हमारे कर्म पाप-पुण्यमय होते हैं। कोई-कोई नितान्त पापमय भी हो सकता है। परन्तु नितान्त पुण्यमय कर्म तो केवलमात्र योगी के लिये सम्भव है। **'शुक्लं केवलं योगिनाम्'** ऐसा योगदर्शन कहता है। क्योंकि विशुद्ध (सत्त्व) का ही परिणाम केवल पुण्य हो सकता है और उस पर अधिकार कर सकता है कोई विरला योगी ही?

इसलिये जब तक व्यक्ति में कर्तृत्व है तब तक वह पाप तथा पुण्य दोनों का भागी होगा। जब कर्तृत्व ही नहीं होगा तभी वह बच सकेगा और बच जायेगा दोनों से ही। बन्धन का कारण तो दोनों ही हैं। बेड़ियाँ हैं – लोहमयी

और स्वर्णमयी – अन्तर इतना ही है।

जो यह कहा 'पाप को नहीं पाता' इसका अर्थ है कर्म-संस्कार से मुक्त रहता है। कर्म-बन्धन से मुक्त रहता है। उसका कर्म अकर्म होता है। जिस स्थिति का वर्णन ऊपर के तीन श्लोकों में हुआ – उसी का ही यहाँ भी वर्णन है।

'केवल शारीरिक कर्म करता हुआ' क्या इसका प्रयोजन है कि शारीरिक कर्म से तो बन्धन नहीं होता, यदि मानसिक कर्म करे तो बन्धन होगा? ऐसा तात्पर्य तो हो नहीं सकता। मानसिक कर्म रोकना तो कठिन है। वह होता ही रहता है। यदि उससे बन्धन है तो बन्धन से छुटकारा ही कैसा? वास्तव में अर्जुन को परेशान तो शारीरिक कर्म ही कर रहा था। युद्ध शारीरिक कर्म था। उसके परिणाम शारीरिक जगत् में ही होते हैं। उन्हीं से विकल था अर्जुन। उसी ओर इशारा करते हैं प्रभु। 'केवल शारीरिक कर्म से बन्धन नहीं होगा।' मानसिक कर्म का तो विचार तक न था अर्जुन के मन में। वह उसके लिये अतिगहन बातें थीं। सामान्य बुद्धि भी तो अर्जुन की सी है। हम किसी का बुरा सोचने को बुरा नहीं समझते, परन्तु चपत लगाने को बुरा समझते हैं। हम किसी की निंदा करने की बुराई को नहीं पहिचानते, जेब काटने की बुराई को जानते हैं।

नैष्कर्म्य की स्थिति लाभ हो जाने पर कर्ममात्र के बन्धन से व्यक्ति परे हो जाता है। बुद्धिगत कर्म भी नहीं बांधते हैं और शरीरगत भी नहीं बांध सकते। यह ध्रुव सत्य है अन्यथा नैष्कर्म्य नैष्कर्म्य ही नहीं रहता।

इस श्लोकार्ध के पीछे मानो ध्वनि हो, 'तू युद्ध से डरता है। घोर समझता है युद्ध को। युद्ध कर, युद्ध से पाप न होगा। राम ने युद्ध किया। मैं भी युद्ध करता हूँ। पूर्वले राजा लोग भी, जो कर्मयोगी थे, वे युद्ध-क्षेत्र में उतरा करते थे।'

और क्या है कर्म करने का तरीका पाप से मुक्त रहने के लिये?

निराशीः – अर्थात् आशा से रहित। आशा ही तो जीवन है साधारण व्यक्ति का, 'आशा नाम निबन्धनं जीवलोकस्य'। इसी के आधार पर जीता है। विपत्ति में पड़ा सम्पत्ति की आशा पर जीता है, रोगी स्वास्थ्य की आशा पर, मरणासन्न भी जीवन की आशा पर और कब्र में पांव लटकाये हुए स्वर्ग की आशा पर। यह आशा व्यक्ति का कहीं पिंड नहीं छोड़ती। पाप करता

हुआ पुण्य करने की आशा पर जीता है।

इस आशा को छोड़ना होगा। कर्मफल की आशा को छोड़ना होगा। फलाशा के आश्रित होकर कर्म नहीं करना चाहिये। युद्ध इसलिये नहीं करना चाहिये कि तू जीतेगा। 'निराशी:' का अर्थ निराश नहीं। आशा के विपरीत जो होती है जिसे साधारण भाषा में निराशा कहते हैं, वह 'निराशी:' में लागू नहीं होती। वह निराशा तो आशा का ही नकारात्मक रूप है जैसे धूप और छाया होती है। जैसे रात और दिन होते हैं। 'निराशी:' का अर्थ है आशा-निराशा दोनों से रहित। जब जीत और हार बराबर हो जायें, जब सफलता और विफलता गणनीय ही न रहे, जब व्यक्ति 'निराशी:' होता है, तब आशारहित है। द्वन्द्व से रहित होने का तात्पर्य है। ऐसा ही प्रयोग गीता में अन्यत्र भी मिलता है जैसे 12.13 में 'अद्वेष्टा'।

और उसे **'यतचित्तात्मा'** होना होगा। 'चित्त तथा आत्मा' वश में करना होगा। मन-बुद्धि तथा अहं को चित्त कहते हैं इनकी गतियों से ऊपर उठना होगा, इन प्रभावों से परे रहना होगा, बहना न होगा। इनके स्वामी बनकर इनका उपयोग करना होगा। आत्मा, इन्द्रिय तथा शरीर का वाचक है। आत्मा है यह स्थूल आपा। आत्मा जो मन, बुद्धि से परे है उसका संयम कैसा? वह तो अधिष्ठाता है, वह तो संयम करने वाला है। यहाँ आत्मा शब्द को शरीर के अर्थ में ही समझना होगा। (उपनिषद् में आता भी तो है – 'एवं मे शरीर आत्मा।' यह मेरा शरीर सम्बन्धी आत्मा है।)

जब तक व्यक्ति का अपने कर्मों पर – सूक्ष्म तथा स्थूल साधनों पर – अधिकार नहीं, तब तक अकर्म की अवस्था असम्भव है। अहं से परे की जगी हुई चेतना आवश्यक होती है इस अवस्था के लिए। जब वह जग जाती है तो इन्द्रियादि का वशीकार भी सहज हो जाता है। साधक को तो इसलिये जागरूक रहना होगा। इनकी व्यभिचारी गतियों को पहचानना होगा।

और होना होगा 'त्यक्तसर्वपरिग्रह:'। सभी परिग्रह को छोड़ देना होगा। परिग्रह है जो हम अपना करके स्वीकार करते हैं। मानापमान भी परिग्रह ही होते हैं, जब हम उनको अपना समझते हैं। अपने किये, न किये के अभिमान का भी परिग्रह होता है। 'मेरा' का सारा क्षेत्र परिग्रह का ही प्रसार है।

कुछ भी अपना नहीं। सभी से अलग, सभी कुछ के परे, ऊपर एकाकी हो जाना होगा। यही तो केवलीभाव होता है सांख्य का। जब तक भीतर वाला

स्वीकार करने की आदत नहीं छोड़ता तब तक संचय की भूख रहती है। संचय में विवेक होता है जिसका अर्थ है राग-द्वेष। अतः फलाशा का चक्कर चलता है। परिग्रह का त्याग मूल पर ही कुठाराघात करता है। न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी, न होगा परिग्रह, न होगी फलाशा। छुट्टी पाई।

भीतर से ऐसा खाली हुआ व्यक्ति पाप-पुण्य से परे रहता है। वह करता हुआ भी अकर्ता रहता है।

यह एक और तस्वीर है नैष्कर्म्य-सिद्धि की। साधना का रास्ता भी है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥22॥

'जो सहज से प्राप्त हुए से सन्तुष्ट है, द्वन्द्वों से परे, मत्सररहित है, सिद्धि तथा असिद्धि में सम रहता है वह (कर्म) करके भी बंधता नहीं है'॥22॥

'कर्म करके भी नहीं बंधता' अर्थात् कर्म उसके लिये बन्धन का कारण नहीं हो सकता। यह भी वही स्थिति है जिसका वर्णन ऊपर हुआ है।

किसको नहीं होता बन्धन? इसका उत्तर देते हैं।

'जो सहज में प्राप्त हुए से सन्तुष्ट है', जो जीवन में सभी कुछ स्वीकार करने के लिये तैयार है। जीवन में तो सुख भी होता है, दुःख भी, हानि भी और लाभ भी, मान भी और अपमान भी, रोग और नैरोग्य भी – सभी आता है। संयोग-वियोग आते हैं। कभी पेट भर मिलता है खाने-पहनने को और रुचि अनुकूल भी और कभी ठीक इसके विपरीत दशा हो जाती है। सन्तुष्ट रहना है, सभी कुछ को स्वीकार करना है। भीतर से उद्वेग न हो। यह ऐसा क्यों हो गया, यह विकलता न हो। यह उस स्वीकृति की पहचान है। भक्त तो सभी कुछ मालिक की देन समझकर आदर से सिर चढ़ाता है प्रसाद रूप में। मीरा ने विष का प्याला पिया था। इस बात पर वह न विधाता से असन्तुष्ट थी न भेजने वाले राणा से ही। 'मीरा अमृत कर पी जाना।'

उसकी अपनी कोई मांग नहीं होती, भीतर वाले को भूख नहीं होती, इसीलिये यह सन्तोष रह पाता है।

सन्तोष की पहचान है बेचैनी का अभाव। सन्तोष का परिणाम है परम सुख। प्रयत्न का अभाव सन्तोष की पहिचान नहीं। वह सन्तोष का निश्चित सूचक नहीं। वह सूचक है आलस्य का, सत्त्व की विशुद्धावस्था में स्थायी

सन्तोष है। तमोगुण में आलस्य। बीच में होती है यह अवस्था। मन में असन्तोष और शरीर में आलस्य।

तो कर्म की प्रेरणा? स्वधर्म। वास्तव में सहज स्वभाव कहें तो और भी सत्य होगा।

और वह 'द्वन्द्वातीत' हो, द्वन्द्वों से परे हो। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्व हैं। इनसे परे का अर्थ? क्या इन्हें जाने ही नहीं? पाषाणवत् मूढ़ हो जाये? जड़ हो जाये? ऐसा नहीं। जाने, पर प्रभावित न हो, विचलित न हो, जैसे सामान्य व्यक्ति हो जाते हैं। प्रतिक्रिया रहित हो। जैसे लहरों के टकराने से चट्टान अविचल रहती है, ऐसे रहे। हज्म कर जाये सभी कुछ बिना डकार लिये। समुद्र की तरह हो।

द्वन्द्वातीत भीतर की समता है। यह केवल अभ्यास वाली बात नहीं। शरीरगत अभ्यास व्यक्ति को सर्दी-गर्मी से परे कर देता है कुछ अंश तक। खाल मोटी हो जाती है। द्वन्द्वातीतता तो प्रधानतया मन का ही गुण है। मन ऐसा स्थिर अचल हो जाये कि डोले नहीं। यह अभ्यास से नहीं होता। होता है उस समचेतना के, प्रभु की चेतना के भीतर उतर आने से। जो अभ्यास से होता है वह अभ्यास के साथ चला भी तो जाता है। जो मन के धर्म के परिवर्तन से होता है सो टिकता है। मन बँध जाता है उस खूँटे से और फिर डोल ही नहीं पाता। सचमुच ऐसा हो जाता है उसकी कृपामयी शक्ति की कृपा से।

और उसे विमत्सर होना है। मत्सर होता है ईर्ष्या, जिसे कीना कहते हैं उर्दू में और डाह हिन्दी में। दूसरे के बड़प्पन को देखकर भीतर जो जलन होती है वही इसकी पहिचान है। दूसरे की प्रशंसा सुनने में कैसा लगता है? यदि बुरा लगता है तो भीतर कुछ काला काला है। दूसरे की उन्नति देख कर दिल कैसा होता है? यदि भला नहीं होता तो गड़बड़ है। कहाँ है इस ईर्ष्या का मूल? अहं बड़ा है। वह तो अपने को सबसे बड़ा मानता है और स्थापित रहना चाहता है। उसे चोट लगती है दूसरे की बढ़ती देखकर।।

यह डाह भी तो हमें कर्म में प्रेरित करती है। सूक्ष्म में हमें दूसरे के अवगुण देखने, बुराई सोचने में लगा देती है। हम निन्दा करने लगते हैं वाणी से। यह सभी कर्म तो है और कौरवों को यही प्रेरित करते हैं जाल बिछा कर, पासे का दांव लगाकर, पाण्डवों को नीचा दिखलाने में। कितनी बड़ी कर्म में प्रेरणा करने वाली है यह ईर्ष्या की शक्ति। महाभारत रच दिया इसने।

और वह सिद्धि-असिद्धि में सम हो। सम का अर्थ है बराबर। न सिद्धि से प्रसन्न न असिद्धि में अप्रसन्न। न सिद्धि से प्रहर्षित, न असिद्धि से विषण्ण।

क्या सिद्धि-असिद्धि द्वन्द्व नहीं है? क्यों होगी इनकी अलग से चर्चा? द्वन्द्वातीत में तो यह भी आ ही जाता है। सम होना ही तो अतीत – परे होने का प्रमाण है। जो सम नहीं रह सकता वह तो परे नहीं, बीच ही में है, दलदल में है, चक्कर में है।

ज़ोर देने के लिये ही कहा है। युद्ध की सफलता-विफलता जो अर्जुन के मन में प्रधान थी, जो प्रेरक होकर उसे युद्ध-क्षेत्र में लाई थी, जो अलक्षित भाव से एक भय के रूप में अर्जुन के विषाद में भी सम्भवतः हिस्सेदार थी, उन्हीं की ओर इशारा मालूम पड़ता है।

तो ऐसा व्यक्ति कर्म करता है पर बंधता नहीं, यह एक और पहलू है अकर्म की सिद्ध स्थिति का। साधन की ओर संकेत तो है ही।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥23॥

'जो आसक्ति से रहित है, जो मुक्त है, जिसकी चेतना ज्ञान में भलीभाँति टिकी है, जो यज्ञ के लिए (कर्म) करता है उसका समूचा कर्म पूरी तरह से विलीन हो जाता है'॥23॥

यह इस प्रसंग का अन्तिम श्लोक सिद्ध की सिद्धि का कैसा सुन्दर वर्णन करता है! साधना पूरी हो चुकी है। अब कुछ करने को नहीं। वह कर्मबन्धन से मुक्त विचरता है।

'कर्म समग्रं प्रविलीयते।' 'उसका समग्र कर्म प्रविलीन हो जाता है।' समग्र, समूचा का समूचा। उसका कुछ भी तो बाकी नहीं रहता। साधना की अवस्था और सिद्धि की अवस्था में अन्तर है। मार्ग पर जब हम पहिला कदम उठाते हैं उसी समय तो हम नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं कर लेते। हमारा कर्म तत्काल अकर्म नहीं हो जाता। निष्ठा से युक्त हमारा कर्म हमें निर्मल करता जाता है। आसक्ति कम होती है, राग-द्वेष कम होता है, आशा-निराशा मन्द पड़ती जाती है, ईर्ष्या समाप्त होती है, बुद्धि निर्मल होती है, इन्द्रियों पर अधिकार होने लगता है, अहंकार दुबला पड़ने लगता है। हमारे निष्ठामय कर्म

से प्रभुकृपा होती है। उससे यह सब होता है। पर होता है धीरे-धीरे। जैसे यह परिवर्तन होता जाता है वैसे ही कर्म के द्वारा होने वाला संस्कार भी दुर्बल होता जाता है। आखिर निष्ठा भी तो बनते-बनते बनती है। जितने हम निर्मल हो जाते हैं उतनी ही निष्ठा उज्ज्वल हो जाती है। उतनी ही साधना और तेज हो जाती है।

ऐसे चलता हुआ साधक कालान्तर में सिद्धि को लाभ करता है। फिर उसका कर्म कोई भी संस्कार नहीं छोड़ता। कर्म हुआ और उसके लिए समाप्त। जैसे पानी पर खींची लकीर रहती नहीं है, ऐसे ही उसका किया कर्म होता है। वह डूबता जाता है प्रकृति के अथाह गर्भ में। उसके साथ उस कर्म का कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। उसने किया है, ऐसा अभिमान भी तो उसे नहीं होता। वह कर्म को होता हुआ देखता है।

इतना और कहना है कि इस स्थिति के पूरी तरह प्रकट होने से पूर्व ही पुरातन कर्म-संस्कार का क्षय हो जाता है। उससे पूरी तरह खाली हुए बिना यह अवस्था पूरी तरह खिलती नहीं है। कभी-कभी मानो बादल लग जाते हैं।

वह 'गतसंग' होता है। आसक्ति का उसमें लेशमात्र भी बाकी नहीं होता। जितना हम आसक्ति से रहित होते हैं उतना ही अपने को निर्बन्ध प्रतीत करते हैं। आसक्ति और हमारे संस्कार परस्पर बहुत सम्बन्ध रखते हैं। संस्कारों का क्षय आसक्ति को क्षीण करता चला जाता है। आसक्ति का क्षय संस्कारों को क्षीण करता जाता है या वास्तव में दोनों साथ-साथ क्षीण होते हैं। क्योंकि क्षय करने वाली शक्ति दोनों से परे की होती है। जगती हुई निर्मल चेतना यह काम करती है। वह सिद्ध भीतर बिल्कुल निर्लेप होता है। कुछ भी तो उसे पकड़ता नहीं। वह जो कुछ छूता है या पकड़ता है, वह ऐसे हाथों से पकड़ता है कि उस पर निशान नहीं रहता, गन्ध नहीं रहती। वह हो सकता है सभी का वास्तव में। सभी उसके हो सकते हैं क्योंकि वह किसी पर वास्तव में कब्जा नहीं करता।

वह मुक्त होता है, छूटा हुआ होता है। बाहर का छूटना भी कोई छूटना है। बन्धन तो भीतर होता है। वह जब तक है तब तक कौन छूट सकता है। घर से छूटे तो जंगल बांधता है, देश बांधता है, आकांक्षाएं बांधती हैं, आशा बांधती है, मानापमान बांधता है, अपना हित बांधता है, परहित बांधता है, भूत

बांधता है, भविष्य बांधता है। यह सभी सूक्ष्म बन्धन हैं जो दीखते नहीं। भीतर से छूटे तो कौन बांध सकता है। काम से छूटे तो स्त्री नहीं बांध सकती पुरुष को, पुरुष नहीं बांध सकता स्त्री को। लोभ से छूटे तो सोना नहीं बांधता, मकान नहीं बांधता, हानि लाभ नहीं बांधते। मान से छूटे तो दुनिया नहीं बांधती, अहं से छूटे तो कर्म नहीं बांधता, ममत्व नहीं बांधता, आकांक्षाएं नहीं बांधती।

भीतर से छूटना खेल नहीं। उसके लिए सिर देना होता है। खाली होना होता है बिल्कुल। उसके लिए समर्पण चाहिए सर्वस्व का। यह छूटना हो जाता है तो कोई बताने वाला नहीं चाहिए कि तुम छूट गये हो। यह बन्धन ढीले होते हैं तो सांस खुलकर आने लगती है, चैन होती है, आनन्द होता है।

पर हम तो अपनी बेड़ियों को आभूषण मानते हैं। वही तो है लौकिक सुख का साधन। उनके बिना हम कौन? हमारा व्यक्तित्व कहाँ! जीवन में रस क्या! आज का मनोविज्ञान इतना ही जानता, सोचता और दूसरों से ऐसा ही सोचवाता है। यही उसका दिवालियापन है, उसके अनुभव की और कल्पना की उड़ान की सीमा है।

मुक्त होना, जीते जी मुक्त होना, भीतर से नितान्त मुक्त होना है। वही सहज स्वच्छन्दता है, वही है मोह-ग्रंथियों से नितान्त मुक्ति, वही है साम्य और सौम्यता की पराकाष्ठा। ऐसे व्यक्ति के कर्म की प्रेरणा? **'यज्ञायाचरतः'** यज्ञ के लिये कर्म करना है। उसका कर्म यज्ञ के लिए होता है। इस विषय में हमने तीसरे अध्याय में चर्चा की थी। यहाँ यज्ञ ही हो रहा है। समष्टि तथा व्यष्टि में आत्म-त्याग जिसका मूल मन्त्र है, जिससे आश्रित है यह विश्व की लीला, वही तो है यज्ञ। उसी यज्ञ में वह आहुति देता है अपने कर्म की और यह उसके लिए स्वाभाविक होता है। विश्व की भौतिक प्रेरणा उसकी भी प्रेरणा होती है। जब हम सीमाबद्ध करने वाले अहं से खाली होते हैं तो समष्टि की धारायें अविकृत रूप में हममें प्रवेश पा सकती हैं, वह द्वार जो बन्द था, खुल जाता है। हमारा जीवन समष्टि का जीवन हो जाता है। वह प्रवाह हमें ओत-प्रोत कर देता है। जो समष्टि में प्रवाहित हुआ उसे विकास-पथ पर अग्रसर करता है। ऐसा सिद्ध, व्यक्ति होते हुए भी व्यक्ति नहीं रहता। वह व्यष्टि होते हुए भी समष्टि हो जाता है। वह नर होते हुए भी भीतर से नारायण हो जाता है, पुरुष होते हुए भी पुरुषोत्तम हो जाता है।

वह समष्टि की प्रेरणा नारायण का संकल्प ही तो है। अब वह उसमें पूरी तरह से प्रकट हो जाता है। अवरोधक अहं की निवृत्ति हो जाने से यज्ञरूप नारायण उसमें बसकर कर्म करते हैं।

बांधने वाली खूँटी जो अहं था वही नहीं रही, तो बांधेगा किसे कर्म का तन्तु! इस खूंटे के उखड़ जाने से सचमुच मुक्त हो जाता है कर्मयोगी।

यह श्लोक 18 से 23 तक हमें नैष्कर्म्य का पूरा परिचय दे देते हैं। पता मिलता है उसकी सिद्धि कैसी है। साधना के विषय में हमें अभी और परिचय आगे मिलेगा।

भगवान् ने कर्म-अकर्म का रहस्य समझा दिया। भगवान् करते हुए भी अकर्ता कैसे रह पाते हैं, यह अर्जुन को भलीभाँति जानकारी हो जाती है। वह यज्ञेश्वर अकर्ता है, उसकी उपासना व्यक्ति को अकर्ता कर सकती है।

आगामी श्लोक उस ब्रह्म की – उस यज्ञेश्वर की उपासना का मूल मन्त्र बताता है। कर्मयोग की निष्ठा कर्म-ब्रह्मार्पणयोग के रूप को धारण कर लेती है। कर्मयोग का अनासक्ति-भाव ब्रह्मार्पण की पुट को पाकर पुष्ट होता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥24॥

'ब्रह्मरूप हवि, ब्रह्म के अर्पण करके ब्रह्म ने ही ब्रह्मरूपी अग्नि में होम कर दी। ब्रह्म ही तो उसको (साधक को) प्राप्त होगा (उस) ब्रह्मकर्मरूपी समाधि से'॥24॥

इस प्रकार का जो मुक्त सिद्ध है उसकी क्या गति होती है? **'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं'** – 'वह ब्रह्म को प्राप्त करता है।' पिछले श्लोक में कहा था, **'कर्म समग्रं प्रविलीयते'** 'उसका समग्र कर्म प्रविलीन हो जाता है।' परन्तु वह तो नकारात्मक वर्णन है। कर्म लीन हो जाता है तो उसका क्या होता है? इस प्रश्न का उत्तर है यह वर्तमान श्लोक।

ब्रह्म-प्राप्ति भगवत्प्राप्ति है। वही जिस विषय में 12वें अध्याय में कहा है। जिसके विषय में तीसरे अध्याय के 9वें श्लोक तथा इसी अध्याय के श्लोक 9 में भी तो कहा था। **'मामेति'** मुझे प्राप्त करता है। ब्रह्म शब्द उपनिषदों में पुरुषोत्तम के अर्थ में ही सामान्यतया प्रयुक्त होता है। ब्रह्मसूत्रों में भी ऐसा ही प्रयोग है। **'जन्माद्यस्ययत'** – जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति,

जिसमें स्थिति और लय होता है, वह ब्रह्म है।

तो कर्मयोग की साधना करता हुआ सिद्ध व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है। क्या स्थिति हो जाती है यज्ञ के लिए आचरण करते हुए ऐसे मनुष्य की? उसके लिए सभी ब्रह्ममय हो जाता है। 'वासुदेवः सर्वमिति'। यह उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वह अपने जीवन में पल-पल प्रतीत करता है। इसलिये वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। ब्रह्म में इस प्रकार से जो जीते जी प्रतिष्ठित हो जाये उसकी और गति ही क्या हो सकती है? उसके लिए तो रास्ता ही एक होता है और वह है प्रभु का ही।

'ब्रह्म हविः' जो वह होम करता है उस यज्ञ में वह इसके लिए ब्रह्म ही होता है। यह विशाल यज्ञ जिसके निमित्त उसके कर्म होते हैं, उसकी दृष्टि में तो ब्रह्मरूप ही हो जाता है, उसमें पड़ने वाली आहुति ब्रह्मरूप होती है, कर्म की आहुतियाँ डाली जाती हैं। अतः उसे कर्म भी ब्रह्म ही दीखता है।

'ब्रह्माग्नौ' ब्रह्मरूपी अग्नि में। जो प्रदीप्त अग्नि है, जो आहुतियों को स्वीकार करती है देवों का मुख बनकर, वह भी ब्रह्मरूप ही है। जो हमारे कर्म की निष्पत्ति के साधन हैं वह भी ब्रह्म ही हो जाते हैं उस व्यक्ति के लिए।

और वह आहुतियाँ स्वीकार कौन करता है इस अग्नि में बैठकर? किसके लिए यज्ञ होता है? ब्रह्म के लिए ही। वही यज्ञेश्वर है, वही इस यज्ञ का अधिष्ठातृ-देवता है। वही आहुतियों को स्वीकार करता है।

और होम करने वाला कौन? सो भी ब्रह्म ही। 'ब्रह्मणा हुतम्' – ब्रह्म के द्वारा होम की हुई। वह अपने को भी प्रभुरूप ही देखता है। जब सभी कुछ ब्रह्म है तो वह स्वयं भी तो तद्रूप है। **'ब्रह्मकर्मसमाधिना'** – इस ब्रह्म-कर्मरूपी समाधि के द्वारा। यह यज्ञ क्या है? यह एक समाधि है। समाधि में चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। इस कर्म में भी चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। ब्रह्म ही एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यदि उसे वृत्ति कहा जा सके तो। जहाँ दृष्टि पड़ती है और जो भीतर स्फूर्ति होती है मन में, वह सभी ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। एकान्त में जाकर शान्तभाव से समाधि लगाई जाती है, बाह्य तथा आन्तरिक निश्चलता के लिये चेष्टा की जाती है। उसमें आन्तरिक निश्चलता बाह्य निश्चलता पर निर्भर करती है। बाहर निश्चेष्ट न

हो तो समाधि भंग हो जाती है। परन्तु यह समाधि विचित्र है। यह समाधि ध्यान-समाधि नहीं, अपितु कर्म-समाधि है। इसमें आँखे मूँद कर एकाग्रता की साधना नहीं, कर्म आवश्यक है। कर्म ही इसका आसन है, कर्म ही प्राणायाम, वही धारणा और वही ध्यान। वही समाधि में परिणत हो जाता है। इसीलिए यह कर्म-समाधि है। कर्म करते हुए व्यक्ति समाधिस्थ रहता है।

आखिर समाधियों में कौन समाधि सर्वोत्तम है। निर्विकल्प ही तो। उसमें आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। आत्मा में चित्त की वृत्ति समग्ररूप से समाहित हो जाती है। अभावात्मक वृत्ति का भी अभाव हो जाता है। वांछनीय तो वही भीतर की स्थिति है। यदि कर्म करते हुए भी व्यक्ति ब्रह्म में स्थित रह सके तो वह भी तो समाधि ही है। यह वृत्तियाँ ही ब्रह्मरूप हो जायें तो वह समाधि ही तो है। आखिर ब्रह्म-स्थिति में तो वृत्तियों के होने से कोई अन्तर नहीं हुआ। ऐसी समाधि मध्ययुग के सन्तों को प्रिय थी। इसे कबीर साहब ने सहज समाधि कहा है। सहज, जिसके लिए किसी प्रकार की विशेषता की आवश्यकता ही नहीं। वह गाते हैं –

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन ते जागी, दिन दिन अधिक चली॥1॥

जहं जहं डोलूं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा॥1॥

कहौं सो नाम सुनौं सो सिमरन, खाऊं पिऊं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥2॥

आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नयन पहिचानौं हंसि हंसि, सुन्दर रूप निहारौं॥3॥

यह सहज समाधि कर्म-समाधि ही है। यह तो कभी छूट ही नहीं सकती। इससे कभी व्युत्थान (उठना) ही नहीं होता। इसी अवस्था के लिए तो गाया गया है –

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल॥

सब कुछ ब्रह्म हो जाता है।

इस कर्म-समाधि को ब्रह्म-कर्म समाधि कहा। कर्म ब्रह्म ही है। वही

साधन है इस बात को कहने के लिए। ब्रह्मरूपी कर्म में समाधि अथवा ब्रह्मरूप कर्म के द्वारा समाधि-तात्पर्य एक ही है।

यह है कर्मयोग का ऊँचा ध्येय। कर्मयोगी कर्म-ब्रह्मार्पण-योगी होकर इस लक्ष्य को पा लेता है। गीता ऐसा ही अर्जुन को उपदेश देती है। इसीलिये तो भगवान् अनेक स्थलों में प्रतिज्ञा कर देते हैं अर्जुन से, 'तू मुझे पायेगा, तू मुझ में निवास करेगा।' इसीलिए कर्म करते हुए भी, प्रभु आश्रित हुआ व्यक्ति अव्यय शाश्वत पद को पा सकता है (18-56)। इसीलिए तो कर्मों के स्वरूपतः परित्याग के लिए गीता के इस ऊँचे उपदेश में जगह नहीं रखी गई। यह कर्मनिष्ठा की सफलता की घोषणा है। कर्म साधन हो सकता है प्रभु प्राप्ति का और हम कर्म करते-करते जीते-जीते उसे पा सकते हैं। यह भी समझ आ सकती है कि यह किस प्रकार से सम्भव है।

यह समाधि वेदान्त की ब्रह्मलयावस्था से अथवा सांख्य की निर्विकल्प समाधि अथवा हठयोग की जड़-समाधि या नादयोग की सुन्नावस्था से किसी प्रकार से कम नहीं है। मुझे तो उनसे ऊँची ही दीखती है। बाह्य साधन की परतन्त्रता नहीं और कभी भी तो व्युत्थान नहीं। सदा समाधि है और इसका पाने वाला सदा सुहागी है। उसका प्रियतम उससे कभी भी बिछुड़ता नहीं।

प्रीतम को पतियां लिखूं जे कोई होय विदेश।
तन में मन में नैन में, वाको कहा संदेश॥

और यहाँ खैंचातानी नहीं, यहाँ जड़ भाव नहीं, यहाँ अजगरी वृत्ति नहीं। मनुष्य-मनुष्य होता हुआ ब्रह्म हो जाता है। जगत् भी जगत् रहता हुआ ब्रह्म हो जाता है। मिथ्यात्व की आवश्यकता नहीं, कुछ भागना नहीं। सौम्यता है, समता है और स्थिति भी, लोक भी है और होते हुए भी ब्रह्म ही ब्रह्म है। क्या अद्भुत अलौकिक सर्वतोमुखी ब्रह्म अवस्था है। यह सिद्धि कर्मनिष्ठा की किरीट (मुकुट) है। यह पारितोषिक है, तभी तो यह सुगम नहीं कही।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥7/19॥

परन्तु इस अमूल्य लाभ के लिये अनेक जन्म भी तो कोई मूल्य नहीं। कर्मयोगी का आचरण यज्ञ के लिये होता है। परन्तु यज्ञ तो कई प्रकार

के हैं। उन यज्ञों का प्रतिपादन किया इस योग में यज्ञ के ऊँचे स्थान को बताने के लिये (30)। यज्ञमात्र तो कर्म से ही सम्भव है। कर्म के द्वारा ही यज्ञ होता है। यज्ञ के लिये किया गया कर्म व्यक्ति को यज्ञेश्वर से युक्त करता है। अतः अर्जुन को भी कर्म करना चाहिये, यज्ञ के लिये ही कर्म करना चाहिये, यही इन आगामी श्लोकों (25-32) का प्रयोजन है।

जो ऊपर कहा गया यह तो ब्रह्मयज्ञ है। सिद्ध हुआ कर्मयोगी इसको करता है। ऊँची दृष्टि वाला साधक इसके लिये अधिकार प्राप्त करता है।

अब अन्य प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हैं।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥25॥

'दूसरे योगी लोग दैवयज्ञ उपासना करते हैं और दूसरे योगी ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ करते है'॥25॥

'दैवयज्ञ' – जिस यज्ञ का इष्ट देवता हो। देवताओं के निमित्त किये यह यज्ञ दैवयज्ञ होते हैं। 'हमें देवता लोग देन देते हैं, हमें उनका हिस्सा चुकाना चाहिये। हमें यज्ञ के द्वारा उन्हें पुष्ट करना चाहिये।' यह तीसरे अध्याय में प्रभु ने कहा था (11, 12, 13)।

देव यज्ञ तो गृहस्थी के लिये नित्यकर्मों में विहित है। वह गृहस्थी का धर्म है। देवताओं की आहुतियाँ देकर ही यज्ञशेष का वह भोजन कर सकता है।

और दूसरे योगी लोग यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ करते हैं और ऐसे यज्ञ के लिये सामान्य अग्नि नहीं ब्रह्माग्नि बरती जाती है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ वेद भी तो है। ब्रह्माग्नि स्वाध्याय है और यज्ञ है भगवान् का स्वरूप। अतः इसका अर्थ होता है स्वाध्यायरूपी यज्ञ से जो वेदरूपी अग्नि के द्वारा ही सम्भव है। कुछ लोग परमेश्वर का भजन करते हैं। वेद का स्वाध्याय ही उनके लिये यज्ञ बन गया है।

कोई भी कर्म यज्ञ बन सकता है। यज्ञत्व तो हमारी भावना में रहता है। जब हमारा कर्म यज्ञभावना से होता है तो वह यज्ञ ही होता है। स्वाध्याय भी यज्ञ है।

स्वाध्याय यदि किसी फलप्राप्ति के निमित्त होता है तो वह यज्ञ नहीं

रहता। वह तो एक सौदा हो जाता है। यह बात देवयज्ञ के विषय में भी सत्य है। यदि वह किसी कामना से किया जाता है तो वह यज्ञ होता हुआ भी यज्ञ नहीं रहता। वह केवलमात्र अग्निहोम हो जाता है। वह कर्मयोग का साधन नहीं रहता। वह प्रभु के समीप कर भी नहीं सकता व्यक्ति को।

उपजुह्वति – आहुति देते हैं, होम करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥26॥

'दूसरे (योगी लोग) श्रवणादि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नियों में होम कर देते हैं और दूसरे (कई) शब्दादि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नियों में होम देते हैं'॥26॥

समूचा जीवन हमारी निष्ठा के द्वारा किस प्रकार से यज्ञ हो जाता है, इसको स्पष्ट कर देता है यह श्लोक। हमारा खाना-पीना, देखना, सुनना, उठना, बैठना सभी कुछ यज्ञ ही हो जाता है यदि हमें ठीक भावना प्राप्त हो जाये।

कान आदि इन्द्रियों को संयम की अग्नियों में होम कर देना। संयम एक अग्नि है। अग्नि में आहुति देने से ही तो यज्ञ होता है। इन्द्रिय की आहुति इस अग्नि में देने से यज्ञ ही तो होता है। यज्ञ का तो अधिष्ठातृ देवता भी होना चाहिये। हाँ, वह तो सदा आहूत ही है। इसके निमित्त ही तो आहुतियाँ दी जाती हैं। वह है ब्रह्म। वही जिसे पुरुषोत्तम कहा। जो हमारा भगवान् वासुदेव है। संयम की अग्नि में उसे बुलाकर हम इन्द्रियों को होम देते हैं अर्थात् प्रभु के निमित्त इन्द्रियों का संयम करते हैं। यह कर्म ब्रह्मार्पणयोग का व्यावहारिक स्वरूप है। इन्द्रिय संयम एक यज्ञ है परन्तु प्रभु के लिये हो, उसी के अर्पण हो तब। जब हम किसी और उद्देश्य से संयम करते हैं तो वह यज्ञ नहीं रहता। तब वह इस योग का साधन नहीं बन पाता। संयम का अर्थ है संयम से उपयोग।

और दूसरे कर्म ब्रह्मार्पण-योगी लोग दूसरी भावना रखते हैं। वह जो भी भोग भोगते हैं वह इन्द्रियरूपी अग्नि में उस विषय की आहुति देते हैं। आँख से देखते हुये आँख रूपी अग्नि में दिखने वाले रूप की बलि देते हैं, कान में शब्द की बलि देते हैं सुनते हुए। जिह्वा में रस की बलि देते हैं खाते

समय। इस प्रकार से वह इन्द्रियों को बरतते हुए, उनमें विषयों की आहुतियाँ देते हुए यज्ञ करते हैं उस अधीश्वर के लिए। यह भी कर्म ब्रह्मार्पण-योग की साधना है।

संयम तथा इन्द्रिय शब्दों को बहुवचन में बरता गया है उनकी बहुलता प्रकट करने के लिये। इन्द्रियाँ अनेक हैं, उनके संयम भी अनेक है प्रत्येक इन्द्रिय के अनुसार।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥27॥

'और दूसरे (योगी) लोग ज्ञान के द्वारा जलाई हुई आत्म-संयम योग की अग्नि में सभी इन्द्रियों और प्राण के व्यापारों को होम देते हैं'॥27॥

यह यज्ञ का एक और व्यापक प्रकार बताया। ज्ञान के द्वारा आत्म-संयम-योग की अग्नि को जलाकर वह उसमें होम करते हैं। गीता के छठे अध्याय का नाम आत्म-संयम-योग ही है। उस अध्याय में अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा प्राण के संयम की चर्चा है, अपने पर पूरा अधिकार प्राप्त करना, सर्वथा वशीकार कर लेना ही उस योग का लक्ष्य है। वह योग अग्नि है।

वह अग्नि कैसे जगाई जाती है? ज्ञान के द्वारा। सामान्य अग्नि तो लकड़ी से जलती है, परन्तु इस अग्नि के लिए ज्ञान के ईंधन की आवश्यकता है। सम्यक विवेक से ही संयम के रास्ते पर चला जाता है।

इस अग्नि में आहुतियाँ कौन सी डालते हैं, ये योगी? सभी इन्द्रियों के और प्राण के कर्मों को आहुति बना देते हैं अर्थात् उनके संयम की चेष्टा करते हैं।

इन्द्रियों के कर्म तो प्रसिद्ध ही हैं। प्राण-कर्म हैं प्राण के कर्म। प्राण से शरीर धारण होता है। प्राण से रक्त का प्रवाह चलता है। हृदय में, फेफड़ों में, यकृत में तथा अन्य आवश्यक अवयवों में क्रिया होती है। प्राण पाँच प्रकार के हैं प्राधान्यत:। वह योगी इनकी क्रियाओं को भी संयमित करते हैं। प्राण की चेष्टाओं पर भी अधिकार पाने की चेष्टा करते हैं।

अपने खान-पान, आहार-विहार के संयम और धारणा के अभ्यास के द्वारा यह संयम सम्भव है। धारणा के द्वारा केन्द्रित हुई हमारी मानसिक शक्ति

प्राण-क्रियाओं पर अधिकार प्राप्त कर सकती है।

यहाँ भी निष्ठा प्रभु अर्पण की होती है अन्यथा यह कर्म यज्ञ नहीं होगा। गीता का छठा अध्याय इस यज्ञ का वर्णन मात्र ही है। यज्ञ के इस विशाल रूप को समझ लेने से यह समझा जा सकता है कि गीता किस प्रकार से सभी दृष्टियों का समन्वय कर देती है। वह जो आरोह पथ का साधन है, जिसमें अपनी चेष्टा ही प्रधान है, वह भी जब ब्रह्मार्पण हो जाता है तो भगवान् की पूजा हो जाती है। वह कर्मयोग हो जाता है। यह निष्ठा कैसा पारस पत्थर है। जिस भी धर्म को छू दे सो भगवान् की प्राप्ति का साधन, वह यज्ञ, वह कर्मयोग! यही ब्रह्मार्पणयोग का जादू है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥28॥

'और दूसरे व्रत करने वाले (योगी) लोग हैं – जो (द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ करते हैं'॥28॥

यज्ञ करने वाले तो और प्रकार के भी हैं। कुछ लोग व्रत करते हैं और उसका पालन करते हैं। उनके यज्ञ का यही प्रकार है। मैं अमुक काम रोज करूँगा, इतना करूँगा, ऐसे करूँगा। नहीं करूँगा तो प्रायश्चित करूँगा। खाना नहीं खाऊँगा, मौन करूँगा आदि।

ऐसे लोग भी कई प्रकार के यज्ञ करते हैं।

द्रव्य-यज्ञ वह है जिसमें द्रव्य की आहुति दी जाये। नित्यप्रति होम करना, अथवा दान देना, अथवा किसी की द्रव्य से सेवा करनी। यह सभी द्रव्ययज्ञ हैं। तपोयज्ञ है तप रूप। अपने को तपाना ही तप होता है। कुछ शारीरिक कष्ट को उठाना तप में रहता ही है बिना इसके तप नहीं होता। कम खाना, एक ही प्रकार का भोजन, कुछ वस्तुएं खाने में छोड़ना, एक वक्त खाना।

इसी प्रकार से कम ओढ़ना, कई बार स्नान करना, जल में खड़े रहना। शरीर को व्यर्थ कष्ट देने को भगवान् ने बुरा कहा है (5, 6-17), यह हमें न भूलना चाहिए। परन्तु जहाँ लक्ष्य शरीर को कष्ट देना नहीं, जहाँ भगवान् के अर्पण करने के लिए ही किया जाता है वह तप तो वर्जित नहीं हो सकता है। वह तो यज्ञ ही है।

योग-यज्ञ क्या है? योगरूपी यज्ञ करने वाले। ध्यान-योगादि की ओर

सम्भवतः इशारा हो सकता है। कर्म-योग से तो आशय हो नहीं सकता योग-यज्ञ का।

स्वाध्याय-यज्ञ वेद का पारायण स्वाध्याय है। पूर्वकाल में प्रत्येक गोत्र-प्रवर में वेद के पाठ निश्चित थे। उन वंशों में उतना पाठ रोज होता ही था और वह कण्ठ किया जाता था। वेद के पाठ का आज तक भी शुद्ध रूप में चले आना इसी पर निर्भर करता है। समुचित भावना से किया स्वाध्याय भी यज्ञ ही है।

25वें श्लोक में भी तो स्वाध्याय कहा था। यहाँ फिर क्यों? यहाँ व्रत लेकर करने वालों की चर्चा है। यह अनुष्ठान रूप पाठ यज्ञ हो जाता है।

ज्ञानयज्ञः- अध्यात्म के तत्वों को समझने का प्रयत्न ज्ञान-यज्ञ है। ज्ञान-विज्ञान दोनों को ही ज्ञान-यज्ञ में गिनना होगा। यह कर्म भी यदि प्रभु अर्पण किया जाता है तो यज्ञ हो जाता है। व्यक्ति को यज्ञेश्वर की ओर ले जाता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥29॥

'और दूसरे (कर्मयोगी) लोग अपान में प्राण का होम करते हैं और प्राण में अपान का। (इस प्रकार से) प्राणायाम में लगे रहते हैं प्राण तथा अपान की गतियों को रोककर के'॥29॥

प्राणायाम भी यज्ञ है। जो प्राणायाम करते हैं वह भी यज्ञ करते हैं। किस प्रकार से वह यज्ञ है सो बतलाया है।

प्राणायाम होता है प्राणों का संयम, प्राण का वशीकार। वह लोग प्राण और अपान दोनों की गति को रोक लेते हैं। न प्राण को बाहर आने देते हैं, न अपान को नीचे जाने देते हैं, बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के रह जाते हैं।

यह कैसे होता है? अपान में प्राण वायु को होम देने से और प्राण में अपान वायु को। सांस बाहर आने लगता है तो अपान के प्रभाव से उसे आने नहीं देते, वह भीतर जाने लगता है तो प्राण के प्रभाव से जाने नहीं देते। एक दम से जहाँ है वहीं पर रोके रहते हैं।

यह स्मरण रखने को है कि प्राण वायु नहीं है। प्राण वह सूक्ष्म शक्ति

है जिसके द्वारा वायु का भीतर से बाहर आना होता है। यह अपान को नीचे ले जाती है। अतः श्वास भीतर को इसी के कारण जा पाता है।

यह चेष्टा भी यज्ञ है यदि प्रभु के अर्पण हो तो।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥30॥

'और दूसरे (कर्मयोगी) नियत आहार करके प्राणों को प्राणों में ही होम देते हैं। यह सभी (जिनका ऊपर वर्णन हुआ है) यज्ञ के जानने वाले हैं। इनके पाप, यज्ञ के द्वारा क्षीण होते हैं'॥30॥

यज्ञ की एक और विधि कहकर इस गणना को समाप्त करते हैं। कुछ लोग भोजन में संयम करते हैं। परिमित मात्रा तथा गुणों वाला भोजन करते हैं। थोड़ा खाते हैं, जैसा खाना चाहिए वैसा ही खाते हैं, समय पर ही खाते हैं, भोजन के विषय में इस प्रकार का संयम करके वह प्राणों पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। संयमित, परिमित भोजन से प्राणों की उद्दण्डता समाप्त हो जाती है। व्यक्ति का शरीरगत क्रियाओं पर अधिकार हो जाता है। इन्द्रियाँ भी धीरे-धीरे रास्ते पर आने लगती हैं। भोजन का संयम के साथ गहरा सम्बन्ध है।

इस प्रकार के संयम के द्वारा वह प्राणों का प्राणों में ही हवन कर देते हैं।

यह भी एक यज्ञ है।

अन्त में कहा कि यह सभी योगी लोग जिनके यज्ञों की ऊपर चर्चा हुई है यज्ञ को जानने वाले हैं। यज्ञ के रहस्य को जानना ही यज्ञ को जानना है। क्या है रहस्य यज्ञ का? बिना इष्ट के यज्ञ नहीं होता। खाली अग्नि में घी डालने से यज्ञ नहीं होता। देवता का आवाहन और उसके अर्पण करने से ही यज्ञ यज्ञ होता है। इस प्रकार का त्याग हमें उस इष्ट से युक्त कर देता है। उसकी चेतना हममें प्रवाहित होने लगती है। जैसे दो बिजली के तार जुड़ जाते हैं ठीक वैसे ही हो जाता है। वह इष्ट हममें बसने लगता है। अतः कर्म को प्रभु के अर्पण किये बिना यज्ञ नहीं होता। जब कर्म उसके अर्पण होता है वह हमें यज्ञेश्वर से युक्त करने का साधन होता है। कोई भी कर्म देखने सुनने से लेकर प्राण-त्यागादि तक यज्ञ हो जाता है जब वह प्रभु अर्पण किया

जावे। यही इस अध्याय का मूलमन्त्र है। इसे समझ लेने से इस अध्याय का तत्व जाना जाता है।

यह समझ लेना चाहिए कि यह जो विभिन्न कर्मों को यज्ञ के रूप में रखा है, रूपक बनाया है, सो उन कर्मों के यज्ञत्व को प्रतिपादित करने मात्र के लिए है। अग्नि तथा आहुति यह दो ही तो बाह्य उपकरण होते हैं। अतः प्रत्येक कर्म में इन दोनों की कल्पना की जिससे सुगमता से समझा जा सके कि यह कर्म भी तो यज्ञ ही है। तात्विक दृष्टि से यह कल्पना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। जब हम जानते हैं, समझ सकते हैं कि कर्ममात्र यज्ञ हो जाता है, जब वह अर्पण किया जाये ब्रह्म के। सीखने वाली बात यही है कि हमारे समूचे जीवन के व्यापार सारे कला-कलाप भी यज्ञ हैं, यदि हम उन्हें समुचित निष्ठा से करते हैं और गहरी भावना से प्रभु के चरणों पर चढ़ा देते हैं पत्र-पुष्प की भाँति।

तो यज्ञ का विशाल रूप क्या है? जो हमने ऊपर लिखा है। यह ब्रह्मार्पणयोग यज्ञ का स्वरूप है। जहाँ भी त्याग है और किसी ऊँचे लक्ष्य के लिए, जिस त्याग के परिणामस्वरूप व्यक्ति ऊँचा हो जाता है, निर्मल हो जाता है वह यज्ञ है। जब वह देवों के लिए किया जाता है तो वह त्याग व्यक्ति को देवता बना देता है। उससे भी व्यक्ति ऊँचा तो होता ही है। जहाँ व्यक्ति निर्मल होने के लिए त्याग करता और निर्मल होता है वह भी तो यज्ञ ही है। बस यज्ञ की कसौटी है त्याग और उस त्याग के परिणामस्वरूप पवित्रता, उज्ज्वलता। यज्ञ विकास का तीव्र साधन है।

इसमें भी सन्देह नहीं कि जितने ऊँचे लक्ष्य के लिये और जितनी ऊँची भावना से हम त्याग करेंगे उतना ही वह हमें ऊँचा उठाने वाला होगा, और त्याग भी कई प्रकार का होता है, कई कोटि का होता है। हम जिसे अपना समझे हुए हैं, जो हमें प्राप्त है अथवा प्राप्त हो सकता है, उसी का तो त्याग होता है। वह सूक्ष्म और स्थूल का भी होता है, वह वर्तमान का भी होता है और भावी तृप्ति का भी।

अतः कहा **'यज्ञक्षपित-कल्मषाः'** – उनके कल्मष क्षीण हो जाते हैं यज्ञ के द्वारा। कल्मष – पाप, कुसंस्कार। यही यज्ञ की कसौटी है। यज्ञ हमारे पापों का क्षय करता है। वह हमें निर्मल, उज्ज्वल कर देता है।

ऐसे भी तो कर्म होते हैं जिनमें हम विशेष सिद्धि के निमित्त, किसी

भौतिक लाभ के निमित्त, किसी कष्ट की निवृत्ति के लिए अथवा किसी वैर शोधन के लिए त्याग करते हैं, बलि देते हैं, होमादि करते हैं। यह जो पूर्णरूपेण सकाम कर्म है, क्या यह यज्ञ है? उसी पूर्वलिखित कसौटी पर कसने से तो यह यज्ञ नहीं कहलाते। यदि इनके परिणामस्वरूप व्यक्ति ऊँचा होता है; काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से हलका होता है, तभी तो यह यज्ञ है। अन्यथा यज्ञ कैसे?

श्री तुलसीदास जी अपनी विनय-पत्रिका के आदि में सभी देवताओं की वन्दना करते हैं, परन्तु मांगते हैं सभी से श्रीरघुनाथ जी के चरणों में प्रीति। यह देवोपासना नहीं ब्रह्मोपासना है। इस प्रकार से कोई भी कर्म ब्रह्मोपासना बन जाता है। लक्ष्य ही निर्णायक होता है।

क्यों इतनी लम्बी यज्ञ परम्परा कही होगी भगवान् ने अर्जुन को? वह यह जमा देना चाहते थे अर्जुन के भीतर, कि जीवन के सामान्य व्यापार भी पूजा बन सकते हैं, यज्ञ हो सकते हैं और प्रभु प्राप्ति का साधन बन सकते हैं। फिर स्वधर्म का पालन तो अवश्य बन ही सकता है मेरे मिलन का रास्ता। इतना ही कि विमल होने के लिये की जाने वाली विशेष क्रियाएँ भी मेरे समीप लाने में सहायक हो सकती हैं। स्वधर्माचरण तो सर्वथा हो ही सकता है।

अब हम समझ सकते हैं प्रभु ने क्यों कहा –

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्॥18/5॥

यज्ञ, दान और तप न छोड़ना चाहिए। वह तो करना ही चाहिए।
कर्मयोग का तो साधन ही है यज्ञ – सर्वमय हुआ यज्ञ!
क्या होती है यज्ञ करने वालों की गति?

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥31॥

'हे अर्जुन! यह यज्ञ-शेषरूपी अमृत को खाने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञहीन मनुष्य का तो यह लोक भी नहीं होता, दूसरा कहाँ से होगा'॥31॥

पिछले अध्याय में कहा था 'यज्ञशेष को खाने वाले सन्त सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं' (3/13)। यहाँ कहा कि वह सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते

हैं। वहाँ देवताओं के लिए यज्ञ करने का प्रसंग था, यहाँ तो यज्ञमात्र की चर्चा हुई है। जिस जीवन में यज्ञ है, उसका जीवन सफल है। वह यज्ञ स्वरूपतः यज्ञ ही हो सकता है, विशेष बाह्य क्रियाओं वाला हो सकता है और वह हो सकता है यज्ञ की ऊँची भावना, कर्म ब्रह्मार्पण की प्रबल निष्ठा, जो समूचे जीवन को ही यज्ञरूप कर देती है। जहाँ हमारे यज्ञ का इष्ट ब्रह्म है वहाँ उसके द्वारा ब्रह्म की ही प्राप्ति होगी। सनातन ब्रह्म कहा – पुरुषोत्तम से तात्पर्य है। वेद भी तो ब्रह्म कहा जाता है।

इतना और याद करना है –

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च॥9/24॥

किसी भी कोटि का यज्ञ क्यों न हो, यदि वह यज्ञ है, उसमें त्याग है तो उसे स्वीकार करने वाले प्रभु ही होते हैं। वही उस यज्ञ के उपभोक्ता होते हैं। कहीं वह हमारी भावना के अनुसार देवता बने हुए उस यज्ञ के अधिपति होते हैं, कहीं पर प्रेम की प्रतिमा बन कर, कहीं पर 'यज्ञ और तपों के भोक्ता बनकर', **'भोक्तारं यज्ञतपसां'** (5/29)।

जीवन में यज्ञ होना ही चाहिए। नहीं, नहीं, जीवन यज्ञरूप ही हो जाना चाहिए। जितना वैसा हो जायेगा उतनी जल्दी ही यज्ञेश्वर की प्राप्ति होगी।

जिसके जीवन में यज्ञ नहीं हैं उसका तो यह लोक भी नहीं है। बिना यज्ञ के तो यहाँ पर चैन नहीं मिलती। सुख इस बात पर निर्भर नहीं करता कि हमें बाहर से क्या मिलता है। यदि सुख बाह्य वस्तुओं पर निर्भर करता तो वैसा होता। अधिक लाभ में अधिक सुख होता है। पर हम तो धनिकों को दुःखी भी और धनहीनों को सुखी भी देखते हैं। सुख निर्भर करता है इस पर कि हम क्या कर पाते हैं दूसरों के लिए। स्वार्थी जीवन में चैन नहीं। जिसने देना नहीं सीखा, जिसने प्यार करना नहीं सीखा, जिसने दूसरे के लिये प्रीति करना नहीं सीखा, उसे वास्तविक शान्ति कहां? जो दूसरों को अपनाना नहीं जानता है, अपने को मिटाना नहीं जानता है दूसरों के लिए दूसरों में, उस जीवन में आनन्द कैसा? वैसे ही तो दूसरों को अपना बनाया जाता है। जिसके जीवन में त्याग है उसके जीवन में सुख हो सकता है। जहाँ त्याग नहीं वहाँ यदि आज सुख दीखता है तो वह पशुकोटि का होगा। वह भी टिकेगा नहीं। उसका स्वार्थ ही उसकी जान पर सवार हो जायेगा।

लौकिक सुख का सूत्र भी तो यही है – दूसरों को सुखी करने की

भावना और चेष्टा। इसका अर्थ सक्रिय नि:स्वार्थ है – जिसे सेवा कहते हैं, जिसे त्याग कहते हैं। जिसे यज्ञ कहते हैं।

पर हमें त्याग करने वाले भी दु:खी दीखते हैं, पश्चात्ताप करते दीखते हैं कि 'हाय हमने इतना किया। किसी ने हमारे लिये कुछ नहीं किया। दुनिया स्वार्थी है। हम तो ठगे गये। हमें पता होता तो हम कभी बेवकूफ न बनते।' उनकी ऐसी भावना उनके त्याग का पैमाना है। जो त्याग बदला मांगता है वह दूषित है, मांग वाला है। जो त्याग कृतज्ञता भी मांगता है,, वह भी निर्दोष नहीं। यज्ञ वह यज्ञ है जिसमें सूक्ष्म अथवा स्थूल कामना छू भी न गई हो। यज्ञ में जो दु:ख होता है उसका कारण हमारी अटक होती है। हमारी कामना होती है। यज्ञ का दोष नहीं।

पर वैसा त्याग तो बहुत कठिन है। माना, पर रास्ता तो चलने से ही आता है। वह होने वाला दु:ख हमें अपनी भावना का मैल दिखा देता है। अपने त्याग को और पवित्र करने का रास्ता बताता है। उस पथप्रदर्शक का सत्कार करें, उसे मानें और आगे चलें।

लोक में भी सुख का रास्ता है यज्ञमय जीवन। स्वार्थी जीवन में तो सुख की कल्पना भूल है। वहाँ न चैन का खाना हो सकता है, न चैन का सोना। वह आसुरी जीवन है। वह राक्षसी जीवन है।

जिसका लोक नहीं, उसका परलोक कहाँ से! परलोक का आधार तो इस जन्म की ही भावनाएं और कर्म होते हैं। यदि हम बोएंगे कांटे, तो काटने भी कांटे ही होंगे। यदि हम फूल बोएंगे तो फूल मिलेंगे। जो यहाँ पर नि:स्वार्थ नहीं उसका परलोक जीवन ऊँचा कैसे हो सकता है, आनन्दमय कैसे हो सकता है? जो यहाँ यज्ञ नहीं करता, दान नहीं देता, अपने लिये जीता है वह आगे जाकर क्या कर पावेगा। उसका दिवाला तो यहीं पिट गया। साथ ले जाने को क्या है?

लोक और परलोक में जो हम अभेद्य दीवार खड़ी कर देते हैं वह हमारी कमसमझी ही होती है। इसी जीवन का प्रवाह तो उस पार जाता है। बस आर-पार, अर्थात् इस पार से उस पार दीखता नहीं। उस पार वाले तो इस पार देख ही सकते हैं। देखा भी करते हैं।

'अर्जुन तू भी यज्ञ कर, उससे सुधरेगा यह लोक भी और परलोक भी। स्वार्थी बनकर जीवन के संग्राम से भागने की न सोच।'

एवं बहुविधा यज्ञा विंतता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।32।।

'इस प्रकार से वेद के मुख में बहुत प्रकार के यज्ञों का विधान है। वह सभी कर्म से ही सम्पन्न होते हैं, ऐसा जानकर तू मुक्त हो जावेगा'।।32।।

वेद में यज्ञों का वर्णन है। यजुर्वेद में यज्ञों की ही चर्चा है। जिन यज्ञों का, प्रभु कहते हैं, मैंने वर्णन किया वह वेद में हैं और यज्ञ भी वेद में वर्णित हैं।

अर्जुन ने वेद की प्रामाणिकता माननी सीखी थी। अतः वेद का प्रमाण दे दिया। 'मैं अपने मन की नहीं कहता। वेद द्वारा प्रामाणिक बातें हैं। वेद यज्ञों का प्रतिपादन करता है।'

और यज्ञ कर्म से ही हो सकते हैं। बिना कर्म के तो कोई भी यज्ञ सम्भव नहीं है। यज्ञ के लिए कर्म तो करना ही होगा। इस प्रकार से भी कर्म को छोड़ने वाली बात तो सर्वथा असंगत है।

और यदि तेरी समझ में यह बात आ जाती है कि यज्ञ करना चाहिए और यज्ञ के लिए कर्म अनिवार्य है, फिर तू बन्धन से छूट जायेगा।

पहिले तो तू इस घोर विषादरूपी पाप से छूटेगा। फिर जो यह विचार है कि कर्म करने से, युद्ध करने से, बन्धन होता है, पाप लगता है, इससे छूटेगा और वेद विहित कर्म जो युद्ध है उसे करेगा। वही तेरा यज्ञ है। वह तेरी साधना होगी। समय पाकर कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाएगा। जन्म-मरण से छुट्टी पा जायेगा।

यह यज्ञ का प्रसंग यहाँ पर समाप्त हो जाता है। हमने देखा कि ब्रह्मार्पण के पारस पत्थर से छूकर कर्ममात्र को यज्ञ बना दिया और समूचे जीवन को यज्ञमय बनाने का रहस्य खोल दिया। युद्ध भी यज्ञ हो जाता है इस भावना के जगने से। यज्ञमय हो जाना ही जीवन का साफल्य है। स्वार्थी जीवन, भावनाहीन जीवन तो जीवन का निराकरण है, जीवन को खो देना है।

आगे हमें ज्ञान की चर्चा मिलेगी। इन यज्ञों में 'ज्ञानयज्ञ' श्रेष्ठ है, यह बात हमें नये प्रसंग पर ले जाती है। हमें पता चल जायेगा कि क्यों श्रेष्ठ है और ज्ञानयज्ञ वास्तव में है क्या? क्या यह ज्ञानयज्ञ कर्म का विरोधी तो नहीं,

यह भी हमें जानने को होगा। विस्मय होता है यह जानकर कि शब्दों को पकड़कर लोगों के द्वारा गीता की कितनी खैंचातानी की गई है?

कर्म-ब्रह्मार्पण-योग में ज्ञानयज्ञ की चर्चा क्यों? ब्रह्मार्पण-कर्म यज्ञ होता है। वह यज्ञ भावना पर आश्रित है और वह ज्ञान पर। हमारा ज्ञान हमारी भावना का निर्णायक होगा और हमारी भावना हमारे यज्ञ की कोटि की।

दूसरा, यह कर्म-ब्रह्मार्पणरूप यज्ञ आखिर ले किधर जाता है? ब्रह्म प्राप्ति की ओर। वह क्या कुछ बाह्य प्राप्ति है? नहीं, वह प्राप्ति तो ज्ञानरूपी है। अस्तु।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥33॥

'हे वीर! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। हे अर्जुन! (आखिर) सारा कर्म समग्ररूप से ज्ञान में जाकर पूरी तरह से समाप्त हो जाता है'॥33॥

द्रव्यमय यज्ञ जो द्रव्य से किया जाए। जो बिना विशेष बाह्य उपकरणों के हो ही न सके। अग्निहोम आदि यज्ञ तो बिना ईंधन, घी आदि के हो नहीं पाते। वह द्रव्यमय यज्ञ है।

ज्ञानमय यज्ञ वह है जिसमें बाहर कुछ करना धरना विशेष नहीं। जो जीवन क्रम चलता है सो वैसा ही चलता है। भीतर दृष्टि को बदल देने से, भावना के परिवर्तन से वही कर्म-कलाप यज्ञ हो जाता है। उस यज्ञ के लिए बाह्य निर्भरता नहीं। समय भी तो नहीं चाहिए और पल्ले में कौड़ी भी न हो तो भी हो जाता है। ऐसा अद्‌भुत यज्ञ इसमें ज्ञान की ही प्रधानता है, समझ ही एकमात्र साधन है इस यज्ञ का।

ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है द्रव्यमय यज्ञ से। क्यों श्रेष्ठ है? पहले तो करने में सुगम, दूसरे प्रभाव में बली। करने में तो सुगम है पर प्रभाव में कैसे बली है? आखिर कर्म व्यक्ति के भीतर जागृति का साधन ही तो है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये कर्म होता है और वह तो बोधात्मक होती है। बाह्य यज्ञ तो भीतर की भावना को जागृत करने के लिए है। वह जग जाती है तब सभी कर्म ही यज्ञ हो जाते हैं। फिर क्या आवश्यकता रहती है बाह्य यज्ञ की। जब तक प्रभु को हम मूर्ति के बिना प्रतीत नहीं कर पाते तभी तक तो उसे अवलम्बन

की आवश्यकता होती है और अपनी भेंट देने की। जब वह तन में, मन में, नैन में रम जाता है तब 'वाको कहा सन्देश।'

इस प्रकार से यज्ञ का साधन स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है। इस साधना में भावना ही सर्वेसर्वा है। बिना भावना के ब्रह्मार्पण कुछ भी नहीं हो पाता। बिना भावना के दिये फूलों को भगवान् नहीं लेते हैं। जितनी ऊँची और प्रबल भावना होती है, उतना ही हम प्रभु के समीप पहुँच जाते हैं, भावना के जग जाने पर सामान्य कर्म ही भावना के वाहक हो जाते हैं, अतः विशेष कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती। वह छूटते जाते हैं, जैसे प्रेम-भक्ति के जगने पर वैधि-भक्ति अनावश्यक होकर स्वतः निष्प्रयोजन हो जाती है वैसे ही। भावना तो ज्ञान ही है हृदयगत जगा हुआ। ज्ञान जब हृदय को प्रभावित करता है तो भावना जगती है। कर्म द्वारा जगी हुई भावना ज्ञान को प्रकट भी कर देती है। बाह्य कर्म धीरे-धीरे भावना जगाता है। निष्ठा का परिपाक होता है। निष्ठा से किया कर्म भीतर निर्मल कर देता है। जग जाता है इस प्रकार से ज्ञान का दीपक। कर्म के अवलम्बन की आवश्यकता ही नहीं रहती। खाना पीना भी ब्रह्मयज्ञ हो जाता है, ब्रह्मार्पणयोग हो जाता है।

इस प्रकार से इस पथ का पथिक बाह्य कर्मरूपी अवलम्बनों से मुक्त होता हुआ यज्ञमय जीवन में प्रवेश कर जाता है। कालान्तर में ज्ञान का दीपक जग उठता है। वही मूल सूत्र 'ब्रह्मार्पण ब्रह्म हविः' उसके लिये घटित हो जाता है।

और उस बोध के जगते ही कर्म कर्म नहीं रहता, अकर्म हो जाता है। साधक कर्ता नहीं रहता, अकर्ता हो जाता है। कर्म का कर्मत्व ही समाप्त हो जाता है ज्ञान के जग जाने पर। यह है कर्म की परिसमाप्ति, पूर्णरूपेण समाप्ति। बाह्यरूप से तो कर्म की परिसमाप्ति असम्भव है। भगवान् स्वतः ही श्रीमुख से कह चुके हैं (3,5)। कर्म के स्वरूपतः संन्यास का प्रश्न ही नहीं उठता, यह हम पीछे लिख ही आये हैं। इस योग में उसके लिए जगह नहीं है और वह ज्ञान कैसे पाया जाता है?

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥34॥

'तू उस ज्ञान को प्रणिपात से, परिप्रश्न और सेवा से जान। तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे'।।34।।

क्या यह कोई न्यारा ज्ञान है जिसकी प्रभु चर्चा कर रहे हैं? या वही है जो कर्म-ब्रह्मार्पण-योगी को सिद्धि में प्राप्त होता है?

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।35।।

'हे पाण्डव! जिसे जानकर तू इस प्रकार से फिर मोह को प्राप्त नहीं होगा। जिस ज्ञान से तू समूचे रूप से भूतों को अपने में देखेगा और मुझ में देखेगा'।।35।।

कर्म-ब्रह्मार्पण-योग की सिद्धि तो सभी कुछ ब्रह्ममय कर देती है। उसके लिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अनुभव में आ जाता है। यह ज्ञान है जिससे व्यक्ति सभी भूतों को अपने में और प्रभु में देखता है। आगे छठे अध्याय में फिर हमें ज्ञान के स्वरूप का परिचय मिलता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।6/29।।

और यह ज्ञान समदर्शन है। समदर्शी योगी परमयोगी है। (6/12)

जो ब्रह्मदर्शी है, जिसके लिए सभी ब्रह्ममय है, ब्रह्म ही है, वह तो समदर्शी है ही। इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं। जिसके लिए सभी ब्रह्म हो गया है वह तो सम देखता ही है। उसमें विषमता की सम्भावना ही नहीं।

और ऊपर 35वें श्लोक में भी यही बात कही गई है अर्थात् सभी भूतों को आत्मा में देखेगा और मुझ में देखेगा। कैसे? आत्मा को प्रभु में देखने से सभी भूत भी तो प्रभु में ही दीखेंगे। सभी कुछ ब्रह्म में अर्थात् ब्रह्ममय दीखेगा, सभी कोई उसमें दीखेंगे। तू अपने को भी और इन सभी को मुझ में देखेगा।

वह ज्ञान तो एक ही है। जो ज्ञान कर्म-ब्रह्मार्पण-योगी को प्राप्त होता है और जिसकी यहाँ चर्चा है वह अलग ज्ञान नहीं है। वह है बुद्धि से परे, अहं से परे की जागृत चेतना। यह बौद्धिक ज्ञान तो है नहीं, यह ज्ञान तो दर्शन है, यह ज्ञान अनुभूति है, यह ज्ञान प्रभु को पाना है। इसके विषय में इसी

अध्याय में आगे चलकर भगवान् तो स्वयं कहते हैं कि योग में संसिद्ध हुआ व्यक्ति समय पाकर इस ज्ञान को अपने में प्राप्त कर लेता है (38)। अतः यह ज्ञान कोई न्यारा ज्ञान नहीं है। वही है जो सिद्ध कर्मयोगी का सम्यक् बोध है। (24)।

सभी कर्म इसी ज्ञान में आकर समाप्त हो जाते हैं। इस ज्ञानरूपी सिद्धि के प्राप्त होने से कर्मत्व की समाप्ति हो जाती है। कर्म नहीं रहता, वह पूर्णरूपेण अकर्म हो जाता है।

परन्तु उस ज्ञान को पाने के लिए अर्जुन को आदेश कैसा? और क्या केवलमात्र उपदेश का श्रवण करने से अर्जुन उस स्थिति को लाभ कर सकता था? क्या इस ज्ञान का कर्म-ब्रह्मार्पणयोग की साधना में भी कोई स्थान है? इसका इतना ही स्थान दिखाई पड़ता है कि यह साधक का लक्ष्य है। लक्ष्य का भली प्रकार से बोध होने से व्यक्ति को दिशा भ्रम नहीं होता। उसे विश्वास होता है अपने ठीक चलने का। जो ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त हो सकता है वह तो साधनरूपी ज्ञान ही है। उसे निष्ठा कहा जाता है। हम भगवान् के विषय में सुनते हैं, सुनकर मनन करते हैं। एक भावना जागती है। फिर एक निष्ठा बन जाती है। जीवन लगाया जा सकता है प्रभु के चरणों में। इसी प्रकार से इस ज्ञान को सुनने तथा मनन करने से व्यक्ति में कर्म को भगवान् के प्रति समर्पण करने की निष्ठा जगती है। वह अज्ञान जो उसके भीतर भ्रम जागृत करता था वह दूर हो सकता है और व्यक्ति दृढ़ता से अग्रसर हो सकता है इस योग के मार्ग पर। यही इस ज्ञान की उपयोगिता है। यह बात 35वें श्लोक में कही गई है।

कैसे दूर हो जाता है वह भ्रम? इस ज्ञान के लाभ से तुम्हें भूतों में जो परस्पर वैविध्य दीखता था, जो मौलिक अनेकत्व की प्रतीति होती थी, जो जन्म-मरण को बहुत बड़ा दिखाती थी, सो मिट जायेगी। सभी भूत आत्मा में दीखेंगे। तुम अपने को किसी से अलग प्रतीत ही न कर पाओगे। मानो सभी तो तुम में निवास करते हैं। तुम से बाहर कोई भी नहीं। फिर जीवन तथा मरण, संयोग तथा वियोग, हानि और लाभ यह सभी तो खेल रह जावेंगे। यह सभी और अपने आप को भी तुम मुझ में – भगवान् में – देखने लगोगे। यह सभी प्रभु-मय हो जावेगा। फिर मैं ही मैं रह जाऊँगा। मैं ही जीवन होऊँगा तेरे लिए और मैं ही मृत्यु भी। सुख-दुःख, हानि और लाभ

मैं ही हो जाऊँगा। फिर इस प्रकार के मोह के लिए गुंजाइश कैसे? भ्रम का मूल जो अविद्या है, जो मन्दबुद्धि की जननी है वह इस अवस्था में, इस ज्ञान की ज्योति के जग जाने से समाप्त हो जाती है।

वह जो पर्दा था बीच में अब न रहा
न रहा पर्दे में अब वह पर्दानशीं।

'वह जो बीच में पर्दा था वह हट गया और उस पर्दे में छिपा हुआ जो था प्रकट हो गया'। यह गीता का स्वत:सिद्ध अद्वैत है। इसे सिद्ध करने के लिए तर्क के आश्रय की आवश्यकता नहीं, यह तो सत्य है ही। प्रभु का कथन है। कर्म ही योगसिद्धि है। यह अनुभवगम्य है।

इस बात को बुद्धि से समझा तो जा सकता है। यदि समझ में आ जाये तो बुद्धि में होने वाली परेशानी का इलाज हो जाता है, भले ही वह टिकाऊ न हो। वह टिकाऊ तो उस अवस्था को स्वयं भीतर पा लेने से ही हो सकता है।

अपने में देखना और प्रभु में देखना थोड़ा अन्तर रखता है। आत्मभाव के खिलने से व्यक्ति को सभी कुछ उसी में है ऐसी अनुभूति होने लगती है। अपने से किसी को अलग प्रतीत नहीं करता। इसके उपरान्त जगती है दूसरी अनुभूति। अपने से परे भागवती सत्ता की प्रतीति होती है। उसमें आपा भी लीन हो जाता है और सारी सृष्टि भी। प्रभु ही रह जाते हैं। वह परम अद्वैत है, प्रेम का अद्वैत है। वह अनन्यभक्ति से लभ्य है। इसे ही तो गीता प्रवेश कहती है। व्यक्ति उसमें समा जाता है। उसका व्यक्तित्व भी उसी का रूप हो जाता है, प्रभु के व्यक्तित्व में समा जाता है। यह अद्वैत सभी कुछ को मिटाता नहीं, पर मिटाये बिना ही ऐसा अखण्ड अद्वैत-भाव प्रकट करता है कि दूसरा रहता ही नहीं, रह सकता ही नहीं। प्रवेश से व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता, व्यक्तित्व रहते हुए भी नहीं रह जाता। अलौकिक है वह अवस्था। जैसे कर्म रहते हुए भी कर्म नहीं रहता, ठीक ऐसे ही व्यक्ति रहते हुए भी नहीं रहता और नहीं रहते भी रहता है।

यह ज्ञान है जिस ज्ञान से मोह का विनाश हो जाता है। गीता इसे सिद्ध करने के लिये माया का आश्रय नहीं लेती है, ऐसा समझ में आता है।

तो यह ज्ञान प्राप्त कैसे हो? भगवान् रास्ता बताते हैं (34)। तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे उपदेश करेंगे इस ज्ञान का। ज्ञानी, जो ज्ञानवान् है। जिसने सुना है,

सोचा है और समझा है। गीता के 7वें अध्याय (16,17,18) का ज्ञानी इसी कोटि का है, ऐसा ज्ञानी साधक है। अनेक जन्मों की साधना, निष्ठायुक्त कर्मयोग के द्वारा वह प्रभु को प्राप्त करता है (7/19)। उसे अभी दूसरे को उपदेश देने की सामर्थ्य नहीं है।

जो तत्त्वदर्शी हो गया है वह ज्ञानी ही उपदेष्टा बनता है। तत्त्व-दर्शन है तत्त्व को स्वयं प्रत्यक्ष करना। जो वास्तविकता है जब हम उसे स्वयं अनुभव कर लेते हैं, जब ज्ञान बुद्धि तक ही सीमित नहीं रहता, किन्तु हमारी आत्मा की अनुभूति हो जाता है, जब वह तर्क पर आश्रित बोध नहीं होता तथा उससे परे की चेतना की जागृति होती है, तब होता है तत्त्वदर्शन। इसे ही साक्षात्कार कहते हैं – ऐसे ही लोगों को साक्षात्कृत-धर्मा कहा जाता है। जिसने सिद्धि प्राप्त की है वह तत्त्वदर्शी है। अर्थात् जो साधना के द्वारा भीतर पूरी तरह से जग चुका है।

तत्त्व-दर्शन साधना की सिद्धि है। साधनारूपी वृक्ष का पका हुआ फल है। यह क्षणिक लाभ नहीं, यह आकर जाने वाला नहीं। यह वह सहज स्थिति है जो जगी हुई, बढ़ते-बढ़ते व्यक्ति को पूरा लपेट लेती है। दूसरी अहमाश्रित चेतना इसमें लुप्त हो जाती है। यह विकास-क्रम की एक ऊँची श्रेणी है।

जो तत्त्वदर्शी ज्ञानी हैं वे उपदेश करेंगे।

कैसे प्राप्त होता है उपदेश? तीन साधन हैं – प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा। प्रणिपात है खूब झुक जाना। पड़ जाना पांवों में। जिसे कहते हैं द्वार पड़ी हूँ – आश्रित हूँ, शरण में आई हूँ। विनय तो इसका बहुत पतला सा रूप प्रतीत होता है। प्रणिपात ऐसा विनम्र आग्रह होता है जो हिला देता है गुरु का दिल और वह स्वीकार कर लेता है शिष्य को। इस स्वीकृति के बिना तो कुछ प्राप्त ही नहीं होता।

पुराना तरीका यही था। प्रार्थना करनी होती थी स्वीकृति के लिए। आज भी करनी होती है। जब तक व्यक्ति को झुकना नहीं आता वह क्या सीख सकेगा। अध्यापक तो हमारे नौकर होते हैं, हमने मास्टर लगाया है, इस भावना से तो अध्यात्म के क्षेत्र में हाथ कुछ नहीं लगता। पोथी पढ़ने से ही यह ज्ञान प्राप्त होता तो भगवान् इतनी मांग न करते शिष्य से। पोथी का ज्ञान बुद्धि को उलझाता है। वह तर्क का तन्तु खिंचता ही चला जाता है और

व्यक्ति एकनिष्ठ नहीं हो पाता। दूसरे, वह बुद्धि के द्वारा स्वयमुपार्जित ज्ञान तो बुद्धि के स्तर का ही खिलौना होता है। वह वाचा वेदान्त होता है जो जीवन की निष्ठा नहीं, बुद्धि का 'निश्चय' होकर ही रह जाता है। यदि बुद्धि से परे की जागृति का बीज पड़ जाये, तब जग सकती है निष्ठा, तब मिल सकता है साधन। तब किसी दिन साधन का वृक्ष फलित हो पाता है।

यदि पोथी का ज्ञान ही तुष्टि देता तो क्या ज्ञानी की वाणी भी काफी न होती। भगवान् तो तत्त्वदर्शी ज्ञानी से उपदेश ग्रहण करने का निर्देश करते हैं।

अत: आवश्यक है प्रणिपात – पूरी तरह से अपने मान को मिटा देना गुरु के चरणों में। हमारा अभिमान ही हमारी ग्रहणशीलता का दुश्मन होता है। 'मैं जानता हूँ, मैं उससे अधिक समझता हूँ। मेरा अनुभव तो बहुत विशाल है, मेरी जानकारी कहीं बढ़ी चढ़ी है। हाँ, वह आध्यात्मिक विषय को अधिक जानते हैं।' ऐसा सोचने से भी काम नहीं चलता है। पथ-प्रदर्शक को समग्ररूप से स्वीकार करना होता है? वह हो पाता है प्रणिपात से। बाहर का झुकना भी कोई झुकना होता है? वह तो ड्रामा हो जाता है बहुत बार। झुकने में भी झुकने का अभिमान होता है। भीतर का झुकना क्या होता है, यह तो अनुभवी ही जानता है।

बिना इसके ऊपर से स्वीकृति होने पर भी भीतर से स्वीकृति नहीं होती, शिष्य को भ्रम होता है कि वह स्वीकृति है।

क्यों है प्रणिपात की इतनी प्रधानता? क्योंकि जो हम चाहते हैं वह बुद्धि की चीज नहीं। वह बिना उसे रखने वाले व्यक्ति के कहीं मिल नहीं सकती। उसका पेटेण्ट निकाला ही नहीं जा सकता और उसके बिना भीतर की ऊँची सम्भावनाओं का क्षेत्र नहीं खुलता। वह न दिखने पर भी सूक्ष्म देन होती है। प्रणिपात हममें उसे ग्रहण करने की योग्यता जगाता है। गड्ढा खोद देता है जिसमें पौधा लगाया जा सके।

दूसरा काम – परिप्रश्न। प्रश्न सवाल होता है, परिप्रश्न होता है – सवाल के उत्तर पर जो सवाल होता है। भीतर कोई सन्देह छिपाकर नहीं रखने चाहिएँ। जो भी तर्क-वितर्क-कुतर्क जगते हैं उन सबकी निवृत्ति कर लेनी चाहिए। जब हम अपने को बड़ा समझते हैं, तो पूछने में डर लगता है। 'शायद मुझे मूर्ख समझेंगे। मेरा प्रभाव जाता रहेगा।' ऐसा सोचने वाला अभी

झुका ही नहीं है वास्तव में। कभी संकोच से अथवा भय से भी मुंह नहीं खुलता। वह भी मिटाना ही चाहिए। मिटाये बिना काम न चलेगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यर्थ का आग्रह हो। परिप्रश्न में समझने की इच्छा प्रधान होनी चाहिए, तार्किकता नहीं। बिना विनीत जिज्ञासा भाव के तो व्यक्ति व्यर्थ में अपना तथा दूसरे का समय ही खोता है। जितना जानना आवश्यक है उतने से सन्तोष भी करना चाहिए क्योंकि सभी कुछ तो एक दम से जाना नहीं जा सकता। साधना स्वयं समझ को खिला देती है।

तीसरी है – सेवा। पुराने समय में कुछ सीखने के लिए गुरुगृह में रहना होता था। गुरु की सेवासुश्रूषा करनी होती थी। सेवा करते-करते जब व्यक्ति तैयार हो जाता था तभी उसे उपदेश दिया जाता था। पास रहने से एक तो गुरु उसका भली प्रकार निरीक्षण कर सकता था, उसके जीवन को नये ढांचे में ढाल सकता था। धीरे-धीरे अपनी समीपता के प्रभाव से ऊँचे वातावरण से वह निर्मल हो जाता था, ग्रहणशील हो जाता था। भीतर वाला भी श्रद्धा से झुक जाता था। तब उसको दिया उपदेश जल्दी ही फलित होता था। तब वह स्वतन्त्ररूप से साधना करने के योग्य हो जाता था। गुरुगृह से उसे छुट्टी मिल जाती थी।

यह बहुत उच्चकोटि का उपाय है इसमें कोई सन्देह नहीं। यह सहज सत्संग का तरीका है। सत्संग वाणी से ही तो नहीं होता है। जो वास्तव में महत्त्व की बात है वह है समीपता और ग्रहणशीलता। सेवा के बहाने दीर्घकाल तक सत्संग हो सकता था।

ज्ञान तो जीवन के प्रति दृष्टिकोण को ही बदलना है। क्रमशः जीवन को बदल डालना है भीतर तथा बाहर।

इतना हमें और कहना है कि गीता का ज्ञान वह कोरा अद्वैत नहीं है जिसमें भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं। वह अनिर्वचनीयता की अथवा खण्डन की परम्परा भी नहीं प्रतीत होती। वह तो जीता जागता ब्रह्म का, पुरुषोत्तम का, सगुण-निर्गुण भगवान् का बोध है जो भक्ति का और कर्म का आश्रय बनता है। वही तो कर्म-ब्रह्मार्पण-योग का आधार है। वही अवतारोपासना वालों को भी प्राप्त होता है (10/9-11)।

उस ज्ञान की महिमा का वर्णन किया है आगामी श्लोकों में जो इतनी मेहनत से मिलता है, वह है भी मूल्यवान्।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥36॥

'चाहे तू पापियों में सबसे बड़ा पापी क्यों न होवे ज्ञान की नौका से ही सभी पाप को पूरी तरह से तर जायेगा'॥36॥

पाप-नदी को पार करने के लिए ज्ञान सुदृढ़ नौका है। बड़े से बड़ा पाप भी क्षीण किया जा सकता है ज्ञान के द्वारा।

अर्जुन युद्ध में पाप-परम्परा को देखता था। भगवान् ने उसे बहुत समझाया। कई प्रकार से निष्ठा जागृत करने की चेष्टा की। स्वधर्म का रास्ता बताया। कर्म-ब्रह्मार्पण-योग कहा। अब कहते हैं 'जा, जाकर सेवा कर किसी तत्त्ववेत्ता की और ज्ञान को सीख, उस ज्ञान से तू पाप-परम्परा को तैर सकता है।' भगवान् का प्रयोजन कदापि यह न था कि अर्जुन युद्ध को छोड़कर किसी गुरुगृह में सेवा करे ज्ञान को पाने के लिए। गुरुओं के गुरु तो वह स्वयं थे, सर्वसमर्थ थे। यह सब तो ज्ञान के महत्त्व को बताने को कहा और ज्ञान का महत्त्व उस साधना के महत्त्व को बताने के लिए जिसकी चर्चा भगवान् करते चले आ रहे हैं। लौट फिरकर वहीं पर ले आते हैं अर्जुन को।

उपदेश करते हैं 'कर्म के योग का अवलम्बन ले'। ज्ञान पापों को नष्ट करता है, घोरातिघोर पाप भी ज्ञान के सामने नहीं टिक पाता।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥37॥

'हे अर्जुन! जिस प्रकार से प्रचण्ड हुई आग लकड़ियों को भस्म कर देती है इसी प्रकार से ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है'॥37॥

उदाहरण देकर समझाने की चेष्टा की है। जैसे आग लकड़ियों को भस्म करती है ऐसे ही ज्ञान की अग्नि कर्मों को भस्म करती है। ऊपर के श्लोक में तो कहा था कि पापों को पार कर लेगा, यहाँ कहा सभी कर्मों को भस्म करती है। सभी कर्मों में पाप भी आते हैं और पुण्य भी।

तो कैसे भस्म करती है? स्वरूपतः कर्म का अभाव हो नहीं सकता, यह हम जान चुके हैं। अतः कर्मों को छुड़ाकर तो छुट्टी दिलाई नहीं जा सकती। दूसरा तरीका है कर्म को अकर्म बना देने का। ज्ञान व्यक्ति के कर्मों को

अकर्म बना देता है। न कर्त्तव्य रहता है न कर्म लिपायमान होते हैं। न पाप रहता है न पुण्य रहता है। कर्म का संस्कार बनता ही नहीं। वह देखने मात्र को होता है, जैसे भुना बीज नहीं उगता, ऐसे ही ज्ञानी का कर्म भी फलवान् नहीं होता।

ज्ञान कैसे कर्म को अकर्म बना देता है?

सभी कुछ ब्रह्ममय देखने से अहंकार की निवृत्ति होती है। अहंकार के अभाव में कर्तृत्व नहीं हो सकता। कर्तृत्व के अभाव में कर्म नहीं, अकर्म होता है।

यह साधना है। इस ज्ञान में प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करता हुआ व्यक्ति कर्म कर सकता है। समर्पण की भावना को जागृत रखता हुआ भी कर्म कर सकता है। जैसे-जैसे भीतर ज्ञान का स्रोत खुलता जायेगा; कर्म का अभाव होगा, अकर्म होने लगेगा। व्यक्ति में नए संस्कारों का निर्माण तो होगा नहीं, धीरे-धीरे पुराने संस्कार क्षीण होते चले जावेंगे। इस प्रकार से व्यक्ति कर्म से बिल्कुल छुट्टी पा जायेगा।

पाप की नदी से पार हो जायेगा। उसके कर्म दग्ध हो जायेंगे, वह बन्धन से रहित हो जायेगा।

कर्मब्रह्मार्पणयोग की सिद्धि ही इस साधना का आधार है। यह साधना प्राप्त होती है 34, 35वें श्लोकों में कहे साधन से। इसका स्वरूप भी है ज्ञानयुक्त होकर कर्म करना। यह अगले अध्याय का विषय है। यही कर्म संन्यासयोग है।

किस प्रकार से कर्मयोग अपने रूप बदलता हुआ दिखाई देता है? भगवान् साधना का अनन्य भण्डार अर्जुन के सामने खोलते चले जाते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥38॥

'और कुछ भी इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र नहीं है। योग में भली प्रकार सिद्ध हुआ (व्यक्ति) स्वयं ही उसे (ज्ञान को) समय पाकर अपने में ही पा लेता है'॥38॥

ज्ञान की स्तुति में श्लोकार्ध और कहा। ज्ञान को इस श्लोक में पवित्रतम कहा है। इसके बराबर कुछ भी पवित्र नहीं। भगवान् का बोध तो परम पावन

है ही। जिस ज्ञान से प्रभु पाये जाते हैं, जिसे पाकर व्यक्ति हमेशा के लिये निर्मल हो जाता है, पाप के स्पर्श की सम्भावना से अतीत हो जाता है, भला उससे पवित्र क्या होगा?

कर्म से पवित्र है ज्ञान। बिना ज्ञान के कर्म तो बन्धन का कारण होता है अर्थात् बिना ऊँची निष्ठा के कर्म के द्वारा बन्धन ही तो होता है। कर्म की समाप्ति जाकर ज्ञान में ही होती है।

भक्ति? यह ज्ञान और भक्ति एक ही रूप हैं। ज्ञानी ही तो परम भक्त है। ज्ञान का ही भावमय स्वरूप भक्ति होती है। भक्ति का प्रेमाद्वैत ही तो ज्ञान है। ऊपर भी तो कहा है कि बुद्धिगत बोध तो पर्याप्त नहीं। ज्ञान तो तभी सच्चा ज्ञान है जब बुद्धि से परे की चेतना जग जाये। प्रभु ने कहा –

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥7/17॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥7/18॥

'यह सभी उदार हैं। (परन्तु) ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। वह मुझसे युक्त आत्मा सर्वोत्तम गति स्वरूप मुझ पर ही टिका है॥7/18॥

अतः ज्ञान तो भक्ति ही है। ज्ञानी तो भक्त ही है। जो प्रभु को जानता नहीं, वह भक्त कैसा! भक्ति अन्धी नहीं होती, उसकी आँखें दिव्य होती हैं। वह भ्रम के, मोह के, अन्धकार के पार देख सकती है। वह सन्देह से परे अटल निष्ठारूप होती है। उसका आधार होता है अनुभवी सन्तों का उपदेश।

प्रभु ने कैसी समझ पैदा की है। ब्रह्म विषय का ज्ञान तो भक्ति ही है। उसे जान जाये और फिर जीवन उसके अर्पण किये बिना रह सके, यह हो नहीं सकता। वह तो इतना हमारा है कि उसके हुए बिना रहा नहीं जाता।

ज्ञान भक्ति है और भक्ति ज्ञान है। कैसा अद्‌भुत समन्वय है कैसी अलौकिक दृष्टि है! कैसा उदार दर्शन है। और ज्ञान प्राप्त कैसे होता है? क्या तत्वदर्शी का उपदेश ही पर्याप्त है? तत्वदर्शी का उपदेश तो साधना का आरम्भ है। वह तो रास्ता पाने के लिए है। इसकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है योग में सिद्धि लाभ होने पर। यह योग तो वही योग है जिसकी चर्चा हो रही है। कर्मयोग अथवा कर्मब्रह्मार्पणयोग?

जैसे व्यक्ति नैनीताल की सड़क पकड़ने मात्र से नैनीताल नहीं पहुँच

जाता। ऐसे ही केवलमात्र तत्त्ववेत्ता से ज्ञान के उपदेश को लाभ कर तत्त्ववेत्ता नहीं होता, वह तो रास्ते पर आना मात्र है।

इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान कोई कोरा बौद्धिक ज्ञान नहीं, वह भीतर की ऊँचे चैतन्य की जगी हुई स्थिर अवस्था है। उसके परिणामस्वरूप सभी भूतों को आत्मा में और प्रभु में देखा जाता है, इसी से सभी कुछ ब्रह्ममय हो जाता है, उससे स्वतः दृष्टि सम हो जाती है। कर्मयोग उसी ज्ञान के लिए साधना है। इस साधना को करते-करते इसमें सिद्धि लाभ होती है। उस ज्ञान का अभ्युदय और इस साधना की सिद्धि समकालीन है।

कर्मयोग केवलमात्र तैय्यारी है, फिर संन्यास लेना होगा, जो ऐसा सोचते हैं, वर्तमान श्लोक उनके सिद्धान्त का अपोषक-प्रतीत होता है। कर्मयोग अपने में पूरा साधन है। ज्ञान के लिए अलग से किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।

और आत्मा में ही प्राप्त होता है 'ज्ञान'। यह बाहर का ज्ञान नहीं, बुद्धि के द्वारा भीतर बसी हुई वस्तु नहीं। यह कोई निश्चय नहीं। यह आन्तरिक अनुभूति है, चेतना है।

कालेन-समय पाकर। पल भर में प्राप्त होने वाला, यह जादू का सा खेल भी नहीं है। यह तो रूपान्तर है भीतर, बाहर का। यह तो विकास क्रम में आने वाली एक आवश्यक स्थिति है।

इसी बात की पुष्टि छठे अध्याय में 27 तथा 28वें श्लोकों के द्वारा होती है। ब्रह्म-संस्पर्श भी तो यही है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति समदर्शी हो जाता है।

यह ज्ञान कब जग जाता है भीतर? कब इसकी प्राप्ति होती है भीतर, उस समय कैसी स्थिति हो चुकी होती है?

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥39॥

'तत्पर, श्रद्धावान् तथा इन्द्रियों पर अधिकार लिए हुआ व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को लाभ कर देरी के बिना (ही), परा शान्ति को लाभ करता है'॥39॥

34वें श्लोक में प्रणिपात से कहा था, वह उपदेश लाभ करने का उपाय

है। परन्तु भीतर ज्ञान की प्राप्ति होती है जब श्रद्धा जग जाती है। श्रद्धा बौद्धिक धारणा नहीं होती। वह तो किसी के प्रति जगी हुई गहरी आदर तथा प्रेम की भावना होती है। वह कोरी भावना ही नहीं, उससे बहुत प्रबल, बहुत ही स्थिर तथा बहुत ही गहरी होती है। जिसके प्रति हम श्रद्धा रखते हैं वह हममें बसने लगता है। हम जुड़ जाते हैं उससे। श्रद्धा भीतर की निर्मलता से पुष्ट होती है, श्रद्धा की सम्भावना विश्वास की एक स्थिति की सूचक है। वह एक महान् रचनात्मक सामर्थ्य है।

किसके प्रति श्रद्धा? भगवान् के प्रति श्रद्धा और किसके प्रति श्रद्धा? ज्ञान के प्रति श्रद्धा? ज्ञान के प्रति श्रद्धा का तो कुछ अर्थ नहीं। क्या ज्ञान बोलता है? क्या वह हमारे प्रेम को स्वीकार करता है? क्या भगवान् का ज्ञान ही नहीं है ज्ञान? प्रभु के प्रति श्रद्धा जग जाने पर ही उसका बोध होता है। उसकी चेतना की प्राप्ति होती है। प्रभु प्राप्ति ही तो ज्ञान-प्राप्ति है।

अनन्य भक्ति ही उपाय है उसको लाभ करने का – श्रद्धा उसी की सूचिका है।

'तत्पर' – वही जिसके जीवन का मुख्य ध्येय हो गया है। उसी के लिये जीता है। प्रभु के लिये, ब्रह्म के लिए, ब्रह्म प्राप्ति के लिए। ज्ञान के लाभ के लिए।

यह ज्ञान कोई सस्ती वस्तु नहीं। इसका मूल्य है समूचे जीवन की बलि। जीवन में और किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा तृप्ति के लिये स्थान ही न रहे। एकमात्र वही रहे। उसी के लिए हों समूचे जीवन के व्यापार, जीवन की सूक्ष्म तथा स्थूल गति। यही तो अनन्यता होती है। इसके आये बिना लाभ नहीं होता। आँखें नहीं खुलती हैं।

*तत्पर: का अर्थ ज्ञान-पर: अथवा प्रभु-पर:। इन दो में हमें कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। दूसरा स्पष्ट ठोस अर्थ रखता है। पहले का तात्पर्य होगा साधनपर:, योग-पर:। साधना को जीवन में सबसे ऊँचा स्थान देने वाला। प्रभुपर: होने से यह तो स्वयं हो जाता है। उससे भी अधिक हो जाता है।

और तीसरा लक्षण – **संयतेन्द्रिय:।** इन्द्रिय के संयम को पाये हुए। श्रद्धा जग जाती है और अनन्यता भी आ जाती है। इतने मात्र से इन्द्रियसंयम सिद्ध नहीं हो जाता, प्राणों पर अधिकार नहीं हो जाता। श्रद्धा तथा अनन्यता मन

*पर: – वह जिसके लिए परम है।

तथा बुद्धि को संयत कर देती हैं, रूपान्तरित कर देती हैं, परन्तु उत्पाती प्राण फिर भी इन्द्रियों को विचलित करते हैं। साधन करते-करते, प्रभु की कृपा क्रमशः प्राण को भी शान्त कर देती है। फिर निश्चलता सहजसिद्ध हो जाती है। फिर भीतर स्थिर निश्चलता छा जाती है। उस स्थिर निश्चलता में उदय होता है ज्ञान के सूर्य का। जैसे-जैसे निश्चलता आती है वह उगता आता है। पहले तो वह कभी प्रकट होता है कभी छिपता है। स्थिरता नहीं होती भीतर की चेतना की। क्रमशः ऊँची चेतना स्थिर रूप से उतर आती है इस मन और बुद्धि में। ज्ञान का लाभ होता है, प्रभु की सतत प्रतीति होती है, सर्वत्र प्रतीति होती है। भ्रमों की मार से परे हो जाता है मनुष्य।

और जब ज्ञान लाभ होता है शान्ति कहीं दूर रहती है? ज्ञान तो शान्ति को साथ लाता है। वह तो दासी की तरह, छाया की तरह पीछे आती है।

वह शान्ति कैसी? पराशान्ति। जिस शान्ति में कभी विच्छेद की सम्भावना ही नहीं। सभी अशान्ति की सम्भावना, उद्वेगों की सम्भावना का नितान्त अन्त हो जाता है। अहं और उससे होने वाली विकार-परम्परा का मूलोच्छेदन होता है। यही अशान्ति के कारण होते है।

अशान्ति के कारण भीतर हैं। यही राग-द्वेष, काम-क्रोधादि, यही अहं, अशान्ति के कारण हैं। बाहरी परिस्थितियाँ तो इनको जागृत करने की निमित्त मात्र होती हैं। वह कारण नहीं हो सकतीं अशान्ति का। क्योंकि वही परिस्थितियाँ हमारे बदल जाने पर, हमारी प्रतिक्रिया की योग्यता के बदल जाने पर अशान्ति पैदा नहीं कर सकतीं। भीतर से अविकारी हो जाने पर विकार की जागृति ही कैसी? और फिर अशान्ति कहाँ से? यदि कोई भी परिस्थिति हमारे भीतर किसी प्रकार का विकार जागृत कर सकती है तो अभी शान्ति स्थायी नहीं, अभी ज्ञान का लाभ नहीं हुआ। अभी उसके दर्शन नहीं हुए, धोखा हो रहा है। जो प्रतीति है वह समग्र नहीं अधूरी है। यह कसौटी है जिस पर साधक अपनी स्थिति को सुगमता से तोल सकता है। वह कसौटी अचूक है।

इसकी नितान्त निवृत्ति होती है, विषयों का बन्धन समाप्त हो जाता है, अभाव समाप्त हो जाते हैं, भीतर की मांगें मिट जाती हैं।

वह शान्ति है जिसमें तनिक भी न कहीं से मांग है न हो सकती है। उसकी कोई सीमाएं नहीं हैं। व्यक्ति स्वयं शान्ति का स्तम्भ बन जाता है,

शान्ति का उससे प्रसार होने लगता है, रोम-रोम से।

दुनियाँ शान्ति के लिए तड़पती है और शान्ति ढूँढती है। बाहर सभी चल है, वहाँ शान्ति कहां? शान्ति का रास्ता भीतर है। जीवन को साधनामय कर देना होगा। प्रभु को लक्ष्य बनाना होगा, जीवन के द्वारा उसकी पूजा करनी होगी। एक दिन वह पराशान्ति का दिव्य द्वार स्वयं खुल जायेगा। उसके चरणों के बिना कहीं चैन नहीं है।

और जो साधना में भटकता है, उसकी गति?

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥40॥

'ज्ञान रहित, श्रद्धा विहीन और संशयशील व्यक्ति भटक जाता है। जो संशयशील है उसका न यह लोक है, न परलोक है और न (ही) सुख है'॥40॥

संशयात्मा-संशययुक्त आत्मा वाला, जिसका स्वभाव ही संशय करने का हो गया है। जो हर विषय में सन्देह करता है।

बुद्धि भी तो ऐसा मकड़ी का जाला है जिसमें फँसकर निकलना कठिन हो जाता है और यह रात-दिन काम करती है। हाँ, कइयों की बुद्धि निद्रा में भी, स्वप्न में भी सहज रहती है। इस तरह की बुद्धि* एक मुसीबत हो जाती है। एक परेशानी हो जाती है। व्यक्ति चाहता है कि न सोचे परन्तु वह रुकती ही नहीं। यह तब होता है जब बुद्धि से परे चेतना की जागृति ही नहीं होती। जब हमारी अपनी सत्ता दब जाती है बुद्धिगत चैतन्य से।

मनुष्य बुद्धिवादी होने का दावा करता है हर विषय में। बुद्धि पर ही निर्भर होने लगता है, उसे अगवा बनाता है, उससे परे किसी को जानता नहीं, उसी की जीवन में पूजा करता है। वह इस बल को पाकर भूत बनकर सिर पर सवार हो जाती है। रात-दिन विचारों की, तर्कों-कुतर्कों की मालाएं पोई जाती हैं और उधेड़ी जाती हैं। यही खेल चलता है। वह जिसे हमने दासी करके पाला था, आज गृहस्वामिनी बनकर बैठी है। हमारे लिये भी उस घर में कोई ठौर नहीं रह जाता।

यह दशा कितनी शोचनीय है, इसका बिना अनुभव के अनुमान हो ही

*अर्थात् संशययुक्त बुद्धि

नहीं सकता। इसका अन्तिम परिणाम या तो नर्वस 'ब्रेक' डाउन में निकलता है या पागलखाने में निकलता है, हर ओर से विष का, शत्रु का, मृत्यु का भय सवार रहता है सिर पर। व्यक्ति अपना जीवन बरबाद कर देता है अपने ही हाथों। यह बुद्धि का व्यभिचार है और यह है उस व्यभिचार का परिणाम। यह संशयशीलता के विनाश की घोर तस्वीर है।

पर क्या संशय ही नहीं करना चाहिए? क्या सोचना ही नहीं चाहिए? आखिर भगवान् ने बुद्धि दी है, इसका उपयोग तो होना ही चाहिये।

हाँ, होना चाहिए, परन्तु ठीक उपयोग। जिस उपयोग का परिणाम है गड्ढा, वह ग़लत है। सोचना किसी निर्णय पर पहुँचने और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये होना चाहिये। सोचने के लिये सोचना और फिर सोचते ही चले जाना, यह बुद्धि का दुरुपयोग है। सोचते-सोचते व्यक्ति दिशा ही भूल जाता है। भूल जाता है सोचने का उद्देश्य। भूल जाता है कि जीवन में किसी निर्णय की मांग है, उस निर्णय के लिये सोचता हूँ। जहाँ विचारों का व्यावहारिक उपयोगिता से नाता टूट जाता है, वहाँ ही खतरा है। वह पागलपन की ओर पहला कदम है, वह विशुद्ध दर्शन खतरनाक है। उसकी कोई खूंटी नहीं, कोई बन्धन नहीं। अतः वह कहीं भी समाप्त नहीं होगा, व्यवहार हमारे विचारों की खाद हो और विचार हमारे व्यवहारों की। तभी विचारशक्ति का सदुपयोग हो सकता है, तभी संशयशीलता से बचता है। सोचना साधना के लिए जितना आवश्यक है उतना ही सोचना चाहिये। जब आवश्यक हो तभी सोचना चाहिये।

जब हम इस प्रकार बुद्धि की गति को सीमाबद्ध कर देंगे तो निर्णय लेना ही होगा, तो किसी बात पर टिकना ही पड़ेगा। फिर संशयशीलता नहीं रहती।

व्यर्थ का सोचना साधना-शक्ति का, समय का और शान्ति का हनन करना है।

इतना और, सभी कुछ बुद्धिगम्य नहीं है। बुद्धि की सीमाएं हैं। वह कुछ जान सकती है और कुछ नहीं जान सकती। कोई कितना भी कुशाग्रबुद्धि क्यों न हो, उसकी भी बुद्धि किसी क्षेत्र में गतिहीन हो जाएगी। घोड़ा कितना भी तेज क्यों न हो वह हवा में नहीं उड़ सकता। उसे चलने के लिये भूमि ही चाहिए, ठीक ऐसे ही। भगवान् के विषय में जानकारी बुद्धि का अविषय है। तर्क की यहाँ गति नहीं, इसलिए जो तर्क को आधार मानकर इधर या

उधर निर्णय करते हैं वह दोलारूढ़ रहते हैं कभी नास्तिक कभी आस्तिक। रात को एक और प्रातः दूसरा, यह सिलसिला जीवन भर भी चल सकता है तर्क की जहाँ गति नहीं वहाँ निर्णय कैसे हो? जो बे-पैंदे का लोटा है सो टिके किस तरह? पर जो बुद्धि से परे कुछ ज्ञान का साधन ही नहीं सोच सकते हैं न ही मान सकते हैं वह बेचारे लाचार हैं और उनकी वैज्ञानिकता कहती है बिना प्रमाण के मानो नहीं। प्रमाण भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये। हमें भगवान् दिखाओ तो हम मानें, ऐसे अभागों पर दया ही करनी चाहिये। उनके लिये प्रभु से सद्बुद्धि की प्रार्थना ही करनी चाहिये। उनसे तर्क न करना चाहिये, क्योंकि वही तो उनका रोग है। जीवन की कोई चोट शायद उन्हें हिला सके अपने इस दुःस्वप्न में से।

जो बुद्धि का विषय नहीं, उस विषय में तो जानकारों की बात को मानना ही होगा। सभी जानकारों के पीछे चलने से भी परेशानी हो सकती है, क्योंकि रास्ते अनेक हैं। अपने रास्ते को चुनकर, उस रास्ता दिखाने वाले की बात माननी होगी। इस विश्वास के बिना साधना न चलेगी।

संशय हमारे किये कराये पर पानी फेर देता है। प्रभु कृपा के लिये द्वार बन्द कर देता है। संशय के अभाव के लिये सोचना बन्द करना सीखना होता है। अवांछित विचारों की दृढ़ता से उपेक्षा करते जाना होता है। आज के पठित व्यक्ति के लिये संशय के पार जाना एक ऊँची घाटी है।

जो अज्ञ है, मूर्ख है, कुछ न जानता हुआ भी अपने को जानने वाला समझता है, वह मूर्ख ही होता है। न जानना तो कोई बड़ी डरने वाली बात नहीं। जो न जानता है, और न यह जानता है कि मैं नहीं जानता, उल्टा अपने को जानने वाला समझता है, वह तो बेचारा अपने द्वार को बन्द करके बैठा है। दीवार से सिर लगाये उसे धकेल रहा है। सोचता है मैं तो चला जा रहा हूँ। संशयात्मिकता मूर्खता से मेल-जोल रखती है। जो सिर झुक जाता है किसी के आगे उसके संशय तो निवृत्त हो जाते हैं। जो झुकता नहीं वही तो संशयात्मा बना रहता है। जो ज्ञानी है (अपनी दृष्टि में) भला उसमें क्या समा सकेगा? संशयात्मा होना अग्रहणशीलता का परिचायक है, संशयात्मा श्रद्धादि-रहित होता है। उसमें विचारों की ही स्थिरता नहीं है। वहाँ भावों की स्थिरता और गहराई कैसे सम्भव है? भावों की स्थिरता और गहराई के बिना श्रद्धा कैसी? प्रभु-चरणों में प्रेम कैसा? लगन कैसी? कुछ प्राप्ति कैसी?

श्रद्धारहित होना, संशयात्मा होना दुर्भाग्य है। जीवन की ऊँची सम्भावनाओं के सोते बन्द पड़े रहते हैं। जीवन नीरस होता है। किसी बात में भी तो रस नहीं। भोगों में विश्वास हो तो भोगों को ही भोगकर व्यक्ति क्षणिक सुख लाभ कर सकता है। पर जो हर विषय में सन्देह करता है, उसकी क्या गति? भोग भोगने चाहियें या नहीं चाहियें, इसी चक्कर में जीवन व्यतीत कर देता है। लोगों के विषय में संशय होता है, यह सच्चा है या झूठा है। इसी संशय के अधीन व्यक्ति समुचित व्यवहार ही नहीं कर पाता। कोई चित्र नहीं बना पाता जिसके सामने दिल खोल सके। पत्नी के बारे में संशय, पुत्र के बारे में संशय, खाने-पीने के बारे में संशय-इस डोरी का कोई अन्त थोड़ा ही होता है। यह तो बीमारी है और व्याप्त हो जाती है जीवन के हर क्षेत्र में। कहीं भी तो श्रद्धा रह नहीं पाती।

सो ऐसे व्यक्ति को संसार में भी सुख नहीं। उसकी शक्तियों के लिये कोई क्षेत्र ही नहीं खुल पाता। हृदय के भावों का कोई पात्र ही नहीं दीखता संसार भर में। हर जगह बुराई दिखाई देती है, दम्भ नज़र आता है। कष्ट दीखता है। हर काम में सन्देह होता है; अत: व्यक्ति अपने को कहीं लगा नहीं पाता। जो जीवन में दूसरों को, समाज को दे नहीं पाता वह चैन में नहीं रह सकता। जिसकी शक्तियों के लिये क्षेत्र नहीं खुलते उसे विकलता होगी। वह समूचे जीवन में तिल भर आगे न बढ़ पायेगा।

संशयात्मिकता एक भयानक रोग है। यह क्षय की भाँति भीतर ही भीतर खा जाता है।

जिसने अपने जीवन का ऐसा दुरुपयोग किया है उसका भविष्य क्या होगा? काला, अन्धकारमय। जो ऊँचा कृत्य हम करते हैं, जो प्रेम करते हैं, सेवा अथवा त्याग करते हैं, वही तो ऊँची गति का कारण होता है, शरीर छोड़ने के उपरान्त। जैसी हम श्रद्धा रखते हैं, वैसे ही लोक को तो पाते हैं।

जो श्रद्धा विरहित है उसका तो किया कराया यहीं भस्म होता है –

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥17/28॥

अश्रद्धा से किया गया होम, दिया गया दान, किया गया तप और जो भी कर्म है, हे अर्जुन! वह असत् है। न मर कर फलवान् है, न यहाँ ही। श्रद्धा से सत्कर्म करने से सन्तोष होता है, शान्ति होती है। एक प्रकार का सुख

होता है। कर्म कितना भी भला क्यों न हो, बिना श्रद्धा से करने पर सुख लाभ नहीं होता। व्यक्ति वैसा ही रूखा सा बना रहता है। सो श्रद्धा का अभाव इस लोक को सुखहीन, उत्साह-हीन कर देता है। परलोक तो अपने आप ही बिगड़ता है।

संशय से इस लोक में कुछ नहीं, परलोक भी अन्धकारमय। संशयात्मा को तो सुख हो ही नहीं सकता।

सामान्य सुख तो हमारे जीवन के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम है। जो जीवन की परिस्थितियों को हँसते-हँसते प्रभु से स्वीकार कर सकता है, वह 'परेशानी' में भी सुखी रहता है। जो डरता है दु:ख से, और बिना उसके आप ही प्राण निकालने लगता है वह अकारण ही दु:खी बना रहता है।

दूसरा, हम क्या दे पाते हैं, क्या कर पाते है, जीवन को कैसे बरततें हैं, इस पर निर्भर करता है सुख। जो खूब लगन से कार्य कर सकता है, वह काम करने से सुख पा लेता है। जो दूसरों से प्यार कर सकता है वह उस प्यार से सुख पा लेता है, जो दूसरों की सेवा कर पाता है वह उससे सुख पा लेता है।

तीसरा, हमारे दु:ख-सुख का पैमाना हमारी मांगें होती हैं। जितना हम मांगते हैं और जितना मिलता है इनके अनुपात पर हमारा सुख-दु:ख निर्भर करता है। लाख की मांग करने वाले को दस हजार की प्राप्ति दु:खमय होगी। नब्बे हजार के घाटे का दु:ख होगा? परन्तु हजार की मांग हो और दस हजार की प्राप्ति हो जावे तो अपार सुख होगा। समझदार आदमी रास्ता निकाल सकता है।

पर संशयात्मा की परेशानी तो यह है कि वह दु:खी भी नहीं होता तो सुखी भी नहीं होता। वह दु:ख सुख से परे भी नहीं है। एक विचित्र शून्य में है। जैसे बन्द कमरे में दम घुटता है, ऐसी स्थिति होती है। एक भयावह अभाव-सूनापन ही जीवन को खाये जाता है। घोर निराशा अथवा जीवन में भयंकर चोट लगने के परिणामस्वरूप भी यह स्थिति आती है जब हिल जाती है चिर स्थापित श्रद्धा। व्यक्ति संशयशील हो जाता है जीवन के ऊँचे मूल्यों की ओर से।

संशयशीलता में साधना कैसी? संशयात्मा सर्वथा दयनीय है। करुणा का पात्र है।

अर्जुन की स्थिति कैसी थी? वह भी अपने जीवन के खूंटे को खो बैठा था। वह भी 'धर्मसंमूढ़चेता' था (2/7)। उसके विषाद का मूल कारण यही था कि चिर-स्थापित क्षात्र-धर्म के प्रति जो श्रद्धा थी वह हिल गयी थी, जिसका कभी उस वीर क्षत्रिय के जीवन में महान् स्थान रहा था।

दूसरे अध्याय का 66वाँ श्लोक यहाँ पढ़ना अनुचित न होगा।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।

इस प्रसंग को समाप्त करते हुए किस परिणाम पर पहुँचते हैं भगवन्!

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥41॥

'योग के द्वारा जिसने कर्मों का संन्यास कर दिया है, जिसके संशय ज्ञान के द्वारा भली प्रकार से छिन्न हो गये हैं, जो आत्मवान् हो गया है, हे अर्जुन! उसे कर्म नहीं बांधते हैं'॥41॥

यह सारी चर्चा करके अन्त में फिर उसी नतीजे पर आते हैं कि कर्म नहीं बांधते हैं। हे अर्जुन! कर्म के द्वारा बन्धन होना अनिवार्य नहीं है। कर्म बिना बन्धन के भी हो सकता है। इसलिए तू कर्म कर। हाँ, कर्म करने का ठीक तरीका जान ले। फिर बन्धन नहीं होगा।

नैष्कर्म्य की स्थिति का फिर वर्णन करते हैं योग तथा ज्ञान की दृष्टि से। किसको कर्म नहीं बांधते?

'योगसंन्यस्तकर्माणम्' – जिसने योग के द्वारा कर्मों का संन्यास किया है। योग? कर्मयोग-कर्मब्रह्मार्पण-योग। यही तो कर्मों के त्याग का सुगम उपाय है। भगवान् में छोड़े जाते हैं कर्म। उसे अर्पण कर दिये जाते हैं। वह उसके हो जाते हैं, इसका अर्थ है जो योग की साधना के द्वारा कर्मों को प्रभु में छोड़ चुका है, जिसके कर्म सहज में ही प्रभु अर्पण होने लगे हैं, जिसका जीवन ही प्रभु-अर्पण हो गया है, उसकी यह साधना सिद्ध हुई है।

पहिले तो चेष्टा करनी होती है। बार-बार भावना करनी होती है। यज्ञेश्वर का आवाहन करना होता है पल-पल और उसके चरणों में भावना के द्वारा कर्मों की भेंट चढ़ानी होती है। फिर यह स्वाभाविक हो जाता है। यज्ञेश्वर हमारे भीतर बना रहता है, स्वतः ही हमारी कर्म की भेंट स्वीकार करता जाता है। कर्म होता ही उसकी भेंट के लिए है। तब कर्म का संन्यास हो जाता है।

यह साधना की परिपक्व अवस्था है, इससे कर्म अकर्म हो जाता है।

और कहा **'ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्'** – जिनके संशय क्षीण हो गये हैं ज्ञान के द्वारा। ज्ञान संशय का नाश करने वाला होता है। प्रकाश जैसे अन्धकार को दूर करता है वैसे ही। सम्यक् बोध के अभाव में ही तो संशय रहते हैं। जब व्यक्ति किसी की कृपा से निष्ठा को पा लेता है तो संशय के लिए गुंजायश ही कहां? जब तक समझ के आधार पर कर्म नहीं होने लगता तभी तक व्यक्ति लौटकर देख सकता है। परन्तु जब बोध को जीवन में लागू किया जाने लगता है तो मानो संशयों की कब्रें खुद जाती हैं। वह मर जाते हैं हमेशा के लिए। अनुष्ठान के बल को पाकर ज्ञान विजयी हो जाता है। इस ज्ञानप्राप्ति के साधन तो ऊपर कहे ही थे – प्रणिपातादि।

पूर्णरूपेण संशय की सम्भावना से तो परे तत्त्वदर्शी ही होता है। उससे पूर्व का बोध तो विश्वास पर, गुरु के प्रति श्रद्धा पर, भगवान् के वाक्यों पर आश्रित होता है। वह सभी हिल सकते हैं, बस चोट जबरदस्त होनी चाहिए। परन्तु जो अनुभव का ज्ञान है उसे संसार का कोई तर्क, अथवा कोई बड़ी से बड़ी चोट भी हिला नहीं पाती, जैसे रोटी खाने से भूख की निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार से अनुभूति होने पर संशय की निवृत्ति होती है। उसी अवस्था में व्यक्ति पूर्णरूपेण कर्म के बन्धनों से परे हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोपनिषद् 2-2-8)

'हृदय की गांठें खुल जाती हैं। सभी संशय विछिन्न हो जाते हैं और इसके (व्यक्ति के) कर्म क्षीण हो जाते हैं उस परावर (पारब्रह्म पुरुषोत्तम) के दर्शन होने पर।' यह उपनिषद् वाक्य है।

परमेश्वर की अनुभूति ही ज्ञान है और उसी से संशयों का मूलोच्छेदन सम्भव है। संशय की जड़ है अहंकार से भी परे – अविद्या जो इस नानात्व के मूल में है। भगवान् के दर्शन से अविद्या मिटती है; अतः संशयों की सम्भावना मिटती है। सभी ब्रह्ममय हो जाता है तो संशय कहाँ से हों, कहाँ निवास करें।

तीसरा लक्षण बताते हैं – आत्मवन्तम्। जो आत्मवान् है उसको कर्म नहीं बांधते। 'आत्मवान्' शब्द का प्रयोग अध्याय 2, 45वें श्लोक में हुआ था।

वहाँ प्रभु अर्जुन को तीन गुणों से परे, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् होने का आदेश करते हैं। गीता में अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है।

आत्मवान् – आत्मा वाला। इस आत्मा का स्वामी। इस पर पूरा अधिकार रखने वाला ही तो इसका स्वामी होगा और यह आत्मा क्या है? क्या मन बुद्धि से परे की चेतनसत्ता आत्मा शब्द द्वारा सूचित है? ऐसा नहीं। उसी के लिए तो निर्देश है कि तू आत्मवान हो जा। 'आत्मा' तो वह सत्ता है जिस पर उस अधिष्ठातृ चैतन्य का, हमारा, आत्म-स्वरूपी चेतना का, स्वामित्व स्थापित होना चाहिए। आत्मा है शरीर से अहं पर्यन्त सभी प्रकृति तत्त्वों का समुच्चय – यह देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहम्। यह सभी जो भगवान् की अपरा प्रकृति से है।

तो क्या हम आत्मवान् नहीं हैं? सामान्य स्थिति तो इसके विपरीत है। जैसे अपने को न जानने वाला शेर का बच्चा भेड़ों में भेड़ बना रहता है। वैसी नहीं, उससे भी बुरी स्थिति होती है हमारी। हम नाचते हैं इन्द्रियों के, मन तथा बुद्धि के इशारे पर। प्राणों की मांग पर अपना आपा खो देते हैं। हम तो जानते ही नहीं कि यह सारी प्रकृति हमारे लिये है, हम इसके लिए नहीं हैं। हम अपने को इसका दास समझते हैं, जब कि वास्तव में यह हमारे नौकर चाकर हैं।

यह जो आपा है यह तो साधन है विभिन्न स्तरों में अनुभव प्राप्त करने का। वह अनुभूतियाँ हमारे भीतर प्रसुप्त सम्भावनाओं की जागृति के लिए आवश्यक होती हैं। हमारे विकास के लिए अनिवार्य होती हैं। जैसे बढ़ई के पास काम करने का बसूला होता है वैसे ही यह आपा है हमारे पास। जैसे बढ़ई बसूले की सेवा भी करता है काम लेने के लिए, वैसे ही हमें इसकी सेवा भी करनी होती है अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए। परन्तु हम तो भूल जाते हैं। इस आपे को अनुभव का साधन न समझकर सुख-प्राप्ति का साधन बना लेते हैं। इस व्यभिचार के परिणामस्वरूप हम अपने स्वामित्व को खो देते हैं। इसके दास बन जाते हैं, इन्द्रियों के चेरे हो जाते हैं।

वह व्यक्ति जो इस आपे का स्वामी है, जो इसका सदुपयोग कर सकता है, जिसके निर्देश के अनुसार उसकी प्रकृति काम करती है, वह है आत्मवान्। वह आपे वाला है, मालिक है।

जो इन तीनों लक्षणों से सम्पन्न है वह कर्म के बन्धन से रहित रहता है, करता हुआ भी।

संशय होने पर, अपने पर अधिकार न होने पर अथवा कर्म त्याग न होने पर कर्म का बन्धन होगा, यह तो स्पष्ट ही हो जाता है। इसलिए अन्त में अर्जुन को आदेश देते हैं –

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥42॥

'इसलिए अज्ञान से पैदा हुए, हृदय में स्थित इस संशय को अपनी ज्ञानरूपी तलवार से काटकर योग का आचरण कर। तू उठ खड़ा हो, हे अर्जुन!'॥42॥

जैसे ऊपर लिखा था, अर्जुन के विषाद के मूल में भी तो संशय ही है। क्षात्र-धर्म के आचरण से पाप होगा, दूसरों का अनिष्ट होगा और मेरा भी – यह था उस संशय का स्वरूप। अब तक उसने कई युद्ध किये थे। कई वीरों को धराशायी किया था, परन्तु आज उसे सन्देह हो रहा है – यह पुण्य है या पाप है? करणीय है, अकरणीय है?

प्रभु कहते हैं इस संशय का कारण है अज्ञान। तू कर्म के रहस्य को नहीं समझता। इसके यज्ञमय स्वरूप को नहीं जानता। यज्ञ के अधिष्ठातृ प्रभु, मुझ को नहीं जानता, तभी तो आज सन्देह हो रहा है। संशय तेरे लिये भयावह है। तेरे इस लोक और परलोक को बिगाड़ देगा। तेरे सुख का, शक्ति का अपहरण कर लेगा।

यह संशय तो भीतर गया हुआ है गहरे में। तेरे हृदय में इसने डेरा लगा लिया है। बुद्धि तक ही रहने पर संशय विषाद का कारण नहीं होता, दिमागी उथल-पुथल का कारण होता है। परन्तु जब वह धंस जाता है भीतर हृदय को प्रभावित करता है तो सारा शरीर शिथिल हो जाता है। अंग-अंग गलने लगता है। हृदय ही तो आपका केन्द्र है। वही डूबने लगता है तो सभी डूबने लगता है, यही तो अर्जुन की दशा थी। वह तो खड़ा भी नहीं रह सकता था, 'यह संशय-रोग तेरे हृदय में बसा है।' शत्रु का निवास-स्थान भी तो बताना होता है।

इसके हनन का उपाय? अपनी ज्ञानरूपी तलवार को सम्भाल। ज्ञान ही

तलवार है। किसी की तलवार को मांगकर भी युद्ध हो सकता है, परन्तु यहाँ तो वैसा न होगा। मेरे बोध से तेरा काम चलता तो इतना कहने सुनने की आवश्यकता ही न होती। तुझे अपनी ही तलवार की धार बनानी होगी।

यह ज्ञान वही है जिसकी ऊपर चर्चा हो चुकी है। 'यह सभी प्रभुमय है। यह सभी कुछ उसी में बसता है, मैं भी उसी का ही स्वरूप हूँ। कर्म उसका पूजन ही है।'

इस तलवार से संशयरूपी शत्रु को मार डाल और योग का आचरण कर।

संशय को दूर करके समुचित निष्ठा को जागृत कर और उस निष्ठा को लेकर कर्म कर। यही तेरा युद्ध-कर्म, क्षात्र-धर्म तेरा योग है। यही तेरा प्रभुप्राप्ति का साधन है, यही तेरे कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग है, इसी के करने से तो कर्म के बन्धन से नितान्त मुक्त हो सकेगा।

'संशय को दूर कर और उठ खड़ा हो, कमर कस ले। इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता का त्याग कर। तू वीर है, वीर बन कर युद्ध कर'।

यहाँ पर यह कर्म-ब्रह्मार्पण-योग समाप्त होता है। हमने देखा किस प्रकार से ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन किया। वह ब्रह्म पुरुषोत्तम सर्व-कर्ता होता हुआ भी अकर्ता है। उसकी उपासना व्यक्ति को भी वैसा कर देती है। अकर्म के रहस्य का वर्णन किया। ब्रह्म की उपासना का उपाय है यज्ञ के लिए कर्म करना। यह व्यक्ति को ब्रह्ममय कर देता है। फिर यज्ञों का वर्णन किया। ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता कही और ज्ञान के स्वरूप का वर्णन किया और घूम फिर कर फिर उसी बात पर आ पहुँचे कि ज्ञान से संशय को दूर कर और कर्म को प्रभु के अर्पण करने का योग कर। युद्ध के पीछे समुचित निष्ठा को जागृत कर, यही तेरे लिए कल्याणकारी हो जायेगा।

किस कौशल से भगवान् कर्म-ब्रह्मार्पण के रहस्य का प्रतिपादन करते हैं यह विस्मयकर है कि वही जो कर्मयोग था, कितना विशद, व्यापक, सुगम और स्वाभाविक दीखने लगता है इस नये रूप में! कैसा सरल उपाय है! 'हींग लगे न फिटकरी, रंग भी चोखा होय'!

वही कर्म-योग जो कर्म-ब्रह्मार्पण-योग है, कर्म-संन्यास-योग के रूप में प्रकट होगा आगामी 5वें अध्याय में। प्रभु का जादूमय स्पर्श क्या लीला करता है!

॥श्री राम॥

अध्याय 5

तीसरे अध्याय का कर्मयोग चतुर्थ अध्याय में **'कर्म-ब्रह्मार्पण-योग'** बन जाता है। **'कर्म-ब्रह्मार्पण-योग', 'कर्म-संन्यास-योग'** ही है। जरा सा दृष्टिकोण का परिवर्तन, इसी योग के कर्म-संन्यास के भाव को प्रकट कर देता है। बाह्य-कर्म त्याग के बिना ही किस प्रकार से कर्मों का संन्यास हो सकता है, यह रहस्य इस अध्याय में प्रकट किया गया है। इसी कारण से इस अध्याय का नाम 'कर्म-संन्यास-योग' रखा है। इस योग में पुष्ट होते-होते योगी, किस प्रकार बदलता चला जाता है, इसका भी परिचय हमें मिल जाता है, इसी अध्याय में।

अर्जुन के प्रश्न से ही इस अध्याय का प्रारम्भ होता है।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥1॥

अर्जुन बोला –

'हे कृष्ण! तुम कर्मों का संन्यास कहते हो और फिर योग कहते हो। इन दोनों में जो एक श्रेष्ठ है, वह मुझे सुनिश्चित रूप से कहो'॥1॥

तीसरे अध्याय के आरम्भ में भी तो अर्जुन ने ऐसा ही प्रश्न किया था, श्लोक 1, 2। वह सन्देह जो दूसरे अध्याय से जगा था, वह अभी तक पूर्णरूपेण निवृत्त नहीं हुआ। अतः ऐसे प्रश्न के लिए गुंजाइश हुई।

वास्तव में संन्यास और कर्मयोग का रहस्य गहन तो है ही। बाह्य संन्यास ही प्रायः संन्यास समझा जाता है। परन्तु, बाह्य त्याग से तो संन्यास होता नहीं, भीतर नैष्कर्म्य-लाभ से ही संन्यास होता है। उसका साधन है कर्मों का योग। 'करता हुआ अकर्ता!' यह समझना अवश्य ही कठिन है।

भगवान् अर्जुन को कर्म-संन्यास का रहस्य तो बता रहे थे, परन्तु कर्मों के योग के द्वारा। इसी रहस्य के विवेचन के लिए यह प्रश्न उपस्थित हुआ है। इस अध्याय में संन्यास तथा कर्मयोग का समन्वय पूरा होता है और इस अध्याय में कर्मयोग के स्वरूप का विवेचन भी पूरा हो जाता है।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥2॥

श्री भगवान् बोले –

'संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करने वाले हैं। इन दोनों में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष (बढ़कर) है'॥2॥

संन्यास है कर्म के बाह्यत्याग का मार्ग। इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। व्यक्ति पर जो कर्त्तव्य समाज तथा परिवार का सदस्य होने के कारण लागू होते हैं, उनका परित्याग करना कर्म-संन्यास है। किस लिए? आत्म-कल्याण के हेतु, ज्ञान-प्राप्ति के हेतु, मोक्ष के हेतु। संन्यास का दूसरा नाम ज्ञान है। यह सभी अनात्म है। आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित होने के लिये, अनात्मतत्त्व का परित्याग आवश्यक है। यह है मौलिक विचार-सूत्र संन्यास के मार्ग का।

'कर्मों का संन्यास करके आत्म-चिन्तन में रत रह सकता है व्यक्ति। वह स्वतन्त्रतापूर्वक विवेक में लग सकता है। प्रपञ्च से परे होकर भलीभाँति साधनशील हो सकता है। अतः कर्मों का संन्यास तो करना ही चाहिये। सांसारिक इच्छाओं को लेकर कर्म करने से व्यक्ति बन्धन बनाता है। 'सांसारिक कर्त्तव्यों के पालन के लिए पैसा भी चाहिए, घर भी चाहिये, लोगों से सम्बन्ध भी चाहिए। यह सभी तो इच्छा करके ही होगा। इस सबके विषय में सोचना होगा। काम भी करना होगा। इससे तो बन्धन के सूत्र और भी दृढ़ होंगे।' ऐसे सोचता है, संन्यास-मार्ग पर चलने वाला।

अर्जुन के लिये संन्यास का अर्थ था युद्ध का परित्याग, छोड़-छाड़ कर जंगल में जा बसना या भिक्षान्न पर जीवन निर्वाह करना। क्षत्रिय का कर्त्तव्य है युद्ध। उसका परित्याग ही अर्जुन का संन्यास था। भगवान् ने संन्यास की चर्चा तो की थी, परन्तु त्याग के इस बाह्य-भाव को प्रकट नहीं किया था।

संन्यास शब्द ज्ञानमार्ग का पर्यायवाची है, बहुत भ्रम का कारण तो यह बात भी हुई है।

कर्मयोग के लुप्त होने के कारण नैष्कर्म्य के सूक्ष्म रहस्य को लोग भूल गये थे। संन्यास को ही नैष्कर्म्य समझने लगे हों, ऐसा लगता है।

अर्जुन पूछते हैं कि संन्यास के और कर्मयोग के मार्गों में कौन अधिक अच्छा है। भगवान् निश्चयात्मक उत्तर देते हैं। 'कल्याणकारक तो दोनों ही हैं, परन्तु कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।'

क्या विवेक के मार्ग में चलने के लिए बाह्य त्याग अनिवार्य है? ऐसा समझा जाता था कि अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि सांख्य अर्थात् विवेक के मार्ग को संन्यास कहना, इस बात का द्योतक है। क्या कर्मयोग में आत्म-अनात्म विवेक के लिए कहीं स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर हमें आगे मिलेगा। अस्तु,

'निःश्रेयसकरौ' – निश्रेयः करने वाले। सबसे बड़ा श्रेयः निश्रेयः है। इस से बढ़कर जीवन में कोई बढ़ौती नहीं हो सकती। 'जिसे प्राप्त करके और कुछ पाने को नहीं रहता' वही निश्रेयः है। इसी को परमार्थ – परम अर्थ – कहते हैं। जीवन की अन्तिम ऊँची से ऊँची सीढ़ी है, निश्रेयस्।

संन्यास के मार्ग वाले भी कल्याण को पाते हैं और कर्मयोग का अवलम्बन लेने वाले भी। बारहवें अध्याय में भी तो ऐसा कहा है – **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** – वे मुझे ही प्राप्त करते हैं।

'परन्तु इन दोनों में कर्म का मार्ग विशेष है'। कर्मों का योग संन्यास की अपेक्षा बढ़कर है। बारहवें अध्याय में भी यही कहा है और संन्यास-मार्ग की क्लिष्टता की चर्चा की है।

क्यों विशेष है? सुगम है इसलिए, अथवा कोई और कारण भी है इस विशेषता का? इसका उत्तर हमें अगले श्लोक में मिलेगा।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥3॥

'जो न द्वेष करता है, न इच्छा करता है, उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। हे वीर! निश्चित ही द्वंद्वों से रहित हुआ वह सुगमतापूर्वक, बन्धनों से भली प्रकार छूट जाता है'॥3॥

कर्मयोगी की स्थिति का वर्णन करते हैं। वह कर्म तो करता है, परन्तु द्वेष तथा आकांक्षा से रहित होकर। आकांक्षा से रहित होकर कर्म हो सकता है। आकांक्षा इच्छा ही तो है। वही बन्धन का कारण है। सामान्य व्यक्ति में कर्म के लिए प्रेरणा आकांक्षा से प्राप्त होती है। अर्जुन युद्ध कर रहे थे तो राज्य की लालसा से। इच्छा रजोगुण का रूप है। यह सचेष्ट करती है व्यक्ति को। यही बांधती है। आसक्ति का परिपुष्ट रूप इच्छा है। **'संगात् संजायते कामः'** – 'आसक्ति से कामना पैदा होती है।' कर्म नहीं बांधता, आकांक्षा बांधती है, व्यक्ति को। अतः कहा 'जो आकांक्षा नहीं करता'।

और 'जो द्वेष नहीं करता'। युद्ध जैसे कर्म में द्वेष तो स्वाभाविक है। अर्जुन का हृदय तो जल रहा था दुर्योधन के प्रति। किस प्रकार परेशान किया था कौरवों ने पाण्डवों को, यह कैसे भूल जाता। आज पाण्डव अत्यार्त होकर, युद्ध के सिवाय कोई रास्ता न देखते हुए, युद्ध के लिए तैयार हुए थे। वैसी परिस्थिति में कर्मयोगी का परिचय देते हुए कहते हैं, 'जो द्वेष नहीं करता'। साथ ही अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरणा करते हैं। स्पष्ट है युद्ध जैसा कर्म भी द्वेष-रहित हो सकता है। भगवान् स्वयं इस बात के उदाहरण थे। अर्जुन से उनका सम्बन्ध था। दुर्योधन से भी था। एक ओर वे स्वयं थे, एक ओर उनकी सेना लड़ रही थी। किसी से भी द्वेष होता तो वे उसे सहायता ही क्यों देते? यदि इसके साथ ही युद्ध द्वेष रहित होकर न हो सकता, तो अर्जुन को प्रेरित ही क्यों करते युद्ध करने के लिए।

'जो द्वेष नहीं करता' का अर्थ हो सकता है – फल से द्वेष नहीं करता। अर्थात् पराजय को भी स्वीकार कर सकता है। जय की इच्छा नहीं, पराजय से द्वेष नहीं अर्थात् हानि-लाभ में सम रहता है।

दोनों ही बातें कर्मयोगी पर लागू होती हैं। पूर्णसमत्व में दोनों का ही समावेश है। फल के प्रति समत्व होना चाहिये और व्यक्तियों के प्रति भी। वास्तव में दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। कर्मयोगी तो द्वेष की सम्भावना से ही परे हो जाता है क्रमशः। वह सभी कुछ को ऊँची दृष्टि से, सम रहता हुआ, स्वीकार करता है और सभी व्यक्तियों को भी।

जिस व्यक्ति को यह इच्छा-द्वेष रहित स्थिति प्राप्त हुई है उसे नित्य संन्यासी जानो।

जो अब त्याग करता है और फिर नहीं करता, या जो कुछ का त्याग

करता है और कुछ का त्याग नहीं करता उसका संन्यास अनित्य है। उसका त्याग तो आंशिक है। जिसने भीतर से सब कुछ छोड़ दिया है, जिसका कुछ भी पकड़ने का स्वभाव ही नहीं रहा, जिससे सभी कुछ छूटा हुआ है सदा-सदा के लिये, वह नित्य संन्यासी है। संन्यास तो उसके लिये है जिसने कुछ पकड़ा है या जो पकड़ सकता है। जिसका परिग्रह ही नहीं वह संन्यास क्या करेगा? जो द्वेष तथा इच्छा से रहित है वह तो सदा संन्यासी ही है।

द्वेष तथा इच्छा से रहित व्यक्ति की स्थिति किस प्रकार की हो जाती है? द्वेष तथा राग का जोड़ा है। राग का परिवर्धित रूप इच्छा है। राग-द्वेष से रहित व्यक्ति कुछ पकड़ता नहीं है, अतः वह कुछ छोड़ता भी नहीं। कोई चीज या व्यक्ति समीप आता है तो ठीक है, नहीं आता तो भी ठीक है। कोई कर्म हो जाता है तो भी अच्छा है, नहीं होता तो भी अच्छा है। फल अनुकूल होता है तो भी ठीक और प्रतिकूल होता है तो भी ठीक। राग-द्वेष से रहित व्यक्ति में प्रतिक्रिया नहीं होती। भीतर से परिवर्तन करने को संकल्प जागृत नहीं होता – कुछ भी परिवर्तन करने के लिये। वह सभी कुछ स्वीकार कर सकता है। वह 'समः सर्वेषु भूतेषु' भूतमात्र के प्रति सम होता है और सभी परिस्थितियों के प्रति भी।

वह जो ब्रह्म है, वह इसी प्रकार से सम है। वह सभी को पूरी जगह देता है। अपने लिये जगह नहीं रखता है। अतः सभी में व्याप्त है और सभी उसमें व्याप्त हैं। वह न दूसरों को बांधता है और न स्वयं बंधता है। वह न मांग करता है दूसरों से कि जरा सरको, न किसी की उस पर देनदारी होती है।

अतः कहा – **'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** 'सुगमतापूर्वक, बन्धन से भली प्रकार मुक्त हो जाता है।' 'जो बांधता है सो बंधता है' – यह प्रकृति का नियम है। जो प्रकृति से मांग करता है किसी प्रकार भी, उस पर मांग होती है। इच्छा मांग ही तो है। द्वेष नकारात्मक मांग है। परे हटने की मांग है। उसका परिणाम भी वही होता है, जो इच्छा का। जिस स्थिति अथवा व्यक्ति से हम द्वेष करते हैं, उससे हम बँध जाते हैं।

राग-द्वेष रहित होकर कर्म करने से बन्धन कटते हैं। संस्कारों का सुगमता से क्षय होता है। राग-द्वेष से ही तो संस्कारों का निर्माण हुआ था। राग-द्वेष युक्त होकर कर्म करने से गहरा संस्कार बनता है। उसे क्षीण करने के लिए उपाय ठीक उसका उल्टा है, राग-द्वेष रहित होकर कर्म करना। कर्म

का वेग खोद डालता है संस्कार को और व्यक्ति राग-द्वेष रहित भी कर्म करने से ही होता है। वैसा करने से रागद्वेषाश्रित संस्कार दूर होते हैं। क्रमशः राग-द्वेष की सम्भावना दूर हो जाती है, जब ऊँची चेतना जग जाती है ऐसी साधना करते-करते।

'सुखं – सुगमता से' क्यों कहा? जीवन का सारा क्रम ठीक चलता रहता है और उसी सिलसिले में ऐसा स्वतः हो जाता है। ज्ञानमार्ग पर चलने वाले का यह संस्कार कब और कैसे क्षय होता होगा? ज्ञानमार्ग पर चलने वाला भीतर सुप्त संस्कारों से अपने को बचाता हुआ, अपने को स्थिर करके, ज्ञान की चेतना जागृत करना चाहता है। जब वह चेतना लाभ हो जाती है तो क्रमशः संस्कार क्षीण होते जाते हैं। जब संस्कारों की आंधी आती है तो वह चेतना लुप्त हो जाती है और जब वह चेतना जागृत होती है तो संस्कारों पर आघात करती है। यह क्रम चलता रहता है। जब तक ज्ञान की चेतना संस्कारों को पूर्णरूपेण क्षीण नहीं कर देती और स्वयं पूर्णरूप से स्थिर नहीं हो जाती, तब तक मोह की सम्भावना बनी रहती है। कई बार भ्रमित होने की सम्भावना है। पतन के बहुत से कथानक इस बात को प्रमाणित करते हैं। उस मार्ग में संस्कार को अधिकतर सूक्ष्म में ही उन्मूलित होना होता है। वहाँ कर्म के वेग से प्राप्त होने वाली सहायता लाभ नहीं हो पाती। शारीरिक स्तर में संस्कारों के क्षीण होने का सहज साधन भी नहीं होता बाह्य संन्यास के कारण।

ऐसे व्यक्ति को 'निर्द्वन्द्व' कहा। वह द्वन्द्वों से परे है। जोड़ों के प्रभाव से अप्रभावित रहता है। सम रहता है। विषमता से राग-द्वेष की जागृति स्वाभाविक है। हानि-लाभ, मानापमान, जय-पराजय आदि जोड़े हैं। वे बाहर से होने वाले परस्पर प्रतिकूल प्रभाव हैं। यह स्थिति मानसिक (बुद्धि तथा हृदयगत) समता की सूचक है। शीतोष्ण का प्रभाव शरीर पर होता है। इनके प्रति भी तो कर्मयोगी सम हो जाता है। समत्व की चेतना के पूरी तरह से शरीर में उतरने पर प्राण में भी समता आ जाती है और गर्मी-सर्दी से अप्रभावित रहना सम्भव है ऐसा समझ में आता है। प्रकृति के प्रभाव से इस अवतरण के बिना पूर्ण छुटकारा कैसा?

कर्मयोगी इस प्रकार से नित्य संन्यासी होता है। वह तो कर्म करता हुआ भी परम त्यागी है। उसके लिए संन्यास लेने का प्रश्न ही नहीं, उसके कर्मों

का संन्यास हुआ ही है, क्योंकि वह राग-द्वेष रहित है।

सांख्ययोगौ प्रथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥4॥

'सांख्य और योग अलग-अलग हैं – ऐसा मूर्ख लोग बकते है, पंडित नहीं (कहते)। एक (मार्ग) पर भी भली प्रकार से स्थित हुआ व्यक्ति दोनों के फल को पा लेता है'॥4॥

सांख्य तथा योग वास्तव में अलग-अलग नहीं हैं। क्यों? एक निष्ठा का पूरी तरह अवलम्बन लेने से दोनों का ही फल प्राप्त कर लिया जाता है।

सांख्य-निष्ठा का फल क्या है और योग-निष्ठा का फल क्या? यह प्रश्न उपस्थित होता है। सांख्य की निष्ठा विवेक की निष्ठा है। आत्मानात्म-विवेक के परिणामस्वरूप व्यक्ति आत्मनिष्ठ हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान-प्राप्ति से संस्कार दग्ध होते हैं। समत्व आ जाता है सभी के प्रति। संस्कार दग्ध होने का अर्थ है व्यक्ति न केवल आगे के लिए राग-द्वेष से रहित होता है, अपितु विगत राग-द्वेष के बन्धन भी कट जाते हैं। तभी तो नितान्त समत्व सम्भव है। यह अवस्था सिद्ध-संयम की अवस्था है। उसमें न मनोविकारों की सम्भावना है, न बुद्धिगत वैषम्य की। अहं से अतीत है वह अवस्था। उसे ब्रह्मनिष्ठा, ब्रह्मभाव की प्राप्ति, ब्रह्मनिर्वाण भी कहते हैं।

कर्म की निष्ठा तो कर्म को साधन स्वरूप करना है। समुचित निष्ठा से किया गया कर्म प्रभु की उपासना होती है। उसका प्रभाव प्रबल होता है। वह साधक को भगवान् से जोड़ता चला जाता है, निर्मल करता जाता है। वह राग-द्वेष से रहित करता है साधक को। भगवान् की उत्तरोत्तर कृपा होती है। संस्कार क्षीण हो जाते हैं, ज्यों-ज्यों भागवती-चेतना का प्रभाव होता है। ज्यों-ज्यों संस्कार क्षीण होते हैं, वह चेतना और अवतरित होती है। इस प्रकार कर्म के साधन से निर्मल हुआ व्यक्ति, संस्कार रहित हुआ, प्रभुपद में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर नीचे लौटना नहीं होता। वह सदैव दृढ़भूमि पर चलता है। प्रभुकृपा से उसकी सिद्धि होती है। निर्मल होता जाता है और भागवती-चेतना को लाभ करता जाता है।

इन दो निष्ठाओं में साधन का अन्तर है। सांख्य-निष्ठा के अनुसार किसी तरह से भी उस ज्ञान के लाभ हो जाने पर संस्कारों का क्षय होता है।

ज्यों-ज्यों उसमें स्थिरता होती है, त्यों-त्यों क्षीण होते जाते हैं संस्कार। कर्म के मार्ग में भगवान् की कृपा क्षीण करती जाती है संस्कारों को और वह तत्व धीरे-धीरे प्रकट होता जाता है।

संस्कार का नितान्त क्षय दोनों में अवश्यम्भावी है। अहंकार से अतीत होने पर ही सिद्धि सम्भव है, भले ही व्यक्ति किसी मार्ग पर चले। समत्व भी आयेगा ही। प्रकृति का बन्धन भी कटेगा। आत्म-तत्त्व की प्रतीति भी होगी। जन्म-मरण भी छूटेगा। यह सब दोनों ही मार्गों पर होता है। इसी लक्ष्य को लेकर तो लोग साधन करते हैं।

जो लोग दोनों मार्गों पर चलने पर होने वाले आन्तरिक परिवर्तन को नहीं जानते हैं, दोनों प्रकार से सिद्ध व्यक्तियों की आन्तरिक स्थिति को नहीं जानते, वे कहते हैं कि सांख्य अलग है और योग का मार्ग अलग है। संसिद्धि-लाभ करने पर दोनों मार्गों के व्यक्ति भीतर से एक से ही होते हैं। कैसे होते हैं? यह ऊपर कहा ही है।

इसीलिये कहा है – 'बाला:' – मूर्ख लोग कहते हैं कि सांख्य और योग के मार्ग अलग हैं। वे अलग नहीं हैं। क्योंकर? 'भली प्रकार से किसी एक मार्ग पर भी स्थिर हो जाने से दोनों के फल को प्राप्त करता है।'

दोनों का फल एक ही हो, तभी तो वह दोनों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वह फल क्या है? पुरुषोत्तम धाम की प्राप्ति। 12वें अध्याय के चौथे श्लोक में निर्गुण उपासकों के विषय में भगवान् ने कहा –

ते प्राप्नुवन्ति मामेव।

'वे मुझे ही प्राप्त करते हैं'। मुझे? पुरुषोत्तम को – जिसे भक्त सगुणोपासक प्राप्त करते हैं। वह चेतना, जो एक को प्राप्त होती है, वही दूसरे को। अत: इन मार्गों के अनुयायियों में जो परस्पर विरोध है, जो एक दूसरे को छोटा-बड़ा कहने की प्रवृत्ति है वह व्यर्थ है।

वह पुरुषोत्तम अनन्त है। वह सगुण भी है, निर्गुण भी। जो पहाड़ को उत्तर से देखता है, वह भी पहाड़ देखता है और जो दक्षिण से, वह भी पहाड़ देखता है। जो मनुष्य को आगे से देखता है, वह भी मनुष्य देखता है और जो पीछे से, वह भी उसे मनुष्य ही देखता है। इसी प्रकार से उस अनन्त-भाव सम्पन्न पुरुषोत्तम के लिए कहा जा सकता है। जो निर्गुण है वही तो सगुण है। जो जिसे भावे वह उसका ही अनुसरण करे। इसी विषय

पर अधिक प्रकाश 12वें अध्याय में डाला गया है।

'सम्यगास्थितः' – भली प्रकार से जमा हुआ। यदि व्यक्ति भली प्रकार से जम जायेगा किसी मार्ग पर, तभी तो लक्ष्य की प्राप्ति होगी, अन्यथा कुछ हाथ न लगेगा। भली प्रकार से रास्ते पर जम जाना ही साधना की बड़ी बात है। बिना इसके कुछ भी न बनेगा, भले ही किसी मार्ग का अनुसरण किया जावे। जो रास्ते पर चलते नहीं, उन्हें आलोचना के लिये अवकाश बहुत मिलता है। जो रास्ते पर जमा है और चल रहा है, उसे अवकाश कहाँ अपनी शक्ति को बरबाद करने के लिये। अन्त में जाकर दोनों रास्ते एक ही भूमिका पर ले जाते हैं। चलेगा तो उस सम-भूमिका पर पहुँचेगा। तभी विरोध भी दूर होगा। पर जो बातें करेगा और चलेगा नहीं तो न पहुँच पायेगा और न ही उसका भ्रम मिट पायेगा।

ज्ञान के मार्ग का बहुत बोलबाला रहा है। कर्म का मार्ग तो लुप्त हो गया था, भगवान् ने उसे पुनर्जीवित किया। अर्जुन के मन में भी ऐसा भ्रम था। उसे निकालने के लिए इतने स्पष्ट कथन की आवश्यकता हुई, ऐसा प्रतीत होता है।

ज्ञानमार्ग वाले प्रायः अपनी महत्ता स्थापित करते हैं, 'बच्चों का काम है, उपासना, कर्म इत्यादि। यह पहली सीढ़ी है' ऐसी आलोचना कर्ममार्ग के रहस्य को न जानने से होती है। यह अज्ञान की परिचायक है।

निष्ठा हमारी नेत्र (राह दिखाने वाली) होती है। निष्ठा के विषय में सन्देह होने से व्यक्ति का किया-कराया व्यर्थ हो जाता है। बिना दिशा के गति असम्भव होती है, ठीक वैसे ही।

अपने लिए चुनना होगा – जो आपके लिए सम्भव है और रुचिकर भी है वही आपकी निष्ठा हो सकती है। जब हम अपने लिए अपनी प्रकृति अथवा परिस्थिति के विरुद्ध निष्ठा को पकड़ते हैं तो अग्रगति नहीं, मार्गावरोध हो जाता है। तब हम करने की बजाय बोलते हैं। 'आस्थितः' का अर्थ है – संशयरहित होकर टिका हुआ।

इस प्रकार का अर्थात् निष्ठा द्वारा सीमीकरण अग्रगति के लिए अनिवार्य है। अपने अध्ययन, श्रवण तथा भाषण को भी अपनी निष्ठा की सीमाओं में बांधने से आगे चला जाता है। बुद्धि पर अनुपयोगी संस्कारों को डालना मूर्खता है। एक ही चीज को अच्छी तरह पकड़ कर चलने से कुछ मिलता है।

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

प्रत्येक मार्ग की सीमायें हैं। उनकी चर्चा फिर होगी।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥5॥

'जो स्थान सांख्य-निष्ठा का अवलम्बन लेने वालों के द्वारा प्राप्त किया जाता है वह कर्मयोग पर चलने वालों से भी पाया जाता है। जो सांख्य और योग एक है ऐसा देखता है, वह (ठीक) देखता है'॥5॥

ऊपर के श्लोक में कही बात को ही अधिक स्पष्ट तथा ज़ोरदार शब्दों में कहा है।

दोनों मार्गों के सिद्ध एक ही आन्तरिक स्थिति को लाभ करते हैं। जो ज्ञानमार्ग का पथिक है वह भी संसिद्ध होने पर कर्मबन्धन से रहित होता है। वह निर्लिप्त हुआ कर्म कर सकता है। यदि ऐसा सम्भव नहीं है तो अभी जो सिद्धि है वह अपूर्ण है। इसके अनुरूप कर्मयोगी, संसिद्ध हुआ, शान्त भी हो सकता है। कर्म करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। वह तो प्रभु चरणों में पड़ा होता है, उसका यन्त्र होता है। प्रभु जैसा चाहें और जब चाहें उसे बरत लें। उसकी कर्म करने से पुष्टि नहीं होती और न करने से ह्रास नहीं होता, यही समता की स्थिति है। यदि यह प्राप्त नहीं हुई तो कर्मयोग की संसिद्धि अभी प्राप्त नहीं हुई।

संसिद्ध ज्ञानी कर्मशील हो सकता है और कर्ममार्ग का अवलम्बी बिना काम किये रह सकता है। सिद्धावस्था में कर्म करना और न करना बराबर है। कर्म की उपयोगिता सिद्धिलाभ होने पर कर्मयोगी के लिए भी समाप्त हो जाती है।

आत्मलाभ, आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्मलीन, निर्वाण-लाभादि संज्ञाओं से सांख्य अन्तिम स्थिति का वर्णन करता है। कर्मयोग उसे अकर्म-नैष्कर्म्य कहता है। दोनों में अहंकार से परे की स्थिति है, दोनों में समता है। वैसी स्थिति में आत्मबोध तो स्वयं होता है। आँखें मूँदकर किसी लम्बी समाधि को लगाने की आवश्यता नहीं रहती कर्मयोगी के लिए, उसके विकार तो साथ ही साथ निकलते चले जाते हैं।

एक उसी पुरुषोत्तम-तत्त्व की प्राप्ति होती है दोनों मार्गों में। हाँ, अनुभव

का भेद रहता है, पर तत्व का भेद नहीं होता।

जो इस रहस्य को जानता है, वही तो दोनों मार्गों के एकत्व को जानता है। जो इस रहस्य को नहीं जानता, वह दोनों को अलग देखता है। अतः जो ठीक जानता है वही वास्तव में ठीक देखता है।

देखते हुए भी तो व्यक्ति को कई बार दीखता नहीं। केवलमात्र देखने से ही तो वास्तविकता का बोध नहीं होता। देखना तो वही सार्थक है जिससे सत्य का बोध हो सके। अतः कहते हैं **'यः पश्यति स पश्यति'** जो एकत्व को देखता है 'वह देखता है' दूसरे तो अन्धे हैं। ऐसा लगता है कि उस समय सांख्य के मार्ग का बोलबाला था। कल्याण के लिए स्वरूपतः कर्म-संन्यास आवश्यक समझा जाता था।

उपनिषद् भी ऐसा ही परिचय देते हैं, जैसा कि ऊपर कहा है। भगवद्वाणी भी इसे ही प्रमाणित करती है। भगवान्, कर्म के विषय में जो अज्ञान था उसे दूर करके, कर्म को उचित पद पर स्थापित करना चाह रहे हैं। उसके लिए वे सत्य का ही आश्रय लेते हैं। दूसरे मार्ग की निन्दा करके कर्म की उत्कृष्टता स्थापित नहीं करते हैं, वह गलत तरीका है। सत्य को प्रकट मात्र करना होता है, सो वे करते हैं।

अर्जुन के लिए कर्म की निष्ठा स्वाभाविक थी, परन्तु वह इस रहस्य को समझता नहीं था। अतः कर्म की उपादेयता और महत्त्व को न जानने से कर्म से भागना चाहता था। कर्म का जो निम्नतम भाव है, उसे तो वही विदित था कि कर्म बन्धन का कारण है, पाप तथा दुःख का कारण है।

यह पाँचवाँ अध्याय कर्म करते हुए कर्म-संन्यास कैसे होता है, यही तो बताता है। उसकी भूमिका मात्र है जो ऊपर कहा है। सिद्धि के स्वरूप को समझे बिना संन्यास का रहस्य ही कैसे जाना जाता?

आन्तरिक संन्यास के बिना कल्याण नहीं होता। वह दोनों ही मार्गों में होता है, यह न भूलना होगा।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥6॥

'हे वीर! बिना योग के संन्यास (भी) तो पाना कठिन है। योगयुक्त हुआ

*अधिक जानकारी के लिए 12वाँ अध्याय देखिए।

मुनि जल्दी ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है'।।6।।

'योग के बिना संन्यास पाना कठिन है। योग? कर्म का योग। कर्म की निष्ठानुसार किया गया साधन। और संन्यास क्या है? संन्यास का तात्पर्य संन्यास ही है, भलीभाँति से त्याग, जो त्याग हो चुका हो, छूट चुका हो। किसका त्याग? जो कुछ हमें बांधता है, उस सबका त्याग। बन्धन रहित स्थिति। वह जो भीतर की निर्बन्ध स्थिति है वह कर्मयोग के बिना कैसे प्राप्त होगी? क्या कोई उसके लिए अधिक सुगम उपाय भी है।

बन्धन से छूटने का रास्ता बन्धन में से ही होकर जाता है। विकारों से व्यक्ति धीरे-धीरे ही छूटता है। कर्म करके ही धीरे-धीरे कर्म रहित हो पाता है। यही विकास का स्वाभाविक मार्ग है। समुचित निष्ठा से किया गया कर्म रगड़ देता है प्राक्तन संस्कारों को भी।

संन्यास कोई खेल नहीं हैं। जादू के मन्त्र से प्राप्त होने वाली अवस्था नहीं है। भीतर का पूर्ण रूपान्तर मांगता है संन्यास। मन, बुद्धि तथा प्राण को विकार शून्य होना होगा, आसक्ति रहित होना होगा। तभी तो संन्यास हो पाएगा, तभी व्यक्ति निर्लिप्त रह सकेगा। किन्हीं कृत्रिम साधनों के द्वारा किसी अवस्था को अपने पर कुछ समय के लिए लाद लेने से यह काम कैसे होगा। निम्न प्रकृति का शोधन तो एक प्रक्रिया है। इसकी सिद्धि होने पर संन्यास स्वत: होता है। रास्ते-रास्ते चलते जाओ। लक्ष्य की स्थिति स्वत: ही होती है। ऐसा करने से परेशानी नहीं होती। यह कर्म का मार्ग है। निष्ठा से कर्म करो। निर्मल हो जाओगे।

क्या इसके अलावा भी कोई तरीका हो सकता है? हाँ! ज्ञान के द्वारा संन्यास और विवेक के द्वारा ज्ञान। इसका तरीका? आखिर बिना निम्न प्रकृति के शोधन के विवेक कैसे होगा? कैसे आएगी बुद्धि में स्थिरता? संयम की, तप की कठोर साधना से, निम्न प्रकृति का मर्दन करके, विवेक के द्वारा, ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित कर कर्मों का दग्ध कर देना – यह है दूसरा रास्ता। इस रास्ते की कठिनाइयों का सुन्दर दिग्दर्शन करते हैं श्रीतुलसीदास जी उत्तरकाण्ड के 'ज्ञानदीपक' नामक प्रसंग में। साधक अस्थिर-भूमि पर चलता है, क्योंकि बिना 'पर' के दर्शन के संयम की नितान्त सिद्धि नहीं है, केवलमात्र नाकेबन्दी है। संयम डिगता है, विवेक सरकता है, ज्ञान लुप्त होता है और फिर वही संसार की निम्न प्रवृत्तियाँ उपद्रव मचाती हैं। अत: यह

दुष्कर साधन है, जोखिम है, अनिश्चय है और विकास की दृष्टि से सहज स्वाभाविक नहीं है। यद्यपि असम्भव तो नहीं कहा जा सकता।

अतः कहा **'दुःखमाप्तुमयोगतः'** संन्यास बिना योग के प्राप्त करना कठिन है। ज्ञान के मार्ग को 'छुरे की पैनी धार' कहा है।

कर्त्तव्य-दृष्टि से किया गया कर्म आसक्ति को छांट देता है। प्रभु के लिए किया गया कर्म तो सिवाय मालिक के और किसी को रहने ही नहीं देता। सब संन्यास हो जाता है प्रभु में। योगी प्रभु से अनन्य हो जाता है। कर्म का योग क्रमशः अनन्यता का हो जाता है। फिर संन्यास करने के लिए रह ही क्या जाता है? वह तो स्वयं ही चढ़ जाता है पूजा का फूल बनकर प्रभु-चरणों में।

आगे योग का प्रभाव बताते हैं। **'ब्रह्म, न चिरेणाधि-गच्छति'** – बिना देरी के ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। कर्म-योग का अनुसरण करने वाला साधक जल्दी ही ब्रह्म को पा जाता है। यह मत समझो कि यह रास्ता लम्बा है। क्योंकि, इसमें वैचित्र्य नहीं, क्योंकि इसमें बाह्य तप-त्याग नहीं, क्योंकि इसमें मस्तिष्क की बहुत काँट-छाँट नहीं और पोथी-पाण्डित्य की मांग नहीं, इसलिए यह रास्ता लम्बा है? यह रास्ता सहज है, स्वाभाविक है और सुगम है। योगेश्वर कृष्ण ही इस बात का प्रमाण हैं। वह साधकों के अनुभव के आधार पर बोल रहे हैं। विकास की गतियों की समुचित जानकारी के आधार पर कह रहे हैं। बुद्धि को भी ऐसा ही समझ में आता है।

कर्म का बल कोरे भाव अथवा विचार के बल से कहीं अधिक है। भाव अथवा विचार विशेष बल रखने पर ही कर्म में परिणत होते हैं। कर्म तो दूसरों से भी सम्बन्ध रखता है। वह विशेष बल को प्रकट करता है भाव तथा विचारों की अपेक्षा; अतः दूरगामी है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥7॥

'योग में लगा हुआ, विशुद्ध हुई आत्मा वाला, जिसने अपने को भली प्रकार जीत लिया है, जिसने इन्द्रियों पर वशीकार प्राप्त कर लिया है, सब भूतों से जिसकी आत्मा आत्मभूत हो गई है, ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी (कर्म से) लिपायमान नहीं होता'॥7॥

कर्मयोग की साधना और सिद्धि की चर्चा आगामी श्लोकों में हुई है। आखिर वह ब्रह्म-प्राप्ति की स्थिति कैसी है? और कर्मयोगी उसे क्योंकर लाभ कर लेता है?

कर्मयोग की सिद्धि है **'कुर्वन्नपि न लिप्यते'** 'कर्म करता हुआ भी (उससे) लिपायमान न हो।' इस अवस्था को नैष्कर्म्य कहते हैं। योगेश्वर कृष्ण स्वयं ऐसे सिद्ध कर्मयोगी थे। ईश्वर ऐसा ही कर्मयोगी है, जो इतनी रचना रचने पर भी कर्म-बन्धन से रहित रहता है।

वास्तव में इस अवस्था को लाभ किये बिना व्यक्ति प्रकृति के बन्धन से रहित हो ही कैसे सकता है? इस योग्यता के अभाव में जब व्यक्ति कर्म करेगा, बँध जायगा और किये बिना तो कोई रह ही नहीं सकता है। जीते जी तो वही मुक्त हो सकता है जिसने नैष्कर्म्य की स्थिति को लाभ किया है। गीता का योग तो इसी सम्भावना को आदर्श मानकर चलता है। 18वें अध्याय में इसी बात का परिचय भी दिया।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥18/56॥

'सभी काम करता हुआ भी मेरी कृपा से, 'मेरे आश्रित हुआ शाश्वत अव्ययपद को प्राप्त कर लेता है।'

यही वास्तव में परम संन्यास है जिसमें कर्म का वास्तविक संन्यास हो जाता है। कर्म देखने में तो होता है, परन्तु व्यक्ति लिपायमान नहीं होता। बाहर से तो कर्म होगा ही। जो भी बाह्यत्याग है, वह आंशिक ही हो सकता है, जैसे पहिले भी कहा जा चुका है। महत्त्व की बात तो लिपायमान न होना है सो योग के द्वारा सम्भव है।

श्लोक के बाकी तीन हिस्सों में 'यह कब होता है' इस प्रश्न का उत्तर है। यह स्थिति केवलमात्र मानसिक-धारणा से नहीं होती। भीतर कर्ता का ही रूपान्तर हो जाने पर ही सम्भव है कर्म से अछूते रह सकना। सो क्या बदलाव हो जाने पर कर्ता अकर्ता बन जाता है, यह बताते हैं।

योगयुक्त – योग में पूरी शक्ति से, अवधान से लगा हुआ। बैल को जैसे जुए में जोड़ा जाता है, ऐसे ही जो व्यक्ति अपने को कर्म की साधना में लगा देता है। अपना सारा बल लगाना होता है। जीवन की शक्तियों को इधर-उधर न बखेरकर अपने लक्ष्य की ओर चलने से ही योगयुक्त होता है व्यक्ति।

विशुद्धात्मा – विशुद्ध हो गया है आत्मा जिसका। विशुद्ध-विशेषकर शुद्ध। हमें गन्दी करती है निम्न प्रकृति-काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि। जिसकी निम्न प्रकृति का शोधन हो गया है वह विशुद्धात्मा है। जिसमें कामादि शान्त हो चुके हैं। आत्मा शब्द आपे के लिए प्रयुक्त हुआ है। वह जो आत्मतत्व है, जो मन बुद्धि से परे है, वह तो निर्मल है ही। उसके शोधन का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता।

विजितात्मा – भली प्रकार से जीत लिया है अपने को जिसने। 'आत्मा' यहाँ भी आपे के अर्थ में बरता गया है। वह जो अतीत तत्व है वह तो स्वयं सभी को जीतने वाला है उस पर विजय कैसी? जिस पर उस आत्मतत्त्व का अधिकार है, जो उसकी अभिव्यक्ति का साधन है, सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक, वह सभी 'आपा' कहलाता है। यह जो प्रकृति का निर्मित यन्त्र है, यह सभी आपा ही है।

इस पर विजय प्राप्त करने का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है मन, बुद्धि पर अधिकार उस अधिष्ठातृ चैतन्य के द्वारा। वैसे तो आपे में इन्द्रियों का समावेश भी है, परन्तु उनके विषय में तो अलग से कहा है – 'जितेन्द्रियः'।

मन पर अधिकार है, अपने भावमय-कोष पर पूरा अधिकार है। हम दुःख से और सुख से बहा लिए जाते हैं। उद्वेग होता है। राग-द्वेष की तरंगें हमारे मन को प्रभावित करती हैं। हम चाहने पर भी सम नहीं रह पाते। अपने मन पर काबू नहीं रख पाते। मन को चलायमान करने वाले जो वैषम्य हैं, उनके होने पर भी मन के चलायमान न होने पर, मन पर विजय पाई गई है, ऐसा कहा जा सकता है। इसी प्रकार बुद्धि पर भी अधिकार हो जाना चाहिए। बुद्धि को भी राग-द्वेष प्रभावित करते हैं। सुख-दुःख की तरंगें बुद्धि को चलायमान कर देती हैं। लोभ तथा मोह भी मति को भ्रष्ट कर देते हैं। जब तक ऐसी स्थिति है, तब तक नैष्कर्म्य की स्थिति असम्भव है। तब तक बन्धन होगा कर्म करने से।

चौथा लक्षण कहा – **जितेन्द्रियः,** जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है। इन्द्रियाँ विषयों से आकृष्ट होती हैं और मन तथा बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती हैं। स्थूलतम होने से इन्द्रियाँ बड़ी बली हैं, स्थूल विषयों के संयोग से इन्द्रियाँ बल को लाभ कर लेती हैं, वास्तव में इनके चलायमान होने से, मन तथा बुद्धि चलायमान होते हैं।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का यदि विवेचन किया जाये तो यही सार निकलता है। इन्द्रियों तथा मन के वशीकार से ही बुद्धि की स्थिरता हो सकती है। तभी कर्मयोग सम्भव है, तभी व्यक्ति योगयुक्त हो सकता है।

इस प्रकार की साधना करते हुए, निष्ठा से कर्म करते हुए, व्यक्ति का अन्तरात्मा निर्मल हो जाता है। निर्मल अन्तरात्मा में सत्य झलकने लगता है। व्यक्ति अपने को सभी के आत्मरूप में प्रतीत करने लगता है। अहंकार के अतिक्रम होते ही आत्मतत्त्व में स्थिति होती है। उसमें स्थिति के परिणामस्वरूप भेद की भीत गिर जाती है। आत्मतत्त्व तो सभी में समान रूप से है उसे अपना-आपा दूसरों का आपा लगता है।

सर्वभूतात्मभूतात्मा:– जिसकी आत्मा सब भूतों से आत्म-भूत हो गई है। आत्मभूत-आत्मा हो गई है। इसी का वर्णन भगवान् अन्यत्र करते हैं।

आत्मनि सर्वभूतानि सर्वभूतेषु चात्मानम्।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:॥ (6.29)

'अपने में सभी भूतों को और सभी भूतों में अपने को देखता है...।' – यही अर्थ है।

जब इस प्रकार आन्तरिक-शोधन के परिणामस्वरूप यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तभी 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' – 'कर्म करता हुआ लिपायमान नहीं होता' यह स्थिति आ सकेगी।

यह कर्मयोग की सिद्धावस्था है। यह एकदम से प्राप्त नहीं होती। साधना के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। साधना तो हमारी निष्ठा पर निर्भर करती है। अत: वह साधन कहते हैं जिसके द्वारा इस स्थिति की प्राप्ति हो सकती है।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥8॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥9॥

'तत्त्ववेत्ता योगयुक्त मनुष्य ऐसा माने कि मैं कुछ नहीं करता हूँ,' देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, स्वप्न देखता हुआ, प्रलाप करता हुआ,

त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलक खोलता हुआ और पलक बन्द करता हुआ भी, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय में बरत रही हैं, ऐसी धारणा रखते हैं'।।8-9।।

तत्त्ववेत्ता, योगयुक्त व्यक्ति, ऐसा माने, ऐसा विचार करे। यह साधना के लिए कहा है। सिद्धावस्था में तो मानना नहीं होता, धारणा रखनी नहीं होती है। यह तो उसकी सतत अनुभूति होती है। अतः ऐसा कहा है कि इस मार्ग पर चलने वाला इस प्रकार की धारणा बनाये। धारणा जो मन में हमेशा बनी रहे। मन की स्थिर-वृत्ति ही धारणा है। वह धारणा क्या हो? **'नैवं किंचित् करोमीति'** मैं कुछ नहीं करता हूँ। मैं आत्मसत्ता हूँ। वह तत्त्व तो मन बुद्धि से अतीत है। यह सांख्य का दृष्टि-कोण है। पुरुष अकर्ता है। प्रकृति में कर्म होता है, गति होती है। बस, यही दृष्टिकोण दृढ़ करने का आदेश किया है।

इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय में बरतती हैं। इन्द्रियों के विषय – रूप आँख का विषय है, शब्द कान का, रस जिह्वा का, आदि आदि। आँख का देखना, उसका अपने विषय में विचरण है। इन्द्रिय प्रकृति का अंश है। रूप भी प्रकृति ही है। अतः प्रकृति का ही प्रकृति में खेल है। यही गुणों का गुणों में बरतना है।

आत्म-तत्त्व तो प्रकृति से न्यारा है। वह क्रिया प्रतिक्रिया से रहित है। वह इस सारे खेल का द्रष्टा है। यह दृष्टिकोण बन जाने से व्यक्ति कर्तृत्व से रहित हो जाता है। यह सांख्योग का स्थिर साक्षित्व है।

वास्तव में कर्मयोग का विशुद्ध सिद्धान्त, जिसकी चर्चा दूसरे तथा तीसरे अध्याय में हुई है, वह तो सांख्य-सिद्धान्त पर ही आश्रित है। चतुर्थ अध्याय में दृष्टिकोण को ऊँचा उठाया गया है। पुरुषोत्तम-योग जो गीता का मौलिक सिद्धान्त है, उस पर आश्रित है कर्म-ब्रह्मार्पणयोग, जिसमें कर्मों को प्रभु के चरणों में समर्पण का उपदेश है। यहाँ भगवान् ने सांख्य-सिद्धान्त के अनुकूल साधना कही है। साथ ही उस ऊँचे दृष्टिकोण की साधना भी कही है। देखिये नीचे दसवाँ श्लोक। भगवान् किसी दर्शन से नितान्त बंधे हों, ऐसा नहीं है।

क्या-क्या करता हुआ इस साक्षित्व का अभ्यास करे? सभी इन्द्रियों के व्यापारों की चर्चा की है। देखना, सुनना, छूना आदि। सोता हुआ भी इस साक्षि वृत्ति को, इस अकर्तृत्व धारणा को बनाए रखे। सोते में प्रायः विस्मृति होती है परन्तु साधक को तो सोते में भी सजग रहना होगा। यह सोना मन

का खेल है। आत्मा सोता नहीं, केवल मन का लय होता है। यह प्रकृति का खेल है। श्वास तक लेने में यह धारणा रहे कि यह तो प्राणों की गतिमात्र है। आत्मा तो इनका साक्षि-मात्र है। 'मैं श्वास नहीं लेता, प्राण का आना-जाना होता है।'

प्रलाप करता हुआ भी व्यक्ति खो नहीं जाये। साक्षित्व को बनाये रखे। दु:ख में व्यक्ति बह जाता है। सारा ज्ञान समाप्त हो जाता है। साक्षिभाव लुप्त हो जाया करता है। अत: उसका भी स्मरण किया। रोते में भी याद रहे कि आत्मा नहीं रोता। उसे क्या दु:ख और क्या सुख? यह तो मन के धर्म हैं, जो कि प्रकृति है।

त्याग करते हुए भी न भूलना होगा और ग्रहण करते हुए भी न भूलना होगा। जो त्याग करता हुआ सोचता है मैं त्याग करता हूँ, वह त्याग के कर्म से लिपायमान होता है। उसके लिए त्याग बन्धन है। वह प्रकृति के धर्म को अपने पर आरोपित करता है, अत: कर्मपाश में बँध रहा है। ग्रहण करने में जो ग्रहण करने वाला बन जाता है, वह भी पकड़ में आ जाता है प्रकृति की। ग्रहण करना और त्याग करना ये प्रकृतिगत चेष्टायें हैं। आत्मा न छोड़ता है और न पकड़ता है। यदि यह रहस्य समझ में आ जाये तो न कुछ पकड़ने को ही रहता है और न छोड़ने को। त्याग का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। हिंसा-अहिंसा, हानि-लाभ और राग-द्वेष आदि सभी तो प्रकृति ही में हैं। क्या लें और क्या न लें? इसी बात को लेकर तो योगवासिष्ठ सुनाने पर जब श्रीराम गृह-त्याग की सोचने लगे, तो वसिष्ठ जी ने कहा था, 'कैसा त्याग? तुम तो अकर्ता हो। क्योंकर त्याग? किसका त्याग?

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार में सांख्य-सिद्धान्त हमें ठीक उसी जगह पहुँचा देता है, जहाँ भक्ति का योग ले जाता है। जहाँ हैं वही रहना होगा। उसी स्थिति को स्वीकार करना होगा। बाह्य-त्याग तो निरर्थक है?

यह विवेक – कर्तृत्वाकर्तृत्व-विवेक कितना व्याप्त हो जाए जीवन में, इसका परिचय देते हैं, 'उन्मिषन्निमिषन्नपि' – 'पलक उठाते और डालते हुए भी' 'न भूले कि मैं कुछ नहीं करता' यह प्रकृति ही करती है।

यह साक्षित्व की सांख्य-आश्रित विवेक-मूलक साधना है। जो सांख्य-सिद्धान्त के अनुयायी हैं, वे इस प्रकार साधन करते हुए नैष्कर्म्य को लाभ कर सकते हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥10॥

'ब्रह्म में कर्मों को रखकर (सौंपकर), आसक्ति को छोड़कर जो व्यक्ति कर्म करता है, वह पाप से लिपायमान नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता जल से लिपायमान नहीं होता'॥10॥

ज्ञान के मार्ग में कर्म के समर्पण का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। वहाँ कर्म के कर्तृत्व का ही अभाव है फिर कर्म का समर्पण कैसा? परमसत्ता भी वास्तव में निष्क्रिय है, वहाँ समर्पण की स्वीकृति कैसी?

परन्तु, भक्त का ब्रह्म तो पुरुषोत्तम है। वह सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता है। वह ईश्वर है जो सबके हृदय में बैठकर सभी नियमन करता है। वह सभी का मित्र है, परम-हितू है। वह यज्ञेश्वर है और लोक-महेश्वर है ऐसा ब्रह्म तो हमारे समर्पण को स्वीकार कर सकता है। वह कृपा भी करता है, हमारी पुकार को भी सुनता है। ऐसे परमेश्वर का पूजन हो सकता है और उसे इष्ट बनाया जा सकता है। ऐसे ही प्रभु गीता का उपदेश दे रहे थे अर्जुन को और अपने को धीरे-धीरे प्रकट करते जा रहे थे अर्जुन के लिए।

'कर्मों को ब्रह्म में भली प्रकार से रखकर' भगवान् में कर्मों को भली प्रकार से छोड़ना क्या होता है? जिससे लेशमात्र भी हमारे साथ लगाव न रह जाए। कर्मों को पूरी तरह से उसी का समझना, उसी के लिए ही करना। कुछ भी करने में न सुख की लालसा रखनी और न फल की आकांक्षा। ऐसा करने से कर्म भगवान् में रखा जाता है।

कर्म को आसक्ति छोड़कर करना होगा। आसक्ति ही बन्धन का कारण होती है। वह व्यक्ति को बांध देती है कर्म के साथ, कर्म के आधार तथा फल के साथ। जितना हम आसक्ति रहित होते हैं, उतना ही प्रकृति के बन्धन से रहित हो जाते हैं। कर्म नहीं बांधता, आसक्ति बांधती है, यह स्मरण रखना होगा। अतः अनासक्त होकर कर्म करने वाला बन्धन-रहित रहता है।

अनासक्त होने का सुगम उपाय है कर्मों का भगवान् में आधान कर देना। अपना समझने से ही तो लगाव होता है। भगवान् का समझेंगे तो अपना होगा ही नहीं। फिर लगाव ही कैसा? भक्त तो इसी सीधे मार्ग का अनुसरण करता है। 'न होगा बांस न बजेगी बांसुरी'।

जो व्यक्ति इस प्रकार से कर्म करता है, वह पाप से लिपायमान नहीं होता, पाप नहीं लगता उसे। तो क्या पुण्य लगता है? न पाप लगता है, न पुण्य लगता है। वास्तव में संस्कार ही नहीं बनता, तो केवल पाप ही क्यों कहा? अर्जुन के सामने तो पाप के लगने की ही समस्या थी। उसी से डर रहा था। अतः कहा पाप नहीं लगता। जैसे मैं कहता हूँ वैसे युद्ध कर, तो पाप नहीं लगेगा। युद्ध अपने लिए मत कर, मेरा कार्य समझ के कर। मेरे आदेश का पालन समझ कर युद्ध कर। जय-पराजय तेरे सोचने की बात ही नहीं रहती। यदि इस प्रकार मनोवृत्ति बना लेगा, तो इस कर्म के बन्धन से बचा रहेगा।

कर्म करते हुए अछूता रहने के लिए एक उदाहरण दिया है। जल में रहता है कमल का पत्ता, परन्तु गीला नहीं होता। उस पर पानी पड़ता है, परन्तु उसे बिना भिगोये ही ढुलक जाता है। ऐसे ही भगवान् के लिए कर्म करने वाले की दशा होती है।

जो भगवान् के लिए कर्म करते हैं, उन्हें भी आसक्ति घेरने की चेष्टा करती है। 'यह कर्म तो मेरे द्वारा ही होना चाहिये और यह मेरे द्वारा नहीं होना चाहिये', ऐसी धारणा मोह मूलक होती है। प्राप्त कर्म को ही उसका निर्देश समझना है। 'मैं बहुत बड़ा हूँ इसलिए विशेष कर्म का निर्देश करेंगे भगवान्, मेरे द्वारा कोई बड़ा काम करवायेंगे,' ऐसे विचार अहंकार की परिवृद्धि के कारण होते हैं। कर्ममात्र को ही प्रभु में रख देना है। वह सभी कुछ स्वीकार करता है। समर्पण के लिए विशेष कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती।

यह गीता के योग का मौलिक सिद्धान्त है। यही कर्मयोग की नैष्कर्म्य सिद्धि है। करते हुए व्यक्ति कर्म से अलिपायमान रह सकता है। पहिले भी कहा जा चुका है, यह अवस्था कर्म करते-करते ही साधक को प्राप्त हो जाती है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥11॥

'योगी लोग शरीर से, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं, आसक्ति छोड़कर, आत्मशुद्धि के लिए'॥11॥

'योगी लोग कर्म करते हैं'। योगी – योग के रास्ते पर चलने वाले,

कर्म-योग-मार्ग के साधक। यह शब्द सिद्ध-योगी के लिए भी बरता जा सकता है, परन्तु यहाँ तो साधक के लिए ही बरता गया है।

सांसारिक व्यक्ति जिसमें अभी मार्ग के विषय में बोध नहीं, जो लौकिक सुख की लालसा से ओत-प्रोत है, कर्म करता है लौकिक सुख की इच्छा से। प्रायशः तो कामनाओं के द्वारा बांधा जाकर कर्म करवाया जाता है। उसे लगता है कि मैं पूरी तरह से स्वतन्त्र हूँ परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। उसकी निम्न प्रकृति उसे बांधे हुए ले जा रही है। योगी की स्थिति भिन्न होती है। वह उस प्रकार से कर्म नहीं करता। वह ऊँचे प्रयोजन से कर्म करता है। कर्म वह भी करता है, परन्तु साधना रूप करता है। जैसे कोई जप-तप करता है अपने को पवित्र करने के लिए, वैसे ही वह सब कर्म करता है। यह है दृष्टिकोण में मौलिक भेद। जो सुख के लिये कर्म करता है, उसके लिए कर्मफल ही सबसे अधिक गणनीय है। जो कर्म में – कर्म करने में, सुख ढूंढता है वह कर्म के विषय में उसी दृष्टि से ऊँच-नीच देखेगा। सुख से होने वाला कर्म वह दौड़ कर करेगा और उसके विपरीत कर्म से भागेगा, परन्तु जो व्यक्ति अपने को पवित्र करने के लिए साधना-रूप कर्म करता है, उसे तो विचारना होता है कि वर्तमान कर्म के द्वारा मैं निर्मल हो जाऊँगा अथवा मलिन। जिस कर्म के करने से अधिक निर्मलता होगी, वह अधिक ऊँचा होगा उसकी दृष्टि से, लौकिक दृष्टि से भले ही वह निकृष्ट क्यों न हो।

किसी मैले आदमी को नहलाना, टट्टी का साफ करना, झाड़ू लगाना, दुनियादारी की दृष्टि से निकृष्ट कर्म समझे जाते हैं, परन्तु साधना की दृष्टि से ऐसा नहीं है।

क्या कर्म के बाह्य रूप पर निर्भर करता है कि हम उसके द्वारा कितने निर्मल होंगे अथवा मलिन होंगे? कर्म के बाह्य स्वरूप पर यह निर्भर नहीं करता। सेवाकार्य करके व्यक्ति अपने अहं की पुष्टि भी कर सकता है, सेवा के गर्व को जमा सकता है और अपने मान को मिटा भी सकता है। दूसरे की सहायता करके हम मदान्ध भी हो सकते हैं और प्रभु से युक्त भी हो सकते हैं। कर्म का प्रभाव हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। अतः प्राप्त कर्म के करने का आदेश है – वही कर्म जो हमारे लिए स्वधर्म है। इस विषय में पर्याप्त चर्चा पहिले हो चुकी है।

हम काम किस लिए करते हैं, इस पर निर्भर करता है कि हमारे लिए

वह कर्म कैसा होगा। योगमार्ग का साधक तो एक ही प्रयोजन से कर्म कर सकता है वह है आत्मशुद्धि।

आत्मशुद्धि है निम्न प्रकृति का संशोधन। हमारे भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि रहते हैं। विकास-क्रम में इन सभी का दूर हो जाना, रूपान्तरित हो जाना, नितान्त आवश्यक है। दिव्य प्रकृति प्रबल होनी चाहिए। निम्न प्रकृति में काम करने वाली शक्ति दिव्यप्रकृति में रूपान्तरित हो जानी आवश्यक है। समुचित मनोवृत्ति से किया गया कर्म, इस काम को सहज में कर सकता है।

वह कर्म कैसे होना चाहिए? आसक्ति-रहित। योगी सब प्रकार की आसक्ति से रहित होकर कर्म करता है। करने में जो कर्म के प्रति लगाव हो जाता है, उससे भी बचने की चेष्टा करता है।

क्या योगी केवलमात्र मन से ही कर्म करता है? नहीं, वह सर्वथा कर्म करता है। यह तो साधना है। वह सभी स्तरों पर कर्म करता है। अपनी समूची शक्ति का इस यज्ञ में उपयोग करता है, शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल-मात्र इन्द्रियों से भी कर्म करता है, वह सर्वथा कर्म करता है। युद्ध कर्म तो शारीरिक-कर्म ही है। प्रायशः शारीरिक-कर्म भी इस आत्म-शोधन में सहायक होता है। अतः योगी लोग उसे भी स्वीकार करते हैं। 'तुम भी आज इस युद्धकर्म को इसी रूप में स्वीकार करो। ऐसा किया जा सकता है।' भगवान् अर्जुन को मानो निर्देश करते हैं।

अर्जुन के मन में यह विचार हो सकता था कि केवल-मात्र मानसिक-कर्मों के द्वारा आत्म-शोधन होता होगा। मन तथा बुद्धि में ही तो विकार रहते हैं प्रधान रूप से। परन्तु ऐसा नहीं है। शारीरिक तथा इन्द्रियगत कर्मों के पीछे भी मन तथा बुद्धि का योग रहता है। विकार प्रकट तो इन्द्रियों और शरीर के द्वारा होते हैं। अतः इस यज्ञ में उनका योग भी ज़रूरी है।

और भी, शरीरगत कर्म अधिक प्रबल संस्कार का निर्माण करता है और उतना ही अधिक शरीरगत कर्म संस्कार के उन्मूलन में सहायक हो सकता है। वह जितना बांधता है, उतना ही खोल भी तो सकता है। शारीरिक-कर्म वास्तव में बहुत महत्त्व रखता है साधना की दृष्टि से। मनोवृत्ति तो ठीक होनी ही चाहिए।

अध्यात्ममार्ग पर आने वालों में प्रायः शारीरिक-कर्मों से अरुचि हो जाती

है। एकान्त में और निकम्मा रहने की, किसी कोने में बैठकर प्रभु नाम जपने की या ध्यान करने की अधिक प्रेरणा होती है। परन्तु आत्मशोधन के लिए तो समुचित निष्ठा से किया गया शारीरिक-कर्म उतना ही आवश्यक है जितना कि जपादि। कहीं-कहीं तो शारीरिक-कर्म की उपयोगिता उससे भी अधिक होती है।

आत्मशोधन का प्रबल साधन है कर्म। देखिये 18वें अध्याय के श्लोक 45 और 46।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥12॥

'युक्त हुआ कर्म फल को छोड़कर नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त कर लेता है। परन्तु, अयुक्त कामना के द्वारा फल में आसक्त हुआ बँध जाता है'॥12॥

युक्त का अर्थ है योग-युक्त, योग में युक्त, लगा हुआ। योग के मार्ग में जुड़ा हुआ। जो इस कर्मयोग के मार्ग पर चलने वाला है, जो ऊपर लिखे तरीके से कर्म करता है, वह इस साधना के द्वारा कर्मफल को छोड़ देता है – कर्मफल से मुक्त हो जाता है। उसके परिणामस्वरूप नैष्ठिकी-शान्ति को प्राप्त कर लेता है। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'-त्याग के पश्चात् शान्ति हो जाती है। जब तक हम भीतर कुछ भी पकड़े हुए हैं, तब तक वही हमारी अशान्ति का कारण बन जाता है। आशा-निराशा की दोला पर आरूढ़ हुए डोलने लगते हैं। भीतर की सहज शान्ति को एक तिनके से लगाव भी समाप्त कर देता है।

यह शान्ति जो इस प्रकार प्राप्त होती है, वह नैष्ठिकी होती है। नैष्ठिकी – निष्ठा वाली, जिसमें स्थिरता है, जो आती और जाती नहीं अपितु बनी रहती है। शाश्वत-शान्ति को लाभ करता है।

इसके विपरीत जो कर्म साधना के लिए नहीं करता उसकी क्या गति होती है?

वह बँध जाता है। निबध्यते-भली प्रकार से जकड़ा जाता है। कामकारेण – काम के प्रभाव से, कामना के प्रभाव से, फल में आसक्त हो जाने के कारण बँध जाता है। फल में आसक्ति क्यों होती है? फलों के लिए लालसा होती है। तृष्णा होती है कि सांसारिक वस्तुएं प्राप्त हों। कर्म करते हैं तो

उनकी प्राप्ति की सम्भावना दीखने लगती है। आसक्ति प्रकट हो जाती है। कर्म करके फल चाहता है। संसार में लिपटता जाता है इस फलासक्ति के द्वारा। तृप्ति तो होती नहीं, इच्छायें बढ़ती चली जाती हैं। परिणाम होता है प्रकृति में बन्धन। इच्छायें व्यक्ति को प्रकृति में घसीटती हैं।

फलासक्ति तृष्णा का ही रूप है। तृष्णा तो बन्धन की जननी है ही। व्यक्ति को लाचार कर देती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥13॥

'संयमी व्यक्ति सभी कर्मों का मन से संन्यास करके करने और करवाने से परे हुआ, नौ द्वार वाली नगरी (देह) में चैन से रहता है'॥13॥

नवें श्लोक से जिस चर्चा को आरम्भ किया था, वह यहाँ आकर समाप्त होती है। कर्मों का संन्यास मानसिक-रूप से कैसे हो सकता है? और उसका परिणाम क्या है – यही विषय है जिसकी चर्चा चल रही है। अब कहते हैं – 'मनसा संन्यस्य' मन से (ही) त्याग करके। आन्तरिक त्याग ही तो त्याग का वास्तविक रूप है। बाह्य त्याग की तो आवश्यकता ही नहीं है, और वह सम्भव भी नहीं। मन की समुचित क्रिया के द्वारा त्याग होता है। मन ही इस त्याग का साधन है। समुचित भावना से त्याग होता है। मन से ही तो कर्म प्रभु-अर्पण किया जा सकता है। वह जो नवें श्लोक में 'भगवान् में कर्मों का आधान' कहा था, उसी का उपाय बताया गया है। यह कार्य मन के द्वारा होता है। उसके लिए बाहर किसी प्रकार की चेष्टा की अथवा चेष्टा के अभाव की आवश्यकता नहीं।

इसीलिए आगे कहा **'नैव कुर्वन्न कारयन्'** 'न करता और न करवाता हुआ।' करवाना भी तो करने का ही दूसरा रूप है। करवाना भी कर्म है और उसके लिए भी उसी प्रकार से करवाने वाले पर जिम्मेवारी आती है जैसे करने से। जो इस मनसा त्याग की स्थिति को लाभ कर लेता है, वह करने-करवाने के संस्कार से रहित हो जाता है। वह व्यावहारिक-दृष्टि से करता-करवाता है परन्तु वह भीतर से कुछ नहीं करता-करवाता। निर्लिप्त रहता है। अतः बन्धन-रहित रहता है।

अर्जुन को भगवान् युद्ध करने के लिए कह रहे थे, वह स्वयं करवाने

वाले बन रहे थे इस प्रकार से। परन्तु वे तो कर्म-बन्धन से फिर भी रहित रहते हैं। मानो अपनी ओर इशारा हो। 'अर्जुन तू भी तो मेरे जैसा हो सकता है।' सभी कर्मों का त्याग आवश्यक है। जो भले-भले कर्मों को ही प्रभु को सौंपने को तैय्यार है, वह भी कर्म-बन्धन से रहित नहीं होता और जो बुरे कर्मों को ही अर्पण करता है, वह भी वैसा नहीं हो सकेगा, बन्धन से रहित। जिसने सर्व कर्म समर्पण का निश्चय किया है, वही बन्धन-रहित होता है। भले कर्म भी तो बन्धन हैं और बुरे कर्म भी। कर्ममात्र बन्धन हैं। अत: कर्ममात्र का समर्पण करना होगा। ऊँची साधना की दृष्टि से ऐसा समर्पण ही व्यक्ति को आत्म-समर्पण के लिए तैय्यार कर सकता है। ऐसे समर्पण से ही मानमर्दन होता है। 'जो हम भले बुरे तो तेरे' यही भावना भक्ति की उत्कृष्ट भावना है।

साधक के लिए 'वशी' विशेषण का प्रयोग हुआ है। जिसे वशीकार हो वह वशी कहलाता है। मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाला वशी-संयमी होता है। इस समर्पण की सिद्धि के लिए संयम नितान्त आवश्यक है। जिसका मन चञ्चल है, मति अस्थिर और इन्द्रियाँ उलटे रास्ते पर ले जाती हैं, वह व्यक्ति कैसे कर सकता है सर्व-कर्म-समर्पण। सर्व-कर्म-समर्पण का अर्थ है सभी इच्छाओं की बलि देने के लिए तैय्यार रहना। सर्व-कर्म-समर्पण के लिए आवश्यक है स्थिर-समर्पण की भावना का होना। मति की स्थिरता और हृदय की निश्चलता में ही यह सम्भव हो सकता है। अत: भक्ति-मार्ग की यह सिद्धि भी संयम की मांग करती है।

इतना अवश्य अन्तर है कि यहाँ भक्ति-मार्ग में प्रभु की प्रीति संयम पैदा कर देती है। प्यार वशीकार को जागृत कर देता है। नई युवती माँ बनती है। बच्चे के लिए जगा हुआ वात्सल्य कितना त्याग और संयम सिखा देता है। बिना उस वात्सल्य के सम्भव है क्या रात्रि की नींद को रोज-रोज खराब करना, गीले बिछौने पर सोना, मलमूत्र को साफ करना और भोजन में इतना नियन्त्रण? ठीक ऐसे ही प्रभु की लगन वशीकार की जननी हो जाती है। भक्त का मन ही बदल जाता है। इन्द्रियाँ भी प्रभु-पथ-गामिनी हो जाती हैं। मति भी भगवान् में टिक जाती है।

ऐसे संयमी साधक के लिए कहा **'नवद्वारे पुरे देही'** – 'नौ द्वारों वाली नगरी जो देह है उसमें', देही – देहधारी व्यक्ति को कहते हैं। जैसे फोर्ट

कोट (किले) में रहता है, ऐसे ही संयमी व्यक्ति देहरूपी फोर्ट में सुख से रहता है। फोर्ट में निर्भयता होती है। शत्रु के आक्रमण का भय नहीं होता, ऐसे ही संयमी को काम-क्रोधादि का भय नहीं रहता। अतः वह सुख से रहता है।

सुन्दर उदाहरण है सिद्ध व्यक्ति के लिए। उसकी देह ही उसके लिए किला बन जाती है। जैसे किले के द्वार होते हैं, इसी प्रकार देह के छिद्र होते हैं। किले के स्वामी का द्वारों पर पूरा अधिकार होता है। जब चाहे उन्हें खोलता है और जब चाहे बन्द कर सकता है। इसी प्रकार से वशी व्यक्ति देहगत छिद्रों को जब चाहे बाह्य स्पर्शों से हटा सकता है।

कर्तृत्व से रहित हुआ, अपना स्वामी बना हुआ व्यक्ति इस देह में भी चैन से रहता है। यह देह उसके लिए भार नहीं रहती और न कर्म ही भार होता है। भार होना तो नासमझी का और आसक्ति का सूचक है। वह बन्धन का प्रमाण है। वह दौड़ने की गुप्त प्रवृत्ति है जो बन्धन होने पर ही सम्भव है।

भगवान् का इस कर्मफल-विधान के साथ क्या सम्बन्ध है? क्या यह उसकी रचना है जो कर्मफल का चक्र चलता है? उत्तर में कहा –

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥14॥

'भगवान् लोक के कर्तापन, कर्मों अथवा कर्मफल-विधान का निर्माण नहीं करते। स्वभाव ही बरतता है'॥14॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥15॥

'सर्वव्यापी परमेश्वर किसी के पाप को नहीं लेता और न किसी के पुण्य को लेता है। ज्ञान, अज्ञान से ढका है, अतः लोग मोह में पड़ जाते हैं'॥15॥

ये दोनों श्लोक साथ पढ़ने से ही ठीक समझे जा सकेंगे। भगवान् कुछ करता नहीं, कुछ लेता भी नहीं। लोग जानते नहीं हैं, इसलिए उसके करने की और उसके लेने-देने की बातें सोचते हैं। यह मतलब है इन दोनों श्लोकों का।

तो करता कौन है? लेता कौन है? उत्तर में कहा – स्वभाव ही प्रवृत्त होता है, बरतता है। यह सब स्वभाव से ही होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की याद हो आती है। वहाँ भी तो ऐसा ही कहा है।

क्या अर्थ है 'स्वभाव' का? गीता के आठवें अध्याय में **'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'** स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है – ऐसा कहा है। आत्मा के विषय में – आत्मतत्व से सम्बन्ध रखने वाला पुरुषोत्तम का भाव अध्यात्म है। वह अनन्तसत्ता जो आत्मा के रूप में इस देह की अधिष्ठातृ बनकर खेल करती है, वह अध्यात्म कहलाता है। वही स्वभाव है। उस आत्मरूप में पुरुषोत्तम का प्रकट हुआ जो भाव है, उसी के कारण तो कर्तृत्व है, और कर्म का फल से संयोग है। यह सारा खेल तो व्यष्टि में पुरुषोत्तम के प्रकट होने के कारण है। यही स्वभाव का बरतना है। यह समझना कठिन न होना चाहिए।

वहाँ तो नकारात्मक कथन भी है। प्रभु कर्तृत्वादि का सृजन नहीं करते हैं? वह स्वभावतः होता है। उसके रचे बिना यहाँ क्या रचा जाता है? जो कुछ भी यहाँ होता है, वास्तव में उसी के किये से तो होता है। वही तो सभी के भीतर बैठकर नचाता है, सभी को यन्त्रारूढ़ करके। यह समूची रचना उसी के द्वारा है तो इसमें यह कर्तृत्वादि का विधान भी तो उसी का है। तो फिर क्यों कहा कि वह इसका सृजन नहीं करता।

उसकी सृष्टि वैसी नहीं होती है जैसी हमारी होती है। वह अहंकार से रहित, काम संकल्प से रहित, सहज रचना होती है, जैसे सूर्य का तपना होता है। ऐसा विधान करके हमें परेशान करने का प्रयोजन नहीं है। लोक आक्षेप करते हैं – भगवान् ने ऐसा विधान ही क्यों किया जिससे लोगों को बन्धन हो, परेशानी हो, दुःख हो? ऐसी दुनियाँ क्यों नहीं बना दी जो सभी आनन्द ही आनन्द होती? क्या इस सभी की अन्तिम जिम्मेदारी उस रचयिता पर ही नहीं है? ऐसा सोचा जाता है। अन्तिम जिम्मेदारी वास्तव में उस प्रभु पर ही तो है और किस पर हो सकती है? वह जिम्मेदारी वाला होता हुआ भी इससे रहित है। किसी काम-संकल्प से यह रचना नहीं रची गई। यह तो उसकी सहज अभिव्यक्ति है इस स्तर पर। जैसे सूर्य को तपने के लिये दोष नहीं, अग्नि को गर्मी के लिए दोष नहीं, ऐसे ही प्रभु को इस रचना के लिए दोष नहीं दिया जा सकता।

क्योंकि यह सहज अभिव्यक्ति है, इसलिए वास्तव में उसमें कर्तृत्व भी नहीं। वह करता हुआ भी अकर्ता है। इसी बात को बताने के लिये यह कहा है 'वह नहीं रचता है'। यह सभी स्वाभाविक है। उसके होने से यह सभी हो जाता है। उसे यत्न करके कुछ नहीं करना पड़ता।

यदि स्वभाव का अर्थ 'अध्यात्म' न भी लिया जाए तो भी श्लोक का अर्थ समझना कठिन न होना चाहिए। स्वभाव, सहज भाव होता है। जो सत्ता है उसकी किसी भी आन्तरिक अथवा बाह्य प्रेरणा विशेष से रहित सहज अभिव्यक्ति ही स्वभाव है।

पन्द्रहवाँ श्लोक भी ऐसी ही समस्या है। भगवान् किसी का पुण्य नहीं लेते और किसी का पाप भी नहीं लेते। भगवान् भक्तिभाव से दिये उपहार को स्वीकार करते हैं, यह हम नवें अध्याय के कथन से जानते हैं। 'कर्मों को मुझ में रख दे, मन, बुद्धि मुझ में अर्पित कर दे' आदि-आदि निर्देश तो भगवान् ने अनेक बार किये हैं और अब कहते हैं, वह पाप-पुण्य स्वीकार नहीं करता। यदि कर्मों को स्वीकार करता है तो उसके फल को भी तो उसे स्वीकार करना होगा। अन्यथा कर्म-संन्यास तो निरर्थक हो जाता है। फल का बन्धन ही तो घोर बन्धन है।

क्या अर्थ हो सकता है इस उक्ति का? एक ही अर्थ है। देने वाला दे देता है, कर्म-बन्धन से रहित हो जाता है देकर, लेने वाला लेता भी नहीं, अर्थात् कर्म-बन्धन में आता भी नहीं। देने वाले के लिए उसने ले लिया, परन्तु अपनी दृष्टि से तो उसने लिया ही नहीं। वह तो उस तक पहुँचने से पूर्व ही समाप्त हो जाता है। अन्धकार, सूर्य तक पहुँचे बिना ही समाप्त हो जाता है। ठीक ऐसे ही यहाँ होता है। वह तो वास्तव में लेता हुआ भी नहीं लेता। सभी कुछ तो पहिले ही उसका है, वह ले तो कहाँ से ले। देकर व्यक्ति स्वयं ही तो अपने बोझे को हल्का करता है वह बोझा वास्तव में पहले भी तो मालिक के कन्धों पर था। यही बात आगे कही है।

अज्ञान ने ज्ञान को ढांप लिया है, अतः मोह होता है। वास्तव में कर्तृत्वादि कब तक हैं? जब तक वह एक सत्ता जो सभी कुछ करने कराने वाली है, दीखती नहीं। तभी तक कर्म है और तभी तक कर्मफल-संयोग। जब वही एक दीखता है तो दूसरा अलग से रहता ही नहीं। फिर कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल संयोग भी समाप्त हो जाता है, वही सब कुछ हो जाता है।

ऐसे ही परमद्वैत में समर्पण की परिश्रांति होती है। जब वही देने वाला दीखता है और वही लेने वाला, तो न देना रहता है और न लेना। न पाप रहता है और न पुण्य।

जब यह दीखता है कि सभी उसका है –पाप भी और पुण्य भी, मेरा तो कुछ है ही नहीं, तो किसे दिया जाता है? जब कर्ता ही नहीं रहता तो क्या पाप और क्या पुण्य? यह सारी साधना और यह समूची भावना तो तब तक है जब तक आँख पूरी तरह से खुली नहीं। जब आँख खुलती है तो यह भोले बच्चों का खेल हो जाता है। अज्ञान से क्रमशः ज्ञान में प्रवेश होता है, जैसे-जैसे ऊँची चेतना जगती है, साधना समाप्त होती जाती है। करने-कराने को कुछ नहीं रहता, देने को कुछ नहीं रहता। बस विचित्र स्थिति होती है। श्रीगुरु अर्जुनदेव सुखमनि में कहते हैं –

जब पूरन न करता प्रभु सोई। तब जम की त्रास कहहु किस होई॥
जब अविगत अगोचर प्रभु एका। तब चित्रगुप्त किसु पूछतु लेखा॥
जब नाथ निरञ्जन अगोचर अगाधे। तब कउन छूटे कउन बंधन बांधे॥
आपन आप आप ही अचरजा। नानक आपन रूप आपही उपरजा॥

क्या यह दोनों श्लोक मायावाद की पुष्टि नहीं करते? जो वाद के मस्ताने हैं उनके लिये करते होंगे। बाकी गीता को, भगवान् की उक्तियों को और गीता की साधना को देखने से तो वैसा करते दिखाई नहीं देते। वास्तव में यह कर्म-समर्पण की सिद्धि किस प्रकार से होती है, यह बताते हैं। कैसे विचित्र तरीके से योगेश्वर कर्म का समर्पण स्वीकार करते हुए भी अछूते रहते हैं।

यही स्थिति सिद्धयोगी की हो जानी चाहिए। कर्म उस तक पहुँचने से पूर्व ही भस्म हो जाने चाहिए। दूसरों के कर्मों के लेने से यदि हमें कर्म का बन्धन हो जाता है तो भीतर अभी कुछ कमी है। उस लेने में कहीं काम-संकल्प है, कहीं अहं की उलझन है। प्रभुवत् हुआ प्रभुभक्त तो कर्मों को वैसे ही अछूता रहकर स्वीकार करने योग्य हो जाना चाहिये जैसे भगवान्।

चौदहवें श्लोक में भगवान् के लिए प्रभु शब्द का प्रयोग हुआ। जिसका प्रभुत्व है, अनुशासन बरता जाता है, जो अन्तर्यामी है और बहिर्यामी भी, वह प्रभु है। वह सृष्टि न करता हुआ भी करने वाला है, अनुशास्ता है। यही उस

प्रयोग का महत्त्व प्रतीत होता है।

पन्द्रहवें श्लोक में विभुः शब्द का प्रयोग भी बिना प्रयोजन नहीं है। विभु, व्यापक को कहते हैं। जो वस्तु दी जाती है यदि लेने वाला उसमें भी रमा है तो उसकी स्वीकृति-अस्वीकृति कैसी? बाहर अलग होकर ही तो स्वीकृति होती है वस्तुओं की, और जिसमें लेने वाला रमा हुआ है वह तो पहले से ही स्वीकृत है, अब उसका नया आदान-प्रदान कैसा? जो प्रभु का है वह उसको क्या देते हो।

'लोकस्य' का अर्थ है लोगों का। सामान्य अर्थ कर्मफल-संयोग – कर्म का फल से संयोग। अमुक कर्म का अमुक फल होगा ऐसा विधान उसने बाहर से लागू नहीं किया। जैसे गेहूँ का बीज बोने से गेहूँ का पौधा उपजता है, जैसे पानी नीचे की ओर बहता है, ऐसे ही कर्म स्वयमेव ही अपने सहज परिपाक को लाभ करता है। यही स्वभाव का बरतना है।

उसका विधान व्यक्तियों की परवाह करता हुआ नहीं चलता और न ही देश-काल की परवाह करता हुआ। सहज स्वाभाविक प्रकृति की विकासकारणी लीला है। वह चलता है। बस, वह प्रकृति अपने नियत मार्ग पर चलती चली जाती है। यह न होगा कि यह सब कुछ ही उस पुरुषोत्तम से है। परा-अपरा उसकी प्रकृतियाँ ही तो हैं जिनके द्वारा यह खेल होता है। वह इन दोनों भावों से परे रहता है, अतीत रहता है। यह तो अतिक्रान्त पुरुषोत्तम भाव है, उसकी ओर इशारा है इस प्रभु में और विभु में।

जो सिद्धावस्था की प्रतीति है, उसकी सत्यता का परिणाम यह न होना चाहिए कि हम साधनावस्था का तिरस्कार करें। यदि हम अपने वर्तमान ज्ञान की सीमाओं को और विकारों के अस्तित्व को स्वीकार न करेंगे और उनके द्वारा उनमें से आगे चलने की चेष्टा न करेंगे तो सिद्धस्थिति कभी लाभ ही नहीं हो सकेगी। साधना की मांग है कि तुम जो और जैसे हो वहीं से आगे चलो। ऐसा सम्भव है उसी स्थिति के अनुकूल साधना करने से। भगवान् ही कराने वाले हैं, इस बौद्धिक ज्ञान का आश्रय लेकर साधना की भावना का परित्याग करना निपट मूढ़ता होगी। साधना बलात्कार से छूटा करती है, छोड़नी नहीं होती, यह याद रखने की बात है।

अब संन्यास के परिणामस्वरूप जगने वाला ज्ञान कैसा है और उससे क्या होता है, वह बताते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥16॥

'जिनके आत्मा के ज्ञान के द्वारा, वह अज्ञान नष्ट कर दिया गया है, उनका ज्ञान सूर्य की भाँति उस परमतत्व को प्रकाशित कर देता है'॥16॥

अज्ञान ने ज्ञान को ढांप रखा है, इसलिये प्राणी मोह में पड़ते हैं, ऐसा पिछले श्लोक में कहा है। परन्तु वह अवस्था तो जाने वाली है। विकास-क्रम में क्रमशः ज्ञान बढ़ता है, समझ बढ़ती है और अज्ञान दूर होता जाता है। अज्ञान क्या है? अधूरा जानना और अधूरा समझना। जो समूची तस्वीर को ठीक देखता है, उसे वस्तुओं की ठीक-ठीक प्रकृति और मूल्य समझ में आ सकता है। समष्टि को जान लेने से व्यक्ति के स्थानादि का ठीक पता चल पाता है।

विकासक्रम में क्रमशः अधिक ऊँची, अधिक गहराई तक जाने वाली और अधिक विस्तृत चेतना जगती है। अधिक समझ आती है। मोह का कारणभूत अज्ञान नष्ट होता जाता है, जैसे-जैसे वह चेतना हमारे मन, बुद्धि आदि में व्याप्त होती जाती है। समय आता है जब व्यक्ति को सभी कुछ के पीछे जो अव्यक्त है उसका हाथ दीखने लगता है कण-कण में। प्रकृति में से प्रकृति के पार परमेश्वर की ओर दृष्टि उठती है। वह उसको गहरे में, सभी के हृदयस्थल में भी ढूंढ़ लेती है। सभी कुछ जगमगा उठता है उसकी सत्ता से। सभी खेल उसी में और उसी का दीखता है।

ज्ञान अज्ञान को नष्ट करता है। ज्ञान की जागृति से अज्ञान वास्तव में स्वतः ही दूर हो जाता है। किसी और चेष्टा की आवश्यकता ही नहीं रहती।

अज्ञान कहाँ बसता है? निम्न स्तरों की सीमित चेष्टा का नाम ही तो अज्ञान है। अजागृत चेतना की स्थिति में ही ऐसा हो सकता है और इसी को तो अज्ञान कहते हैं। आत्मा तो ज्ञानरूप है ही, इसमें सन्देह नहीं। भीतर छिपा ज्ञान प्रकट होता है, विकास के क्रम में आगे-आगे बढ़ने पर। बीज में पौधा छिपा तो रहता है, परन्तु प्रकट होता है विशेष प्रकार के प्रभावों को पाकर ही। ठीक ऐसा ही सत्य है आत्मा के विषय में। अतः 'आत्मनः' – अपने आत्मा के। यह ज्ञान अथवा अज्ञान किसी के साथ भी लगाया जा सकता है। आत्मा का अज्ञान या आत्मा का ज्ञान। 'जिसके आत्मा के ज्ञान के द्वारा वह

अज्ञान' ऐसा भी अर्थ ठीक ही है और 'जिनके ज्ञान के द्वारा वह आत्मा का अज्ञान' ऐसा भी।

उस ज्ञान का परिणाम क्या होता है? वह ज्ञान **'तत्पर'** – उस परमतत्व को – पुरुषोत्तम को – सूर्य की भाँति प्रकाशित कर देता है। उस परमतत्व की प्रतीति हो जाती है, उस ज्ञान के जग जाने से। जब हम कर्म के बन्धन से रहित हो जाते हैं 14वें तथा 15वें श्लोक में वर्णित रहस्य पाकर तब 'प्रकाश' होता है। तब भगवान् की अनुभूति होती है। हम उस भागवती चेतना में प्रवेश कर पाते हैं, वह जो अनन्त है और आनन्दमय है उसमें।

क्या वह बोध और उस भागवती चेतना में प्रवेश अलग-अलग हैं? वह पूर्वरूप है। वह अन्तःशोधन है, यह दिव्यीकरण है। बस, इतना ही अन्तर है। वह मल-निर्मोचन है, यह रंग देना है। ज्ञान का अनिवार्य परिणाम होती है यह स्थिति। वास्तव में यह उसका परिपाक ही है। इसके लिए कुछ चेष्टा की आवश्यकता नहीं। जैसे पका हुआ फल टपकता ही है, ऐसे ही ज्ञान का परिणाम भागवती चेतना की जागृति होना ही है।

रास्ते पर चलता हुआ ज्ञान को पाता है। **'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'** और ज्ञान का सहज परिणाम होता है पुरुषोत्तम में स्थिति। आत्मा का ज्ञान ही ज्ञान कहलाता है। आत्मविकास में यह सहज जागृत होता है। यह बौद्धिक-ज्ञान नहीं, यह याद रखना चाहिए।

कैसे प्रकाशित करता है? आदित्यवत् – सूर्य की भाँति। जैसे सूर्य के प्रकाश से चकाचौंध हो जाती है, कुछ छिपा नहीं रहता। सभी प्रकट हो जाता है, ऐसे ही भगवान् प्रकट हो जाते हैं। दीपक का प्रकाश नहीं, सूर्य का सा प्रकाश होता है ज्ञान का उजाला।

जिनके भीतर ज्ञान जगता है, वे प्रभु को जान पाते हैं। उनके ज्ञान से दूसरे तो नहीं देख पाते। यह अनुभूति है। व्यक्ति विशेष तक सीमित है। इसीलिए कहा 'उनका ज्ञान' 'तेषां ज्ञानम्'।

तत्परम् – वह पर। वह जो परे है। वह जो अतिगामी – सभी का अतिक्रमण करने वाला तत्त्व है – पुरुषोत्तम है।

क्या कोई दूसरी सत्ता परमसत्ता को प्रकाशित करती है? जैसे दीपक के उजाले से हम पुस्तक देखते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश से हम संसार देखते हैं ऐसा नहीं हो सकता? उसके प्रकाश से ही तो सभी कुछ प्रकाशित है। तो

ज्ञान उसे प्रकाशित करता है, इसका अर्थ? ज्ञान उससे अलग नहीं है। उसके प्रकाशित होने का पूर्वरूपमात्र है ज्ञान। ज्ञान तो वह चेतना है जिसमें आत्मा का भान होता है और उसका प्रकाश उसके अनन्तर, उसके उपरान्त जगने वाली भागवती-चेतना है।

भक्त तो भगवान् को ही चाहता है। ज्ञान तो उसे बिना चाहे मिल जाता है। जिन्हें वह प्राप्त हुआ है, उनकी गति क्या होती है?

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥17॥

'ज्ञान के द्वारा जिनके पाप धुल गये हैं, जिनकी बुद्धि प्रभु में लगी है, उसी में आत्मा है जिनकी, उसी की निष्ठा वाले और उसी के परायण हुए जन्म-मरण से रहित हो जाते हैं'॥17॥

उस प्रकाश का, उस प्रभुदर्शन का, उस भगवती-चेतना की अनुभूति का परिणाम क्या होता है? व्यक्ति की बुद्धि प्रभु में निवास करने लगती है। यही चेतना व्याप्त हो जाती है बुद्धि में। वह स्मृति सतत हो जाती है। सभी मानसिक-क्रियाओं की वह पृष्ठभूमिका बन जाती है और वृत्तियाँ जगती और तिरोहित होती हैं, परन्तु वह समानरूप से बनी रहती है। जिस जागृति का यह सहज परिणाम नहीं, वह उत्तम चेतना की सम्यक् जागृति नहीं है। वह साधना-क्रम में परिपाक नहीं है अभी। वह उत्तम अवस्था है जिसमें चेष्टा के बिना सौम्य-स्मृति होती है – नहीं; विकास होता है बुद्धि का उसमें।

इतना ही नहीं, 'तादात्म्य' हो जाता है व्यक्ति। हमारा आत्मभाव उसी में रहता है। उसमें निवास करने लगते हैं। अतः आन्तरिक-जगत् में उससे कभी अलग होने की प्रतीति ही नहीं होती। जुड़ से गये हों हम सदा-सदा के लिए, ऐसी अनुभूति रात्रि-दिवस बनी रहती है। परन्तु, यह शान्त और सम अनुभूति होती है। यह वाणी का विषय नहीं है, अनुभवगम्य ही है। हम उसमें रहते हैं और वह हममें रहता है। 'मैं तू और तू मैं' हो जाते हैं।

'तन्निष्ठा' उसमें निष्ठा हो जाती है – विश्वास, श्रद्धा, आस्था। जो जीवन की गति ही बन जाये, वह निष्ठा होती है। हम उसे ही चाहते हैं उसे ही रिझाते हैं, उसी के लिए जीते और उसी के लिए कर्म करते हैं। जीवन

की गतिविधि, सर्वस्व, जीवन, प्राण वही हो जाता है। उसके सिवाय किसी के लिए स्थान नहीं रहता। सभी नाते, सभी आकांक्षायें, सभी कर्त्तव्य सभी दुलार, उसी एक में डूब जाते हैं। उस सांवरे को देखकर यह पागलपन जग जाना स्वाभाविक है। गोपियों की प्रभुनिष्ठा में यही अनन्यता होती है। वही हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है।

'तत्परायणाः' – उसके परायण हुए। ऐसे परमाश्रय को पाकर व्यक्ति और किस घर को ढूँढेगा? अयन घर को कहते हैं। वह हमारा पक्का घर बन जाता है। उससे परे कोई आश्रय नहीं रहता और उसके परे भी कोई आश्रय नहीं रहता। सभी आश्रयों का वही आश्रय दिखाई पड़ने लगता है। हमारे लिए दाताओं का वह दाता बन जाता है। सेवकों की वह बांह दीखता है, दयालु की वह दया होती है और पथप्रदर्शक की वह बाज़ी। उसके बिना और ठौर कहाँ है।

जाऊँ कहां तजि चरण तिहारे?

इस प्रकार कह उठता है उसका हृदय।

जब ऐसे परमपिता का आश्रय मिला है तो फिर अपनी सोच क्यों कर? निर्भर होने का प्रमाण है निश्चिन्तता। पूरी निर्भरता, पूरी परायणता तो सर्वथा लौकिक, पारलौकिक निश्चिन्तता है। जो परायण होकर भी अपने भविष्य के लिए या किसी दूसरे के भविष्य के लिए चिन्तित है, उसने अभी इस परायणता के तत्त्व को पाया नहीं। इस तत्परायणता के मद से मस्ताना हुआ भक्त विचरता है इस भूतल पर।

और अन्त में कहा – **'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'।**

कल्मष – पाप होता है। ज्ञान भलीभाँति धो देता है इसको। संस्कार का लेश नहीं रहता। बच्चे की तरह निस्पर्श-अछूते पवित्र हो जाते हैं। ज्ञान दग्ध कर देता है सभी संस्कारों को। कालिमा तो पुण्य की भी होती है। वह भी धब्बा होता है। सन्त तो आर-पार दर्शी हो जाते हैं, शीशे की भाँति। ज्ञान कर देता है उनको इस प्रकार का – वही ज्ञान जिसके उपरान्त प्रभु की प्रतीति जगती है।

'भला निर्मल हुए बिना प्रभु के तत्व को पाया जा सकता है? उसमें प्रवेश पाया जा सकता है कहीं?' उसमें समाने से पहिले अपने सारे संस्कारों की पोटली रख देनी होगी। उसमें तो अवस्त्र होकर ही घुसा जाता है। ऐसे

होकर जाया जाता है कि हम जगह न घेरें – अछूते रहें। ज्ञान से यह सभी कुछ होता है।

वह बुलाता है तो ज्ञान भी देता है। ज्ञान कहीं किसी और ठौर से प्राप्त नहीं होता। वह निर्मल करके अपने में ले लेता है।

ऐसे सन्तों की क्या गति होती है? वे लौटकर यहाँ नहीं आते। जन्म-मरण से रहित जो मार्ग है, उस पर वे चले जाते हैं। वे जाते हैं तो फिर लौटने के लिये नहीं; जैसे सामान्य लोग जाते हैं वैसे नहीं। प्रभुदर्शन से जन्म-मरण तो समाप्त हो ही जाता है, इसमें क्या सन्देह।

कैसी स्पष्ट भाषा में सन्तपद का वर्णन किया गया है? वास्तव में उसकी कृपा ही ऐसा रंग सकती है। वह झलक देता है और अपनी ओर बांध लेता है। वह झलक तो चली जाती है, उसका आश्वासन रह जाता है और रह जाती है फड़फड़ाहट उसे पाने के लिये। अभी भीतर निम्न प्रकृति का प्राबल्य होता है। अब वह साधना करता है और तड़फता भी है उसी के लिए। निर्मल होता जाता है, आँखें खुलती जाती हैं, विज्ञान तथा ज्ञान का क्षेत्र खुलता जाता है। फिर आती है उसकी झलक। नूतन अवलम्बन मिलता है, नूतन शान्ति, स्थिरता और आनन्द मिलता है। व्यक्ति आत्मदान के पथ पर अग्रसर होता है। क्रमशः उसकी प्रतीति सततवाहिनी हो जाती है। चलते-चलते पूर्व प्रवेश की अनुभूति होती है। यह है हमारे साधन-पथ का सिलसिला।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥18॥

'पण्डित लोग, विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल के विषय में समदृष्टि वाले होते हैं'॥18॥

कौन है यह पण्डित? जिसकी चर्चा ऊपर हो रही है, वही जो संसार बन्धन से मुक्त हुआ विशुद्ध सन्त है। उसी के विषय में यह कथन है।

पण्डित – जिसके भीतर विशेष समझ (पण्डा) जगी हुई हो। अधिक जानकारी से व्यक्ति पण्डित नहीं होता। समझने की योग्यता से और पैदा हुई समझ से पण्डित होता है। अपठित भी तो सन्त हुए हैं। मध्ययुग के सन्तों ने तो पोथी की विद्या को प्रायः लाभ नहीं किया था। श्रीराम-कृष्ण परमहंस भी तो प्रायः अपठित ही थे। कोई-कोई सन्त तो इस पोथी-ज्ञान को वास्तव

में प्रभु के पथ का बाधक ही समझते हैं। जहाँ तक यह अभिमान को पुष्ट करता है और मति को उलझाता है, वहाँ तक तो यह सत्य ही है इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु, सर्वत्र ऐसा ही प्रभाव नहीं होता है इसका।

सन्तों की दृष्टि सम होती है। सम का अर्थ है बराबर। उन्हें ऊँचा-नीचा नहीं दीखता। उन्हें कोई आदर तथा तिरस्कार का पात्र नहीं दीखता। क्या वस्तुओं और व्यक्तियों की विशेषताएँ दीखनी बन्द हो जाती हैं प्रभुपद में प्रतिष्ठित होने पर? क्या भेदज्ञान ही निर्मूल हो जाता है? वास्तव में समदृष्टि अंधापन नहीं है। वह तो सभी तस्वीर को समग्र रूप से देखना है। 'सभी उसमें हैं, उससे हैं और उसी की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। वही वास्तव में विभिन्न रूपों में लीला करता है – यह देखना है। जब हम हर रूप में, रंग में, क्रिया के गुण तथा दोष में उसी को पहिचान लेते हैं, तब हम सभी कुछ देखते हुए भी सभी के प्रति सम रहते हैं। गुण-दोष तो उसी एक की अगणनीय स्थितियाँ मात्र प्रतीत होती हैं। हम उसे ही पहिचानते हैं और उसी से बरतते हैं। भीतर समता होती है। हम सभी को समानरूप से स्वीकार करने लगते हैं। वैर-विरोध के लिए, राग-द्वेष के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। वास्तव में जब तक व्यक्ति के हृदय में राग-द्वेष रहता है वह उस सम को, जो समानरूप से सबके भीतर छिपा है, बैठा है, लीलामय है, उसे पहिचान ही नहीं पाता। ये राग-द्वेष ही हैं जो वैषम्य को रचते हैं और उस 'सम' को आँखों से ओझल कर देते हैं।

वह परमतत्त्व सम है। सभी में समान रूप से है, जैसे आकाश तथा वायु है। वह सम है और जगह नहीं लेता है। इसीलिये सभी उसमें हैं और वह कम नहीं होता। वह कुछ मांग नहीं करता, इसलिए उसमें और उससे विषमता नहीं आती, परमतत्त्व की समता का बोध ही समत्व की दृष्टि प्रदान कर सकता है। उसे पहिचान कर ही, उस परमतत्त्व में जग कर ही तो व्यक्ति सम हो सकता है वास्तव में सबके प्रति।

यह समदृष्टि बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक-समता वास्तविकता का निराकरण है और जीवन का हनन है। वैषम्य सृष्टि का नियम है। गुण-वैषम्य से ही तो सृष्टि है। गुणसाम्य तो प्रलय होता है। प्रकृति में नितान्त समता तो ढूँढ़े नहीं मिलती। गेहूँ के दो दाने भी तो बिल्कुल समान नहीं होते। अतः समता बौद्धिक-जगत् में सम्भव नहीं। इस वैषम्य के परे, इसके मूल में है

अध्यात्म की समता। वह जो समानरूप से सबका अवलम्बन है, वह सम है। बिल्कुल सर्वथा सम है। सन्त की दृष्टि तो सर्वदा उसी पर केन्द्रित रहती है। विषमता तो पीछे पड़ जाती है, गौण हो जाती है, नगण्य हो जाती है। यह ब्राह्मण है अथवा चाण्डाल है, यह प्रश्न ही नहीं होता। वह भगवान् है इस रूप में या उस रूप में, यह बोध होता है। 'वासुदेवः सर्वमिति' – वासुदेव ही सब कुछ है – यह भान हुआ तो कैसा ब्राह्मण और कैसा चाण्डाल? भगवान् ही भगवान् रह जाता है। यह समता अतिमानुषी-स्तर में आती है।

लोगों से कैसे बरतेगा ऐसा सन्त? सौम्यरूप से, सम-रूप से। **'सर्वभूतहिते रताः'** होता है सन्त। वह भूतमात्र के कल्याण में लगा होता है। यह है व्यवहार का पैमाना। उसके समत्व-बोध का आधार बाह्य व्यवहार नहीं। उसमें जगी हुई समत्व की चेतना आधार है। व्यवहार में वह समत्व बौद्धिक पैमाने को लेकर नहीं आता। जैसा व्यवहार जिसके लिए श्रेयस्कर होगा, उस समय वैसा ही उसके लिये होगा। जिस समय जैसा उचित होगा, उस समय वैसा ही बरतेगा। कभी वह आदर देगा, प्यार देगा और कभी दूर रखेगा। किसी को बहुत नजदीक बुलायेगा और किसी को दूर रखेगा।

जो लोग अपनी बौद्धिक-समता के पैमाने पर सन्त के व्यवहार को कसते हैं वे अध्यात्म को नहीं जानते, वे इस समता के रहस्य को नहीं समझते। जैसे वह सम-तत्त्व पुरुषोत्तम इतने महान् वैषम्य द्वारा प्रकट होता है, ऐसे ही सन्त की समदृष्टि व्यवहार के वैषम्य के द्वारा प्रकट हो सकती है, होती है। उसी में कल्याण है, सजीवता है, स्वामित्व है और अलौकिकता होती है। यह एक कसौटी है, उसके भीतर से सारा व्यवहार करते हुए भी समता का लोप नहीं होता, राग द्वेष का उदय नहीं होता, काम-क्रोध का आविर्भाव नहीं होता। यदि वह कुछ हो जाता है तो अभी सन्त पद की प्राप्ति दूर है।

पाशविक-स्तर से नाम लेकर स्पष्ट करते हैं समता को। गाय, हाथी तथा कुत्ते में समदर्शी होते हैं। गाय पवित्र है, पूज्य है माँ के स्थान पर है। हाथी उपयोगी जानवर है, परन्तु कोई पवित्रता-अपवित्रता के भाव उसके साथ नहीं लगे हैं। कुत्ता अपवित्र समझा जाता है। सन्त के लिए तीनों बराबर हैं। जब हमारा किसी प्रकार स्वार्थ साधन शेष नहीं रहता तो भी दूसरे सम हो जाते हैं हमारे लिए। लौकिक अथवा पारलौकिक स्वार्थ-सिद्धि की कामना भी तो विषमता का कारण होती है।

सन्त तो समान रूप से तीनों में ही प्रभु को देखता है। तीनों में ही उसको नमस्कार कर सकता है। तीनों से प्यार कर सकता है।

और व्यवहार? क्या तीनों को एक सा और एक बराबर खाना देगा सन्त? कदापि नहीं। वैसा करना भीतर बैठे प्रभु का तिरस्कार करना होगा। जैसी काया है वैसी ही उसकी आवश्यकताएं होनी स्वाभाविक हैं। समता का अर्थ है उनको ठीक-ठीक पूरा करना। गाय को उसकी आवश्यकतानुसार भोजन, स्थान और प्यार, और हाथी को उसके अनुकूल, कुत्ते को कुत्ते के लायक।

इसका अर्थ है –सन्त सम होता है भीतर, व्यवहार-कुशल होता है बाहर, वह मूर्ख नहीं होता। औरों से अधिक समझता है मनुष्यों और जानवरों को। तभी तो हित कर सकता है दूसरों का। तभी तो उसका अनुशासन चलता है बिना चाहे ही। ब्राह्मण के साथ विशेषण लगा है 'विद्या और विनय से सम्पन्न'। चाण्डाल और ऐसे ब्राह्मण में लौकिक दृष्टि से कितना अधिक भेद होता है इसे जताने के लिए, बाह्य वैषम्य पर ज़ोर दिया गया है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥19॥

'जिनका मन समता में स्थित है, उन्होंने यहीं पर (इस लोक में ही) जन्म-मरण को जीत लिया है। निश्चय ही ब्रह्म दोषरहित और सम है। अतः वे ब्रह्म में स्थित हैं'।।19।।

ऐसे आन्तरिक साम्य को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्तियों के विषय में कहते हैं – 'उन्होंने यहीं जन्म-मरण को जीत लिया है'। यहीं पर – जीते जी ही, इस देह में रहते हुए ही, इसी लोक में, भूलोक में निवास करते-करते वे जीवनमुक्त हैं, उन के बन्धन कट चुके हैं। जिनके कुछ संस्कार अभी शेष हैं, वे शरीर छोड़ने पर ही बन्धन से मुक्ति अनुभव करते हैं। परन्तु जिनके सभी संस्कार दग्ध हो चुके हैं वे जीते ही मुक्त हो जाते हैं।

जैसा कि पीछे भी कहा है बिना राग-द्वेष से नितान्त मुक्त हुए नितान्त साम्य नहीं होता। बिना संस्कारों के पूरी तरह समाप्त हुए, राग-द्वेष से नितान्त मुक्ति कहां? जो धुल गया है, बन्धन-रहित हो गया है, वही इस साम्य को लाभ करता है। यह वही साम्य है जिसका रूप है 'वासुदेवः सर्वमिति'। उसके लिए ही तो कहा है 'अनेक जन्मों की साधना के उपरान्त मुझे पाता है'।

जो बुद्धि की समता है, स्थितप्रज्ञ की, और यह जो साम्य है, उनमें यह साम्य बहुत बड़ा है। वह स्थिरता तो संयम पर आश्रित है और यह समता उस समतत्व की अनुभूति पर स्थित है। उसमें तनाव है, पतन का भय है। इसमें सौम्यता है और निर्भयता है। वह मुक्ति का मार्ग है और यह साक्षात् जीवन्मुक्ति है। यह तो पूरा-पूरा भगवान् में ही निवास है।

ब्रह्म निर्दोष है और सम है। ब्रह्म है परमतत्व, वही जो पुरुषोत्तम है। वह दोषरहित है, विकाररहित है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहमादि दोष हैं। इन्हीं के कारण विषमता होती है। भीतर विषम होता है। बाह्य जगत् में उस विषमता का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह भी विषम हो जाता है। कोई प्रिय कोई अप्रिय हो जाता है, कोई ऊँचा और कोई नीचा हो जाता है। भगवान् तो इन दोषों से रहित हैं और वे सम हैं। इन दोषों के अभाव में ही समता सम्भव है। ब्रह्म सम है –

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (9/29)

'मैं सभी भूतों के प्रति सम हूँ। न मेरे लिए कोई द्वेष के योग्य है और न प्यार के योग्य है। अर्थात् राग तथा द्वेष किसी के लिए भी नहीं।

विषमता हो तो भगवान् भगवान् नहीं रहता, शैतान बन जाता है। वह मानुषी-स्तर पर उतर आता है। वह सम है इसीलिए सभी का है और सब कोई उसके हैं। वह सम है तभी तो सभी का उत्पत्ति स्थल है और सबका आधार है। वह सम है तभी तो सब को स्थान दिये है। भगवान् को सम कहा जाए, इस नाम से पुकारा जाय, तो उचित ही होगा।

क्योंकि प्रभु सम है, जो समत्व की चेतना को लाभ किए है, वह उस सम में स्थित है, भगवान् में ही स्थित है। वे तो उसी में ही रहते हैं। वे तो जीवन्मुक्त हैं ही। उन्हें बन्धन कैसा? भगवान् में रहकर बन्धन की सम्भावना ही नहीं रहती।

ऐसे सन्त का और परिचय देते हैं –

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥20॥

'ब्रह्मवेत्ता – ब्रह्म में स्थित हुआ ऐसा व्यक्ति प्रिय को प्राप्त कर प्रहर्षित नहीं होता और अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता। उसकी बुद्धि स्थिर

होती है और उसे कभी मोह नहीं होता'।।20।।

ब्रह्मवित्-ब्रह्म को जानने वाला। जिसे बौद्धिक-बोध है श्रवण तथा मनन से। जिसमें प्रभुचरणों की प्रीति जगी है, विश्वास और श्रद्धा भी है, वह ब्रह्मवित् है। गीता की भाषा में हम उसे ज्ञानी या ज्ञानवान् कहेंगे (देखिए अध्याय 7, श्लोक 16 और आगे)। वह अभी साधक है। अनेक जन्मों के उपरान्त वह प्रभु को पाता है (7-19)।

'ब्रह्मणि स्थितः' तो भगवान् में स्थित – निवास करने वाला व्यक्ति है वह जिसने उसे पा लिया है। उसके लिए वियोग समाप्त हो गया है। जो सिद्ध सन्त है, जो जीवन्मुक्त है, जिसकी चर्चा ऊपर हुई है वह 'ब्रह्मणि' स्थित है। ब्रह्मवित् कहने का विशेष प्रयोजन? क्या ब्रह्मस्थित बिना ब्रह्मवित् हुए सम्भव है? 'ब्रह्मस्थिति' को अधिक स्पष्ट करने के लिए ही प्रयोग हुआ प्रतीत होता है।

ऐसे व्यक्ति की बुद्धि स्थिर होती है। वह स्थितप्रज्ञ होता ही है। बौद्धिक चंचलता समाप्त हो चुकी होती है। तभी तथ्य का ठीक-ठीक भान होता है। बाह्य उतार चढ़ावों से, प्रकृतिगत स्पर्शों से वह दोलायमान नहीं होता। प्रभु को प्राप्त हुए व्यक्ति में यह मति की स्थिरता सहज ही प्रकट होती है, भले ही उसने विशेष कर उसे प्राप्त करने के लिए साधना न की हो।

वह व्यक्ति असंमूढ़ होता है। भ्रान्ति से नितान्त रहित होता है। मोह का, अज्ञान का उसे स्पर्श भी नहीं हो सकता। भगवान् में निवास और अज्ञान साथ-साथ रह ही नहीं सकते, जैसे सूर्य में अन्धकार का वास नहीं हो सकता। *जनकादि को जो मोह कहा जाता है, वह क्योंकर? वह किसी कारण से भी हुआ हो। परन्तु यह निश्चित है कि जब व्यक्ति को प्रभु में निवास प्राप्त हो गया हो तो फिर मोह नहीं होता।

यह ब्रह्मणि स्थिति एक दम से पूरी नहीं होती। भागवती-चेतना क्रमशः स्थायीभाव में उतरने लगती है। पहिली अवस्थाओं में संस्कार अभी शेष रहते हैं और उनके क्षय के लिये भागवती-चैतन्य का कुछ समय के लिए हटना ही आवश्यक और हितकर होता है विकास की दृष्टि से। क्रमशः विकारों और संस्कारों का क्षय होने लगता है और उस चेतना का निर्बाध साम्राज्य

*जनकादि को मोह न था, वह तो प्रभुचरणों की परा प्रीति थी, वह भगवान् की विशेषता थी, वह उनकी कमी न थी।

स्थापित हो जाता है। फिर व्यक्ति 'असंमोह' की स्थिति प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह कभी मोह में नहीं पड़ता।

ऐसे सन्त की क्या दशा होती है? वह प्रिय को पाकर खिल नहीं उठता। प्रिय अनुभूति उसमें ज्वार-भाटे की तरह उभाड़ नहीं लाती। वह छोटी सी लहर की तरह समा जाती है उसकी समता में। इसका उसके आन्तरिक सन्तुलन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अप्रिय अनुभूति से वह घबराता नहीं, चिन्तित अथवा क्षुब्ध नहीं होता। कोई हड़बड़ाहट नहीं होती। वह बिना चेष्टा के ही अपना सहज स्वामी बना रहता है। लौकिक दृष्टि से जो महत्त्व का है वह उसकी दृष्टि में वैसा नहीं रहता। वह तो काल के अनन्त पटल पर उस कारीगर को अपनी तस्वीरें खेंचता हुआ, रंग लगाता हुआ, मिटाता और बनाता हुआ देखा करता है। वह साक्षी बन जाता है उस यज्ञेश्वर की महती लीला का।

इसका अर्थ है कि सन्त के भीतर सन्तुलन बना रहता है। न दिमाग में ही हल-चल होती है न दिल में ही तूफान आते हैं और न आँखों पर मोह का पर्दा पड़ता है। वह भीतर बाहर सम, सन्तुलित, स्वामी बना रहता है। आगामी श्लोक और अधिक परिचय देता है ऐसे सन्त का।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥21॥

'बाहर के स्पर्शों में लगाव न रखने वाला व्यक्ति आत्मा में जिस सुख को लाभ करता है, ब्रह्मयोग द्वारा युक्त हुई आत्मा वाला वह (सन्त) अक्षय सुख को भोगता है'॥21॥

ऐसे भगवत्प्राप्त व्यक्ति के सुख की चर्चा है इस श्लोक में। उसका सुख कैसा है? एक उदाहरण देकर बताने की चेष्टा की है। वह सुख अक्षय है – जिसका क्षय न हो सके, जो कभी समाप्त ही न हो, वह अक्षय होता है।

उस स्थिति को लाभ कर लेने वाले व्यक्ति को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द कभी कम नहीं होता। रात-दिन एकरस रहता है। आँखें मूँदने और खोलने में कोई अन्तर नहीं रहता। दिन, महीने और बीतते हुए वर्ष कोई फ़र्क नहीं डालते। वह आनन्द से भरा रहता है, परन्तु वह आनन्द मतवाला नहीं करता। जो मतवाला करता है, उसमें अभी तमस् तथा राजस्

का प्रभाव है। वह एक सा रहने वाला ही नहीं होता। वह तो शराब की सी मादकता होती है जो उतर जाती है। यह जो प्रभु प्राप्ति से होने वाला आनन्द है, यह सूक्ष्म होता है, सम और स्थायी होता है। वह समत्व की चेतना का साक्षी ही होता है। इसे आनन्द न कहकर सुख ही कहा है। यह क्षणिक अनुभव नहीं होता। वह तो चेतना की स्थिति ही होता है। अतः क्षीण होने का प्रश्न ही नहीं।

अनजान साधक खो जाने के लिए, मतवालेपन के लिए बिलबिलाया करते हैं। वह तो जाने वाला ही होता है और उसे जाना ही चाहिए विकास के लिए।

उस सन्त के लिए कहा 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' अर्थात् जिसकी आत्मा युक्त हो गई है भगवान् से, योग के द्वारा, कर्म के संन्यास के योग के द्वारा। कर्मों को प्रभु अर्पण करने की साधना ने जिन्हें भगवान् से जोड़ दिया है, वे लोग। वह प्रभु साधना ही से तो पाया जाता है, अनन्यता से ही तो उससे मिलन होता है, इसे मिलने के बाद फिर वियोग सम्भव ही नहीं होता।

कौन सा सुख? जो आत्मा में ही लाभ किया जाता है, जो सुख बाह्य स्पर्शों पर निर्भर नहीं करता। अतः जिसे लाभ करने के लिये बाह्य स्पर्शों से आसक्ति को छोड़ना होता है। जब तक बाहर के भोगों में लगाव है, चेतना भीतर सिमट नहीं पायेगी, वह आत्मा में स्थिर ही नहीं होगी। समाधि लाभ न होगी। अतः आत्म-स्थिति का, समाधि का, जो आनन्द है वह न मिलेगा।

वह आनन्द जो लोग समाधि लगाकर, निर्विकल्पावस्था को लाभ करके लेते हैं, वह इस प्रकार के सन्त के लिए सुलभ होता है। उसे तो आँखें भी नहीं मूँदनी होतीं, न प्राण चढ़ाने होते हैं। वह अक्षय सुख का भण्डार हमेशा उसे प्राप्त होता है। बाहर के स्पर्शों से चेतना को खींचने से ही समाधि की अनुभूति सम्भव है। समाधि है, चेतना का किसी स्तर में अथवा केन्द्र में अवरुद्ध हो जाना पूर्णरूपेण। उसके लिए और स्तरों और केन्द्रों से उसे हटाना आवश्यक हो जाता है।

अब स्पर्शगत सुखों के विषयों में कहते हैं –

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥22॥

'जो संस्पर्श से प्राप्त होने वाले भोग हैं, वे दु:ख के उत्पत्ति स्थान ही हैं। उनका आदि और अन्त है, हे अर्जुन! बुद्धिमान् उनमें रमण नहीं करता'।।22।।

ऊपर कहा था कि बाह्य स्पर्शों में अनासक्त होकर ही आत्मस्थिति होती है। अब उस विषय के तथ्य को प्रकट कर रहे हैं।

प्रकृति के स्पर्श से सुख तथा दु:ख होते हैं। अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दु:ख होता है। इन्द्रियाँ प्रकृति के विषयों के सम्पर्क में आती हैं। यदि वह स्पर्श अनुकूल होता है तो सुख की प्रतीति होती है, अन्यथा दु:ख की। जब हम इन्द्रियों को सुख के लिए बरतते हैं और घने सुख को चाहते हैं तो प्रकृति का स्पर्श भी घना होना चाहिये। उसे संस्पर्श कहा जाता है। भोग के लिए संस्पर्श आवश्यक है।

सुख स्पर्श में नहीं, अनुकूलता तथा प्रतिकूलता में है। हम स्पर्श कैसे ग्रहण करते हैं, उसमें है। वही स्पर्श कभी प्यारा लगने लगता है कभी काटने लगता है। यह न भूलना होगा।

ऐसे भोग दु:ख के उत्पत्ति स्थान हैं। ऐसे सुखोपभोग का परिणाम दु:ख होता है। हम प्रकृति से सुख पाने के लिए इन्द्रियों को साधन बनाते हैं। यह उनका दुरुपयोग होता है। इसके लिए शारीरिक दु:ख के रूप में मूल्य देना पड़ता है। जिह्वा को रसास्वादन के लिए बरतते हैं, रस मिलता है और आमाशयगत विकार सहना पड़ता है। रसास्वादन के लिए इन्द्रियों का उपयोग प्रकृतिगत नियमों को चुनौती देता है और व्यक्ति प्रलोभन में फँस जाता है। प्रकृति से जो सुख मिलता है, वह क्षणिक होता है। अत: लालसा को जागृत कर देता है। तृप्ति की जगह अतृप्ति होती है। जितना भोगें उतनी ही लालसा की ज्वाला बढ़ती है। व्यथित होता है व्यक्ति और तृप्ति के लिए पच-पच मरता है। भोगते-भोगते ही सुख अदृश्य हो जाता है। ठण्डक तो पल भर भी नहीं रहती। जलन, अभाव की जलन, रह जाती है रुलाने के लिए। परिणामस्वरूप वासनायें प्रबल होती हैं, पशुत्व प्रधान होता है। दु:ख की परम्परा लम्बी होती चली जाती है। इस प्रकार से भोग दु:ख के कारण हो जाते हैं।

भोग आदि-अन्त वाले हैं। भोग आता है और देखते-देखते विलीन हो जाता है। उसकी जीवनलीला ही इन दो सिरों 'आना और जाना' में समाप्त

हो जाती है। क्षणिकत्व ही उसका परिचय है। अस्थिरता ही उसका धर्म है। स्थिर होने पर भोग, भोग ही नहीं रहता। सुख का सुखपना समाप्त हो जाता है। वह सामान्य हो जाता है – बासी हो जाता है।

ऐसा होने पर भी भौतिक सुखों के पीछे क्यों लोग इस प्रकार भागते हैं। उनकी दृष्टि क्षणिक है। वे अनुभव की परम्परा को नहीं देख पाते। वे देखते हैं आने वाले सुख को और उसके पीछे भागते हैं मदहोश हुए। वह मिलता है और समाप्त होता है देखते-देखते। और भोग आता है, उसके पीछे भी ठीक पहिले की तरह भागते हैं। जैसे एक कीड़े की दृष्टि छोटी सी लम्बाई तथा चौड़ाई तक ही सीमित है, ऐसे ही सामान्य व्यक्ति की दृष्टि वर्तमान भोग तक ही सीमित रहती है। दौड़ के आनन्द को ही वह जानता है। हलचल की गर्मी का सुख ही उसके अनुभव में आता है, अतः उसी में रमा रहता है। जब इस प्रकार के बहुत अनुभव होते हैं, जब दीवार से टक्कर लगती है, निराशा होती है, तब विचार जागता है। तब ज़रा दूर आगे तथा पीछे देखने लगता है। भीतर भी नज़र जाती है। तब समझ आती है कि यह तो अन्धी दौड़ थी, कोल्हू के बैल की सी, जिस दौड़ को दौड़ने में वह लगा हुआ था। तब वह बुद्धिमान हो जाता है। यह विकास-क्रम की आगामी सीढ़ी है – भोगवाद के आगे की।

बुद्धिमान् व्यक्ति भोगों के क्षणिकत्व को जानता है। इनके सुखपन के रहस्य को जानता है। इनके द्वारा होने वाले बन्धन को जानता है। चेतना के विकास में जो ये सीमा-बन्धन करते हैं उसे समझता है। वह जानता है यह भोग की लालसा, प्राण तथा मन की लालसा है। इनका अतिक्रमण करना आवश्यक है अपने पद में प्रतिष्ठित होने के लिए, भागवती-चैतन्य को जागृत करने के लिए। अतः वह भोग में आनन्द नहीं मानता, उसमें रम नहीं जाता।

कैसे पकड़ा जाता है मनुष्य? खाने से नहीं। खाने में आनन्द लेने से, उसके रस में डूब जाने से। जितना व्यक्ति रस में डूबता है, उतना ही वह रस उसे पकड़ लेता है।

हाँ, जिसने उस रसराज के रस को पा लिया है, वह रस लेता हुआ भी पकड़ा नहीं जा सकता। वह तो 'रसिक वैरागी' होता है, वह अलिप्त होता है। यह सन्त की स्थिति है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥23॥

'जो शरीर छूटने से पहिले यहाँ काम और क्रोध के वेग को सह सकता है वह मुक्त है, वह मनुष्य सुखी है'॥23॥

बाह्य सुखों में आसक्ति न हो, ठीक है, परन्तु जो आन्तरिक उद्वेग है, जो मनोगत विकार हैं उनसे भी तो मुक्त होना होगा। तभी समत्व होगा, तभी चैन हो सकती है।

काम तथा क्रोध प्रबल आन्तरिक विकार हैं, ये अन्तर्मंथन करते हैं। व्यक्ति को विक्षिप्त कर देते हैं। उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है, वह अन्धा हो जाता है, कुकर्म में प्रवृत्त होता है। तीसरे अध्याय के अन्त में भगवान् ने काम तथा क्रोध को ही तो मनुष्य का शत्रु कहा था।

सामान्य व्यक्ति तो इनके वेग को सह नहीं सकता, वह झुक जाता है। इनके अधीन होकर रहता है, अतः पापाचरण करता है। धीरे-धीरे बाहर से ठोकर लगती है, विचारशीलता जगती है, विवेक होता है, पश्चात्ताप होता है। फिर भी समय पर विवेक लुप्त हो जाता है। बह जाता है व्यक्ति काम क्रोध के वेग से। दूसरी अवस्था आती है – इनका वेग होता है, समझ भी रहती है कि यह ग़लत है, परन्तु मानो बलात्कार से कोई बहा ले जाता है। जानता बूझता व्यक्ति पाप करता है। यह दुःखदायी स्थिति होती है, व्यक्ति को नितान्त परवशता प्रतीत होती है। परन्तु, विकास की दृष्टि से देखते हुए, यह स्थिति तो विकार के वेग की क्षय होने की अवस्था है। भीतर चेतना की क्रमशः जागृति होती आ रही है, वह जागृति अभी और बढ़ेगी। वह चेतना प्राण को भी प्रभावित करेगी। तब काम तथा क्रोध का वेग क्षीण हो जायेगा। भीतर का बल बढ़ेगा और संस्कार प्रकट होकर क्षीण होंगे क्योंकि अन्तरात्मा तो विवेकाश्रित हुआ है; वह इन वेगों के निराकरण के लिए तैयार हो ही चुका है। जब तक अन्तरात्मा अनुमति देता है तब तक ही कोई प्रवृत्ति बनी रह सकती है। जब अन्तरात्मा निराकरण करने लगता है – दृढ़ता से, विवेक से, विश्वास से, तो प्रवृत्ति दुर्बल होने लगती है। यह काम-क्रोध के विषय में भी सत्य है।

अतः, विकासक्रम में इसके उपरान्त की अवस्था होती है, काम-क्रोध

के वेगों पर अधिकार की। वे जगते हैं, परन्तु उनके साथ ही उनसे अधिक बली विवेक जगता है और अन्तरात्मा का, इनका निराकरण करने वाला संकल्प जगता है। व्यक्ति विजयी होता है। तब दैवीप्रकृति का पक्ष प्रबल होता है। असुरों की पराजय होती है।

यह स्थिति है जिसका यहाँ वर्णन किया है। जो व्यक्ति काम-क्रोध के वेग को सह सकता है, वह मुक्त है, वह सुखी है। युक्त – साधना के रास्ते पर पड़ा हुआ। जुड़ गया है जो मार्ग में, जैसे बैल जुए में जुड़ जाता है। उसके जीवन में साधना ने उचित स्थान पा लिया है। उसका जीवन अपने लक्ष्य के लिये जीया जाने लगा है।

सुख का अनुभव इस अवस्था को लाभ करने पर ही होता है। जब व्यक्ति पहली बार शान्ति को अनुभव करता है, काम-क्रोध को परास्त देखता है, भीतर की निश्चलता का अनुभव करता है, एक अद्‌भुत सुख होता है। एक चञ्चलता का सुख है। दुनियाँ हाय-हाय में भी तो मस्त रहती है। कभी हाय-हाय का सामान न हो तो भी चैन नहीं पड़ती। व्यक्ति वैसा सामान बना लेता है। एक सुख होता है हाय-हाय से हटने का – उसे सौभाग्य वाला ही पाता है। उस सुख की यहाँ चर्चा है। व्यक्ति जितना विकारों से रहित होता है, उतनी ही वास्तविक शान्ति की प्रतीति करता है।

(इससे परे वह अवस्था है, जिसमें काम-क्रोध का वेग ही समाप्त हो जाता है। वह 'पर' के दर्शन से होता है, वह संस्कारों के नितान्त क्षय से सम्भव है, वही जो कर्म का नितान्त संन्यास है उससे।)

यदि व्यक्ति जीते जी वेग को सहने लायक हो गया है, इसी संसार में रहते-रहते हो गया है, तो उसने सचमुच मार्ग को पा लिया है और सुख का स्वाद चखा है।

फिर सिद्ध योगी की स्थिति का वर्णन करते हैं –

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥24॥

'जिसे भीतर से सुख लाभ होता है, जो भीतर ही रमण करता है और भीतर से ही जिसे प्रकाश प्राप्त होता है, वह योगी ब्रह्मभाव को प्राप्त करके भीतर ब्रह्मनिर्वाण को पाता है'॥24॥

ऊपर कहे सुख की पराकाष्ठा में क्या हो जाता है? वह सुख जो काम-क्रोध के वेग को सहने में मिलता है, वह तो भीतर का ही है। वह अन्तःसुख है जो बाहर के सुख की लालसा छोड़ देता है। आन्तरिक सुख की प्रतीति जिसके लिए सहज हो जाती है, वह **'अन्तःसुख'** है। जब चेतना भीतर आत्मभाव में स्थिर हो जाती है – वह घर बना लेती है, तभी यह सम्भव होता है। तब व्यक्ति छका रहता है भीतर के सुख से। उदासीन रहता है बाह्य स्पर्शों के विषय में।

'अन्तरारामः' भीतर ही जो भली प्रकार से रमण करता है। लोग इन्द्रियों के द्वारा विषयों में रमण करते हैं। वह भीतर ही अपने में, आत्मभाव में आनन्द लेता है, उसी में गोते लगाता है। जिसे आनन्द के लिये बाहर आना ही नहीं होता। जिसने अपने भीतर आनन्द के अक्षय स्त्रोत को पाया है वह है **'अन्तरारामः'।**

और **'अन्तर्ज्योतिः'** – जिसे भीतर से ही ज्योति मिलती है। जिसके भीतर ज्ञान का भण्डार खुल गया है। जिसको जानने के लिए मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। जिसको मार्गदर्शन के लिए अपने अतिरिक्त किसी के भी आश्रित नहीं होना होता। जिसकी अन्तरात्मा जगकर रास्ता आलोकित करने लगी है, ऐसा व्यक्ति 'अन्तर्ज्योतिः' कहा जा सकता है।

'अन्तःसुखः' और **'अन्तरारामः'** में क्या अन्तर है? सुख शान्ति है, चैन है, स्थिरता है, आराम है, आनन्दित होना, तृप्त होना, छके रहना है। ज्योतिः ज्ञान की सूचक है।

ऐसा व्यक्ति क्रमशः ब्रह्मभूत हो जाता है। ब्रह्मभाव को प्राप्त किये हुये 'ब्रह्मभूत' होते हैं। ब्राह्मी-चेतना जग जाती है, उसे ब्रह्मभाव प्राप्त होता है। मानुषी-चेतना की सीमाओं को लांघकर ब्राह्मी-चेतना में प्रतिष्ठित होता है। फिर क्या होता है? ऐसा व्यक्ति ब्रह्मनिर्वाण को पाता है। ब्रह्मलीन हो जाता है। समा जाता है आत्मभाव में।

दूसरे अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ की स्थिति के परिपाक रूप में भी तो ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति कही है। बह्म-भूत होना ब्राह्मीस्थिति को लाभ करना है। ब्रह्मनिर्वाण आत्मा में लीन होना है, आत्मनिष्ठ हो जाना है। क्या यह ब्रह्मनिर्वाण और भगवान् में प्रवेश बिल्कुल एक ही बात है, वह जिसकी

चर्चा हमें 18वें अध्याय के अन्त में (55 श्लोक में) मिलती है? उसके लिए तो पराभक्ति अनिवार्य कही है। यह तो निर्गुणोपासकों की ब्रह्मलीनता प्रतीत होती है। यह आत्मा में लीन होना है, भगवान् में प्रवेश तो इसके अनन्तर हो सकता है। आगामी श्लोक की 12वें अध्याय के चतुर्थ श्लोक से तुलना करिएगा।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥25॥

'पाप रहित हुए ऋषि लोग, संशय रहित हुए, संयतात्मा वाले, सब भूतों के हित में लगे हुए, ब्रह्मनिर्वाण को लाभ करते हैं'॥25॥

इस प्रकार से साधना करने वाले, ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं। कैसी अवस्था होती है उनकी, भीतर तथा बाहर से? कब वह निर्वाण लाभ करने योग्य होते हैं? इसी का उत्तर हमें इस श्लोक में मिलता है। पूर्व श्लोक में जो वर्णन है उसी को पूरा करते हैं वर्तमान तथा आगामी श्लोक। यह उस ज्ञानी की स्थिति है जो निर्वाण के योग्य हैं।

ऋषयः – ऋषि लोग। जिन्हें सूक्ष्म तत्त्वों का बोध हुआ है, जिन्हें अलौकिक दृष्टि प्राप्त हो गई है वे ऋषि हैं।*

जब वे **'क्षीणकल्मष'** – पाप रहित हो जाते हैं। ब्रह्म-लीन होने से पहिले सभी पाप-संस्कारों को क्षीण करना आवश्यक है। जो उधार हमने प्रकृति से लिया है, जो दूसरों के प्रति राग-द्वेष मूलक देनदारियाँ हैं वह सभी चुकाकर ही प्रवेश पाया जा सकता है, अन्यथा वे ही व्यक्ति को बाँधने वाली बन जाती हैं। न केवल प्रारब्ध को क्षीण करना होगा, सञ्चित को भी समाप्त कर डालना होगा। एक ही जन्म में यह कैसे सम्भव है? यह पूछा जा सकता है। संस्कार का क्षय सूक्ष्म स्तरों में भी तो हो सकता है। साधक ज्यों-ज्यों मार्ग पर अग्रसर होता है उसकी गति तीव्र होती जाती है। संस्कार भी तीव्रता से क्षीण होते हैं योग्यतानुसार, स्थूल तथा सूक्ष्म स्तरों में। इस प्रकार अनेक जन्मों का काम एक जन्म में निबटाया जा सकता है। यह काम हमें ही समाप्त करना होगा। उसकी समाप्ति के साथ-साथ ही हम अनेक आवश्यक पाठ भी तो पढ़ जाते है। यदि कोई दूसरा हमारी जगह भुगतान करे तो वे पाठ

*वैसे तो इस शब्द का प्रयोग मन्त्रद्रष्टा के लिए हुआ है। जो अन्तर्ज्योति है वह ऋषि है।

हम न पढ़ पायेंगे। वास्तव में वह हमें लाभ न होगा, हमारे लिए हानि होगी। जीवन में सुख-दुःख तो आते ही हैं। संस्कारों के क्षीण करने में भी आते हैं। वे सदा अस्थायी होते हैं। उनसे घबराना क्यों? उनके बिना आगे भी तो नहीं बढ़ा जा सकता।

जब व्यक्ति बिल्कुल निर्मल हो जाता है, संस्कार-रहित हो जाता है, आरपारदर्शी शीशे की भाँति हो जाता है, तब ही वह निर्गुण में लीन हो पाता है। निर्गुण होकर ही निर्गुण में लीन हुआ जा सकता है।

दूसरा विशेषण है **'छिन्नद्वैधा'** – संशयरहित, मति की स्थिरता और भीतर की ज्योति – जगी हुई ऊँची चेतना – जो वस्तुस्थिति का निश्चयात्मक बोध दे सकती है – व्यक्ति को संशयरहित कर देती है। संशय अज्ञान से होता है, निम्न प्रकृति के द्वारा पर्दा पड़ जाने पर होता है। संस्कारों की प्रबल गति से यह होता है। अतः क्षीण-कल्मष होता हुआ साधक संशयरहित भी हो जाता है। इस स्थिति में शान्ति है और बड़ा बल है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का ज्ञान पक्का और संकल्प सिद्ध होने लगता है। वास्तव में ज्ञान ही व्यक्ति को संशयरहित कर सकता है। इसी के आधार पर सच्ची निष्ठा और सच्ची परायणता आती है। श्रेय-प्रेय का झंझट समाप्त हो जाता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का झंझट मिट जाता है, पाप-पुण्य का झमेला समाप्त हो जाता है। व्यक्ति जीवन के मार्ग पर निश्चिन्तता अनुभव करता हुआ कदम बढ़ा सकता है। उसे रास्ता दीखता है और सारे विधान के पीछे प्रभु का मंगलमय सूत्र दीखता है।

'यतात्मा' – वश में है जिसकी आत्मा। इस विषय में ऊपर भी लिखा गया है। अपने तन, मन, तथा बुद्धि पर, इन्द्रियों पर, पूरा अधिकार प्राप्त हो जाना आवश्यक है। जो मिथ्यात्व के आधार पर असंयम में रत रहते हैं, वे वाचा वेदान्ती धोखा ही तो देते हैं अपने को। पूर्णाधिकार लाभ किये बिना, न मन में स्थिरता होगी न बुद्धि में। व्यक्ति खिलवाड़ बन जाता है निम्न प्रकृति के लिए, ब्रह्मलीन होना तो दूर की बात रही। ज्ञान के मार्ग में इस बात की आवश्यकता अनिवार्य है।

और अन्त में **'सर्वभूतहिते रताः'** – भूतमात्र के हित में लगा हुआ। ज्ञानी से – ज्ञानमार्ग का अवलम्बन लेने वाले से – यह मांग अजीब लगती है। वे तो संसार से विरक्त हैं। वह तो एकान्त चाहता है किसी गिरि गुहा का,

भला वह क्या लोकहित साधेगा? कर्म तो बन्धन का कारण है उसके लिए। गीता में तो कर्म को ज्ञानमार्ग का भी संगी बना दिया गया है। यह पाँचवा अध्याय इसी प्रयोजन को सिद्ध करता प्रतीत होता है।

छठे श्लोक में कहा, बिना कर्मयोग के संन्यास प्राप्त करना कठिन है। योगयुक्त होने पर – कर्मयोग में लग जाने पर जल्दी ही ब्रह्मप्राप्ति होती है। कर्म करता हुआ ज्ञानी क्या धारणा रखे सो 8वें श्लोक में कह दी। नौवाँ तथा दसवाँ श्लोक इस प्रकार कर्मों का ब्रह्म में आधान बताते हैं। भक्त अपने तरीके से समर्पण करता है, यह अपने तरीके से होता है। 11वाँ श्लोक स्पष्ट ही कहता है – आत्मशुद्धि के लिए कर्म किया जाता है। योगी लोग ऐसा करते ही हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान अध्याय ज्ञान की निष्ठा वालों को कर्म करते हुए कर्म के संन्यास का मार्ग बताता है। कर्म तो उन्हें भी करना होगा। क्योंकि कर्म करने से नितान्त छुट्टी असम्भव है। कर्म तो करना ही होता है। दूसरा, आत्म-शुद्धि के निमित्त भी कर्म किया जा सकता है। ज्ञानी को भी कर्म के बन्धन को क्षीण करने के लिए उपाय की आवश्यकता है।

कहा जा सकता है कि ज्ञान ही कर्मों को क्षीण कर देता है। परन्तु तब, जब वह जग जाए। वह जब तक जगेगा नहीं, कर्मों का, संस्कारों का पर्याप्त मात्रा में क्षय नहीं होता। यह तो चक्कर है। अतः मार्ग तो चाहिए। कर्म-संन्यासयोग निर्गुणोपासकों के लिए कर्म का रास्ता बताता है।

अब हम समझ सकते हैं कि भगवान् ने **'सर्वभूतहिते रताः'** क्यों कहा? साधनावस्था में संन्यास मार्ग का अवलम्बन लेने वाला कर्म करेगा आत्म-शुद्धि के लिए। निर्मल होने पर आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। पर कर्म तो स्वभाव बन जाता है। कर्म रहता ही है, कर्म में बन्धन नहीं रहता। तो ऐसी स्थिति में कर्म क्योंकर होता है? वह कर्म लोक-कल्याण के निमित्त होता है। दूसरों का हितसाधन ही एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। जो भीतर की समस्थिति है, उसमें तो सभी एक बराबर हो जाते हैं। अतः सभी का कल्याण ही कर्म का लक्ष्य हो जाता है।

यदि भीतर ज्ञान की निष्ठा है तो कर्म के द्वारा बन्धन कैसा? यदि वह निष्ठा है तो छोड़ना कैसा और पकड़ना कैसा? कर्म तो प्रकृति का धर्म है

आत्मा न करता है, न छोड़ता है। अत: कर्म के बाह्य संन्यास का प्रश्न तो सांख्य-योगी के लिए भी उपस्थित नहीं होता। जो कर्म को छोड़ना चाहता है, वह वस्तुस्थिति को जानता नहीं।

बारहवें अध्याय के चतुर्थ श्लोक में कहा –

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:॥4॥

सभी विशेषण पिछले श्लोकों में आ गए हैं। निर्गुणोपासक किस प्रकार से सिद्धि लाभ करते हैं, यह हमें सूक्ष्मरूप से एक ही श्लोक में मिल जाता है। पाँचवें अध्याय में ऊपर खोलकर वर्णन किया गया है। अभी एक और श्लोक इसी विषय में है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥26॥

'उन यतियों के लिए जिन्होंने अपने चित्त को साध लिया है, जो काम तथा क्रोध से रहित हो गये हैं और जिन्होंने अपने को जाना है, चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण ही है'॥26॥

'उनके लिये चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण ही है' इसका अर्थ? चारों ओर ब्रह्म ही है, ऐसा ही क्यों नहीं कह दिया? ब्रह्म तो सभी के चारों ओर है। उनके लिए ब्रह्मनिर्वाण चारों ओर है। ब्रह्मनिर्वाण है ब्रह्मलय का भाव, वह ऊँची चेतना जिसमें व्यक्ति ब्रह्मभूत हुआ उसमें लीन होता है। वह उसकी चेतना को अपने में और दूसरों में अनुभव करता है सदैव, अर्थात् वह ब्राह्मी-स्थिति में रहता है और उसी परमतत्व को चारों ओर अनुभव करता है। उसी में लीन रहता है। जीते जी ही उनकी यह स्थिति है। मृत्यु से कुछ कमती या बढ़ती नहीं हो सकती।

ऐसे सिद्धों की स्थिति का और वर्णन किया है।

'कामक्रोधवियुक्तानाम्' काम तथा क्रोध से जिनका वियोग हो गया, जो इनसे रहित है। संयम की स्थिति में विकार की सत्ता रहती है। वियोग भी तो वस्तु के होने पर होता है। जब विकार हो ही नहीं तो संयम कैसा? कुछ भी हो। ज्ञान का दृष्टिकोण स्पष्ट है। विकार प्रकृतिगत है। इसका होना प्रकृति

का धर्म है। हम इससे न्यारे हैं और हमारा न्यारापन बना रह सके।* तोतापुरी की कहानी याद आती है। वेदान्त की शिक्षा परमहंस को उन्हीं से प्राप्त हुई थी। 'रोग शरीर का धर्म है, मैं आत्मा हूँ, इससे अछूता हूँ।' वैसी स्थिति में रह सकूं। यही लक्ष्य है।

'यति' संयमी को कहते हैं, जो तपस्वी हो। जिसने तन तथा मन को कसा हो। बाह्य संयम की ओर अधिक संकेत होता है 'यति' शब्द में। एकान्तवास, अल्पवस्त्र, अल्पाहार आदि यति की तस्वीर बनाते हैं। इसीलिए कहना पड़ा **'यतचेतसाम्'।** जिन लोगों ने काया को ही नहीं कसा बल्कि मन, बुद्धि आदि का भी मर्दन किया है, इन्हें वश में किया है।

वह सुन्दर स्थिति है जिसमें हम अपने कोषों के पूरे-पूरे स्वामी हों। सूक्ष्म तथा स्थूल सभी गतियों पर हमारा पूरा अधिकार हो। इससे भी ऊँची स्थिति है जब कभी सभी कोष इस तरह से रंग जाएं ऊँची चेतना से कि वह सहज स्वभाव से ही उसकी अभिव्यक्ति के सुश्लिष्ट यन्त्र बन जायें। संयम का प्रश्न ही न रह जाये।

यहीं पर अन्तर है ज्ञानमार्ग तथा भक्त के दृष्टिकोण का। भक्त तो अपनी प्रकृति का भी समर्पण करता है प्रभु के चरणों में। संयम की समस्या नहीं रहती। रूपान्तर होता है प्रकृति का। जैसे भगवान् विशुद्ध सत्त्व में स्थित हैं, वैसे ही भक्त हो जाता है। रजस्-तमस् का संस्पर्श नगण्य हो जाता है। ज्ञानी प्रकृति से केवलीभाव लाभ करता है। प्रकृति पर अधिकार चाहता है, केवलीभाव लाभ करने के लिए और उसे बनाए रखने के लिए। जितना प्रकृति में रूपान्तर होता है वह स्वतः ही होता होगा।

आगामी दो श्लोक कर्मसंन्यासी के भीतर का हाल कहते हैं, ध्यान की चर्चा करते हैं। भीतर कैसा हो जाना चाहिए निर्वाण लाभ करने के लिए, यह बताते हैं। वह आगामी अध्याय के प्रसंग का आधार है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥27॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥28॥

*तोतापुरी जी श्रीरामकृष्ण परमहंस जी के गुरु थे।

'वह सदा ही मुक्त है जो बाहर के स्पर्शों को बाहर करके, नेत्रों को भ्रूमध्य में लगाकर, प्राण तथा अपान को सम करके, नासिका के भीतर ही विचरने वाला कर लेता है। जिसकी इन्द्रियाँ मन और बुद्धि वश में हैं, जो इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित है और जो मोक्ष परायण है'।।27, 28।।

वह ध्यान में बैठता है तो कैसा होता है?

बाह्य स्पर्शों को बाहर रखता है। वह सुनता नहीं, देखता नहीं और सूँघता नहीं। वह अपनी चेतना को पार्थिव-स्तर से ऊपर उठा लेता है। तभी इन पार्थिव स्पर्शों के प्रभावों से अछूता रहता है। वह ध्यान कैसे लगाता है? नेत्रों को भ्रूमध्य में लगाता है – वहाँ देखता है। खुली आँखों से इस अभ्यास को करने वालों में से कइयों ने आँखें खराब की हैं। ध्यान के विषय में तो पुस्तकों को पढ़कर अभ्यास करना ठीक नहीं रहता। किसी जानकार पथ-प्रदर्शक को पाकर उसकी बात माननी ही ठीक रास्ता है। बड़ा गहरा प्रभाव रखता है भीतर के जगत् में प्रवेश, जो इस प्रकार की चेष्टाओं से हो जाता है। व्यक्ति का सन्तुलन बिगड़ सकता है, शारीरिक तथा मानसिक हानि भी हो सकती है। यह खेल नहीं है, इसमें कई रहस्य हैं जो जानकार ही उचित होने पर बतायेगा।

और 'प्राण तथा अपान को जो सम कर लेता है'। प्राण वह जो ऊर्ध्वगामी है और अपान वह जो अधोगामी होता है। श्वासक्रिया में वायु को बाहर निकालने वाली और भीतर ले जाने वाली शक्तियों का साम्य होने से प्राण में समता आती है। भीतर एक सन्तुलन पैदा होता है।

साथ ही साथ प्राण सूक्ष्म भी हो जाना चाहिए। जैसे-जैसे प्राण का संयम होता है और मन में निश्चलता होती है, प्राण सूक्ष्म होता जाता है। सामान्यतया व्यक्ति श्वास लेता है तो इतने ज़ोर से लेता है कि भीतर से निकलने वाले श्वास के वेग का परिचय 9-10 इंच तक मिलता है। धीरे-धीरे वह बल कम होता जाता है। अन्त में ऐसी स्थिति आती है कि यह गति नासिका के भीतर तक ही सीमित रहती है। बाहर से श्वास-प्रश्वास का पता ही नहीं चलता। यह समाधि की स्थिति होती है।

प्राण तथा मन का गहरा सम्बन्ध है। प्राण की निश्चलता से मन स्वत: निश्चल हो जाता है, और इसके विपरीत भी।

जो 'इस प्रकार से अपने को शान्त कर सकता है – समाधि लाभ कर

सकता है'। परन्तु इतना ही काफी नहीं। यह सब अभ्यास से हो सकता है। परन्तु इतना ही होने से व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता, और परिवर्तन भी आवश्यक है। मन तथा बुद्धि में मौलिक परिवर्तन चाहिए।

पहिली माँग है संयम की। इन्द्रियों का, मन तथा बुद्धि का संयम होना चाहिए। दिनों की समाधि लगाने वाले भी इस संयम से रहित हो सकते हैं। लम्बी समाधि तो मदारी का खेल है। संयम मदारी का खेल नहीं है, विशेषकर मन तथा बुद्धि का संयम।

'मोक्षपरायणः' मोक्ष के पीछे पड़ा हुआ। मोक्ष-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध। प्रकृति के बन्धन से मुक्ति ही जिसने जीवन का लक्ष्य बनाया है। जो श्रेयमार्ग का चुनने वाला है। और मन की स्थिति?

इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित। इच्छा काम का ही रूप है। सभी कामनाओं से रहित। वही तो चंचल कर देती है चित्त को। भय तथा क्रोध क्षुब्ध करते हैं और आसक्ति मूलक होते हैं हमारे भय।

जो इन विकारों से रहित है, वह हमेशा मुक्त ही है।

ये दोनों श्लोक भी उसी तस्वीर को पूरा करते हैं। ध्यान के विषय की चर्चा अवश्य नई चीज़ है, इस प्रसंग में।

यहाँ साधना के मार्ग का निर्देश है। ज्ञानयोगी को कर्म करना होगा। किस निष्ठा से यह बता दिया गया था (श्लोक 8)। वैसा करने से कर्मबन्धन न होगा, आत्म-शोधन होगा। इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि का संयम करना होगा। इसके बिना कदम आगे न उठेगा। सारा ज्ञान गोबर हो जायेगा। इसके साथ-साथ एकान्त में बैठकर ध्यान करना होगा, उसका तरीका बताया गया है। इसके परिणामस्वरूप पार्थिव-चेतना से व्यक्ति मुक्त होने लगेगा। क्रमशः ऊँची निर्गुण निर्विकल्प स्थिति की ओर पाँव उठता जायेगा।

अध्यात्म के विशाल भाव तथा प्रयोजन को न समझ कर व्यक्ति प्रायः ध्यान पर ही अधिक ज़ोर देता है, क्या ज्ञान के मार्ग वाले और क्या भक्ति के रास्ते वाले। निष्ठा, कर्म तथा संयम जो रास्ता तैयार करते हैं, जो निर्मल करते हैं और व्यक्ति के भीतर को निश्चल करते हैं, जिनके कारण प्रकृति में मौलिक परिवर्तन हो सकता है – ज्ञानमार्गी उसकी परवाह नहीं करता। बिना उस सब के ध्यान तो खेल हो जाता है। निराधार चेष्टा होती है जिससे स्थायी लाभ की गुंजाइश कम रहती है।

भगवान् के प्रति समुचित निष्ठा का बनाना, अपने कर्म में समुचित भावना को लाना, उसके स्मरण का काम-काज करने में अभ्यास करना, समर्पण की भावना को स्थिर करना और विशुद्ध करना – प्रभुचरणों में प्रीति के ये सभी पूर्वरूप हैं। भक्त की निधि है प्रभुचरणों का प्यार। आँखें मूँदकर होने वाली प्रतीतियाँ वास्तव में वह महत्त्व नहीं रखतीं जो यह सभी कुछ रखता है। यह कुछ होगा तो वह स्वयं होगा ही। नाम का स्मरण होना ही चाहिए क्योंकि वह प्रीति को पैदा कर सकता है और जो कुछ वांछित है, वह भी ला सकता है। उससे जगती है निष्ठा और भावना परन्तु अनुभूतियों की लालसा मुझे तो नासमझी ही प्रतीत होती है। भक्तिमार्ग में इस प्रकार की समाधि कोई महत्त्व नहीं रखती।

अब अन्तिम श्लोक में भगवान् परम तथ्य को प्रकट करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥29॥

'यज्ञों तथा तपों का उपभोग करने वाले, सब लोकों के महेश्वर, सब भूतों के परम मित्र मुझको जानकर वह शान्ति को प्राप्त करता है'॥29॥

वही साधक जो मुक्त है (श्लोक 28), साधनपथ में चलता हुआ जब मुझे जानता है तब शान्ति को पाता है। 12वें अध्याय के चतुर्थ श्लोक में भी तो कहा था – 'वे मुझे ही प्राप्त करते हैं'। 18वें अध्याय के 54 तथा 55वें श्लोक में बताया – 'कैसे मुझे ही प्राप्त करते हैं'। ऐसा साधक सब भूतों के प्रति सम हुआ मेरी पराभक्ति को पाता है। भक्ति से मुझे जानता है, मैं जो और जितना हूँ। तब वह मुझे तत्त्व से जानकर मुझमें प्रवेश करता है।

वह भगवान् को क्या जानता है इस प्रकार की साधना के परिणामस्वरूप? यह श्लोक में कहा है।

भगवान् 'यज्ञ तथा तपों के भोक्ता हैं'। भोक्ता खाने वाला होता है। यज्ञ तो बताया जा चुका है। वह यज्ञेश्वर है ही, यह हम जानते हैं। सभी यज्ञों का परम इष्ट वह है। तप वह साधन है जिससे आपा तपकर निर्मल होता है, जैसे सोना तप जाने पर निर्मल होता है, जैसे ज्वर (ताप) निर्मल करता है देह को तपाकर। प्रभु तपों के भी भोक्ता हैं। ऐसे प्रयत्नों को वे स्वीकार करते हैं और उनका फल देते हैं। वह रीझते हैं इनके द्वारा, यह अर्थ है।

जो दूसरे देवताओं के निमित्त होता है, उसे भी वास्तव में वे ही स्वीकार करते हैं क्योंकि सभी में भोक्ता तो वही है। जो अग्नि बनकर बैठा भोग को स्वीकार करता है, देवताओं के भीतर भी वही भोक्ता है। जब यह समझ आती है तो समूचा जीवन ही प्रभु के प्रति देन दीखने लगता है। मानुषी लेन-देन उसी में दीखने लगते हैं और वह विकास का अधिष्ठाता बन जाता है यज्ञपति के रूप में। हम सबको आगे ले जाता है, यज्ञ तपोमयी लीला के द्वारा।

वह 'सब लोकों का महान् ईश्वर है'। लोकों के लोकपति होते हैं परन्तु, वह उनका भी पति है। वह ईश्वरों का ईश्वर है। उसी का संकल्प देव, मनुष्य और असुरों के द्वारा भी सिद्ध होता है। उसकी अनुमति से ही होता है जो भी भला बुरा यहाँ होता है। उससे बड़ा कोई नहीं। उससे परे कुछ नहीं। उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं। भीतर आँख खुलने पर ही उसकी अनन्त शक्ति और सत्ता का भान होता है और व्यक्ति वास्तव में उसके आगे झुक पाता है। तभी समर्पण का अर्थ समझ में आता है और जाना जाता है परम दयामय देव की परम करुणा का रहस्य।

वह 'सब भूतों का परम मित्र है'। मित्र कल्याणकारक होता है, हितू होता है और सच्चा होता है। ऐसा जानकर ही तो उसका हुआ जाता है। ऐसा समझने पर ही तो उसमें आपा खो देने की मांग होती है। तभी समर्पण वास्तविक होता है। तभी प्रवेश स्वभावत: होता है और होती है शान्ति – परम शान्ति। जहाँ द्वैत नहीं रहता, जहाँ निम्न-प्रकृति नहीं, जहाँ प्रभु की अखण्ड मंगलमयी सत्ता है, वहाँ शान्ति न होगी तो कहाँ होगी?

इस श्लोक के साथ यह अध्याय समाप्त होता है। इसका सिंहावलोकन तो हमने ऊपर किया है। सांख्य-योगी किस प्रकार से कर्म करे और उसके लिए कर्म क्या महत्त्व रखता है, यह जानने से कर्म तथा ज्ञान का समन्वय कैसे हो सकता है, यह समझ में आ जाता है। सिद्धज्ञानी के लक्षण खूब खोलकर कहे हैं और आन्तरिक-साधना की चर्चा के साथ इस प्रसंग को समाप्त किया गया है।

अन्तिम श्लोक सारी चर्चा को ऊँचे दृष्टिकोण से दिखाकर दिशाभ्रम से साधक को बचाता है। वह किनारे को भूल न जाये, इसलिए।

॥श्री राम॥

अध्याय 6

पाँचवे अध्याय में **'यति', 'यतचेतसाम्', 'यतात्मनाम्', 'यतेन्द्रियमनोबुद्धिः',** ऐसे शब्दों के प्रयोगों की भरमार है। अन्तिम श्लोक तो संयम का और ही रूप दिखाते हैं। समाधि का, प्राणायाम का और ध्यान का वर्णन करते हैं। स्थितप्रज्ञ होने के लिए संयम आवश्यक है, यह हमने जाना ही था। ज्ञान के मार्ग से चलते हुए निर्गुणब्रह्म में लीन होने के लिए भी संयम आवश्यक है, यह भी पता चलता है पिछले अध्याय से। वस्तुतः आरोह के मार्ग की आधारशिला ही संयम है। वर्तमान अध्याय उसी का विवेचन करता है। संयम को समझने की चेष्टा में यदि हम विशाल दृष्टि को, जो विकास की है, खो देंगे तो हम उसे ठीक न समझ पायेंगे। संयम और जीवन अलग-अलग हो जायेंगे, एक दूसरे का प्रतिरोधी दीखने लगेगा। उसके परिणामस्वरूप या तो संयम असम्भव हो जायेगा, या यदि संयम होगा तो जीवन का सहज प्रवाह रुक जायेगा। जीवन एकांगी और क्षुद्र हो जायेगा, सूखे हुए ठूंठ की तरह।

इस चेतावनी का स्मरण रखते हुए हम इस अध्याय को आरम्भ करते हैं और बातों की विशद चर्चा प्रसंगानुसार होगी ही।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥1॥

'जो कर्मफल के आश्रित न होकर, करने लायक काम को करता है वह संन्यासी और योगी है। वह (संन्यासी और योगी) नहीं जिसने अग्नि का परित्याग किया है, या कर्म का परित्याग किया है'॥1॥

पिछले अध्याय में कर्म के विषय में जो समझाया था वह यहाँ फिर से

साररूप में कह दिया गया है। चाहे किसी भी रास्ते पर चलो, कर्म तो करना ही होगा। सांख्य-योगी भी कर्म करता है और कर्मयोगी भी करता है। वास्तव में निष्ठा के भेद से उनके कर्म करने में कोई भेद नहीं होता। सांख्ययोगी भी तो कर्म के बिना रह नहीं सकता। कोई भी नहीं रह सकता बिना कार्य किये।

कैसे काम करते हैं दोनों मार्गों के साधक? कर्म-फल के आश्रित नहीं होते। फल के लिए काम नहीं करते और गहराई में जायें तो, न कर्म के आश्रित होते हैं और न फल के। जो कर्म से आसक्त होता है – कर्म के करने के द्वारा सुख की लालसा रखता है – वह कर्म के आश्रित हो जाता है। वह कर्म के अभाव में परेशान होता है। जो फल के आश्रित होता है वह फल की अप्राप्ति में परेशान होता है। यह कसौटी है। दोनों ही (संन्यासी तथा कर्मयोगी) – निराश्रय होकर कर्म करते हैं।

फिर वह कर्म क्योंकर करते हैं? कैसे करने योग्य कर्म को जान पाते हैं? **'कार्यं कर्म करोति यः'** जो करने योग्य कर्म को करता है। जीवन की परिस्थितियाँ बताती हैं हमें क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिए। जब तक भीतर लालसा-फलेच्छा रहती है, तब तक वास्तव में हम करणीय-अकरणीय को जान नहीं पाते। इच्छा ही हमें हांकती है, कर्त्तव्य-बुद्धि नहीं। जब फलेच्छा समाप्त होती है, तो प्राप्त कर्म सहज हो जाता है। सामने आने वाला काम जो होने को है, उसके लिए हाथ-पाँव चलते हैं। उसके पीछे कोई संकल्प नहीं रहता, कोई हड़बड़ाहट नहीं रहती। वह काम बिना तनाव के होता चला जाता है।

सच्चे संन्यासी और योगी का यही लक्षण है। वह दोनों ही न काम से डरते हैं और न उसके लिए हड़बड़ाते हैं। न पकड़ने की लालसा रहती है, न छोड़ने की आकांक्षा। कर्म सहज व्यापार होता है।

'अग्नि' वह अग्नि है जो गृहस्थी लोग विवाह के समय पाते थे और आजीवन रखी जाती थी। उसी अग्नि में देवताओं के लिए आहुतियाँ दी जाती थी; उसी में उनके लिए प्रसाद बनता था। अन्त में उसी अग्नि में उनकी देह भस्मीभूत होती थी। अतः 'अग्नि' पंचमहायज्ञ बलि-वैश्वदेवादि गृहस्थ के आवश्यक कृत्यों का सूचक है। जो व्यक्ति गृहस्थ को छोड़कर संन्यास लेता था, वह इस 'अग्नि' को छोड़ देता था। उसके साथ ही देवकृत्य तथा पितृकृत्य छूट जाते थे। संन्यासी निरग्नि होता है।

'निरग्नि संन्यासी नहीं होता, योगी नहीं होता।' संन्यासी वह है जिसके भीतर से कर्मबन्धन छूटा है, जिसने अपने अकर्तापन को पहिचाना है और जीवन में कर्त्तव्य की निष्ठा को जागृत किया है। इस भीतर के त्याग के बिना तो संन्यास निरर्थक है। अतः संन्यासी का संन्यासीपन इसमें नहीं कि उसने अग्नि को छोड़ा है। अग्नि को छोड़ने पर भी तो भीतर से त्याग नहीं होता। 'अग्नि' के न छोड़ने पर भी समुचित निष्ठा से देवपितृकृत्य करने पर संन्यास हो सकता है। अतः, संन्यास में कारण कृत्यों का परित्याग नहीं, आन्तरिक-ज्ञान की निष्ठा है। संन्यासी वह है जिसमें सांख्य की दृष्टि जगी है। वह संन्यास में कारण है।

'अक्रियः' बिना क्रिया के। जो निकम्मा है सो अक्रिय है। खाली पड़ा व्यक्ति, कुछ उपयोगी काम न करने से संन्यासी नहीं होता। संन्यास लेने वाले को तो कुछ भी करना नहीं होता सिवाय अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के। भिक्षा मांगनी होती है। यहाँ समझने की बात है कि अक्रियता से संन्यास नहीं होता। यदि भीतर समझ नहीं तो भिक्षा मांगने के कर्म से भी बन्धन होगा। सांस लेने से और खाना खाने से भी बन्धन होगा।

'स संन्यासी च योगी च', 'वही संन्यासी है और वही योगी है'। वह दोनों अलग-अलग नहीं हैं। जो संन्यासी है सो ही योगी है। जिससे वास्तव में संन्यास होता है उसी से योग भी होता है। दोनों में समांश है कर्मफल के आश्रित न होकर कर्म करना।

आगामी श्लोक इसे स्पष्ट कर देता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥2॥

'जिसे (लोग) संन्यास कहते हैं उसे अर्जुन तुम योग जानो (क्योंकि) निश्चित ही बिना संकल्प का संन्यास किये कोई योगी नहीं हो सकता'॥2॥

पिछले श्लोक में बताया था कि संन्यासी योगी होता है। क्योंकि वह भी कर्मयोगी की भाँति फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म करता है और संन्यासी का संन्यासीपन, अग्नि-परित्याग अथवा कर्म-परित्याग में नहीं रहता। वर्तमान श्लोक में उसके विपरीत और बताते हैं कि योगी भी तो संन्यासी होता है।

वर्तमान श्लोक का पूर्वार्ध तो पिछले श्लोक की युक्त (स्थिति) का सार

स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है 'क्योंकि ऐसा है, इसलिए जिसे लोग संन्यासी कहते हैं उसे तुम योगी समझो'।

अपरार्ध दूसरी बात बताता है। योगी कैसे संन्यासी है? क्योंकि बिना संकल्प का 'संन्यास' किए कोई योगी हो ही नहीं सकता। कर्म-योग के रास्ते पर चलने के लिए संकल्प तो छोड़ना ही होगा। कौन सा संकल्प छोड़ना आवश्यक होता है कर्मयोग के मार्ग पर?

चतुर्थ अध्याय, श्लोक 19 में कहा था – 'जिसके सभी समारम्भ काम-संकल्प से रहित होते हैं', अतः काम-संकल्प का परित्याग आवश्यक है, कामना के आश्रित संकल्प। अहं की तृप्ति कामना के द्वारा होती है। वह अपनी तृप्ति के लिए ताना-बाना बुनता है, 'मैं ऐसा करके यह पा लूंगा, उससे यह होगा और फिर मैं यह बन जाऊँगा'। जो इस प्रकार की इच्छा को लेकर होने वाले संकल्प हैं उन सबका परित्याग होने से ही कर्मयोग के पथ पर आरूढ़ हुआ जाता है। अन्यथा व्यक्ति फलाशय में उलझ जाता है। कार्य-कर्म को करना होता है, भविष्य के विषय में बिना सोचे हुए।

अतः, बिना त्याग के योग नहीं होता। इच्छा का त्याग करना होता है योगी को। फलाकांक्षा छोड़नी होती है। इसलिए योगी संन्यासी है।

भगवान् कैसा खेल खेलता है। संन्यासी को योगी बताते हैं और योगी को संन्यासी। दोनों मार्गों में समान बातें भी तो हैं। वह नितान्त भिन्न नहीं है। इसीलिए तो दोनों एक ही गन्तव्य स्थल पर ले जा सकते हैं। अन्यथा यह सम्भव न हो।

संयम की उपयोगिता दोनों ही मार्गों में है। उसे साधने के लिए विवेक का ही आश्रय प्रधान रूप से लिया जाता है। यह कर्म की विशुद्ध निष्ठा के विषय में ही सत्य है। जो भक्ति-प्रधान कर्मनिष्ठा है उसमें तो संयम गौण होता है। वास्तव में वह सधता चला जाता है स्वतः ही। प्रभु-चरणों की रति सभी आकर्षणों को समाप्त कर देती है।

आगामी श्लोक साधक के लिए रास्ता दिखाते हैं। जो घाटी उसे पार करनी होती है, उसके लिये सुझाव देते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥3॥

'जो मुनि योगमार्ग पर चढ़ना चाहता है उसके लिए कर्म साधन कहा जाता है। योगारूढ़ हो जाने पर उसके लिए ही (आगे चलने के लिये) शम साधन कहा जाता है'।।3।।

योगमार्ग में अवस्थाओं का भेद बताते हैं। यहाँ कर्मयोग के, समता के योग के मार्ग की चर्चा है। इस रास्ते पर आने के लिए कर्म साधन है। कर्म के बिना व्यक्ति इस निष्ठा को लाभ नहीं कर सकता। 18वाँ अध्याय इस विषय में स्पष्ट रूप से बताता है। 46वें श्लोक से कर्म की चर्चा आरम्भ होती है। 49वें श्लोक में नैष्कर्म्य की परम सिद्धि का वर्णन किया गया है। 'जिससे भूतों की प्रवृत्ति है, अपने कर्म के द्वारा उसकी उपासना करके व्यक्ति सिद्धि को लाभ करता है।' यह सिद्धि योगारूढ़ हो जाना है, नैष्कर्म्य की अवस्था को लाभ करना है जिसमें कर्म करने से नये संस्कार नहीं बनते, अपितु पुराने क्षीण होते चले जाते हैं।

'कारण' शब्द का प्रयोग साधन के अर्थ में हुआ है। जो करता है, जिसके द्वारा करवाया जाता है, वही तो कारण होता है। वही साधन होता है, जो साध देता है। योगमार्ग पर चढ़ जाने की चाह वाला 'आरुरुक्षु:' होता है। अत: जो इस मार्ग में प्रवेश चाहता है उसे स्वधर्म का पालन करना होगा। बिना इसके रास्ता नहीं मिल सकता।

बिना कर्म किये व्यक्ति के भीतर ठोसपन नहीं आता, गहराई नहीं आती, सन्तुलन नहीं आता। बिना समुचित निष्ठा से कर्म किये व्यक्ति निर्मल नहीं हो पाता। कई लोगों को आत्मनिर्माण विषयक साहित्य पढ़ने का बहुत शौक होता है। एलन मार्डन आदि लेखकों के ग्रन्थों को खूब पढ़ते हैं।* स्वामी रामतीर्थ तथा विवेकानन्द के साहित्य का अध्ययन होता है, परन्तु उनके जीवन में कुछ भी बदलाव नहीं दिखाई पड़ता। वह अध्ययन काल्पनिक जगत् में उड़ानें भरना सिखा देता है। इसके विपरीत जिन्होंने कर्त्तव्य-परायण होकर चार साल व्यतीत किये हैं, वह मंज जाते हैं। उनके संकल्प में बल आता है। चरित्र में गम्भीरता आ जाती है। यदि ऊँची निष्ठा से कर्म किया जाये तो व्यक्ति वास्तव में कर्म के रहस्य को पा जाता है। वह कर्म करता हुआ अकर्ता रहता है। उससे बन्धन नहीं होता। बिना काम किये ज़बानी जमा खर्च से अध्यात्म का मार्ग पाया नहीं जाता। पुराने समय में गुरुजन शिष्यों से

*ऐसे साहित्य का यदि कर्म के क्षेत्र में उपयोग हो सके तो बहुत लाभ होता है।

वर्षों आश्रम में रखकर सेवा लेते थे। वह ऊँची साधना होती थी जो उन्हें निर्मल कर देती थी। फिर वह पथ से डिग नहीं सकते थे।

आज इस बात के महत्त्व को न समझकर कि अध्यात्म तो जीवन के प्रति मूलत: एक निष्ठा है, लोग क्षणिक अद्‌भुत अनुभूतियों के लिये लालायित होते हैं। जीवन में अध्यात्म को स्थापित करने की बजाय ध्यान के मार्ग में अग्रसर होना ही सभी कुछ समझा जाता है। ध्यान का मार्ग तो समय पाकर चलेगा ही। उसमें प्रगति भी होगी ही। उसके लिए उतावलापन क्यों? जीवन को ठीक समझो। जीवन और कर्म के प्रति, जीवन के स्वामी के प्रति समुचित निष्ठा बनाओ। तब गाड़ी वेग से आगे चलेगी। निष्ठा भी कर्म करने से बली होती है और बली हुई निष्ठा रास्ता खोलती चली जाती है। परन्तु इसका महत्त्व नहीं समझा जाता। जैसे आज सभी कामों में जल्दी की मांग है वैसे ही अध्यात्म में भी। परन्तु हम अपने को धोखा नहीं दे सकते। हमें कीमत देनी ही पड़ती है। जो काम हम पहले करने को तैयार नहीं होते वह बाद में करना पड़ता है। समझ आ जाती है इस बात की यद्यपि बाद में।

योगारूढ़ होने पर आगे बढ़ने के लिये कर्म का प्रभाव गौण हो जाता है। फिर 'शम' मन की शान्ति, मन को शान्त करने के साधन आवश्यक होते हैं। नैष्कर्म्य-स्थिति को लाभ कर लेने वाला योगारूढ़ कहलाता है। 18वाँ अध्याय फिर देखें।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।50।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयान्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।51।।

सिद्धि को प्राप्त हुआ व्यक्ति जैसे ब्रह्म को प्राप्त करता है सो मुझसे संक्षेप से ही जानो, वह (ब्रह्म) जो ज्ञान की परा निष्ठा है।।50।।

विशुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ, धृति से अपने को वश में करके, शब्दादि विषयों का त्याग करके, रागद्वेष को छोड़कर।।51।।

यह प्रसंग मन की शान्ति के, चित्त को निश्चल करके, समाहित होने के उपाय बताता है। यह सभी मिलाकर शम कहे जाते हैं। इस शम का परिणाम होता है –

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति॥18/54॥

'ब्रह्मभाव को प्राप्त, निर्मलात्मा वाला, न शोक करता है, न इच्छा करता है।'

योगारूढ़ हुआ व्यक्ति 'शम' के साधन के द्वारा ब्रह्मभाव को लाभ करता है।

क्या कर्मयोगी के लिये भी यह 'शम' का साधन आवश्यक है। गीता के अनुसार तो एक अवस्था में आवश्यक है, परन्तु वह भी सदैव के लिये नहीं, कुछ समय के लिए ही। भीतर निश्चल हो जाने पर, ब्रह्मभाव के उपरान्त पराभक्ति जगती है, जिससे समर्पण हो जाता है, प्रवेश होता है। उसके उपरान्त कहा है वहीं पर –

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥18/56॥

'सब काम करता हुआ भी अव्यय पद को लाभ करता है।' अतः यह शम का साधन थोड़े ही समय के लिये है। कर्म करते हुए भी व्यक्ति इस साधन को साथ-साथ चलाता है। जब व्यक्ति इस योग्य हो जाता है, तो परिस्थिति भी वैसी बन जाती है। साधन जुड़ जाते हैं। एकान्त बैठने के लिए अवसर तथा स्थानादि भी प्राप्त हो जाते हैं। शम के साधन के लिये भी जंगल में जाना तो आवश्यक नहीं। घर में भी एकान्त मिलता है। काम करते हुए भी प्रभु का चिंतन होता ही है और यदि कुछ थोड़े समय के लिए अलग रहना भी पड़े तो क्या बड़ी बात है। काम करते-करते आराम की भी तो कभी आवश्यकता होती है। परन्तु कर्म के परित्याग की आवश्यकता नहीं, अथवा ब्रह्मभाव के लाभ होने के बाद, या प्रवेश पाने के बाद कर्म हो नहीं सकते, ऐसा नहीं है, यह भगवान् की ऊपर उद्धृत उक्ति से स्पष्ट है। ऐसा ही वास्तव में ज्ञानमार्ग में भी होना चाहिये। समझ आने पर तो क्या पकड़ने को रहता है और क्या छोड़ने को? सहज कर्मों का सिलसिला चल सकता है। जो 'स्थिति' कर्म करने पर समाप्त हो जाती है वह वास्तव में स्थिति ही नहीं है। ब्रह्म तो कर्म-अकर्म में समानरूप से व्याप्त है। उसमें स्थिर होने पर तो कर्म बाधक हो नहीं सकता। हाँ, मनोगत अवस्थाओं में कर्म करने से अवश्य अन्तर हो सकता है।

अब योगारूढ़ का लक्षण कहते हैं –

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते।।4।।

'जब निश्चय ही न इन्द्रियों के विषयों में, (और) न कर्मों में आसक्त होता है, (और) सब संकल्पों का परित्याग कर देता है तब योगारूढ़ कहा जाता है'।।4।।

योगारूढ़ के तीन लक्षण कहे हैं।

प्रथम, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का अभाव। इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होगा तो इच्छायें होंगी, भोग की लालसा होगी। फलाकांक्षा का होना स्वाभाविक है। उसके रहने पर तो व्यक्ति पथ-भ्रष्ट होता है। योगमार्ग पर तो चल ही नहीं पाता है। इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। आसक्ति तो उनमें सहज है। संयम न होने पर वह खींच ले जाती हैं। बिना इन्द्रिय-संयम के योगमार्ग नहीं चलता, यह तो स्पष्ट ही है।

दूसरा, कर्मों में आसक्ति रहित होना। कर्मों की आसक्ति भी व्यक्ति को स्वधर्म के मार्ग से च्युत करती है। जिस कर्म के करने में सुख है, लाभ है और यश है, व्यक्ति उसे करना चाहता है। उसके विपरीत कार्य से भागता है। परन्तु सिद्ध-कर्म-योगी तो कर्म के वास्तविक लाभ को जानता है। वह तो साधना है। वह स्वधर्म में निष्ट होता है। बहकता नहीं। उसके विषय में कहा –

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।18/10।।

'अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता, कुशल से आसक्त नहीं होता..'। जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी होता है। जहाँ गड्ढा है, वहाँ पास में ऊँचाई भी रहती है। योगारूढ़ कर्ममात्र के प्रति समभाव रखता है। सभी कर्म स्वधर्म होने के नाते समान हो जाते हैं। वह कर्मों की अपनी अलग सत्ता को, गुण-दोषों को स्वधर्म के सामने भूल जाता है।

तीसरा, सभी संकल्पों का संन्यास। जब तक भविष्य के लिये योजनायें बनती हैं तब तक आशा का, आकांक्षा का चक्र बाकी है, तब तक भोग

की लालसा है, सुख की, मान की आकांक्षा बाकी है और, जब तक यह है, तब तक व्यक्ति स्वधर्म के पथ से च्युत हो सकता है इन प्रभावों से वशीभूत हुआ। तब तक व्यक्ति के पांव योग पर जमे नहीं हैं। किसी समय भी यह प्रेरणायें बलवती हो सकती हैं और उसे खींचकर पथ से भ्रष्ट कर सकती हैं।

जब व्यक्ति के सामने स्वधर्म ही रहता है और वह उसमें अपने भूत-भविष्य की बलि दे देता है, केवलमात्र स्वधर्म के लिये जीता है, जब इससे अनन्यरूप से स्वधर्म-निष्ठ हो जाता है, तब होता है योगारूढ़। तब वह कर्म के बन्धन से रहित रहता है कर्म करता हुआ भी। बिना इस अनन्यता के कर्म बांधेगा ही। व्यक्ति सिद्ध-कर्ता नहीं बन सकता।

योगारूढ़ नैष्कर्म्य की अवस्था वाला व्यक्ति है। 18वें अध्याय के प्रसंग से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है वहाँ 49वें श्लोक में कहा है –

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥18/49॥

'असक्त बुद्धिः सर्वत्र', वर्तमान श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ रखता है। प्रथम तथा दूसरा लक्षण इसमें घटते हैं। 'विगत-स्पृहः', 'स्पृहा रहित' तो 'सब संकल्पों का संन्यास' करने वाला ही होता है।

इस स्थिति की प्राप्ति के लिए सुझाव देते हैं, चेतावनी देते हैं और रास्ता बताते हैं आगामी श्लोकों में –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥5॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥6॥

'अपने से अपने को उठाये, अपने से अपने को गिराये नहीं। अपना आप ही अपना बन्धु है और अपना आप ही अपना शत्रु है'॥5॥

'उसका अपना आपा-अपना बन्धु है जिसने अपने को अपने से जीता है। जिसने नहीं जीता उसका अपना-आपा ही अपने से शत्रु की तरह बरतता है'॥6॥

उठने का रास्ता किधर से होकर है? अपने को स्वयं ही उठाना होगा।

व्यक्ति के भीतर निम्न प्रकृति भी रहती है और उत्तम प्रकृति भी रहती है। उसके भीतर देवासुर-संग्राम चलता है। इस द्वन्द्व में कभी कोई प्रकृति विजयी होती है और कभी कोई। उत्तम प्रकृति की विजय में हम भला सोचते और भला करते हैं। निम्न प्रकृति के प्रभाव में कुत्सित विचार आते हैं। वैसे ही भाव हो जाते हैं और वैसे ही कर्म बन पड़ते हैं। व्यक्ति इन विचारों आदि के लिए खेलवाड़ बन जाता है, असहाय प्रतीत करने लगता है जब निम्न-प्रकृति का प्राबल्य होता है। काम, क्रोध, लोभ तथा मोह की आंधी आती है और वह परवश-सा उनके वशीभूत हो जाता है। विवेक को खो देता है। ऐसी आंधी आती है कि बुद्धि भी उस प्रकृति का अनुमोदन करती है और उसी के कार्य संवारने में रत रहती है। वह दौर समाप्त होता है, व्यक्ति सचेत होता है। फिर उत्तम प्रकृति का दौर आता है। पश्चात्ताप करता है। 'आगे से ऐसा नहीं करूँगा' ऐसा निश्चय करता है। परन्तु फिर वही कुछ होता है जो हुआ था। इस प्रकार से वह हताश हो जाता है।

ऐसी स्थिति में यह आदेश है –

अपने को अपने से उठाओ, गिराओ नहीं।

जो निराश हो जाता है, जो निम्न-प्रकृति से पराजय को स्वीकार कर लेता है वह उत्तरोत्तर पतित होता जाता है। जो हार नहीं मानता, उठने के लिए प्रयत्न करता है, वह कभी उठ जाता है।

विजय कैसे होगी? विवेक द्वारा। स्थिर हुआ विवेक हरा देगा निम्न प्रकृति को। कौन शत्रु है और कौन मित्र है। आसुरी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की शत्रु हैं। है तो वह भी व्यक्ति का आपा ही। उसी का तो अंश हैं जिसका अंश है दैवी-प्रकृति। पहचानना होगा कि अमुक वृत्ति आसुरी है, मेरी शत्रु है। उसका अनुकरण नहीं करना होगा। वह छलने की चेष्टा करेगी, रूप बदलकर भी आ सकती हैं, परन्तु सावधान रहना होगा। यदि इसको स्थान देते हो तो विकास के मार्ग से हटना होगा। सत्त्व की अपेक्षा तमस् में लीन होना होगा।

जब कोई भी वृत्ति जगती है तो उषाकाल की किरणों की भाँति कोमल तथा निर्बल होती है। यदि उसी समय हम उसे पहचान लें तो उसका इलाज

हो सकता है। आसुरी-वृत्ति को ठीक समय पर पहिचान लेने से व्यक्ति उससे बच सकता है। उसका आधा बल तो पहिचाने जाने से ही समाप्त हो जाता है। पैदा होते ही शत्रु को शत्रु समझ लेने में ही कल्याण है।

व्यक्ति के आपे का एक अंश दैव है, सो मित्र है। विकास को मार्ग देता है। उसी आपे का एक अंश असुर है, वह विकास का बाधक है। इन दो में विवेक करके ही असुर का अतिक्रमण सम्भव है।

निराश होना गलत है। वास्तव में हम स्वामी हैं मन, बुद्धि तथा प्राण के। हमारा ही शासन यहाँ चलना चाहिए और चलेगा। हम अपने भाग्य के निर्माता हैं, चाहें तो विकासमार्ग में तेजी से चल सकते हैं और चाहें तो लुढ़क-पुढ़क सकते हैं। इसी सम्भावना को जानते हुए प्रोत्साहन दिया है। आदेश किया है, 'अपने को अपने से उठाए।।'

जो सोचता रहता है कि कोई दूसरा उसके लिए करेगा वह धोखे में रहता है। जो इस कार्य के लिए भी भगवान् की ओर आशा लगाये रहते हैं और जितना कुछ कर सकते हैं वह भी निकम्मेपन के कारण नहीं करते, भगवान् उनसे दूर ही रहते हैं। भगवान् हमें निकम्मा तो नहीं बनाना चाहते। उठने की चेष्टा भी तो व्यक्ति को जगाती है। लड़ाई ही तो व्यक्ति और जाति को बनाया करती है। जो व्यक्ति को करने लायक दीखता है और जो वह इस आन्तरिक-विजय के लिए – आत्मोत्थान के लिए कर सकता है – वह करना ही चाहिए। ऐसा होने पर भगवान् की कृपा कमी को पूरी कर देगी, उत्तम प्रकृति की जय होगी।

किसका आपा अपना मित्र होता है? जिसने अपने को अपने से जीता है। मित्र वही जो हित साधे, जो सच्चा हो। संयत हुई मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ हमारी मित्र हो जाती हैं। हमें स्वधर्माचरण करने देती हैं। तब शम सुगम हो जाता है। इनके द्वारा उत्पात नहीं होते।

जीता गया आपा तो सधे हुए घोड़े सा होता है जिसको हम जिधर चाहें ले जाएँ। वह हरी घास को देखकर चलने से इंकार नहीं करता। पानी को देखकर मचल नहीं जाता। वह हमारा सिद्ध मन्त्र है। विकास-मार्ग पर कदम बढ़ाने में परम सहायक है। शरीर साथ देता है और मन आदि योग देते हैं ऐसी अवस्था में। वह निम्न प्रकृति की प्रेरणा का शिकार नहीं हो पाता। पूरी तरह हमारे काबू में होता है। इसलिए, जिसने आपे पर अधिकार नहीं प्राप्त

किया उसके लिए वह शत्रु बन जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति एक विचार की निरर्थकता और हानिकारिता को जानता है। चाहता है कि वह विचार न आये, परन्तु वह बार-बार आता ही है। उससे विकलता होती है, परन्तु बुद्धि पर अधिकार न होने से वह उस विचार को छोड़ती ही नहीं। एक स्मृति दु:खदायी है। वह न होनी चाहिए, परन्तु बुद्धि उसे ही लादे चली जाती है। व्यक्ति का दिल बैठने लगता है। दिमाग चकराने लग जाता है। क्या बुद्धि का यह व्यवहार ठीक शत्रु का सा नहीं है? हमारी ही बुद्धि – जो आपे का एक अंश है – हमारा ही हनन कर रही है! यही हाल हृदय का होता है। किसी के प्रति घृणा होती है, उससे भीतर दाह होती है। हम चाहते हैं यह समाप्त हो जाये, परन्तु हृदय तो उसे ही जागृत रखता है। हमारी पीड़ा की उसे परवाह ही नहीं। यह व्यवहार भी शत्रु का सा ही तो है।

ठीक ऐसे ही न जीता हुआ प्राण करता है। काम-क्रोधादि वेग हैं जो शरीर को क्षीण करते हैं, परन्तु वह बार-बार जागृत होते हैं। हम चाहते हैं न हों, परन्तु प्राण तो उनके द्वारा होने वाली निजी तृप्ति को चाहता है। प्राण का यह स्वार्थमय व्यवहार शत्रु का सा है।

इन्द्रियाँ तो ऐसा करती ही हैं। खाकर पेट पिड़ाना तो आम बात है। रसास्वादन दु:खास्वादन हो जाता है। यह स्थूल शरीर भी जब सेवा के रास्ते में बाधा बनता है तो हमारा शत्रु हो जाता है।

जब बुद्धि, मन तथा प्राण साध लिए जाते हैं तो वह हमारे हित के लिए आचरण करते हैं। फिर यह मित्र हो जाते हैं। अपने स्वार्थ का यह हमारे लिए परित्याग करते हैं।

अत:, समझा जा सकता है आत्मसंयम कितना आवश्यक है। योगमार्ग में अग्रसर होना हो तो अपने पर काबू होना चाहिए।

अधिकार कैसे पाया जाता है? ऊपर कहा था विवेक से? उसका ढंग भी बताया था। साथ में ठीक समझ तथा विश्वास भी आवश्यक है। यह जान लेना चाहिए कि निम्न-प्रकृति अपने को स्वत: नष्ट करने वाली है। दैवी प्रकृति की विकासक्रम में विजय सुनिश्चित है और वह होगी ही, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे क्षीण होती हैं। जो एकदम से होता है सो दमन है। वह किसी भी क्षण फूट निकलेगा। नितान्त निवृत्ति तो संस्कार के क्षय से ही सम्भव होती है।

इसका उपाय है उत्तम-प्रकृति को पुष्ट करना। निम्न-प्रकृति को स्वीकार करना – इससे डरना नहीं, इसे पहचानना, इससे जूझना नहीं। विश्वासपूर्वक इस निम्न-प्रकृति को क्रमशः क्षीण होते हुए देखते जाना। जो व्यक्ति कर्म में रत रहते हैं, उनके संयम की समस्या सुगम हो जाती है। कर्म उनकी निम्न-प्रकृति को घिस-घिस कर साफ करता चला जाता है।

जितात्मा की क्या स्थिति होती है?

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥7॥

'जो जितात्मा है, जो प्रशान्त हो गया है उसकी आत्मा परम समाहित रहती है सर्दी तथा गर्मी में, सुख-दुःख तथा मान और अपमान में'॥7॥

'समाहित का अर्थ है सम, साम्यावस्था, विषमता से रहित स्थिति। परम समाहित-बिल्कुल अविचल, एक सी। जिस पर कोई प्रभाव ही नहीं होता द्वन्द्वों का। जहाँ भीतर सदैव चैन रहती है।

सर्दी-गर्मी व्यक्ति को चलायमान करती हैं। किसी को कुछ अनुकूल है, किसी को कुछ। अतः जो अनुकूल होता है उसमें व्यक्ति आनन्द प्रतीत करता है, प्रतिकूल में तनाव हो जाता है। उस प्रतिकूल स्थिति को भगाना चाहता या स्वयं उससे भागना चाहता है। जिसने जीता है अपने को, उसके तो तन पर भी प्रभाव नहीं होता। सर्दी और गर्मी में वह सम रहता है, नीरोग रहता है।

सुख तथा दुःख में और मान तथा अपमान में वह बिलकुल एक सा रहता है। दोनों में भीतर से होने वाली प्रतिक्रिया में तनिक अन्तर नहीं होता। इस विषय की चर्चा ऊपर काफी हो चुकी है।

किसकी ऐसी स्थिति होती है?

'जितात्मनः प्रशान्तस्य' – 'जिसने आपे को जीता है और जो प्रशान्त हो गया है'। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ और तन पर जिसका पूरा अधिकार है। जिसकी आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करने वाले हैं यह सभी।

और 'जो पूर्णरूपेण शान्त है'। शम की प्राप्ति से शान्त होता है। मानसिक-विकारों से रहित स्थिति शान्त-स्थिति होती है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥18/53॥

व्यक्ति अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह को छोड़ने से ही तो शान्त होता है। यह मन का शम है। इन्द्रियों का दमन होता है। इसी से प्रशान्त होता है। इन विकारों से रहित होने पर ही तो ऊपर वर्णित समता आ सकती है। इन विकारों के होने से ही विषमता होती है।

शम (श्लोक 3, ऊपर) के द्वारा योगारूढ़ को जो स्थिति प्राप्त होती है उसका वर्णन अगले श्लोकों में भी चलता है (7, 8 और 9)।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाष्मकांचनः॥8॥

'जिसकी आत्मा ज्ञान तथा विज्ञान से तृप्त हो गई है, जो कूटस्थ है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर तथा सोना बराबर है, ऐसा योगी युक्त कहा जाता है'॥8॥

योगारूढ़ के उपरान्त शम की साधना से प्राप्त होने वाली अवस्था को 'युक्त' कहा है। युक्त – जुड़ा हुआ, जो ब्रह्म से जुड़ गया है। अठारहवें अध्याय में इसी अवस्था का परिपाक ब्रह्मभाव है। उसी को अन्यत्र ब्राह्मी-स्थिति कहा है। उसे ब्रह्म-निर्वाण भी कहा है। ऊपर के श्लोक में वर्णित लक्षण भी इसी में घटित होते हैं। यहाँ उसी के विषय में और परिचय दिया गया है।

'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' – 'जिसकी आत्मा ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो गई है'। ज्ञान, आत्मा विषयक बोध, जो ब्रह्मज्ञान कहा जाता है, वही जिसकी चर्चा गीता के दूसरे अध्याय में हुई थी। विज्ञान – प्रकृति विषयक बोध, 'एक से अनेक कैसे होता है? प्रकृति कैसे बरतती है'? यह सारा अभिव्यक्ति का खेल किस तरह से चलता है? यह सभी विज्ञान है। जिसने इस प्रकार से अव्यक्त तथा व्यक्त को पहिचान लिया है, और अधिक जानने की लालसा जिसमें नहीं है।

वास्तव में हम ऊँचे स्तरों में बहुत कुछ जानते हैं, परन्तु वह सारा ज्ञान मस्तिष्क में उतरता नहीं। जिसकी जानने की लालसा समाप्त हो गई है, जो छक गया है, बस इतना ही कहने का प्रयोजन है। कितना जानता है, यह

कहने का प्रयोजन नहीं है।

'कूटस्थ' खूँटे की तरह स्थिर। खूँटा हिलता नहीं है। लोग उससे बंधते हैं। वह चलायमान नहीं होता। जो उससे बंधता है वह भले ही चलायमान हो। इस प्रकार से खूंटे की तरह वह भीतर स्थिर होता है। ब्रह्म भी तो कूटस्थ है। **'कूटस्थमचलं ध्रुवम्', 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'।** जो आत्मनिष्ठ होता है, जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह वैसा ही हो जाता है। भीतर अचल पर्वत की भाँति, डिगाये डिग नहीं सकता। गुणातीत के लक्षणों में भी तो कहा **'गुणैर्यो न विचाल्यते'** (14, 23) 'गुणों के द्वारा जो चलायमान नहीं किया जाता'। वैसा ही कूटस्थ होता है।

'विजितेन्द्रियः' जिसने इन्द्रियों पर भली प्रकार से विजय प्राप्त की है। जैसे-जैसे कदम आगे बढ़ता है, इन्द्रियों पर भी अधिकार बढ़ता चला जाता है। युक्त अवस्था में तो इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार होता है। बिना इस अधिकार के उस अवस्था की कल्पना मूढ़ता है, आत्म-प्रवंचना है, यह न भूल जाना चाहिए। बुद्धिगत ज्ञान सारा ही अज्ञान हो जाता है इन्द्रिय-संयम के अभाव में।

और **'समलोष्टाश्मकांचनः'** मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना जिसके लिये समान हैं। गुणातीत के लक्षण में (14, 24) ठीक यही कहा। क्या वह विवेक रहित हो जाता है जो मिट्टी से पत्थर को नहीं पहिचानता या इन दोनों से सोने के भेद को नहीं जानता? वह पहिचानता है, भेद भी जानता है, परन्तु, उसके लिये जो मूल्य का अन्तर लोग लगाते हैं वह नहीं रहता। जो प्रियत्व है, आकर्षण है सोने में, वह नहीं रहता। वह सभी कुछ की उपयोगिता समझता है, सभी को अपनी-अपनी जगह रखता है परन्तु, लोभ के न होने से बंधता नहीं सोने से। जैसे बच्चे की स्थिति होती है – अच्छे से अच्छे खिलौने को थोड़ी देर खेलखाल कर रख देता है, दूसरा उठा लेता है। वैसी उसकी स्थिति होती है। वह आसक्ति रहित है। लोभ रहित होता है। अतः बन्धन रहित होता है।

ऐसे व्यक्ति को युक्त कहते हैं। युक्त – जुड़ा हुआ। गुणातीत युक्त होता है। वह कर्मनिष्ठा का परम सिद्ध है। परम शान्ति को लाभ किया है ऐसे व्यक्ति ने।

आगामी श्लोक और परिचय देता है युक्त का।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥9॥

'जो सुहृत, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य तथा बन्धु में और सज्जन तथा पापी में (भी) समबुद्धि रखता है वह विशेष है'॥9॥

श्लोक के पूर्वार्ध में पारस्परिक सम्बन्ध की कई कोटियाँ कहीं हैं। सुहृत् तो परम-मित्र होता है। वहाँ गहरी प्रीति होती है। दिल से दिल मिला होता है। दो शरीर एक आत्मा कहे जाते हैं सुहृत्। मित्र में सच्चाई होती है और हित-चिन्तन होता है। प्रीति भी होती है, परन्तु सुहृत् की सी नहीं। शत्रु तो अहित चाहता है, प्रीति नहीं वैर होता है। उदासीन वह है जो न मित्र है न शत्रु। जिससे कोई वास्ता ही नहीं पड़ा वह तटस्थ है। मध्यस्थ जो मित्र तथा शत्रु के बीच में है। न उसे मित्र कहा जा सकता है न शत्रु, क्योंकि शत्रुता वह करता नहीं, परन्तु हित भी करने में हिचकता है। न शत्रु का साथ ही देता है और न हमारा। उदासीन भी नहीं है। हित वह चाहता है, परन्तु करता नहीं। शत्रुता वह चाहता नहीं, परन्तु उसकी तटस्थता से हानि होती है। या इसके विपरीत स्थिति में भी मध्यस्थ होता है। दोनों ओर के हित चाहने पर भी भगवान् कृष्ण की तरह मध्यस्थता होती है कौरव-पाण्डवों के बीच में।

द्वेष्य, जो द्वेष के योग्य है। शत्रु जो हमसे शत्रुता करे। द्वेष्य जिसके कर्मों के कारण हमें उससे द्वेष रखना चाहिए सांसारिक दृष्टि से। कुल परम्परा से द्वेष चलते हैं। उसके नाते से भी व्यक्ति द्वेष्य होते हैं।

बन्धु, जो बंधा है रक्त के नाते से, कुल तथा माता-पिता के नाते से, विवाहादि के सम्बन्ध से।

जो व्यक्ति इन सब के प्रति समबुद्धि है वह विशेष है, उसकी अवस्था और भी ऊँची है। जिसकी मति बाह्य सम्बन्धों से अप्रभावित रह सकती है जो व्यक्तित्व के रंगों से अरंजित, व्यक्तित्व से ऊपर रहता है पूरी तरह से, वह ऊँचा है। वह युक्त योगियों में भी विशेष है। वह जो सभी को आत्मा के नाते समरूप से, भीतर से विकार रहित होकर, राग-द्वेष रहित होकर, स्वीकार कर सकता है, वह।

'साधुष्वपि च पापेषु' यह समता साधु तथा पापी के प्रति तक व्याप्त हो जिस व्यक्ति में। नियम है सज्जन से प्रीति और पापी की उपेक्षा। पुण्य को

देखकर मुदिता (प्रसन्नता) और पाप को देखकर उपेक्षा – यह पातञ्जलि का भी उपाय है चित्त प्रसाद का। पर यह सामान्य स्थिति है। परन्तु मानुषी-स्तर से अतीत स्थिति है समता। जब पुण्यात्मा तथा पापी में एक ही आत्मा दीख पड़ता है, तो उपेक्षा असम्भव हो जाती है। योग-युक्तात्मा तो-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥6/29॥

'सभी में अपने को और अपने में सभी को देखता है', अतः समदर्शी होता है। पाप तथा पुण्य समा जाते हैं इस आत्म-दर्शन में। वह ही विशेष स्थिति है। गुणातीत के लक्षणों से मिलान करना रुचिकर होगा।

धार्मिक कोप (righteous anger) के लिए सिद्ध सन्त में कोई गुंजाइश नहीं होती। वह कोप तो मनोगत आसक्ति का ही परिणाम हो सकता है। ऐसे सन्त का लोक-व्यवहार कैसा होता है? लोक कल्याणरहित, जैसा भगवान् का होता है। भगवान् भी तो सम हैं सभी के प्रति, फिर भी वह सारा खेल खेलते हैं। किसी को सताते हैं, किसी को हँसाते हैं। कोई पैदा होता है, कोई मरता है। बाह्य व्यवहार से यह समता नहीं पहिचानी जाती। आन्तरिक स्थिति है वह तो।

10 से लेकर 15 तक आगामी छः श्लोक इस परम शान्त अवस्था की प्राप्ति के लिए 'शम' के साधन का वर्णन करते हैं। यह श्लोक 18वें अध्याय के 51वें श्लोक से लेकर 53वें श्लोक के साथ मेल खाते हैं। नैष्कर्म्य-अवस्था को प्राप्त व्यक्ति उस साधना के द्वारा ब्रह्मभाव को लाभ करता है। यहाँ इस साधना के द्वारा योगी युक्त होता है। निर्वाण – परम शान्ति को लाभ करता है। एक ही स्थिति के लिए आदेश है दोनों स्थलों पर।

मन-बुद्धि के संयम का जो मार्ग कहा जा रहा है, जो कर्मयोगी के लिए आवश्यक है, उसी मार्ग के अनुकूल यह साधना है। आरोह पथ की यह साधना है, इसमें अपना प्रयत्न प्रधान है, प्रभुकृपा का मुख्य अवलम्बन नहीं, समर्पण का काम नहीं, शरणागति का सहारा नहीं। यह आत्मसंयम के द्वारा मन को शान्त करके ब्रह्म-स्थित होने का रास्ता है।

पहिले भी कहा जा चुका है, ध्यान के लिए जीवित आचार्य के द्वारा ही मार्ग लेना ठीक रास्ता है। पुस्तक पढ़कर ही चलना जोखिम का काम है।

यह सभी बातें अवरोह पथ पर चलने वालों के लिए नहीं है। उस मार्ग की परिपाटी और नियम आदि सभी अलग हैं। अतः व्यर्थ में उलझना न चाहिए। अवरोह का मार्ग शरणागति की निष्ठा पर आश्रित है। समर्पण में उसकी विश्रान्ति होती है। उसकी आन्तरिक साधना-ध्यानादि उसी रंग में रंगी हुई है। उसके लिए पाठक को लेखक की पुस्तक आध्यात्मिक-साधन के दोनों खण्ड देखने होंगे। यहाँ वर्णित सभी बातें अवरोह पथ के पथिकों के लिए नहीं हैं।

किस प्रकार से योगी शान्ति की साधना करे?

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥10॥

'एकान्त में टिककर, अकेला रहता हुआ, चित्त तथा आत्मा को वश में करके आशा तथा परिग्रह से रहित होकर, लगातार आत्मा को जोड़े'॥10॥

अकेला साधना करे, किसी के साथ मिलकर नहीं। इस साधना में संग-साथ विक्षेप का कारण होता है। यह 'ध्यान की साधना' व्यक्ति को अकेले ही करनी होगी।

और **'रहसि स्थितः'** – दूसरों की नज़र से बचकर। 'रहस्' से ही 'रहस्य' होता है। जिसे कोई दूसरा जाने नहीं। ऐसी जगह बैठे जहाँ लोगों को पता न चले। जंगल में हो। घर की कोठड़ी में भी बन्द हुआ जाता है। अर्धरात्रि में भी रहस् होता है जब सब सोये होते हैं।

इतनी छिपाने की चेष्टा क्यों? छिपाने से विकारों की जागृति की सम्भावना से बचाव होता है। दूसरों की दृष्टि से और संकल्पों से भी तो विक्षेप होता है। मान प्राप्त हो सकता है दूसरों के जानने से और उसके द्वारा डिगाया जा सकता है।

आरोह का मार्ग पतन के भय से आक्रान्त है, अतः यहाँ कई प्रकार का रहस् है। किसी से अपनी अनुभूति का भी वर्णन न करना चाहिए।

'यतचित्तात्मा' चित्त तथा आत्मा को वश में करके साधन हो सकता है। चित्त तो मन-बुद्धि का द्योतक है और आत्मा से तात्पर्य है शरीर का। मन-बुद्धि वश में नहीं होंगे तो घबरा जायेगा। जम ही न सकेगा। एक दिन की साधना से कुछ होने का नहीं, सम्भवतः जन्मान्तर में सफलता मिले।

अतः मन-बुद्धि को तैयार कर ले, यह काम करना है धैर्य के साथ।

शरीर साथ देगा तभी साधन होगा। यह आरोह का साधन तो घण्टों की निश्चल बैठक की मांग करता है। यदि शरीर सधा नहीं तो परेशानी होगी। व्यक्ति शरीर को सहनशील बना ले, आसन का अभ्यास हो, खानपान का संयम हो, तब साधन की गाड़ी चलती है।

'निराशीः' – आशा से रहित। लौकिक आशा से तो रहित हो ही, ध्यान के विषय से भी आशा से रहित हो। उतावला न हो। उत्सुक भी न हो कि अब यह अवस्था आने वाली है! हाय जल्दी क्यों नहीं आती। बनी क्यों नहीं रहती! भीतर के जगत् में, साधन के क्षेत्र में भी अनासक्त, फलाकांक्षा से रहित होकर साधन करना होगा।

'अपरिग्रहः' – परिग्रह से रहित। अपने साथ झमेला न रखे, न अनावश्यक वस्तुएँ रखे और न व्यक्तियों को रखे। जितनी वस्तुएँ अथवा व्यक्ति समीप में होंगे, जितनी मेरा-मेरी की पुनरावृत्ति होगी उतना ही चित्त भागेगा। उतनी ही सिद्धि दूर होगी। बाह्य त्याग की यह उपयोगिता है।

स्पष्ट ही है कि इस साधना के साथ बहुत सांसारिक काम-काज की ठेलमठेल से कुछ समय के लिए तो हटना ही होगा। अठारहवें अध्याय में तो स्पष्ट कहा – **'विविक्तसेवी'** – एकान्त सेवन करने वाला।

इस प्रकार रहते हुए योगी को क्या करना चाहिए **'युञ्जीत सततमात्मानम्'** – लगातार अपने को जोड़े। आत्मा से जोड़े, ब्रह्मनिष्ठ होने की चेष्टा करे। लगातार चेष्टा करता रहे। रात-दिन का अनवरत प्रयत्न हो, ऐसा निर्देश है। नितान्त अन्तर्मुखता की मांग है। धीरे-धीरे ही इतना हो सकना सम्भव होता है। समझदारी की मांग है कि साधना उतनी बढ़ाये जो शरीर साथ दे सके। यदि व्यक्ति इस सीमा को लांघेगा तो अभ्यास बिलकुल समाप्त करना पड़ेगा। अतिशय करने का परिणाम होता है कुछ समय के बाद साधन से अरुचि। बड़ी समझदारी से चलते हुए साधन को बढ़ाते जाना होगा। आत्मभाव में सदा ही प्रतिष्ठित रहने की चेष्टा होनी चाहिए।

किस प्रकार से अभ्यास करें यह आगे के दो श्लोकों में कहा है –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥11॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥12॥

'पवित्र स्थान में अपना स्थिर आसन बनाकर, जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा हो, जिसमें सबसे ऊपर सूती वस्त्र हो, उसके नीचे मृग-चर्म और उसके नीचे कुशासन हो। वहाँ आसन पर बैठकर चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके मन को एकाग्र करके आत्मविशुद्धि के लिए योग करें'॥11, 12॥

ध्यान करने के लिए पवित्र स्थान होना चाहिए। मन की एकाग्रता इन बाह्योपकरणों पर वास्तव में निर्भर नहीं करती, परन्तु प्रारम्भिक अवस्थाओं में इन बातों से सहायता अवश्य मिल जाती है। पवित्र स्थान का विशेष प्रभाव होता है। मन शीघ्र ही शान्त हो जाता है। जैसा स्थान होता है वैसा ही प्रभाव होता है। मन्दिर में जाकर, नदी तट पर, एकान्त रम्य वन में मन स्वतः शान्ति लाभ करता है। बाहर की शान्त तरंगें उसे भी शान्त कर देती हैं। अतः पवित्र स्थान के लिए निर्देश किया गया है।

बैठने के लिए ढंग का आसन होना चाहिए। आसन स्थिर हो, हिलता न हो। हिलने वाली चौकी या पटले पर या तख्त पर बैठने से तो बार-बार हिल जाने से मन एकाग्र न हो पायेगा। छत पर हो तो लोगों के आने जाने से यदि छत कांपेगी तो भी मन न लग सकेगा। आसन स्थिर हो।

हमारा बैठना भी स्थिर होना चाहिए। यदि पाँच-पाँच मिनट में आसन बदलना पड़ेगा तो भी कुछ हाथ न लग पायेगा। व्यक्ति इस प्रकार से बैठे कि पर्याप्त समय तक बिना हिले डुले बैठ सके।

आसन कैसा हो? नीचे कुशा बिछी हो या कुशा का आसन हो। उसके ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर से कोई सूती कपड़ा हो। आसन बिजली के प्रवाह को रोकने वाला होना चाहिए। भजन में बैठने से शरीर में बिजली की मात्रा बढ़ जाती है। पृथ्वी से सम्पर्क होगा तो वह पृथ्वी में बहती रहेगी, इससे जो ध्यान की घनी अवस्था आ सकती थी वह न आयेगी। आसन नर्म होने से बैठना सुगम होता है। नीचे कुशा से आसन नर्म रहता है। मृगचर्म से सम हो जाता है, कोमल हो जाता है और नीचे से सर्दी सीलन आदि नहीं आ पाती। ऊपर सूती कपड़ा बिछाने से बाल नहीं चुभते। चर्म की रक्षा होती

है। सफाई भी रह सकती है क्योंकि सूती-वस्त्र तो धोया जा सकता है।

और, आसन न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचे। मानसिक-प्रभाव होता है बहुत ऊँचे या बहुत नीचे बैठने का। ऊँचे बैठने में एक अस्थिरता की सी और अजीबपन की प्रतीति होती है। नीचे होने में लगता है मानो गड्ढे में पड़े हैं। मन में स्वस्थता लाने के लिए आसन की ठीक स्थिति सहायक होती है।

वहाँ, वैसे स्थान में आसन पर बैठ कर क्या करना होगा? आत्म की विशुद्धि के लिए योग करना होगा। कर्म के द्वारा काफी शोधन हो जाता है, परन्तु पूरा शोधन तो नहीं हो सकता। सूक्ष्मरूप में संस्कार तथा वासनायें रहती हैं। उनके लिए आवश्यक है यह साधना। आत्मशोधन के लिए साधन करे-ऐसा उद्देश्य सामने रखता हुआ।

चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में कर ले। चित्त से तात्पर्य है बुद्धि तथा हृदयगत स्पन्दनों से। व्यक्ति को विचार आते हैं, संकल्प-विकल्प होते हैं और उन्हीं के साथ भावों की जागृति होती है। इन सभी स्पन्दनों पर अधिकार प्राप्त करना होगा। इनकी दिशा बदलने की और इन्हें रोक देने की योग्यता पैदा करनी होगी। व्यक्ति इनकी क्रियाओं को और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक सके।

मन को एकाग्र करके, एक ही लक्ष्य की ओर धारा-प्रवाह रूप से बहने वाला बनाकर, एक ही ओर लगाए। मन को विचार-शून्य नहीं करना है। उसके सामने लक्ष्य रख देना है। मन को उसी लक्ष्य में (बिना इधर उधर गए), लगाए रखना होगा। यही है एकाग्रता। एक ही ओर निकला हुआ, एक ही दिशा में बहता हुआ मन एकाग्र होता है। एकाग्रावस्था में मन की क्रिया तो होती है परन्तु वह बँधी हुई एक ही दिशा में होती है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥13॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥14॥

'(स्वयं) स्थिर बैठा हुआ, शरीर, शिर और गर्दन को बराबर (एक सीध में) रखे हुए, अपनी नासिका की नोक को देखकर, दिशाओं को न देखता

हुआ, प्रशान्त हुई आत्मा वाला, भयरहित, ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करता हुआ, मन को वश में करके, मत्पर हुआ (मुझ में चित्त लगाये हुए) साधन में लगा रहे'।।13, 14।।

युक्त शब्द जुड़े रहने के लिए, लगे रहने के लिए अभ्यास करते रहने के लिए आता है। मन की एकाग्रता तथा समता का सूचक भी है। प्रयत्न में लगा रहे ऐसी भावना है इसके पीछे।

साधक साधन करे मत्पर हुआ, मुझे अपने जीवन की गति मानता हुआ, सर्वस्व जानता हुआ। और 'मच्चित:' मुझ में चित्त लगाए हुए। भगवान् में, पुरुषोत्तम में चित्त लगाए हुए अभ्यास करे। यह निर्गुणोपासना का निर्देश नहीं। यह तो सगुणोपासना का आदेश है। साधक को बैठकर भगवान् का चिन्तन करना होगा, उसे ही जीवन का परम लक्ष्य समझ कर चलना होगा। तो क्या यह साधना ज्ञान की निष्ठा वालों के लिए है अथवा कर्मनिष्ठा वालों के लिए है। वास्तव में यह साधना आत्म-विशोधन की साधना है। कर्ममार्ग का साधक जब इस अवस्था को लाभ करता है तो उसके लिए यह आदेश है। भगवान् सुगम मार्ग का निर्देश करते हैं। कर्म के साथ भक्ति की निष्ठा तो मेल खाती ही है।

मुझ में चित्त कैसे लगेगा? जब मन पर लगाम होगी। जब वह काबू में होगा और काबू में कैसे होगा? काबू में करने से, प्रभु के चिन्तन से। एकाग्रता, एकाग्रता के अभ्यास से ही तो होती है। मन का ठीक उपयोग करने से वह उस काम के लायक हो जाता है। प्रभु चिन्तन से मन काबू में होने लगता है। करने से करना आता है। जो लोग इस सीधी सी बात को नहीं समझते वह मन की चंचलता से घबरा जाते हैं। सोचते हैं यह हमारे बस का नहीं। पर वह तो अधीरता है, ना-समझी है। करने से संयम आता है। सवारी करने से घोड़े की सवारी आती है। गाकर गाना सीखा जाता है।

और क्या-क्या करना होगा?

बैठने में ध्यान रखना होगा कि पीठ, गर्दन और सिर समरूप से एक सीध में हैं। कुछ भी आगे, पीछे या दायें-बायें न झुका होना चाहिए। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि तनाव हो जाये शरीर में। तनाव तो जितना कम से कम होगा उतना ही ध्यान अच्छा हो सकेगा। जहाँ तनाव होता है, वहीं मन जाता है। ठीक स्थिति अनुभव से जानी जाती है। यह नियम आरोहमार्ग के

लिए ही है। अवरोह के लिये नहीं।

शरीर स्थिर रहना आवश्यक है। गर्दन को मोड़ने की, झुकाने की अथवा कमर को ऊपर-नीचे, आगे-पीछे करने की आवश्यकता न होनी चाहिये। शरीर सम तथा स्थिर रह सकना चाहिये ध्यान के समय में। ऐसी अवस्था में भी तनाव न होना चाहिये।

नासिकाग्र का ध्यान करने का आदेश है। जब दृष्टि नासिकाग्र में टिकाई जाती है तो स्वतः ही ज़ोर पड़ता है 'आज्ञा-चक्र' पर, जो भ्रूमध्य में है और आज्ञाचक्र भीतर के नाड़ी-मार्ग से ब्रह्मरंध्र से सम्बद्ध है। अतः नासिकाग्र में ध्यान करने से ब्रह्मरन्ध्र तक रास्ता खुल सकता है।

ध्यान खुली आँखों से होगा या बन्द से? जरा सी खुली रखना आवयक होगा, तभी चल पायेगा। दिशाओं को न देखें, दृष्टि पूर्णरूपेण नासिकाग्र पर ही जमा दें। इधर-उधर दृष्टि के भागने से भीतर से जागृति न हो पायेगी।

'प्रशान्तात्मा' – खूब शान्त हुई आत्मावाला। ऊपर 7वें श्लोक में भी 'प्रशान्त' का प्रयोग हुआ है युक्त व्यक्ति के लिए। व्यक्ति को अपने को शान्त कर लेना चाहिये। अशान्ति के कारणों को समझकर उन्हें निपटा देना होगा। बैठने से पूर्व ही कोई काम करने के लिए सामने हो तो करके बैठना अच्छा है। कोई निर्णय करने को हो तो करके समाप्त करना चाहिये प्रसंग को। मन को उलझाये न रखना चाहिये। जिस बात का हम अभी निर्णय नहीं कर सकते, उस विषय में सोचना व्यर्थ है।

'विगतभीः' – भय से रहित। डर होने पर एकाग्रता असम्भव है। मन बार-बार खिंच जाता है डर के कारण की ओर। कई लोगों को यह डर होता है कि हमें कोई देख न ले कि हम भजन करते हैं। सभी हड़बड़ाहटों को, परेशानी के कारणों को एक-एक करके खोजकर ठीक समझ के द्वारा निकाल देना चाहिये। वस्तुतः ठीक सोचना बहुत कम लोगों को आता है। जो मन का ठीक उपयोग करता है वह जल्दी ही स्वामी बन जाता है अपने मन का।

साधक को **'ब्रह्मचर्यव्रत'** का पालन करना होगा। वीर्य की रक्षा, सभी प्रकार के मैथुनों से बचना, तपोमय जीवन, यही तो ब्रह्मचर्य के प्रधान अंग हैं। वेदपाठ से यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है।

वीर्य की स्थिरता होने पर मन की स्थिरता होती है। वीर्य की अस्थिरता

से मन भी चञ्चल हो जाता है। बाकी साधन तो मन की स्थिरता के लिए हैं। मैथुन से बचने से वीर्य की रक्षा स्वयं हो जायेगी।

आरोहमार्ग की साधना बिना वीर्य की नितान्त रक्षा के चल नहीं पाती। गृहस्थी जो ऋतुगामी होता है उसे भी ब्रह्मचारी कहते हैं, परन्तु ध्यान के क्षेत्र में (इस मार्ग में) नितान्त वीर्य रक्षा की मांग है। वीर्य स्खलन होने पर लगता है मानो सभी जो कमाया था सो खो दिया।

आवश्यक बातें सभी कह दी गई हैं। अब इस साधना का फल बताते हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥

'योगी इस प्रकार से सदा अपने को साधन में लगाये हुये, मन को वश में करके, निर्वाण – परम शान्ति को लाभ करता है, जो शान्ति मुझ में है'॥15॥

जब मन वश में हो जाता है अभ्यास करते-करते, तब वह निर्वाण – परम शान्ति को पा लेता है।

निर्वाणपरम-शान्ति? मोक्षरूपी शान्ति। जो शान्ति मोक्ष तक ले जाती है।

'मत्संस्था' – जो मुझ में है। वह योगी मुझे पाता है। मुझ में शान्ति है, उसे पाता है। वह शान्ति मोक्षरूपी होती है। उसे लाभ करने से उसका कल्याण हो जाता है।

भगवान् का भजन करते चले जाने से स्वतः मन में एकाग्रता आ जाती है, शान्ति आती है, बन्धन कट जाते हैं।

योग का लक्ष्य तो आत्मशोधन ही था, परन्तु यहाँ तो शान्ति की प्राप्ति की चर्चा हो रही है। व्यक्ति जितना निर्मल हो जाता है, उतना ही स्वतः शान्त होता जाता है।

वास्तव में हमारी अशान्ति का कारण होती हैं हमारी ही वासनायें, आसक्तियाँ और भय। इनसे छुट्टी मिल जाती है जैसे-जैसे आत्मशोधन होता है।

आगामी दो श्लोक साधक की चर्या के विषय में कहते हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥16॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥17॥

'जो बहुत खाता है उसके लिये योग नहीं, न उसके लिए है जो बिल्कुल खाता ही नहीं। न है यह उसके लिये जो बहुत सोता है और न उसके लिये जो जगा ही रहता है'॥16॥

'जिसका आहार तथा विहार समुचित है और जिसकी कर्मों में चेष्टायें समुचित हैं और जिसका सोना-जागना समुचित है, उसके लिये योग दुःखों को दूर करने वाला होता है'॥17॥

योग से तात्पर्य यह आत्मसंयम का योग है, ध्यान की साधना है। यह साधना भी समूचे जीवन से सम्बन्ध रखती है। सारे जीवन को साधने से ही मन सधता है। तन का मन का घना सम्बन्ध है। अतः तन को साधना भी आवश्यक हो जाता है। यह साधना मदारी का खेल नहीं, जिसे अभ्यास से सीख लिया जा सकता हो। यह भीतर का शोधन है, अपनी प्रकृति का परिवर्तन है।

जो अतिभोगी है उसे ध्यान का अभ्यास नहीं होता। वह ध्यान करने बैठता है तो पेट भारी होने के कारण परेशान हो जाता है। या उसे नींद घेर लेती है। पेट में पैदा होने वाली हवा ही उसके ध्यान को बार-2 शरीर में ले आती है। उसकी वृत्ति पार्थिव हो जाती है। उससे ऊपर उठना उसके लिये असम्भव हो जाता है। और जो खाता ही नहीं, उपवास करता है, उससे भी यह साधन नहीं चलता। अति उपवास करने से मन में दुर्बलता आती है, स्नायुओं से एकाग्रता का सामर्थ्य ही चला जाता है। बलवान् मन ही तो एकाग्रता के काम करने में सशक्त हो सकता है। दूसरा, भूख लगने पर भी तो मन शरीर की ओर जाता है। प्राण में चञ्चलता आती है।

अतः, मध्यममार्ग ही स्वर्णसूत्र है। खाना परन्तु अधिक नहीं। शरीर की आवश्यकता को पूरा करना – बस इतना ही। इसे मिताहार कहते हैं। हमें शरीर की आवश्यकता का पता चलाना होता है, उतना ही इसे देना होता है।

समझदार व्यक्ति तो जान जाता है कि कितना खाने से शरीर ठीक चलता है और ध्यान भी ठीक रहता है। रास्ते पर चलते-चलते शारीरिक आवश्यकता में परिवर्तन भी हो सकता है। उसके लिये सजग रहना आवश्यक है। जो वस्तु और जितनी मात्रा में अनुकूल रहे वैसे ही सेवन करना चाहिये। हठधर्मिता अहितकर होती है।

इसी प्रकार से सोने और जागने के विषय में। जो अत्यधिक सोता है उस पर सुस्ती ही छायी रहती है। वह ध्यान में भी ऊँघता है। उसकी वृत्ति निद्रा में लीन हो जाती है। ध्यान टूट जाता है। जो जगा ही रहता है उसकी नसों में इतना तनाव हो जाता है कि ध्यान उसके लिये असम्भव हो जाता है। उसका सिर तथा शरीर ध्यान करने में गर्म होने लगता है। अतः, यहाँ भी मध्यममार्ग को अपनाना होगा। जानना होगा कि कितना सोने से पूरा आराम हो जाता है और ध्यान में ठीक रहता है। थोड़े से अनुभव से व्यक्ति यह जान जाता है। जैसा ठीक हो वैसा ही करना चाहिए। निद्राजित होने की चेष्टा से व्यक्ति अपने शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन को खो देता है। साधन में अग्रगति पर निद्रा की आवश्यकता के विषय में भी बदलाव होता है। ऋतुओं का भी प्रभाव होता है। हमारे काम-काज का, शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम की भी इस विषय में अपेक्षा होती है। अधिक परिश्रम अधिक विश्राम मांग करता है। सो देना ही चाहिए। अन्यथा ध्यान में ठीक न रहेगा, ध्यान का मार्ग बड़ी जागरूकता की मांग करता है। आँखों पर पट्टी बांधकर चलते जाने से कुछ नहीं होता। इसीलिये तो पथ-प्रदर्शक की समीपता परमावश्यक समझी जाती है। शारीरिक समीपता सम्भव न भी हो तो भी समय-समय पर पथ-प्रदर्शन तो अनिवार्य है ही।

17वाँ श्लोक सामान्य सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है (जो ऊपर कहा है उसका समावेश करते हुए)।

योग किसके लिए दुःख दूर करने वाला होता है? किसके दुःखों को दूर कर सकता है? दुःख तभी तो दूर होंगे जब सफलता होगी। यदि उलट-पुलट साधन होने लगेगा तो बजाय दुःख दूर करने के योग-साधन दुःख का कारण भी तो हो जाता है। ऐसी साधना से किसी साधक का शरीर रोगी हो जाता है, किसी का मस्तिष्क खराब हो जाता है। अथवा जीवन में संयम के अभाव के कारण ऐसा होता है। जैसे औषधि का सेवन ठीक न किया जाये, अथवा

परहेज न किया जाये, या अनुपान की परवाह न की जाये तो औषधि से हानि होने की सम्भावना होती है। ऐसे ही इस योग-साधना में होता है।

इससे लाभ उठाने के लिए तो जीवन को संयम के सूत्र में पिरोना होगा।

साधक का भोजन उपयुक्त होना चाहिए। जिह्वा की लोलुपता और योग-साधना साथ नहीं चल सकती। लोलुपता का परित्याग करके और संयम की तथा भोजन की मात्रादि का बन्धन करके ही सध सकता है यह योग।

और विहार? व्यवहार भी उपयुक्त होना चाहिए। समय तथा शक्ति का समुचित उपयोग करना होगा। इनका वह उपयोग जो साधन में सहायक हो, बाधक न हो, वही समुचित उपयोग है। यदि हम ऐसे संस्कारों का व्यवहार के द्वारा सञ्चय करते हैं जो मार्ग में बाधक हैं, या समय और शक्ति को व्यर्थ में बर्बाद करते हैं तो साधन में सफलता न मिलेगी। साधक के लिए तो साधन के प्रति अनन्य हो जाना, उसे ही जीवन का एक मात्र सूत्र बना लेना आवश्यक है। हर विषय में, बोलते, उठते, बैठते, सुनते, चलते हुए उसे यही ख्याल करना होगा क्या यह ठीक है साधन की दृष्टि से।

व्यवहार के विषय में संयम के सूत्र अपने योगदर्शन में पातञ्जलि ने दिए हैं। **'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'।** और यम भी हैं पाँचों। इन दोनों का पालन करना होगा। इसके अनुसार अपनी चेष्टाओं को कर्म में नियन्त्रित करना होगा। बिना इस आधार के यह साधना फलवती नहीं होती। पराशान्ति के लाभ के लिए और निर्विघ्न रूप से किनारे लग जाने के लिए तो यह आवश्यक है।

लोग कतिपय अनुभव प्राप्त कर लेते हैं बिना इस जीवन के संयम के भी। परन्तु वही उन लोगों के साधना की सीमा हो जाती है। बिना अन्तःशोधन के दूर तक नहीं जाया जा सकता। जितनी दूर जाया भी जाता है वहाँ टिका नहीं रह सकता ऐसा व्यक्ति। हम धोखा नहीं दे सकते हैं भगवान् को। बिना अन्दर-बाहर निर्मल हुए कैसे पहुँचा जायेगा प्रभु धाम तक और बिना व्यवहार की निर्मलता के निर्मल कोई कैसे होगा? यह सभी करना होगा। चाहे प्रारम्भ में किया जाये चाहे साथ-साथ। परन्तु इसके बिना अग्रगति हो न सकेगी, इस बात को निश्चित समझ लेना चाहिए। इस विषय में हमारे मन का धोखा जितनी जल्दी निकल जाये उतना ही अच्छा होगा।

और, सोने-जगने के विषय में तो ऊपर लिखा ही जा चुका है।

यह श्लोक योगसाधना की आधार शिला है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।18।।

'जब भली प्रकार से रोका हुआ चित्त, सभी कामनाओं से लालसा रहित हुआ, आत्मा में ही बिल्कुल टिक जाता है तब योगी युक्त कहा जाता है'।।18।।

योग साधना में 'युक्त' अवस्था का वर्णन करते हैं। युक्त तो ब्रह्मभूतावस्था है। क्या होता है उसमें? चित्त का निरोध होता जाता है। सर्व वृत्तियों का निरोध होता है। आत्मा में स्थिति हो जाती है। **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** तब द्रष्टा (अपने) स्वरूप में स्थित होता है। चित्त पूरी तरह से काबू में होता है। सभी ओर से रुक जाता है। दौड़ता नहीं है। उसे रोकने के लिए चेष्टा की भी आवश्यकता नहीं रहती।

जब सभी कामनाओं के प्रति लालसा समाप्त हो जाती है, तभी यह अवस्था आती है।

यह समझ लेना चाहिये कि रास्ते पर चलने वाले को यह अवस्था स्वतः प्राप्त होगी ही। बस, भीतर तथा बाहर जो आवश्यक परिवर्तन है वह हो जाना चाहिए। कामनाएं शान्त हो जानी चाहिएँ। जब तक भीतर कामनाएं हैं, चित्त कभी भी चञ्चल हो उठेगा। कामना समाप्त होगी यदि व्यक्ति विवेकपूर्वक कर्म करता चला जाता है और समझता चला जाता है वासनाओं की गति को। विकास-क्रम में वासनाएं आगे चलकर समाप्त हो जाने वाली ही हैं। अधीर होने से कुछ नहीं होगा। ढंग से आगे बढ़ते जाने से उनका क्षय जल्दी होता है। कहीं भोग के द्वारा और कहीं सूक्ष्म में ही वासनाएं समाप्त होती हैं। विकास के क्रम को समझ लेने से अधीरता नहीं होती। विश्वास पक्का हो जाता है।

और साधन-क्रम में आगे चलने पर चित्त की वृत्ति का शून्य होना स्वाभाविक है। यदि हम ध्यान के प्रवाह में चित्त को डाल देंगे तो धीरे-धीरे स्थिरता आती जायेगी। जितना कामना का अभाव होगा, जितनी आसक्ति दूर होगी, उतना ही भय और लालसा भागेगी। उतना ही चित्त सम हो जायेगा। जीवन के अनुभव इस विषय में बहुत महत्त्व रखते हैं। कर्म की साधना की

महान् उपयोगिता है।

बाकी बात अभ्यास की रह जाती है। अभ्यास करते चले जाना होगा। जैसे उबलता हुआ दूध चूल्हे से उतारने पर स्वयं ठण्डा हो जाता है, जैसे हिलता हुआ पानी हवा के न रहने पर स्वयं टिक जाता है, ऐसे ही मन की दशा होती है। अभ्यास करना होगा। धीरे-धीरे स्थिरता के संस्कार का निर्माण होता है। भीतर अवलम्बन मिलेगा। मन टिकने लगेगा। धीरे-धीरे वृत्तियों का लय होने लगता है। लय होते-होते मनोलय हो जाता है। आत्मतत्त्व खिल उठता है। तब व्यक्ति आत्मनिष्ठ हो जाता है।

ध्यान के लिए भगवान् ने अपना चिन्तन कहा था (14), यहाँ तो आत्म-स्थिति कही है? ठीक ही है। धीरे-धीरे सविकल्प से निर्विकल्प होती है समाधि। सभी चिन्तन लीन हो जाते हैं। मन ही नहीं रहता तो मनन कहाँ हो? कौन करे?

इस अवस्था वाले योगी को युक्त कहा है। यह अवस्था भी युक्तावस्था है। साधक आत्मा से जुड़ा होता है, समाधिस्थ होता है, मन, बुद्धि से अतीत होता है। वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। परम साम्य में स्थित होता है इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति। वह प्रशान्त होता है। भीतर की आँधियाँ समाप्त हो गई होती हैं।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥19॥

'जैसे वायु रहित स्थान में रखा दीपक (दीप शिखा) डोलता नहीं है, वह उपमा दी जाती है योगी की, जिसका चित्त काबू में हो गया है आत्मा के योग को साधते हुए'॥19॥

युक्तावस्था को प्राप्त योगी के लिए उपमा देते हैं। दीपक वायु रहित स्थान में रखा जाए तो उसकी शिखा स्थिर रहती है। ऐसे ही योगी का चित्त कम्पन रहित होता है। शिखा भी धारावाही रूप से स्थिर है। पल-पल जलते हुए तेल से शिखा बन रही है, परन्तु वह बिल्कुल एक सी है। अतः, वही और स्थिर दीखती है। ऐसे ही योगी के चित्त का प्रवाह बिल्कुल एक रस, एक-निष्ठ हो जाता है। अतः वह अडोल होता है।

उपनिषद् में ठीक इसके अनुरूप कथन आता है –

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

कठोपनिषद् 2.3.10

'जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन के साथ स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परम गति कहते हैं।' यह भी युक्तावस्था का वर्णन है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥20॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥21॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥22॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥23॥

'जिसमें योगसाधना के द्वारा रोका हुआ चित्त शान्त हो जाता है और जिसमें आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में सन्तुष्ट होता है, जो आत्यन्तिक सुख है, जिसे बुद्धि ग्रहण कर सकती है (परन्तु), जो इन्द्रियों से परे का है, उसे जिस (अवस्था) में (व्यक्ति) जानता है और जिसमें टिका हुआ तत्त्व से च्युत नहीं होता, जिसे पाकर उससे बड़ा दूसरा लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ व्यक्ति बड़े दुःख से भी चलायमान नहीं होता, उसे तुम योग नाम वाला समझो। वह दुःख के संयोग का वियोग करने वाला है। विषाद रहित चित्त होकर व्यक्ति को वह योग निश्चयपूर्वक करना चाहिए'॥20-23॥

इस आत्म-संयम-योग की सिद्धि से क्या होता है इसका सुन्दर वर्णन हमें इन चार श्लोकों में मिलता है।

इस योग की सिद्धि में निर्विकल्प समाधि होती है जिसमें द्रष्टा अपने

स्वरूप में स्थिर हो जाता है। वह कृतकृत्य हो जाता है। उसका भटकना बीत जाता है सदैव के लिए। हम क्रमशः इन श्लोकों पर विचार करेंगे।

23वें श्लोक के पूर्वार्ध के साथ वाक्य पूरा होता है, 20वें से आरम्भ होकर। 23वें श्लोक का अपरार्ध अपने में एक वाक्य है।

वाक्य की पूर्ति होती है 'उसे योग नाम वाला जानो, जो दुःख के संयोग का वियोग करने वाला है'। बाकी तीन श्लोक उस योग-स्थिति का वर्णन करते हैं।

जहां-जिस अवस्था में। साधना की परिपक्व अवस्था में जब सिद्धि होती है, जब साधना समाप्त हो जाती है, वही युक्त अवस्था में होता है। योग-सेवा के द्वारा रोका हुआ चित्त उपरामता को पा जाता है। योग-सेवा तो साधना है जिसका ऊपर के श्लोकों में वर्णन है। वह साधना चित्त को रोकने का प्रयास है। उस प्रयास के करते-करते चित्त हार जाता है, अपने चंचलता के स्वभाव को खो देता है। जैसे चंचल घोड़ा थककर हार जाता है और सीधा हो जाता है, ऐसे ही चित्त हार जाता है। फिर वह विषयों की ओर नहीं भागता और न भीतर दौड़ता है। जैसे किसी वस्तु से मन हट जाने पर फिर मन वस्तु की समीपता में भी चंचल नहीं होता, ऐसे ही उपराम हो जाने पर चित्त चंचल नहीं होता। फिर उसे रोकने की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वतः ही रुका रहता है।

20वें के अपरार्ध में कहा, जिस अवस्था में 'आत्मा से आत्मा को देखकर आत्मा में सन्तुष्ट हो जाता है'। यह आत्मस्थिति है जो मनोलय पर होती है। जब वृत्ति का नितान्त अभाव हो जाता है, जब अभाव की भी प्रतीति नहीं होती, तब होती है आत्मा में स्थिति। देखने वाला अपने में स्थित हो जाता है। वह चेतना जो मन-बुद्धि-इन्द्रियों के द्वारा दूसरे को देखती थी, वही दूसरा इनसे सिमट कर अपने को ही देखता है। वास्तव में उसे 'देखती है' ऐसे भी नहीं कहा जा सकता। वह प्रकृति से परे अपने में स्थिर होती है। यही योगदर्शन का केवलीभाव है। उस अवस्था में दूसरा नहीं होता, द्रष्टा ही द्रष्टा होता है और वह अपनी सत्ता को प्रतीत करता है। इस आत्म-दर्शन का परिणाम होता है परम सन्तोष। आत्मा तो अपने में पूरा पूरा है, उसी के सुख का अंश मन, बुद्धि, इन्द्रियों को प्राप्त होता है। वह साधक अपनी शक्ति और ज्ञान में भी पूरा हो जाता है। अपने पूर्णत्व की अनुभूति के अभाव के

कारण ही तो वह व्याकुल हुआ सुख को प्रकृति में प्रकृति के द्वारा खोजता है। जब अपने को ही परमानन्द का स्रोत जानता है तब सन्तोष हो जाता है। उसकी प्रकृति पर निर्भरता समाप्त होती है। अपने अजर, अमर, अविनाशी भाव को पाकर उसे सन्तोष ही सन्तोष होता है। आनन्द की खोज समाप्त हो जाती है। कस्तूरी तो मृगनाभि में रहती है परन्तु मृग जानता नहीं, इसलिए भटकता फिरता है। जब वह जान ले तो भटकना समाप्त हो सकता है। ऐसी ही दशा मनुष्य की है। परमानन्द तो उसमें ही है, परन्तु वह इस बात को न जानकर उसे अन्यत्र खोजता है।

आगे 21वें श्लोक में उसी सुख का वर्णन किया है। व्यक्ति उस अवस्था में जानता है उस सुख को। वह सुख कैसा है? आत्यन्तिकम् – अत्यन्त – बहुत ही। जिसमें अतिशय की सीमा है। जो बड़े से बड़ा है, जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं। आत्मा के सुख के बराबर तो कोई भी सुख नहीं। आत्मा अनन्त है। देश तथा काल की सीमाओं से रहित है। आत्मा का सुख भी अनन्त है। प्रकृति में तो वह अनन्त ही सीमित होकर प्रकट होता है। जब इस साधना के द्वारा व्यक्ति मन को लांघकर आत्मा में स्थिर होता है तो उस अनन्त आत्मा के अनन्त सुख की अनुभूति करता है। भौतिक सुख और देवलोक के सुख, बड़े देवाधिदेवों के सुख उस आत्म-सुख के सामने कुछ नहीं हैं।

वह सुख बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु वह इन्द्रियों से परे का है। वह सुख इन्द्रियों का विषय नहीं है। क्योंकि वह प्रकृति के संयोग से पैदा हुआ नहीं है। सामान्य सुख तो इन्द्रियों के विषयों से संयोग होने पर होते हैं। परन्तु, यह सुख तो अपने में स्थिर होने से अनुभव होता है। यह तो आनन्दमय आत्मा की स्वयं आत्मप्रतीति है। इसकी प्रतीति तो चेतना के आत्मा में प्रतिष्ठित होने पर होती है।

यह बुद्धिग्राह्य कैसे है? आत्मा ने सुख को प्रतीत किया। समाधि भंग होने पर तो उसकी स्मृति भी न रहनी चाहिए। तब तो चेतना प्रकृति में आ जाती है। बुद्धि उस आनन्द को ग्रहण कर लेती है। उसी से तो उसकी स्मृति बनी रहती है। यदि वह प्रकृति के द्वारा बिल्कुल ग्राह्य ही न हो तो स्मृति भी न रहनी चाहिए। जो स्मृति रहती है वह इस बात का प्रमाण है कि बुद्धि उस सुख को ग्रहण कर लेती है।

आत्मस्थिति के अनुभव का प्रभाव तो मन, बुद्धि, इन्द्रियों पर भी पड़ता है। सीधा प्रभाव तो बुद्धि पर पड़ता है। वह जगमगा उठती है उस महान् अनुभव से। वह आत्मा के धर्मों से थोड़ा रंग जाती है। समूचा आपा बहुत एक तृप्ति का अनुभव करता है ऐसे अनुभव के परिणाम-स्वरूप।

और **'न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः'** और 'यह टिका हुआ तत्त्व से चलायमान नहीं होता'। यह? साधक जिसने योगसाधना के द्वारा सिद्धि लाभ की है। कहाँ टिका हुआ? आत्मा में टिका हुआ। क्या समाधि को लाभ करके फिर उठता ही नहीं? नहीं, उठता है परन्तु उठने पर भी आत्मानुभूति को इतनी दृढ़ता के साथ लेकर आता है कि चलायमान नहीं होता उस तथ्य से जिसको उसने अनुभव किया है। आत्मबोध ही तत्त्व है। वही परम सत्य है। उसे व्युत्थान होने पर भूल नहीं जाता है। आत्मा की इस प्रकार की अनुभूति आत्म-चेतना को सदैव के लिए जागृत कर देती है। फिर देहाध्यास नहीं होता। फिर व्यक्ति अपने को मन, बुद्धि अथवा तन समझता हुआ इनके ह्रास से दुखित नहीं होता। फिर कहता है –

'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्?'

बृहदारण्यक० 4.4.12

'क्या इच्छा रखता हुआ, किस कामना की तृप्ति के लिए व्यक्ति शरीर के साथ दुःखी हो?'

इसका स्पष्ट अर्थ है कि भीतर एक बार आत्मस्थिति होने पर व्यक्ति भूल नहीं सकता। उसका आत्मज्ञान लुप्त नहीं हो सकता। विकास की दृष्टि से देखते हुए कहना होगा कि संस्कारों के क्षय के निमित्त कई आंधियाँ आ सकती हैं। उनमें दृष्टि मैली हो जाएगी, परन्तु वह क्षण भर के लिए ही होगी। यदि संस्कार पूर्णरूपेण क्षीण हो गए हैं तो फिर व्युत्थान और समाधि की अवस्था में विशेष अन्तर ही न रहना चाहिए। परन्तु वह तो समय पाकर होता है।

22वें श्लोक में इस आत्मानुभूति का महत्त्व बताते हैं। यह ऐसा अनुभव है जिसे प्राप्त करके इससे बढ़कर और कुछ रहता ही नहीं। संसार में तो परम्परा है, एक से एक बढ़कर अनुभव हैं। जिसे व्यक्ति प्राप्त कर लेता है वह अनुभव उसकी नज़र से उतर जाता है। दूसरे अनुभव के लिए लालसा पैदा होती है और यह दौड़ चलती रहती है। यह प्रकृतिगत अनुभवों के विषय

में सत्य है। वहाँ पर तो ऐसी अनुभूति की सम्भावना ही नहीं जो अनन्त आत्मा की अनन्त माँग को पूरा कर सके। अत: भटकन बनी रहती है। केवल आत्मानुभव ही ऐसा है कि जिसके होने से उससे बढ़कर संसार में कुछ रहता ही नहीं। वही परम लाभ दीखने लगता है। उस विषय में कुछ सन्देह नहीं रहता। अत:, अब साधक की दौड़ समाप्त हो जाती है। वह जानता है कि इससे बढ़कर आनन्दानुभूति असम्भव है। यहाँ तो सन्त की अनन्त के साथ तुलना है, सीमित की निस्सीम के साथ। अत: भ्रम के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती। इसीलिए तो भटकन समाप्त हो जाती है। कौड़ी ढूँढने वाले को हीरा मिल जाए तो उसे फिर कौड़ी-कौड़ी के लिए भटकने की क्या आवश्यकता? जिसे अनन्त सुख का अक्षय स्रोत मिल जाए उसे सुख की क्या अपेक्षा?

और अन्त में कहा – 'जिसमें स्थित हुआ व्यक्ति महान् से महान् दु:ख के द्वारा भी चलायमान नहीं किया जा सकता'।

क्या समाधि में स्थिर हुआ व्यक्ति, आत्मानुभूति में स्थिर हुआ व्यक्ति दु:ख से चलायमान नहीं होता? जितनी ही व्यक्ति में चञ्चलता होती है उतनी ही जल्दी वह परेशान हो जाता है। व्यक्ति की समता और ज्ञान की परीक्षा होती है दु:ख में। यदि दोनों, समता और ज्ञान, मानसिक प्रयत्न का परिणाम हैं तो वह हिल जायेंगे। बस, धक्का पर्याप्त ज़ोर का होना चाहिए। आखिर सब कुछ जो प्रकृति का है उसकी सीमा है। आत्मस्थित व्यक्ति सम होता है। वह समत्व व्यक्ति की बुद्धि को भी सम कर देता है। वह आत्मज्ञान भी व्यक्ति को जीवन-मृत्यु से परे कर देता है। इस आत्मा की समता के कारण ही व्यक्ति भारी से भारी दु:ख में भी व्याकुल नहीं होता। सिख गुरुओं ने, जो सन्त थे घोर शारीरिक यातनाएँ सही हैं और लौकिक-दृष्टि से मानसिक व्यथाएँ भी। परन्तु, सबने हँसते-हँसते फूलों की मार की तरह सब कुछ सहा है।

यह जो आत्मस्थिति है इसी को योग कहते हैं। यह जो समाधि है वह योग है। युक्तावस्था ही योग है। युजिर-समाधि, युज् धातु जिससे 'योग' शब्द बनता है समाधि के अर्थ में भी बरता जाता है।

उसका नाम 'योग' है। यह 'योग दु:ख के संयोग का वियोग करने वाला है'। व्यक्ति को दु:ख की प्रतीति से नितान्त परे ले जाता है। चाहता हुआ भी

व्यक्ति दु:खी नहीं हो सकता है। ऐसा बँध जाता है व्यक्ति अपनी स्थिरता से। आँसू सूख जाते हैं। हृदय कोमल होता हुआ भी वज्र के समान कठोर हो जाता है। दु:ख की नितान्त निवृत्ति का रास्ता है आत्मज्ञान को लाभ करना, आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाना। आत्म-चेतना की जागृति होने पर फिर व्यक्ति अपने को प्रकृति से एक नहीं कर पाता। दु:ख का कारण तो यही देहाध्यास है।

यह 'योग' करने योग्य है। इससे दु:ख की नितान्त निवृत्ति होती है और आत्यन्तिक-सुख की प्राप्ति। अत:, यह करणीय ही है। यह योग कैसे सम्भव है? चित्त अनिर्विण्ण होना चाहिए। उद्वेग रहित हो, विषाद-रहित हो। आशा-निराशा से और उत्सुकता से रहित हो। धीर हो और सम हो। तब हो सकती है इस योग की सिद्धि।

और निश्चय हो पूरा-पूरा। बिना साधना में निष्ठा के योग सिद्धि असम्भव है। व्यक्ति का मन चञ्चल हो उठता है। रास्ते की कठिनाइयों से घबड़ा कर रास्ता छोड़ देता है। अपने अनिश्चय के कारण ही अपने किये-कराये को नष्ट करता जाता है नकारात्मक विचारों के द्वारा। निश्चय से दृढ़ता आती है और व्यक्ति पार पा जाता है।

आगामी श्लोक साधना की परिपाटी बताते हैं। साधना में कैसे अग्रसर हो, उसकी रीति का वर्णन करते हैं।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषत:।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत:॥24॥
शनै: शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मन: कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥25॥

'संकल्प से जगने वाली सभी कामनाओं का पूरी तरह से त्याग करके, मन से ही इन्द्रियों के समूह को सब ओर से भली प्रकार से रोककर, धैर्य से सम्भाली हुई बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे उपराम होता जाये। मन को आत्मा में टिकाकर कुछ न सोचे'॥24-25॥

आसन पर बैठकर साधन करे। सभी कामनाओं का पूरी तरह से त्याग करे। कामनायें मनको चञ्चल कर देती हैं। मुझे अभी उठकर यह काम करने

हैं, ऐसा विचार काफी परेशानी का कारण हो जाता है। बड़ी कामनायें कितना परेशानी का कारण होती हैं इसका अनुमान कठिन नहीं। धन कमाना है, बेटी ब्याहने को है। चुनाव लड़ना है, यश कमाना है, व्यापार से पैसा पैदा होना चाहिए, आदि-आदि कामनाओं की परम्परा का अन्त नहीं। व्यक्ति को उन सभी को छोड़ना होगा। पूरी तरह से छोड़ना होगा।

जो हमारे लौकिक कर्त्तव्य हैं उनसे सम्बन्ध रखने वाली कामनायें भी छोड़नी होंगी क्या? यदि इस योग में सिद्धि चाहिए तो छोड़नी ही होंगी। जब तक चाह है तब तक अटक है। इसी बात को समझते हुये समझदार लोग संन्यासमार्ग में झट से प्रवेश नहीं देते हैं। कई कर्त्तव्य तो पूरे होकर ही छूट सकते हैं। जिसने गृहस्थ किया है उसे अपने कर्त्तव्य की प्रतीति होनी स्वाभाविक है। उस प्रतीति से – उस बन्धन से – व्यक्ति कर्त्तव्य-भावना के लुप्त हो जाने से ही मुक्त हो सकता है। 'वाचा वेदान्ती' कर्त्तव्य-भावना को लुप्त करने का उपाय कहते हैं – 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। कौन किसका है? कैसा कर्त्तव्य? यह सभी माया है, छोड़ो। ऐसा चिन्तन संस्कार के बन्धन को काटता नहीं। वह बन्धन आ घेरता है। अधिकाधिक कुछ समय के लिये दबाया जा सकता है। यदि व्यक्ति संस्कार के क्षीण होने के लिये रास्ता नहीं देता तो वह भी उसे आगे बढ़ने के लिये रास्ता नहीं देता। अग्रगति असम्भव होती है। इसीलिए तो संन्यास लेने के लिए पुत्रोत्पत्ति का नियम था। उतने से संयुक्त परिवार में पत्नी का निर्वाह हो सकता था। और उसके लिए भविष्य के लिए अवलम्बन भी हो जाता था। बाद में चला वह नियम जो बाह्य त्याग को परमोच्च समझकर उसका बिना रोक-टोक के निर्देश करता था – 'यदहः विरजेत् तदहः प्रव्रजेत्' 'जिस दिन वैराग्य हो, उस दिन घर छोड़ दो'।

तो कैसे हो सकता है कामना का परित्याग? कामनाओं की पूर्ति तो जीवन को खा जाएगी। छोड़कर भागने से भी तो छूटता नहीं है बन्धन। जो कर्तव्याश्रित कर्म नहीं हैं उनका परित्याग करना होगा विवेक के द्वारा। 'कामना दुःख की जननी है, चञ्चलता की माँ है, परेशानी का घर है, अज्ञान की पुत्री है।' कर्त्तव्यों के पालन के लिये कर्मयोगी की भाँति यत्न करना होगा। आखिर प्रयत्न तो किया जा सकता है, कर्म की विशाल गति को समझते हुए। फिर चञ्चलता नहीं होती। समय आने पर व्यक्ति उससे भी

मुक्त होता है। पर यह न भूलना होगा कि बिना कामनाओं के परित्याग के चैन नहीं, मन की स्थिरता नहीं।

सभी कामनाओं का पूरा-पूरा त्याग होना चाहिये। भली कामना, कर्त्तव्याश्रित कामना, धर्माश्रित कामना – किसी के लिए भी गुंजाइश नहीं। सुप्त चेतना में भी जब तक कामनाओं का निवास है तब तक चैन नहीं। विवेक से त्याग हो पाता है। धैर्य चाहिए। भक्त का रास्ता अलग, उसका त्याग अलग और उसका दृष्टिकोण भी अलग होता है, यह न भूलियेगा। यह सभी कुछ योगियों के लिए कहा गया है।

संकल्पप्रभवान्कामान् – संकल्प से जगने वाली कामनायें। मन की तरंगें संकल्प हैं। संस्कारों के कारण वह तरंगें उठती हैं और वही मनोगत राग-द्वेष का आश्रय पाकर कामना का रूप धारण कर लेती हैं। मन तो संकल्प विकल्पात्मक ही है। तरंगें उससे निकला ही करती हैं।

साधन में बैठने पर जो-जो कामना मन में जगे इसका निराकरण करता जाये बुद्धि के द्वारा। इससे मन धीरे-धीरे निश्चल होगा।

और, इन्द्रियों के समूह को चारों ओर से भली प्रकार से रोके। कैसे रोके? मन से ही रोके। स्थूल-जगत् की ओर आकृष्ट होने न दे। मन तो इन्द्रियों का स्वामी है, अतः रोक सकता है। आँख खोलने को मन होता है, न खोले। कान सुनना चाहता है, उसे उधर से हटा दे।

वस्तुस्थिति है कि इन्द्रिय तथा विषय का संयोग होने पर भी मन का इन्द्रिय से योग न होने पर विषय की प्रतीति नहीं होती। कानों में शब्द पड़ने पर भी मन कहीं और लगा हो तो वह सुनाई नहीं पड़ते। आँखें खुली होने पर भी वैसी हालत में दीखता नहीं। हाथ कट जाने पर भी पता नहीं चलता। अतः इन्द्रियों को रोकने का सुगम उपाय है मन को अन्यत्र भली प्रकार से लगा देना। इन्द्रियाँ स्वतः रुकी रहेंगी। बाहर से इन्द्रियों को रोकने की अपेक्षा, यह सुगम उपाय है। परन्तु, यह हर समय सफल नहीं होता। जहाँ यह सफल नहीं होता उस हालत में रोक-थाम करनी होगी।

यहाँ मन का अर्थ विवेचनात्मक मन है। जो विवेक करती है वह बुद्धि ही मन है।

धीरे-धीरे पीछे हटते जाना है। अन्तर्मुख होते जाना होगा। स्थूल स्तर से सूक्ष्म में, सूक्ष्म से कारण में और फिर कारण को भी लाँघकर आत्मा में

स्थिर होना होगा। अंग्रेजी में इसे 'विद्ड्राल' कहते हैं – चेतना का कोषों के क्रम से पीछे हटते जाना। यदि हम बुद्धि तथा मन की गतियों का निराकरण करते जाते हैं, तो धीरे-धीरे हम गहरे में पहुँचते जाते हैं। जैसे पानी में फेंका पत्थर नीचे जाता है, जैसे पानी में रेत बैठ जाता है पानी के टिकते ही। यह भी वैसे ही होता है।

इसका उपाय संकल्प विकल्पों को ज़ोर से दबाना नहीं, अपने को ढीला छोड़ना है। जगने वाले संकल्पों को विवेक की आँखों से देखते जाना है। वह स्वत: ही निराकृत होते जायेंगे। ऐसा करने से उनका प्रादुर्भाव कम होता जायेगा।

धीरे-धीरे उपराम करे। जल्दी ही पीछे हटना हो नहीं सकता। जितना जल्दी करना चाहेगा उतनी ही देरी लगेगी। उसकी उत्सुकता ही उसे चञ्चल कर देगी। जैसे हाथी आराम से बैठता है, ऐसे ही आराम से मन बैठा करता है। अत:, शीघ्रता से कुछ पा जाने की न सोचे। इस विषय में विशेष प्रयत्न फलदायक नहीं। उसके प्रति समझ आवश्यक है।

'धैर्य से सम्भाली हुई बुद्धि के द्वारा'। उपराम बुद्धि के द्वारा होगा। विवेक ही प्रधान है उपराम में। यह उपराम में ऊपर कहा ही है। परन्तु बुद्धि अधीर न हो उठे। अधीर हो जायेगी तो दबाने की चेष्टा करेगी वृत्तियों को। यदि दबाव होगा, तो तनाव होगा। तनाव होगा तो उपरामता समाप्त हो जायेगी। धैर्य से विवेक को जागृत रखना है। विवेक के प्रकाश में नये-नये चञ्चलता के साधन पैदा नहीं होते। नई वासनायें नहीं जगतीं। पुरानी जल्दी क्षीण होती जाती हैं। अत:, संस्कार के क्षीण होने से मन की निश्चलता होना स्वाभाविक ही है।

जब साधना आरम्भ की जाती है तो आँधी आती है। जो कुछ भीतर होता है सभी उमड़ने लगता है। इस नये मार्ग को पाकर आकस्मिक उभाड़ से कई परेशान हो जाते हैं। धैर्य की उस समय अत्यधिक आवश्यकता होती है। यह पहली घाटी है। फिर आगे रास्ता साफ होता है। चलते-चलते फिर कभी बली संस्कार अटक जाता है। फिर अधीर होने की सम्भावना होती है। परन्तु यदि साधना के तरीके पर विश्वास है, समझ है और सच्ची अभीप्सा है तो घबराहट होगी ही नहीं। जितना हम ना-समझ और अविश्वासी होते हैं, उतनी ही अधीरता होती है।

'मन को आत्मा में टिकाकर कुछ न सोचे।' यह जो पीछे हटना है, इसमें घनात्मक लक्ष्य भी कोई होना चाहिये या कोरा पीछे हटना ही है? आत्म-चिन्तन का एक निश्चित लक्ष्य रहता है। आत्मा कैसा है? मैं आत्मा हूँ, मैं ऐसा हूँ, आदि कई प्रकार की आत्म-चिन्तन की प्रक्रियायें (शैलियाँ) हैं। आत्म-चिन्तन जागृत रखें, आवश्यकता होने पर विवेक से संकल्प-विकल्पों का निराकरण करें। अन्त में विवेक भी स्वतः समाप्त हो जायेगा। मन में आत्माकार वृत्ति ही रह जाये, ऐसा प्रयत्न करें। इस अवस्था में स्थित रहने की चेष्टा करें।

ऐसी चेष्टा करने में क्या होगा?

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥26॥

'जहाँ-जहाँ से यह चञ्चल अस्थिर मन भाग निकले, वहाँ-वहाँ से रोककर इसे आत्मा के वश में ले आये'॥26॥

यह मन चञ्चल है और अस्थिर है। चञ्चलता इसका घनात्मक गुण है। इसमें वायु की सी तरलता है। अतः, यह अस्थिर है, इसका टिकना मुश्किल है। जब इस प्रकार से इसे आत्मस्थ करने की चेष्टा होगी तो यह भागेगा। जैसे बच्चे के लिए एक जगह बैठना कठिन होता है, ऐसे ही मन का भी एक जगह लगे रहना कठिन होता है।

इसे पकड़ कर लौटा लाना होगा। समझा बुझाकर लाना होगा। जागरूकता मन को खींचती है। यह भाग गया है, इस बात का भान होते ही वह चंचलता दूर होती है। इस प्रकार से यह भीतर एक आँख-मिचौनी का खेल हो जाता है। बहुत धैर्य से लगे रहना होगा। मन की हार होगी। अन्त में उसकी स्वाभाविक चञ्चलता मिट जायेगी। वह हार कर, थक कर बैठ जायेगा। जिधर लगाया जायेगा लग जायेगा। यह काम कई वर्षों का है। किसी के तो जन्मान्तर लग सकते हैं। यह मन की प्रकृति का परिवर्तन है। यह मन की साधना है। फिर वह आत्मस्थ रहने लगेगा।

अग्नि प्रज्वलित होने पर खूब ज्वालायें आती हैं। क्रमशः ईंधन फुँकता जाता है और आग कम होती जाती है। फिर ईंधन के साथ ही अग्नि ठंडी हो जाती है। इसी प्रकार से आन्तरिक विकारों के क्षय के साथ-साथ मन भी

शान्त होता जाता है। वही शान्ति वास्तव में स्थायी शान्ति होती है। जो केवलमात्र अभ्यास पर आश्रित है वह जल्दी ही चली जाती है और उसका प्रभाव भी दूरगामी नहीं होता। विकारों की शान्ति के साथ जो मन की चञ्चलता का अभाव होता है, वह तो हर समय ही बना रहता है। वह प्रयास का परिणाम नहीं, वह सहज होता है। वह बहुत कीमती है। अभ्यास भी आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उस अन्तर-शोधन के बिना अभ्यास तो खेल मालूम पड़ता है। अभ्यास अन्तःशोधन में सहायक हो सकता है, यदि उसके लिए उसे किया जाये तो।

यहाँ पर एक सिंहावलोकन आवश्यक हो जाता है। भगवान् ने 14वें श्लोक के अपरार्ध में तो कहा था – **'मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः'** अर्थात् 'मन का संयम करके मेरे में चित्त लगाकर मत्पर हुआ साधनशील बन जाए'। यहाँ 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' अर्थात् 'मन को आत्मा में स्थिर करके' ऐसा कहते हैं। ध्यान की कई परिपाटियाँ हैं। भक्तों के लिए तो प्रभु का चिन्तन ही सहज है। ज्ञानियों के लिए आत्मचिन्तन ही केवलमात्र अवलम्बन है। दोनों ही कह दिए हैं। उसमें तो नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास था, इसमें वह नहीं है। दोनों को मिलाना न होगा। इन्हीं बातों को देखते हुए यह चेतावनी दी गई थी कि ध्यान का मार्ग तो देहधारी गुरु से ही प्राप्त करना उचित है। पुस्तकों के आधार पर व्यक्ति उलझ जाता है। देहधारी गुरु का स्पर्श भी तो व्यक्ति को जागृत कर सकता है अस्तु!

ऐसी साधना करने वाले की आगे क्या अवस्था होती है?

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥27॥

'इस योगी को, मन के प्रशान्त हो जाने पर, रजोगुण के शान्त हो जाने पर, ब्रह्मभूत तथा निष्पाप होने पर, उत्तम सुख प्राप्त होता है'॥27॥

इस प्रकार से ध्यान करने का भी परिणाम वही होता है जो मेरा चिन्तन (श्लोक 14) करने का होता है।

धीरे-धीरे मन शान्त हो जाता है। प्रशान्त-बिल्कुल शान्त – जिसे मन का मारना कहते हैं। लय होना कहते हैं। रजोगुण शान्त हो जाता है। रजोगुण है चञ्चलता। इन्द्रिय तथा बुद्धिगत चञ्चलता भी समाप्त हो जाती है। इस

साधन का स्वाभाविक परिणाम यह है। समय की अपेक्षा है। तोतापुरी जो श्री रामकृष्ण परमहंसदेव के गुरु थे उन्हें 40 वर्ष वन में रह कर साधना करनी पड़ी, परन्तु, रामकृष्ण दक्षिणेश्वर में ही कुछ मिण्टों में उस अवस्था को प्राप्त कर गये। मन, बुद्धि को सात्विक हो जाना होगा। भले ही वह दशा त्रिगुणातीत है, परन्तु उसमें प्रवेश पाने का रास्ता तो सत्त्वगुण ही है। रजोगुण तथा तमोगुण से तो भीतर निश्चलता नहीं होती, अस्थिरता और जड़ता होती है। सत्त्व के बिना आत्मबोध कैसे हो सकता है?

'ब्रह्मभूत' हो जाता है। ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। ब्राह्मी-चेतना को लाभ करता है। वही स्थिति है जिसे आत्म-निष्ठा कहते हैं। 'आत्मा' शब्द का प्रयोग सांख्य तथा योग-दर्शन ने उसी तत्त्व के लिए किया है जिसके लिए वेदान्त ब्रह्म शब्द का प्रयोग करता है। झंझट तो व्यर्थ का है। स्थिति एक ही है।

और 'अकल्मष' हो जाता है। पाप रहित हो जाता है। वास्तव में पाप-पुण्य रहित हो जाता है। सभी संस्कार दग्ध हो जाते हैं, पाप के भी और पुण्य के भी। निर्मल हो जाता है, अनावरण हो जाता है, पारदर्शी शीशे सा हो जाता है योगी।

जब ऐसा हो जाता है तब 'उत्तम सुख को लाभ करता है'। वही सुख जिसका ऊपर वर्णन हुआ है (श्लोक 21)। सिद्धि का भी तभी परिपाक होता है, नवीन चेतना जगती है, उसका कोषों पर प्रभाव होता है, उससे संस्कार का क्षय होता है। प्राथमिक अवस्थाओं में वह चेतना जगती है और निम्नप्रकृति के दबाव के कारण लुप्त हो जाती है। इस चेतना के प्रभाव से ही निम्नप्रकृति का शोधन होता है। फिर-फिर जगती है ऊँची चेतना और फिर-फिर लुप्त होती है, परन्तु अपना असर छोड़ जाती है। क्रमशः स्थिरता आती है। समूचा व्यक्तित्व उस भार को उठाने लायक हो जाता है। फिर वह चेतना स्थायी रूप से बनी रहती है। आत्यन्तिक सुख अन्तिम सीमा है इस परिपाक की।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥28॥

'इस प्रकार से सदा आत्मा की साधना करता हुआ, पाप रहित हुआ योगी आराम से ब्रह्मसंस्पर्श के अत्यन्त सुख का उपभोग करता है'।।28।।

जो साधना का मार्ग ऊपर दिखाया गया है यदि योगी इस पर चलता चला जाता है तो सुख को लाभ करता है। कैसा सुख है वह? अत्यन्त सुख है, जिसमें सुख का अतिशय है, जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं (श्लोक 14 ऊपर)।

उस सुख का स्वरूप 'ब्रह्मसंस्पर्श' जिसमें ब्रह्म का संस्पर्श है – ब्रह्म की अनुभूति है, जो आत्मानुभव का सुख है। वही जिसकी ऊपर चर्चा हुई है।

बस, योगी को ऐसे साधन करते जाना होगा। अधीर होकर छोड़ना नहीं होगा। उतावले भी नहीं होना होगा। जैसे रेलगाड़ी में बैठ जाने से वह गाड़ी गन्तव्य स्थान पर ले जाती है, ऐसे ही साधना की गाड़ी लक्ष्य तक पहुँचा देती है। अतः अधीरता के लिए गुंजाइश नहीं है।

आराम से ही वह पहुँच जाता है। कोई कठिनाई नहीं होती; विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। नियमित रूप से किया गया इतना साधन ही काफी है लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, यह तात्पर्य है।

इस निश्चयात्मिकता पर ज़ोर देने को ही यह श्लोक है। जैसे बाह्य-जगत् में कारणकार्यभाव से कारण से कार्य का निश्चय हो जाता है, ऐसे ही साधना के जगत् में भी निश्चितता है। इसी से विश्वास जगता है और धैर्य आ सकता है।

आगामी चार श्लोक सिद्ध योगी की अवस्था का, उसके ज्ञान का, आन्तरिक-चेतना का, वर्णन करते हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।29।।

'योग के द्वारा युक्त हुई आत्मा वाला, सर्वत्र समदर्शी अपने को सब भूतों में स्थित और सब भूतों को अपने में स्थित, देखता है'।।29।।

इस साधना से सिद्धि का लाभ करने वाला योगी ही योग युक्तात्मा है। योग – आत्म-संयमयोग, ध्यान का मार्ग। युक्त – आत्मभाव से प्रतिष्ठित। युक्तात्मा – आत्मनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ।

वह **'सर्वत्र समदर्शनः'** हर जगह 'सम' देखने वाला – आत्मा को, ब्रह्म को देखने वाला होता है। सम तो वही है जो सब में सम है, जिसमें ऊँच-नीच नहीं, जो देशकाल से अतीत परमतत्व है। ऐसे का दर्शन क्या होता है? अपने में सभी भूतों को देखता है। अपने शरीर में नहीं, आत्मा में, क्योंकि उसका आपा तो आत्मा ही है। वह उसी में प्रतिष्ठित है। वह महती व्यापक चेतना जो सभी को भीतर बाहर से लपेटे है, जिसमें देशकाल रहते हैं, पर जो उनसे अछूती रहती है, वह सत्ता है, उसमें सभी को देखता है। अपने में सभी को देखता है, और अपने को – उस आत्मतत्त्व को – सभी में व्यापक पाता है। वह तत्त्व तो सभी में ओत-प्रोत है ही। वह ऊँची आत्मा की स्थिति है जो सभी सत्ताओं के पीछे है। वह अछूती है, शान्त है, निर्बाध है और निर्बन्ध है।

यह तो वह चेतना है जो निर्विशेष है। वास्तव में न कोई उसमें है और न वह किसी में है। वह अछूती है। यही तो निर्गुण निर्विशेष भाव है पुरुषोत्तम का, इसी को लेकर तो 9वें अध्याय में विचित्र कथन किया –

'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' (श्लोक 5) 'और भूत मुझ में स्थित नहीं, मेरे ईश्वरीय-योग को (तो) देखो'।

वास्तव में वह देशकालातीत सब से असम्बद्ध भाव है पुरुषोत्तम का। ज्ञान के मार्ग का अवलम्बन लेने वाले इसी लक्ष्य को लेकर चलते हैं। यह वास्तव में परा प्रकृति से सम्बद्ध भाव है। यह भी है प्रभु का ही भाव। 'अतः वह भी प्राप्त मुझे ही होते हैं', ऐसा कहा है नवें अध्याय में।

यही चेतना का स्वभाव है जिसे 8वें अध्याय में अध्यात्म कहा है। प्रकृति के संयोग में इसे हम जीव देखते हैं। पुरुषोत्तम तो सभी का समावेश करता हुआ सबसे अतीत, जो एकदम निर्गुण और सगुण, निष्क्रिय और सक्रिय है, जो भक्तों का भगवान् भी है और ज्ञानियों का ब्रह्म भी है, वह है।

जो मैंने ऊपर ब्रह्म तथा आत्मा इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची लिया है उसका भाव स्पष्ट हो गया होगा। सांख्य का 'आत्मा' प्रकृति से न्यारा, अछूता, पुरुष-तत्व है। वह निष्क्रिय है, अलिप्त है, चेतन है, अजन्मा है। वेदान्ती का ब्रह्म भी प्रकृति से न्यारा है, निष्क्रिय है, अलिप्त है, चेतन है, अजन्मा है। बस अन्तर है इतना कि पुरुष अनेक हैं और ब्रह्म एक है। प्रकृति के पार अनेक तत्त्व कैसा? 'आत्मा' शब्द तो उपनिषदों में उसी चेतना का

द्योतक है जिसका ऊपर वर्णन किया है। वही ज्ञानमार्ग वालों का ब्रह्म है। इस प्रकार से यह तीनों धारायें आत्मब्रह्म में मिल जाती हैं। एक ही लक्ष्य की ओर इशारा है। पुराने उपनिषदों में तो श्वेताश्वतर ही निराली भाषा बोलता है। अन्यत्र तो इसी स्थिति को लक्ष्य माना गया है।

पुरुषोत्तम इस तत्त्व से अलग नहीं, इस बात को जताने के लिए और भक्ति-धर्म के लिए रास्ता दिखाने के लिए आगामी श्लोक में एक दम नई भाषा बोलते हैं।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥30॥

'जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब को मुझ में देखता है, मैं उसके लिए नष्ट नहीं होता और वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता'॥30॥

ऊपर पाँचवे अध्याय में भी सांख्यनिष्ठा के अनुसार कर्म-त्याग की प्रक्रिया बताते-बताते भगवान् ने दशम श्लोक में भक्ति भावना के अनुसार कहा है –

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

'भगवान् में कर्मों का समर्पण करके इत्यादि।' ब्रह्म शब्द तो पुरुषोत्तम का भी पर्यायवाची है। गीता में तो उसका अनेक स्थलों पर इस अर्थ में प्रयोग हुआ है।

यहाँ भी वैसी स्थिति है। निर्गुण की साधना है। तदनुकूल आत्मस्थिति है, आत्मदर्शन है। सर्वत्र आत्मभाव है, और ठीक उसके वर्णन के उपरान्त हमें पुरुषोत्तमभाव की, भगवान् की चर्चा मिलती है। इस अध्याय की समाप्ति भी उसी प्रकार से है। गत अध्याय में भी भगवान् ने समाप्ति इसी ऊँची भावना के अनुसार की थी। गीता की पूर्ति भी तो इसी पुरुषोत्तमभाव के प्रति शरणागति में ही तो है। अतः कोई विस्मय की बात नहीं है।

'जो मुझे सब जगह देखता है और मुझ में सभी को देखता है।' जो घट-घट में भगवान् को लीला करता हुआ देखता है, जो सभी में उसी का ही रूप, उसी की अभिव्यक्ति मात्र देखता है, ऐसा व्यक्ति। वास्तव में परम सत्ता तो एक ही है। वही आत्मरूप है, वही प्रकृति है और विकृति है। वह एक ही अनेक रूप हुआ यहाँ खेल करता है। दूसरा तो कोई है ही नहीं।

अवस्था भेद से, अभिव्यक्ति भेद से हमें नानात्व प्रतीत होता है। दृष्टि के उतना गहरा न जाने के कारण, उतना ऊँचा उठने में भी असमर्थ होने के कारण, हम एक को नहीं देखते, नानात्व की प्रतीति होती है। नानात्व के मूल में अविद्या है, अज्ञान है। वह बहुत कम जानना है। वह गेहूँ को न जानना है, रोटी, पूड़ी, आदि को ही जानना है। वह आधार को न देखकर केवलमात्र आश्रय को देखना है।

जब चेतना नीचे स्तरों में उतरती है तो बोध सीमित होता जाता है। मानवी स्तर अहं का स्तर है। भेद ही प्रधान है, अत: नानात्व की ही प्रतीति होती है। वस्तुत: एकत्व ही तो नानात्व है। जो एकत्व को देखता है और उससे जगे हुए नानात्व को देखता है, नानात्व को देखता हुआ एकत्व को नहीं खोता और एकत्व देखता हुआ नानात्व को नहीं खोता, वह सगुण-निर्गुण पुरुषोत्तम की चेतना में स्थित है। वह एक होता हुआ, गुणातीत होता हुआ, इन गुणों में नानात्व में भी रचना को रचता और चलाता है। वह अपने गुणातीत भाव को न खोता हुआ सगुण होता है। अत: जो वैसा ही है, जिसकी चेतना एकदम से गुणातीत और सगुण को प्रतीत कराती है, वह पूरा है, वह पूर्ण प्रभु में पूरी तरह से निवास करता है।

सब में उसे देखना, घट-घट में जलती हुई उस ज्योति को पहिचानना है। अपने में भी उसी को पहिचानना है। जड़ जगत् के अणु-अणु में उसको जानना है। समूची अभिव्यक्ति में उसे ही देखना है। पापी और पुण्यात्मा में, पाप तथा पुण्य में, पशु तथा पक्षी में, गाय और कुत्ते में उसे ही देखना है। इसी दर्शन को ही समदर्शन कहते हैं। विषमता में समता को पाना कहा जाता है यही।

और 'सब कुछ मुझमें देखता है'। भगवान् में ही अखिल का निवास है। उसी से है, उसमें है और उसकी ओर जा रहा है – यह अनुभव करना है। हम ओत-प्रोत हैं उसकी चेतना से, उसमें रहते हैं जैसे जल में मछली रहती है। साधक पहले अपने को हमेशा उसमें अनुभव करने लगता है। अन्दर-बाहर उसे बसा हुआ पाता है, पूर्णरूपेण उसी पर आश्रित पाता है अपने को। प्रत्येक गति उसी से और उसी में होती हुई अनुभव करता है। यह परम संयोग होता है, प्रेमी का प्रियतम से मिलन होता है जिसमें वियोग की सम्भावना बीत जाती है। दोनों घुल-मिलकर एक हो जाते हैं।

अपने में जगी यह अनुभूति व्यापक होती है। जैसे वह प्रभु में रहता है, वैसे ही भूतमात्र उसमें रहता है। हम उसी में रहते हैं, पर जानते नहीं। साधनक्रम में ऊँची चेतना की जागृति होती है और हमें भान हो जाता है।

यह द्विविध अनुभूति ही परिपाक को लाभ करती है 'वासुदेवः सर्वमिति' 'भगवान् ही सब कुछ है' इसमें। वह अपने में आप है। आप ही व्यापक है और आप ही व्याप्य है। वही-वही है। उसी स्थिति के लिए कहा है –

'मालिक तू रहे, तेरी रज़ा रहे,
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे।'

गोपी प्रभु का चिन्तन करते-करते विश्व को और अपने को प्रभुमय प्रतीत करने लगती है। 'सृष्टि सारी श्याममयी है', 'जित देखूँ तित श्याममयी है।'

इसी को वेदान्ती कहता है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** – 'निश्चय ही यह सब ब्रह्म है।'

यह अद्वैत की पराकाष्ठा है। भक्त उसी अद्वैत में रहता है। अहंकार की नितान्त निवृत्ति होने पर जागृत हो सकती है ऐसी चेतना।

ऐसी स्थिति में (जिसका वर्णन ऊपर किया था), जो द्विधानुभूति है उसका क्या होता है?

भगवान् कहते हैं, 'मैं उसके लिए नष्ट नहीं होता, वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता।' नष्ट होना खो जाना, आँखों से ओझल हो जाना है। यह परम संयोग की स्थिति है। भक्त तथा भगवान् एक हो जाते हैं। भक्त सदैव प्रभु में रहता है और प्रभु भक्त में। अतः एक दूसरे के भूलने की सम्भावना ही कहाँ हो सकती है?

यह द्वैत भी है परन्तु परम अद्वैत भी है। यह प्रेम है पराकोटि का जो अद्वैत के बिना सम्भव नहीं और द्वैत है क्योंकि उसके बिना उसकी प्रतीति नहीं।

वास्तव में यह बातें अतीत की हैं – बुद्धि से गम्य नहीं। अनुभव समझाता है। उसकी कृपा से जगती है समुचित चेतना जो रहस्य खोल देती है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥31॥

'जो योगी सब भूतों में स्थित मुझको एकत्व का आश्रय लेकर भजता है, वह हर प्रकार से रहता हुआ मुझ में निवास करता है'।।31।।

जिसने सभी में प्रभु पहचाना है, उसका व्यवहार ही भजन हो जाता है। वह सभी में उसका पूजन करता है, सेवा करता है, नमस्कार करता है। वह अपने में भी उसे ही देखता हुआ अपने में भी खान-पानादि के द्वारा उसकी सेवा करता है। वह भजन सहज होता है। उसमें प्रयत्न नहीं रहता। कर्ममात्र ही भजन हो गया होता है क्योंकि उस सब का अचिन्तित लक्ष्य, निवास स्थान वह प्रभु ही होते हैं। ऐसे ही सन्त के विषय में तो कबीर जी का कथन है –

साधो सहज समाधि भली।

.....

जहं जहं डोलौं सो परिकरमा,
जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत,
पूजौं और न देवा।।

यह कहा है उसके लिये जिसका वर्णन ऊपर के श्लोक में हुआ, 'जिसके लिये प्रभु कभी खो नहीं जाते, जो प्रभु के लिये नहीं खो जाता'। जब तक व्यवहार हमें प्रभु से दूर कर देता है तब तक योग आंशिक है और मन पर आश्रित है। वह प्रयास-सिद्ध है। जब योग सहज हो जाता है, सिद्ध हो जाता है तो वियोग असम्भव होता है। तब साधना समाप्त हो गई होती है। तब याद करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अन्तर नहीं होता। इसलिये कभी भूलना भी नहीं हो सकता है।

यह एकत्व का आश्रय लेकर किया गया भजन है 'सब में एक और एक में सब'।

ठीक इसी के साथ पढ़ा जा सकता है 18वें अध्याय का 56वाँ श्लोक। भगवान् में प्रवेश पाने के अनन्तर,

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।

'सभी कर्म करता हुआ भी, मेरे आश्रित हुआ, मेरी कृपा से शाश्वत

अव्ययपद को पाता है।' वहाँ कहा सब कर्म करता हुआ और यहाँ कहा 'सब प्रकार से बरतता हुआ, रहता हुआ।' एक ही अर्थ है। प्रभु में प्रवेश प्राप्त व्यक्ति के विषय में वह कथन है। प्रवेश प्राप्त व्यक्ति की चेतना का दिग्दर्शन हमें यहाँ ऊपर के श्लोक में हो गया है।

इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस चेतना को लाभ करने पर व्यवहार की कोई सीमायें नहीं रहतीं। व्यक्ति कर्म कर सकता है, कर्म करता हुआ बंधता नहीं है। गीता की योग-सिद्धि जंगल को नहीं ले जाती है। अजगरी-वृत्ति-परमावस्था नहीं है, गीता की दृष्टि से।

यदि कर्म करने से व्यक्ति बँध सकता है तो सिद्धि है ही नहीं। भगवान् तो इतने महान विश्व का संचालन करते हैं, परन्तु बन्धन में नहीं आते, अपने त्रिगुणातीत-भाव से च्युत नहीं होते और उनसे युक्त हुआ भक्त कर्म में बँध जाये, यह कैसे हो सकता है? वह तो भगवद्गुणों वाला हो जाता है, भागवती-चेतना का भागी होता है। उसके लिए एकान्तवास आदि कोई नियम आवश्यक नहीं रहते।

इतना और यहाँ समझा जा सकता है, 'उसको सब में और सब में उसको पहिचानता है', वह तो सहज में ही **'सर्वभूतहिते-रताः'** हो जाता है। बिना चेष्टा के ही उसके कर्म तो सभी के लिए मंगलमय हो जायेंगे, क्योंकि वह प्रभु के लिये हैं। उसमें स्वार्थ की सम्भावना नहीं रही है।

भक्त का जीवन सहज में ही ऐसा हो जाता है।

'योगी मुझ में निवास करता है।' कर्म उसको भगवान् से दूर नहीं करते। वह जो सब में है, उसे क्या दूर कर सकता है। जिसमें हम सदैव रहते हैं, वह हमसे दूर हो ही कैसे सकता है?

चीन के सन्त ला टोज की इस विषय की उक्तियाँ बड़ी उच्चकोटि की हैं।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥32॥

'जो अपनी उपमा से हे अर्जुन! हर जगह समान देखता है, चाहे सुख हो चाहे दुःख, वह योगी सबसे बड़ा माना जाता है'॥32॥

'जैसे मुझे दुःख होता है, ऐसे ही दूसरों को भी दुःख होता है' जो इस

प्रकार से अपने को और दूसरों को समान देखता है, वह योगी है। साधना के परिणामस्वरूप यदि व्यक्ति सहानुभति को खो देता है तो उचित नहीं। भागवत-धर्म का लक्ष्य तो दूसरा ही है।

भक्त के लक्षण कहते हुए 12वें अध्याय में भगवान् स्वयं कहते हैं – **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च',** 'सब भूतों से द्वेष रहित, मित्रभावनायुक्त और करुणा वाला'। 'मित्र भावनायुक्त और करुणा वाला' इन लक्षणों को बताया है इस 32वें श्लोक में दूसरे शब्दों में।

अध्यात्म-साधना व्यक्ति को दूसरों से परे कर देती है। प्रायः आत्मसंयम-योग का साधन तो एकान्त की मांग करता है। विविक्त सेवन मांगता है। सांसारिक सम्पर्कों को कम करना होता है। अतः मानव-सहज-कोमलता शुष्क हो जाने की बहुत सम्भावना है। बहुत योगियों में ऐसा हो जाता है, यह देखने में आता ही है। परन्तु, वह अवश्यम्भावी नहीं। दिव्यत्व को, भगवद्भाव को पाने के लिये मानव-सुलभ सात्विकता की बलि देनी बिल्कुल भी आवश्यक नहीं। भगवान् तो सबके सुहृद् हैं। वह तो दयामय हैं। सम होते हुए भी पतित पावन हैं। यह बातें समता के साथ रह सकती हैं। इतनी बात समझ लेने की है।

दूसरा, भगवान् ने जिस आदर्श को अर्जुन के सामने उच्चतम करके रखा है वह है भक्ति की भावना, शरणागति का योग। उसी के अनुसार है भक्त के लक्षण। कर्मयोग का सहज रूपान्तर है शरणागति की साधना। भगवान् की दृष्टि में तो भक्त बहुत ऊँचा है। भक्त को दयालु होना होगा, सहानुभूति वाला होना होगा, कारुणिक होना होगा। अतः ऊपर वाला कथन है, श्लोक 32 में।

अपनी उपमा से ही दूसरे का सुख-दुःख जाना जाता है। अपने-आपे को मिटाकर दूसरे में बैठकर उसकी पीड़ा को जानना होगा। तब पता चलता है पीड़ा क्या होती है, तब करुणा जागती है। भगवान् तो सभी के भीतर बैठे सभी के द्वारा उनकी सभी प्रकार की अनुभूतियों का आस्वादन करते हैं। वह दुखिया का दुःख उसके द्वारा, उसके हृदय में बैठकर, उससे एक हुआ, वैसे ही जानता है जैसे वह स्वयं जानता है। वह उसमें बसता है भला जाने क्यों न? हाँ, जानता हुआ भी पीड़ित नहीं होता, व्याकुल नहीं होता, अतीत रहता है, जल में कमल की भाँति। योगी में भी यह सामर्थ्य होता है। वह जान

सकता है दूसरे के दु:ख को, अपने को दूसरे में बसाकर, अपनी उपमा से, परन्तु अछूता रह सकता है। इतना जानना ही करुणा के सोते को जागृत कर देता है, पर वह बहता नहीं है। दयार्द्र होता हुआ भी समझ को नहीं खोता। हित के लिए अपने तरीके से यत्नशील हो जाता है। मित्र भावना सहज होती है सन्त में। अत: करुणा तथा मित्रभावना मिलकर हित साधन कर सकती है। ज्ञान के, समता के लुप्त न होने से, वह अपने को काबू में रख सकता है।

जैसे वह अपने दु:ख तथा सुख को अनुभव करता हुआ भी सम रहता है, ऐसे ही परदु:ख तथा सुख की प्रतीति में भी रहता है। पर यह कठोरता नहीं, बुद्धिमत्ता है। यदि आंसू व्यर्थ हैं तो क्यों बहायें जायें? यदि वह किसी के दिल को सांत्वना दे सकते हैं तो क्यों न बहें? इसी सन्त हृदय की अद्‌भुत लीला को देखते हुए तो कवि ने कहा है –

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
महत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

'वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल सन्तों के चित्त को कौन जान सकता है?' यही दशा तो भगवान् की अवतार-लीला में दीखती है। गोपिकायें तड़पती हैं उनके लिए। सुदामा के वह चरण चापते हैं। बाली का वध करते हैं और जटायू के प्रेत-कृत्य करते हैं: सीता जी को निर्वासित कर देते हैं और भरत जी के लिए कैसे द्रवित होते हैं? वह आन्तरिक-समता विचित्र विषमता के रूप में प्रकट होती है। करुणा का तो पार नहीं है, भगवान् के हृदय में।

भक्त तो भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है। ऐसा योगी ही सबसे बढ़ चढ़कर है।

इस पर अर्जुन भगवान् से प्रश्न करते हैं –

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥33॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥34॥

अर्जुन बोला –

'हे मधुसूदन! साम्य के द्वारा (सिद्ध होने वाले) जो इस योग का आपने वर्णन किया है, चंचलता के कारण मैं इसकी स्थिति की स्थिरता को नहीं देखता हूँ'।।33।।

'हे कृष्ण! मन तो निश्चय ही बहुत चञ्चल है और बड़ा उत्पाती है। इसको बांधना तो मैं वायु को बांधने के समान कठिन समझता हूँ'।।34।।

भगवान् ने आत्म-संयम-योग का वर्णन किया है। अर्जुन ने इसकी ओर लक्ष्य करके कहा, 'जो यह योग तुमने साम्य के द्वारा कहा', अर्थात् साम्य से सिद्ध होने वाला कहा, चित्त की समता पर, सन्तुलन पर, समाहित होने पर ही तो इस संयम-योग की सिद्धि निर्भर करती है। संयम करते-करते जब चित्त सम होता है तभी तो ऊँची चेतना की जागृति सम्भव होती है। इसलिए अर्जुन ने इसे 'साम्य से सिद्ध होने वाला' कहा है। अर्जुन ने कहा – 'मैं इस योग की स्थिर-स्थिति को नहीं देखता हूँ'। कभी टिकने वाली स्थिरता मन में आ सकती है यह तो मेरी कल्पना में भी नहीं आता। कभी भूले-भटके मन निश्चल हो जाये, यह तो सोच सकता हूँ परन्तु वह निश्चल बना रहे, जैसा आपने ऊपर कहा है, वह तो मैं सोच भी नहीं सकता।

अर्जुन रजोगुण प्रधान व्यक्ति था। कर्म करना जानता था। आज तक वह अन्तर्मुख न हुआ था। जब कभी चेष्टा की होगी, संध्या-वन्दन आदि में विफल हुआ होगा। अतः वह आन्तरिक स्थिरता से नितान्त अनभिज्ञ था। इसलिए उसने ऐसा कहा।

आगामी (34वें) श्लोक में कारण स्पष्ट कहा।

मन चञ्चल है, प्रमाथी है, उत्पात करता है, मथ डालता है, झकझोर डालता है, बलवान् है और ज़िद्दी है। बलवान् और अपने स्वभाव में दृढ़ होने के कारण इसे काबू में करना कठिन है। जैसे वायु को बांधना कठिन है, ऐसे ही।

चञ्चलता मन का स्वभाव है। जो एक ही ठौर न टिके वह चञ्चल होता है। मन भी बन्दर की तरह नाचता है। एक पल में कहाँ से कहाँ जाता है। एक ही ठौर इसे टिकाए रखना कठिन है। प्रमाथी क्योंकर है? निम्न प्रकृति का क्रीड़ास्थल बना होने के कारण व्यक्ति को परेशान करता है। कभी इच्छाओं की आंधी आती है और व्यक्ति को झकझोर जाती है, कभी भीतर

से विकारों के वेग परेशान कर देते हैं। चैन नहीं लेने देता।

बलवान् है। इसे पकड़ने की चेष्टा से ही इसके बल का परिचय मिलता है और इसकी दृढ़ता का भी। जितनी बलवती निम्न प्रकृति है और जितनी दृढ़ वह है, उतना ही बलवान् और दृढ़ मन है। विकास-क्रम में निम्न प्रकृति के क्षीण होने के साथ ही इसकी दृढ़ता और बल समाप्त हो जाते हैं। वायु का उदाहरण दिया है! वायु को बांधने का प्रयत्न असफल हो जाता है। यदि मकान में हवा के आने का मार्ग हो और जाने का मार्ग न हो तो मकान की छत उड़ जाने की या दीवार के टूट जाने की सम्भावना होती है। वायु बली है, वह बन्धनों को तोड़ देता है। ऐसा ही मन भी है।

मधुसूदन – मधु दैत्य को मारने वाले। कृष्ण-आकर्षण करने वाले। दोनों सम्बोधन बहुत उपयुक्त हैं प्रसंग के।

इस पर भगवान् ने उत्तर दिया।

श्री भगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥35॥

श्री भगवान् बोले –

'हे वीर! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और इसका निग्रह कठिन है। परन्तु हे कुन्ती पुत्र! यह अभ्यास और वैराग्य से बांधा जा सकता है'॥35॥

स्वीकार करते हैं भगवान् अर्जुन की बात को। मन चञ्चल है और इसको बांधना कठिन है, यह ठीक है। परन्तु, असम्भव नहीं है, यह काम हो सकता है।

कैसे?

अभ्यास और वैराग्य से। यह प्रामाणिक उपाय हैं मन को बांधने के। अभ्यास है कोशिश, मन को निश्चल करने की चेष्टा। बैठकर इसे साधना। जहाँ-जहाँ से भागे, इसे घेर कर अपने वश में लाना (श्लोक 26)। जैसे नए घोड़े को इक्के-तांगे के लिए चक्कर दे-देकर साधा जाता है, इसी प्रकार से मन को मार-मार कर साधा जाता है। उसके चञ्चलता के संस्कार का प्रतिकार किया जाता है अभ्यास के द्वारा। यह आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं।

दूसरा साधन है वैराग्य। राग आसक्ति को कहते हैं। विराग आसक्ति का अभाव है। वैराग्य विराग का भाव है अर्थात् राग रहित अवस्था। मन की चञ्चलता का कारण आसक्ति है। जहाँ-जहाँ लगाव होता है वहाँ मन खिंचकर जाता है। सांसारिक लगाव कामना बनकर इसे चञ्चल करते हैं। वह भय तथा आशंका की परम्परा को जगाकर भी इसकी चञ्चलता के कारण बनते हैं। वही शोक का कारण बन इसे उद्विग्न करते हैं। अतः कहा लगावों को ही छोड़ो। 'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी'। लगाव न रहने से मन की चञ्चलता के आधार ही छिन जाएँगे।

कामना के परित्याग के लिए तो ऊपर (24) भी कहा है। आसक्ति तो कामना की माँ है। उसके छूटने से कामना स्वतः जाती है।

मन सहज में अर्थात् बिना प्रयास के निश्चल तभी हो पाता है जब वह विकार-शून्य होता है। रजोगुण ही विकारों का रूप है। वही उसकी चञ्चलता का कारण है। निम्न-प्रकृति रजो-तमोमयी है। उसका संशोधन मन को सहज, निश्चल कर देता है।

'वैराग्य' इस एक शब्द में ही संसार के आकर्षणों से मन को हटाने का निर्देश है। भोगों से हटना होगा। किसी प्रकार की भी बाह्य तृप्ति की मांग से मन को हटाना होगा।

वैराग्य साधना है। प्रायः यह विषमता का रूप ले लेती है। राग के स्थान में द्वेष हो जाता है, कभी भय हो जाता है। बहुधा वह कर्म-विमुखता और हृदय की शुष्कता का रूप धारण कर लेता है। एक सिरे से भागकर व्यक्ति दूसरे सिरे पर पहुँच जाता है। विषयासक्ति से विषय-द्वेष में जा गिरता है। दोनों ही बन्धन हैं। घृणा आसक्ति का ही रूपान्तर है। वास्तव में तो राग तथा द्वेष दोनों से रहित होना होगा। भीतर न पाने की चाह हो, न दूर भागने की।

इस आरोह-पथ की साधना में जैसे छोटे पौधों की बाड़ लगाकर रक्षा करते हैं, ऐसा काम वैराग्य करता है। परन्तु, वैराग्य सम्बन्धी विचार-धारा से जो विषमता होती है उससे हानि होती है अनेकों को और समाज को, उसमें मुझे तनिक सन्देह नहीं प्रतीत होता।

दमन होता है संस्कारों का। जीवन से उत्साह निकल जाता है। जिनके विकास की मांग कर्म-परायणता है, वह अकर्मण्य हो जाते हैं। अध्यात्म का

अर्थ नैराश्य, जीवन में पलायन समझा जाने लगता है। यह सभी अवांच्छित है। आवश्यकता है जीवन के प्रति एक सन्तुलित दृष्टिकोण की जो जीवन तथा अध्यात्म को एक दृष्टि से देखना सिखाये। जिससे जीवन में अध्यात्म को पाया जा सके और अध्यात्म जीवन को उठा सके।

सच्चा वैराग्य तो घृणा पर आश्रित नहीं होता। वह वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों की अवहेलना पर स्थित नहीं होता। वह जीवन में जो मानव आदर्श है, जो मानवता है उसके हनन पर नहीं टिकता। वह शिवं तथा सुन्दरम् के मिथ्यात्व के प्रतिपादन पर निर्भर नहीं करता। सच्चा वैराग्य सम्यक्-बोध पर निर्भर करता है। सभी वस्तुओं की कीमत है, सभी के लिए स्थान है इस रचना में, जो उस स्थान को जान लेता है, वह आसक्ति से, आकर्षण बन्धन से छूट जाता है। जो पैसे की ठीक कीमत समझता है, वह लोभ से अभिभूत नहीं होता। जो वास्तविक मूल्य से उसका अधिक मूल्य लगाता है वह लोभी बनता है। जो उसका अवमूल्यन करता है, वह तिरस्कार करता है पैसे का। वह भी परोक्ष रूप से बंधा है। उसे सत्य को किसी दिन जानना होगा। विज्ञान है सत्य को पहिचानने का रास्ता, और उससे व्यक्ति आसक्ति से मुक्त होता है। फिर न राग रहता है न द्वेष, फिर न कामना रहती है न भय। फिर समता होती है।

जो विकास की जिस स्थिति में है उसे उस स्थिति को स्वीकार करके उस स्थिति के अनुरूप अनुभवों को करते हुए आगे बढ़ने के लिए तैयार रहना चाहिए, यही सौम्य मार्ग है अध्यात्म का। दूसरे की स्थिति का अनुकरण सत्य का हनन है।

ऐसा सत्याश्रित वैराग्य परम शान्ति तथा परम सौम्यता का कारण होता है। वह बच्चेपन-वाला वैराग्य जिसमें 'स्त्री मांसास्थिमज्जामलमूत्र का पिण्ड मात्र है', जिसमें 'पैसा मिट्टी है', जिसमें 'शिक्षा मूर्खता है', वह आवेश है, वह आवेग है। आँखे खुलने पर नहीं रहता। यह धोखा देता है।

मिथ्यात्व की चर्चा पर आश्रित वैराग्य मुझे तो जीवन का हनन ही दीखता है। विकासकारिणी लीला का तिरस्कार भासता है। उस पर टिका रह पाता है कोई विरला ही। तोतापुरी की कथा का स्मरण हो आता है ऐसे अवसर पर जो ठाकुर रामकृष्ण परमहंस के जीवन में पढ़ने को मिल सकती है आपको।

एक और वैराग्य का मार्ग है, वह भक्तों का मार्ग है। वह प्रभु के चरणों की रति के आश्रित है। जितना वह प्रेम जगता है, दूसरी ओर से चित्त उतना ही हटता है। वह प्यार तो सभी आसक्तियों को भस्म कर देता है। साधक को अनन्य कर देता है और निर्मल कर देता है।

पर, वह बिना वैराग्य के जगेगा कैसे? भक्तों का जीवन बताता है वह कैसे जगता है। भीतर मांग हो और सन्तकृपा का योग हो, बस। कैसे जगा था महाप्रभु में? कैसे जगा था दादू में? कैसे जगा था सूर और तुलसी में? वास्तव में यह अनुराग रागियों में अच्छा जगता है। वैराग्य की चर्चा से नीरस हुए, शुष्क हुए, निर्जीव हुए, तपस्वी राग-रहित तो हो जाते हैं पर उनमें प्रेम की सम्भावना भी लुप्त-प्रायः हो जाती है। अतः, वहाँ यह राग और तदाश्रित परम वैराग्य कठिनता से जगता है।

वैराग्य का परमस्वरूप है योगदर्शन के अनुसार वशीकार। जब प्रकृति पर अर्थात् भीतर पूरा अधिकार हो जाता है तब वैराग्य की पराकाष्ठा होती है। अस्तु।

अभ्यास और वैराग्य से मन को बांधा जाता है। केवल अभ्यास के आश्रित स्थिरता अस्थिर होती है। वैराग्य की निर्मलता और दृढ़ता पर आश्रित उसी के अनुसार स्थिर होती है।

यह उपाय है। इन उपायों से मन को पकड़ा जाता है। पकड़े जाने पर जग जाती है ज्ञानाग्नि जो विकारों को भस्म कर देती है। फिर समता स्थिर हो जाती है।

इसी विषय में भगवान् कहते हैं –

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥36॥

'जिसने अपने को काबू में नहीं किया है, उसके लिए (यह) योग प्राप्त होना कठिन है।, ऐसी मेरी मति है। परन्तु जिसने अपने को वश में किया है वह उपाय से यत्न करता हुआ इसे पा सकता है'॥36॥

संयम आधार है इस योग में सिद्धि का। जिसने अपने को वश में नहीं किया है वह उसे नहीं पा सकता। जिसने वश में किया है वह पा सकता है।

संयम के साथ ढंग से प्रयत्न आवश्यक है। केवलमात्र संयम ही काफी नहीं, यद्यपि वह अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

उपाय जानना होगा। जानकार लोग उपाय बताते हैं, साधना का मार्ग देते हैं। फिर यत्न करना होगा। पुरुषार्थ के बिना उपाय भी बेकार है। बिना संयम के उपाय तथा पुरुषार्थ दोनों ही व्यर्थ हो जायेंगे।

यह जो साधना का क्रम कहा है, इसमें संयम का कितना महत्त्व है यह समझ लेना चाहिए। विवेकपूर्वक धैर्य से अपनी स्थिति को समझते हुए मन, बुद्धि आदि की गतियों को समझते हुए, संकल्प के बल पर संयम होता है। अपने से माँग करनी होती है, व्यवहार का नया ढांचा सामने रखना होता है, कल्पना तथा संकल्प-बल बरतना होता है, आत्मविश्वास रखना होता है, फिर सधता है संयम। सधता अवश्य है। संयम का एक विज्ञान है, कला है, वह जाननी होती है। वह सीखनी होती है।

अर्जुन ने अपने को इस साधना के बिलकुल अयोग्य समझा था। वह बात ठीक ही थी।

इतनी कठिन साधना में रपट पड़ना कोई विस्मय की बात नहीं। संयम ढीला पड़ते ही व्यक्ति धड़ाम से पृथ्वी पर आ जाता है। अर्जुन को इस विषय में जिज्ञासा हुई और उसने प्रश्न कर दिया।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥37॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥38॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥39॥

अर्जुन बोला-

'जो संयम से रहित, परन्तु श्रद्धा से युक्त व्यक्ति है, जिसका चित्त योग से चलायमान हो गया है, वह योग-संसिद्धि को न पाकर हे कृष्ण! किस

गति को पाता है?'।।37।।

'क्या वह दोनों ओर से भटका हुआ, छिन्न-भिन्न हुए बादल की तरह नष्ट हो जाता है? हे वीर! वह जिसके कदम जमे नहीं हैं, जो ब्रह्म के रास्ते में भटक गया है'।।38।।

'हे कृष्ण! मेरे इस संशय को पूरी तरह से दूर कर दो। तेरे सिवाय इस संशय को दूर करने वाला मुझे दूसरा नहीं दीखता है'।।39।।

भगवान् ने कहा था असंयमी इस योग को नहीं पा सकता। सो अर्जुन ने पूछा, 'असंयमी की क्या गति होती है?'

श्रद्धा होती है, योग-सिद्धि लाभ करने की चाह भी होती है। साधन में प्रवेश कर जाते हैं ऐसे व्यक्ति। परन्तु जो साधन की मांग होती है उसे पूरा नहीं कर पाते, अतः प्रगति नहीं होती। यह तो बहुधा देखने में आता है।

दूसरा, श्रद्धा होती है, संयम भी होता है। वेग से आगे बढ़ते हैं। बढ़ते-बढ़ते एक अवस्था आती है जब भीतर के विकार अतिप्राबल्य के कारण दबाये नहीं रह सकते। संयम की बाड़ टूट जाती है। निम्नप्रकृति प्रबल हो जाती है। व्यक्ति बह जाता है। सारी साधना समाप्त हो जाती है। भीतर की स्थिरता भी समाप्त हो जाती है।

ऐसे व्यक्ति के विषय में जिज्ञासा है। क्या गति होती है मर कर ऐसे मनुष्य की? इस जीवन में तो वह व्यक्ति भटक गया है।

ऐसा क्यों होता है, यह ऊपर कहा है। व्यक्ति के भीतर सुप्त चेतना में कितनी प्रबल वासनायें छिपी हैं, इसका उसे भी भान नहीं होता। योग-सिद्धि तो निर्मलता की मांग करती है। अतः संस्कारों का क्षय होना होता है। प्रबल संस्कार तो स्थूल में प्रकट होते हैं, वह बहा ले जाते हैं। व्यक्ति के विवेक का बल हार जाता है जब अतिप्रबल आँधी आती है। व्यक्ति बह जाता है रास्ता छोड़कर।

अपनी आशंका को भी व्यक्त कर दिया अर्जुन ने।

क्या वह विकास को लाभ करता है? क्या उसकी दुर्गति होती है ? क्या वह विकास-क्रम में नीचे की ओर ढकेल दिया जाता है? उदाहरण देते हैं – **'छिन्नाभ्रमिव'** – टूटे हुए बादल के समान। बड़ा सा बादल आता है, तेज़ धूप पड़ती है। उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। फिर वह भी क्रमशः विलीन हो जाते हैं। बादल का देखने में कुछ भी बाकी नहीं रहता। क्या उस

योग-भ्रष्ट की ऐसी दशा होती है।

वह उभयभ्रष्ट है। न माया मिली न राम। सांसारिक लोग तो सांसारिक भोगों को लाभ करते हैं। दत्तचित्त होकर भोगते हैं। वह तो भोगों को भोगता हुआ भी उनकी भाँति भोग नहीं सकता। रस नहीं ले पाता। दूसरा, उसने अपनी शक्ति और संयम को तो साधन में लगाया। भोगने का अवसर ही खो दिया और साधना में भी सफलता मिली नहीं।

'अप्रतिष्ठः' – जिसे टिकने को स्थान नहीं मिला। रास्ते पर उसके पांव जमे नहीं। वह तो उखड़ गया है। ब्रह्म के रास्ते पर वह भटक गया है। जाना किधर को था, चल दिया है किधर को। वह उलटा संसार की ओर मुंह करके चलने लगा है।

अर्जुन को उस संशय ने चलायमान कर दिया था। वह बहुत उत्सुक हो उठा था इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिये। भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त किस दूसरे को ढूँढता जो निश्चयात्मक रूप से उत्तर दे सकता इस प्रश्न का। कृष्ण तो योगेश्वर थे। वह इन गतियों को खूब समझते थे। अर्जुन उन्हें कुछ-कुछ पहचानने लगा था।

'न उपपद्यते' – प्राप्त नहीं किया जाता है। दीखता नहीं है।

'अशेषतः' – पूर्णरूपेण। भली प्रकार से समझा करके संशय को मिटा देने वाला व्यक्ति नहीं मिल सकता।

श्री भगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥40॥

श्री भगवान् बोले –

'हे अर्जुन! न इस लोक में, न वहाँ (मरणोपरान्त) उसका विनाश होता है। प्यारे, निश्चय ही कल्याण के लिये प्रयत्न करने वाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता'॥40॥

अध्यात्म-साधन का सूत्र बताते हैं। कल्याण के लिये चेष्टा करने वाले को दुर्गति प्राप्त नहीं होती। कल्याण है आध्यात्मिक उन्नति, मोक्ष, भगवान् की प्राप्ति। उसके लिये किये गये प्रयास का परिणाम अहितकर नहीं हो सकता।

कल्याण के लिये चेष्टा विकास की सामान्य गति से आगे बढ़ जाने की चेष्टा है। वह निम्न प्रकृति को जल्दी से लांघने की चेष्टा है, यह विशेष बात है। मनु भी तो कहते है **'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।'** 'निम्न प्रकृति के आगे झुक जाना तो स्वभाव ही है भूतों का। निवृत्ति बहुत फलदायक होती है।'

जिसे सामान्यतया पतन कहा जाता है, वैसा तो साधारण व्यक्ति बरतते ही हैं। वैसा व्यवहार तो जिस ऊँचाई को हम पाना चाहते हैं केवल उसकी दृष्टि से ही पतन कहा जाता है।

इस आरोह के मार्ग में (यह जो आत्मसंयम का योग है इसमें) पतन का भय बना रहता है। पतन के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। वास्तव में जिसे लौकिक दृष्टि से पतन कहते हैं, विकास की दृष्टि से पतन नहीं। जब तक हम संस्कारों के बल को नहीं समझते हैं, तब तक उनके लिए स्थूल-जगत् में ही रास्ता देना आवश्यक होता है, परन्तु हम इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं, तो प्रकृति विद्रोह करती है। जीत जाती है। हम हताश हो जाते हैं। वास्तव में भीतर की जागृति और स्थिरता का संस्कारों के बोझे के साथ बहुत घना सम्बन्ध है। एक मात्रा में दबाव को सहा जा सकता है, उससे अधिक दबाव होने पर विस्फोट होता है। अतः, आगे चलने के लिये साथ-साथ में संस्कारों का क्षय भी होता जाना चाहिये। दबाव होने पर भीतर तनाव हो जाता है और रास्ता रुक जाता है। तन्त्र का मार्ग इस वास्तविकता को समझ कर चलता है।

संयम का मार्ग तो किसी प्रकार से भी, रोक-थाम करके भी, भीतर की शान्त स्थिति को, जिसे ज्ञान कहते हैं, जागृत करना चाहता है। क्योंकि उस चेतना की जागृति स्वतः ही क्षीण कर देती है सभी संस्कारों को। इसी समझ के कारण ज्वालामुखी के सिर पर बैठा साधना करता है इस मार्ग का साधक। कभी भी विस्फोट हो सकता है। जैसा ऊपर कहा है, यहाँ भी एक नियम है। एक मात्रा तक दबाव सहन हो सकता है। उसके उपरान्त व्यक्ति की अग्रगति की ही मांग होती है कि विस्फोट हो जाये। जो ऐसा विस्फोट है उसे ना-समझी से पतन कहते हैं।

देखने वाले को लगता है, कि हाय, यदि ऐसा न होता तो मैं कहाँ पहुँचा होता। परन्तु, यह धोखा है। ऐसा न होता तो सम्भवतः साधन के लिए रुचि

ही समाप्त हो गई होती, साधना का ही अन्त हो गया होता, या दिमाग खराब हो गया होता भीतर के तनाव से। भीतर से विकास की शक्तियों के द्वारा एक नियन्त्रण हो रहा है। उसी नियन्त्रण के अनुसार यह उतार-चढ़ाव होते हैं। व्यक्ति की गति की सीमायें हैं। वह धीरे-धीरे लांघी जा सकती हैं। बलात्कार नहीं हो सकता। उन्हें लांघने के लिये ही उन्हें समझकर उनमें से रास्ता निकालना होगा। रास्ता समाज की व्यवस्था के अनुकूल होना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

बाह्य-त्याग संस्कारों के सौम्यरूप से क्षय होने के लिये रास्ता नितान्त बन्द कर देता है। मनुष्य के भीतर तो कई कुछ रहता है। अब वैराग्य प्रबल होता है, बाद में वासनायें जग जाती हैं। बुद्धि हार जाती है। वासनाओं के बल को थाम नहीं सकती। व्यक्ति में बुद्धि ही नहीं है और भी बहुत कुछ है। बुद्धि ही एक मात्र नेत्री नहीं है। वह भी अस्थिर है। निम्न प्रकृति के द्वारा प्रभावित होती है। निम्न प्रकृति का शोधन होना आवश्यक होता है। मनुष्य की विकास की स्थिति को समझते हुये तो बाह्य त्याग का मार्ग भयंकर भूल दिखाई पड़ती है। वास्तव में छोड़ना ग़लत है, छूट जाना ठीक है। पकड़े रखने की कोशिश भी उतनी ही ग़लत है जितनी छोड़ने की।

जिसे लोग पतन कहते हैं, मैं तो विकास की दृष्टि से इसे और ही तरह से देखता हूँ।

भक्ति का मार्ग – समर्पण का मार्ग – पतन की आशंका से रहित होता है। वह भोग को प्रभु से स्वीकार करता है। पहले भोग की लालसा समाप्त हो जाती है फिर वह स्वयं ही झड़ जाता है। प्रभुमुखी हो जाने पर निवृत्ति होती है। अन्तरात्मा चाह छोड़ देता है। क्रमशः मन, बुद्धि, प्राणादि भी वैसे ही हो जाते हैं, संघर्ष के लिए अवसर नहीं आता। पतन की समस्या नहीं होती। संयम का अभिमान नहीं होता। वासना का भार नहीं होता। सहज सौम्यता रहती है साधक में।

कल्याण के लिए जो भी प्रयत्न होता है उससे संस्कार तो बनता ही है, भले ही वह थोड़े समय के लिए हो। भले ही वह संस्कार छोड़ना पड़े, परन्तु है तो वह निर्मल होने की मांग। दुर्गति का प्रश्न ही नहीं होता। अतः साधक को डरना न चाहिए। जितना कर पायेगा, उतना तो आगे चल ही पायेगा। रुकने के लिए सज़ा नहीं मिलती और, एक सीमा लांघ लेने पर लौट वह

सकता नहीं। उसे आगे ही जाना होता है। जिसे लोग पतन कहते हैं, वह वास्तव में कुछ नकारात्मक नहीं होता।

इसका यह अर्थ नहीं कि साधक मनमानी करने लगे। अपने हिताहित को तो समझ कर ही चलने की चेष्टा करनी चाहिए।

अतः, भगवान् ने कहा – 'न इस लोक में उसका विनाश होता है, न उस लोक में'। इस लोक में कैसे विनाश नहीं होता? उसके भीतर जो भद्रता जगी हुई है, वह तो जगी ही हुई है। उसका निराकरण तो अकस्मात् नहीं हो सकता। जो अभद्रता है वह क्रमशः समाप्त हो जाने वाली है।

और परलोक में भी विनाश नहीं। वह तो पुरातन संस्कार है जो बलात्कार से खींच ले जाता है। नया बन्धन तो बंधता नहीं। वह यहीं का यहीं समाप्त हो जाता है। कभी जन्मान्तर में जाता भी है तो भोग कर उससे छूटने पर साधक पहिले से भी निर्मल होता है।

जड़भरत की हिरण के बच्चे में आसक्ति हो गई, लोग इसे पतन कहते हैं। पर न जानने वाले ऐसा समझते हैं। भीतर बाकी थी आसक्ति की योग्यता। सामान्य गृहस्थ रहे होते तो वह बच्चों में प्रकट होती, परन्तु वह गृहस्थी तो थे नहीं। उससे वह आसक्ति की भावना तो नष्ट न हुई थी। अतः, वह प्रकट हुई अवसर पाकर। उससे बन्धन हुआ उसी हिरण के साथ जन्मान्तर में। उस संस्कार के कट जाने पर वह आसक्ति की सम्भावना से रहित हो गए, निर्मल हो गए। पक्के ब्रह्मनिष्ठ हो गए, 'अगर वह उस बच्चे के सम्पर्क में ही न आये होते तो एक जन्म न लेना पड़ता'। ऐसे सोचता है भीरु साधक। यदि ऐसा न होता तो न जाने कहाँ पर वह आसक्ति प्रकट होती और एक जन्म की अपेक्षा शायद दो लेने पड़ते। वह तो भीतर वाली स्थिति की, दबाव डालती हुई आसक्ति की मांग थी कि वह फूटे और व्यक्ति छूट पाये। वह प्रकृति जो मंगलमयी माँ की तरह बरतती है, वह ठीक सामान बना देती है। इस प्रकार से वह निर्मल करती है। लोग उसे बांधने वाली कहते हैं क्योंकि वह छुड़ाने वाली भी है यह वे जानते नहीं है। वह बांधती है तो छुड़ाने के लिए ही। वास्तव में भीतर छिपे बन्धनों को प्रकट मात्र करती है। जिससे व्यक्ति छुटकारा पा सके।

तो क्या गति होती है योग भ्रष्ट साधक की?

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥41॥

'पुण्यवान् लोग जिन लोकों को पाते हैं उन्हें पाकर, (वहाँ) अनेक वर्षों तक निवास करके, पुण्यात्मा और लक्ष्मीवान् लोगों के घर में योगभ्रष्ट जन्म लेता है'॥41॥

पुण्यात्मा लोग जिन लोकों को जाते हैं उनमें वह जाता है। पुण्यात्मा, जिन्होंने जीवन में पुण्यकृत किए होते हैं। यज्ञ, दान आदि कर्म ही तो पुण्य होते हैं। कल्याण के लिए की गई साधना परम पुण्यमय संस्कार का निर्माण करती है। अतः वह पुण्य जो लोग अनेकों यज्ञादि के द्वारा पाते हैं, उसे वह साधना के प्रताप से प्राप्त हो जाता है। वह उन लोकों को पाता है। थोड़े ही समय के लिए नहीं, बहुत वर्षों के लिए, मानो अनन्त काल के लिए। महान् पुण्य के परिणामस्वरूप ही ऐसा सम्भव है।

जो भोगादि की वासनायें रहती हैं, जो उसके मार्ग में बाधक रही होती हैं, उन्हें वह बहुशः सूक्ष्म लोकों में क्षीण कर लेता है उन लोकों में रहता हुआ। वैसा होता है विकास की मांग के अनुसार। उस काम के हो जाने पर वह फिर संसार में लौटता है। उसका जन्म पवित्र, पुण्यात्मा लोगों के घर में होता है। अब वह जो लौटता है तो निम्न संस्कारों के क्षीण हो जाने के कारण पुण्य प्रधान होता है। वैसे ही घर में आता है।

पुण्यात्मा तो गरीब हो सकते हैं, ऐसे गरीब जिन्हें खाने को भरपेट न मिले। तो कैसे पुण्यात्मा के यहाँ जन्म लेता है? जो श्रीमान हैं, लक्ष्मीवान् हैं, जिनके यहाँ खाने-पीने की कमी नहीं। ऐसा स्थान ही उसकी अग्रगति के लिए अनुकूल होता है। लक्ष्मी की प्राप्ति भी पूर्वले योग के किए प्रयत्न के प्रभाव से होती है। उसके विकास की मांग के अनुकूल भी प्रायः यही रहता है।

हमारे पुनर्जन्म की निर्णायक दो ही बातें होती हैं, हमारे विकास की मांग और हमारे कर्म।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥42॥

'अथवा बुद्धिमान् योगियों के घर में ही पैदा होता है। संसार में ऐसा जन्म जो है सो बहुत दुर्लभ है'।।42।।

बुद्धिमान् योगियों के घर में जन्म लेने का अर्थ है कि सिद्धि तो निश्चित ही है। वहाँ घर का वातावरण ही उसे आगे ले जाने वाला होगा। मार्गदर्शन भी मिलेगा, माता-पिता का सहारा मिलेगा, आशीर्वाद मिलेगा। घर में ही गुरु मिलेगा। तभी तो सिद्धि अवश्यम्भावी होती है ऐसे जन्म में। इसीलिए कहा कि ऐसा जन्म अतीव दुर्लभ है।

जब व्यक्ति में भोग की लालसा, भोग के संस्कार बाकी होते हैं तो श्रीमानों के घर में जन्म होता है क्योंकि वहाँ जन्म लेकर साधक उन्हें सुगमता से क्षीण कर सकता है। परन्तु, जब संस्कार भी निपट चुके होते हैं, मार्ग के प्रति अनन्यता पैदा हो चुकी होती है, देहधारण ही योग की प्राप्ति के लिए किया जाता है, तभी योगियों के घर में जन्म लाभ हो सकता है। इस अनन्यता का ही परिणाम हो सकता है ऐसा जन्म। इसीलिए कहा कि यह बहुत दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।43।।

'उस (नये) जन्म में पिछले देह के बुद्धि संयोग को (संस्कार को) प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन! फिर वह और प्रयत्न करता है संसिद्धि के लिये'।।43।।

इस नये जन्म में पिछले जन्म के योग विषयक संस्कार जग जाते हैं। बुद्धिसंयोग – स्मृति, संस्कार। वह अलक्षित रूप से प्रभावित करते हैं। भीतर विकलता होती है। छटपटाहट होती है, जब तक मार्ग खुल नहीं जाता। किसी व्यक्ति में ऐसा होता है, क्योंकि पिछला संस्कार दबा रहता है। कई लोगों में वह संस्कार सहज में जग जाता है। जो अवस्था पहले प्राप्त की हुई थी उसे वह अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। जैसे साइकिल पर जो व्यक्ति चढ़ना जानता हो, वह बहुत दिनों न चढ़े तो उसे लगता है कि वह भूल गया होगा परन्तु, जब वह चढ़ता है तो फिर वह पुराना संस्कार जग जाता है, झट से चलाने लगता है। ऐसा ही साधना के विषय में होता है। जो काम नौसिखियों को सीखने में वर्षों लगते हैं, वह कुछ ही मिनटों या घण्टों में कर लेता है।

ऐसे बुद्धि-संयोग की प्राप्ति होती है।

विवेकानन्द बचपन में ही स्वतः ध्यान किया करते थे और समाधि की सी स्थिति हो जाती थी। श्रीरामकृष्ण परमहंस देव को बचपन में भाव-समाधि होती थी। वह बिना किसी साधना के उन्हें प्राप्त थी। पूर्वले जन्म की साधना का परिणाम था वह।

साधना तो व्यक्ति को करनी होती है। जो पिछले जन्म में किया होता है वह हमारे लेखे में जमा रहता है। जब हम उस हिसाब को खोलते हैं वह प्रकट हो जाता है।

ऐसे साधक की अन्तरात्मा तो वरी जा चुकी है। पीछे लौटना नहीं होगा। जगी हुई अभीप्सा जन्मान्तर में भी मार्ग की ओर घसीटती है। वही लक्ष्य सामने आ जाता है। व्यक्ति आगे चलने लगता है। संसिद्धि-परमसिद्धि, आत्मनिष्ठा के लिए और प्रयत्न करता है।

वास्तव में जो व्यक्ति रास्ते पर पड़ गया है, जिसने भीतर की झलक पाई है, जिसने प्रभु के स्पर्श को प्रतीत किया है, वह क्या भूल सकता है उस प्रकृति से पार के सुख को? और योगभ्रष्ट तो रास्ते पर अच्छी तरह से चला हुआ होता है। उसने तो भीतर की अनुभूतियाँ कर रखी होती हैं। वह तो आरूढ़ होता-होता भ्रष्ट हुआ है, तभी तो योगभ्रष्ट कहा जा सकता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥44॥

'उस ही पूर्वले अभ्यास के बल वह धकेल ले जाया जाता है, परवश हुआ भी। योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म को लांघ जाता है'॥44॥

वह पुराना अभ्यास उसे बलात्कार से उसी मार्ग में ले जाता है। बलात्कार से, वह नहीं जानता कि क्यों आकर्षण है वैसी बातों से, वैसे व्यक्तियों से, परन्तु फिर भी आकर्षण होता है। रहा नहीं जाता। कभी तो व्यक्ति चाहता भी है कि इन बातों से पिण्ड छूट जाये जैसे संसार के लोग विषयभोग में, अपने को खोये रहते हैं, ऐसे वह भी रह सके परन्तु, वैसा हो ही नहीं सकता। परवश व्यक्ति इस रास्ते पर आता है। कभी तो यह बचना चाहता है, वैसी संगति नहीं करता, वैसे ग्रन्थों को नहीं पढ़ता और वैसे स्थानों पर नहीं जाता, परन्तु यह सब कब तक? जब तक भोग के कोई बली संस्कार रहते हैं। फिर

यह बांध टूट जाता है। जो नहीं चाहता था सोई होता है।

कई लोग तो इस डर के मारे भी दूर भागते हैं कि हम यदि आयेंगे तो इतने खिंच जायेंगे कि फिर सांसारिक कर्त्तव्य न निभ पायेंगे। ऐसे लोग भी आखिर खिंचते ही हैं और बुरी तरह से खिंच जाते हैं।

संस्कार के बल से अकस्मात् संयोग होते हैं। वैसे लोगों का सम्पर्क हो जाता है। चारों ओर वैसा वातावरण बनने लगता है। दिशायें बोलने लग जाती हैं और रास्ता दिखाने लगती हैं।

विकास की मांग को व्यक्ति ठुकरा नहीं सकता। मनुष्य से परे देवाधिदेव की शक्ति है जिसने इस विकास की जिम्मेदारी ले रखी है। उसका प्रतिकार कौन कर सकता है।

ऐसा व्यक्ति-योगभ्रष्ट-तो योगमार्ग का जिज्ञासु है। उसे संसिद्धि तो प्राप्त नहीं हुई है। उसके लिये अपरार्ध में कहा है –

वह भी शब्दब्रह्म को लांघ जाता है।

शब्दब्रह्म तो शब्दात्मक ब्रह्म अर्थात् वेद के लिए प्रयोग होता है। वैसे तो पुराने साहित्य में, विशेष कर वेदों में, ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद है। परन्तु 'शब्द' से विशिष्ट करने पर तो 'शब्द-ब्रह्म' का अर्थ वेद ही है।

शब्दब्रह्म का अतिवर्तन-वेद का लांघना?

वेदोक्त यज्ञादि गुण विषयक हैं। वहाँ सकाम पूजन है। उसके परिणामस्वरूप जो प्राप्त हो सकता है योगमार्ग का तो जिज्ञासु भी उससे अधिक पा सकता है और हमने देखा ही है कि जिन लोकों को पुण्यात्मा लोग यजनादि से लाभ करते हैं, उन्हें योगभ्रष्ट सहसा पा लेता है। फिर वह जन्म भी लेता है श्रीमन्तों के वहाँ।

इस विषय में दूसरे अध्याय के 45-46वें श्लोक देखना रुचिकर होगा। वह भी वेदातिक्रमण की चर्चा करते हैं, परन्तु संसिद्ध के विषय में नहीं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥45॥

'प्रयत्न से यत्न करता हुआ संशुद्ध हुए पापसंस्कार वाला योगी, अनेक जन्मों (के साधनों) से संसिद्ध होकर, फिर परम-गति को लाभ करता है'॥45॥

ऐसा योगी कैसे परमगति को लाभ करता है, इसका उत्तर दिया गया है।

प्रयत्न से वह साधन करता है। लगा रहता है। हार मानकर बैठ नहीं जाता कि मेरे बस का नहीं। वह तो ऐसा बंधा होता है कि हार मानने से चैन कहां? बैठने पर शान्ति कहां? उसे चलना होगा और चलते जाना होगा इस निर्दिष्ट पथ पर।

क्या होता है इस प्रकार के साधन से? किल्बिष संशुद्ध हो जाते हैं। पाप संस्कार (निम्न प्रकृति) संशुद्ध हो जाती है। नीची कोटि के संस्कार समाप्त हो जाते हैं। वासना क्षीण हो जाती है।

दमन नहीं कहा, संशोधन कहा। निकलकर बाहर हो जाना, बिलकुल अभाव हो जाना, ऐसी भावना है 'संशुद्ध' में। पाप की गठरी शीश धरकर चैन कहाँ सम्भव है? जो कर्ज़ प्रकृति के लिये हैं वह चुकाने होंगे। जो बन्धन बांधे हैं वह खोलने होंगे। खुशी-खुशी खोलने में बुद्धिमत्ता है। रोने-धोने पर, भागने की चेष्टा करने पर भी माँ महाशक्ति हमें मैला न रहने देगी। वह पकड़कर धो डालेगी। नहलायेगी, कपड़े बदल देगी, यदि हम उसकी इस संशोधन की मंगलमयी आवश्यकता या अवश्यम्भावी क्रिया के रहस्य को समझें तो छटपटायें नहीं, शान्तिपूर्वक समर्पण कर दें माँ के मंगलमय हाथों में। 'कर ले जो ठीक समझ।' फिर माँ का कार्य भी सुगम होता है। हम जल्दी हो जाते हैं 'संशुद्ध किल्बिष।' पर वैसा तो होना ही होगा, उसके बिना आगे गति नहीं।

इस सब में अनेक जन्म लगेंगे। योगभ्रष्ट को भी अनेक जन्मों तक साधन करना होगा। यह कोई दो दिन का काम नहीं। मनुष्य में से भगवान् को प्रकट होना है। प्रकृति के समूचे पाठों को पढ़ना है और समस्त बन्धनों से मुक्त होना है।

ज्ञानी के लिये भी तो ऐसा ही कहा है सातवें अध्याय में –

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

'बहुत जन्मों के बाद ज्ञानी मुझे पाता है। ज्ञानी भक्त को भी अनेक जन्म पर्यन्त साधना करनी होती है।

इतना जानना होगा कि योगभ्रष्ट रास्ते से भटका हुआ है। वह जो रास्ते पर चल रहा है और बीच में ही शरीर छूटा है जिसका, वह योगभ्रष्ट नहीं है। वह तो साधक ही है। ऐसा तो अनेक बार होगा ही क्योंकि साधना एक

जन्म में सिद्ध होने वाली नहीं है। योगभ्रष्ट तो वह है जिसने निम्नप्रकृति के प्राबल्य से साधना को छोड़ दिया था।

साधक को इस विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं कि उसे कितने जन्म और लगेंगे संसिद्धि लाभ करने में। जो अभी मार्ग में अनन्य-निष्ट नहीं, जिसको सिवाय साधना के जीवन में और कुछ भी दीखता है, वह ऐसी जिज्ञासा करते हैं। हम हैं और रास्ता है और रास्ते के अन्त में सिद्धि है। चलना, चलना और चलते जाना बस, और व्यर्थ की कल्पनायें क्यों? क्या विश्वास नहीं है अपने में? क्या भरोसा नहीं है प्रभु का? क्या चाह नहीं है चलने की? अधीरता और अध्यात्म का मेल नहीं। यदि कुछ और साधने की लालसा है तो उसे साधकर ही इस मार्ग पर कदम रखना उचित होगा। दुविधा को छोड़कर ही इस शूरों के मार्ग पर आया जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥46॥

'योगी तपस्वियों से बढ़कर है और वह ज्ञानियों से भी बड़ा माना जाता है। योगी कर्मियों से भी अधिक है। हे अर्जुन! तू योगी बन'॥46॥

भगवान् अर्जुन को योगी बनने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं? युद्ध-क्षेत्र में युद्ध से भागने के लिए जो तैय्यार है उस अर्जुन को भगवान् कह रहे हैं 'योगी भव'। और जगह तो कहा है 'युद्ध कर' और युद्ध करने के लिए ही आगे भी प्रेरणा है। इस 'योगी भव' का क्या अर्थ है? अर्थ तो वही है जो स्पष्ट है। संसिद्ध योगी हो जा, जो ब्रह्मनिष्ठ हो, जो आत्मदर्शी हो। योगी – जो 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते (31)।'

पर क्या युद्ध छोड़कर बना जायेगा योगी। अभी तो तुझे योगारुढ होना होगा। उसके लिये तो सम्यक् निष्ठा से कर्म कर। भीतर तैयार होगा एकान्त-साधना के लिए तब साधना करना एकान्त में।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते॥3॥ (अध्याय 6)

'योग पथ पर आरूढ़ होने की इच्छा वाले के लिए साधन कर्म है'। अभी अर्जुन इस श्रेणी में है। अतः एकान्त में जाने का और ध्यानस्थ होने का प्रश्न ही नहीं। उसकी दुष्करता की तो अर्जुन ने स्वयं चर्चा की है।

बाकी तीनों पाद योगी की तुलना करते हैं तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मी से। योगी इन तीनों से बड़ा है।

तपस्वी, जो तप करे, चान्द्रायण आदि व्रत; और 17वाँ अध्याय तो तपों के विषय में बताता ही है – कायिक, वाचिक तथा मानसिक। और वह गुणभेद से भी तीन प्रकार के होते हैं। (देखिये अध्याय 17 श्लोक 14-19)

तप का अर्थ है तपाना। जैसे धातु को तपा कर शुद्ध किया जाता है ऐसे ही नियमों के द्वारा तन, मन आदि को तपा कर निर्मल किया जाता है।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥18/5॥

'यज्ञ, दान तथा तप मनीषियों को (भी) पवित्र करने वाले हैं।' योगी में केवलमात्र निर्मलता नहीं होती, उसमें तो दिव्यता होती है। वह तो निर्मल, मल से रहित होता है। गुणातीत होता है। तपस्वी धोखा खाता है। भीतर मल रहता है, ऊपर से निर्मल हो जाता है। गिरता है। सन्त कहता है तप के विषय में।

सुद्ध का होय काची भीत (गुरु नानक)

यह मिट्टी की बनी दीवार (शरीर) क्या शुद्ध होगी? जितना धोवोगे उतनी ही मिट्टी गिरेगी। तप के द्वारा जो होता है वह अस्थिर होता है, क्योंकि विकार का नितान्त क्षय तप के द्वारा असम्भव है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥2/59॥

जब तक व्यक्ति गुणों से परे नहीं होता तब तक प्रकृति के बन्धन में आयेगा। गुण तो आपस में संश्लिष्ट हैं। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। केवलमात्र प्राधान्य हो सकता है। अतः, पतन की, पाप की सम्भावना लगी रहती है। जो गुणों से अतीत है वह इस बन्धन से, प्रकृति के पाप से परे है। योगी अतीत होता है। अतः, वह पतन की सम्भावना से परे होता है।

दूसरी सम्भावना है प्रकृति के दिव्यीकरण की, जिसे वैष्णव विशुद्ध-सत्त्व कहते हैं। जिसमें रजस् तथा तमस् का बिल्कुल भी सम्मिश्रण नहीं रहता। वह तप के द्वारा सम्भव नहीं। भला अपने बूट के तल्लों को ऊपर खींच कर कोई जमीन से उठ सकता है। ऐसे ही क्या तप के द्वारा कोई रजस्-तमस् का नितान्त संशोधन कर सकता है?

जो त्रिगुणातीत है, जो प्रकृति से परे है उसकी चेतना के प्रकृति में प्रबल रूप से अवतरित होने पर यह सम्भव है कि विशुद्ध सत्त्व प्रकट हो जायें। वह चेतना इतनी ऊँची और बली होती है कि केवल विशुद्धसत्त्व ही उसकी ऊँची अभिव्यक्ति का, दिव्याभिव्यक्ति का आधार बन सकता है। यही प्रकृति का दिव्यीकरण है। यह सम्भव है तो केवलमात्र योगी में। तपस्वी में इसकी सम्भावना नहीं।

तपस्वी तो बाज़ीगर सा है, रोक-थाम करता है। पर सभी रोकथाम अस्थायी होती है। जितनी मात्रा में तप रास्ते में चलने के लिए व्यक्ति को तैयार करता है, वह अच्छा है। परन्तु, वह आन्तरिक जागृति के सामने नगण्य है।

तप से सिद्धि भी होती है। परन्तु वह अहंमूलक होने से बन्धन का कारण होती है।

योगी ज्ञानी से भी बड़ा है, निश्चित ही। ज्ञानी तो योगारूढ़ मात्र है। रास्ते पर पड़ा हुआ है। उसने भगवान् में निश्चय को लाभ किया है। उसकी अन्तरात्मा ने प्रभु को वरा है। उसे अभी रास्ता बहुत चलना है। स्वयं भगवान् ही कहते हैं कि बहुत जन्मों के अनन्तर ज्ञानवान् मुझे पाता है (7, 19)।

योगी तो वह है जो संसिद्ध है। वह है जिसने 'वासुदेव: सर्वमिति' इस कोटि के अनुभव को पाया है।

योगी कर्मियों से भी बड़ा है। कर्मी कौन है? सकाम कर्म करने वाले ही कर्मी हैं। जो यज्ञ करते हैं ऊँचे लोकों को लाभ करने के लिये, जो दान देते हैं पुण्यलाभ करने के लिए। ऐसे लोगों की संसार में बड़ी कीर्ति होती है। वह संसार की दृष्टि में बड़े होते हैं। परन्तु संसिद्ध योगी के मुकाबले में वह कुछ भी नहीं। वह तो कामना के चक्कर में हैं। संसार के, अहं-मम के बन्धन में बंधे भारवह पशु की तरह अपनी प्रकृति के दास हैं। उनकी प्रकृति के पारंगत योगियों से क्या तुलना? विकासमार्ग में यह अभी बच्चे हैं जिन्होंने घुटनों चलना भी नहीं सीखा, और वह रास्ता पार कर चुके हैं।

जब व्यक्ति को कामना बन्धन प्रतीत होने लगती है तब योग का रास्ता खुलने को होता है। जब कामना समाप्त होती है, तो रास्ते पर अर्थात् योगारूढ़ होता है। जब कामना की सम्भावना से, अहं-मम से अतीत होता है तब योगी होता है।

इस श्लोक के साथ 12वें अध्याय का 12वाँ श्लोक पढ़ना रुचिकर होगा। वह गहराई में ले जा सकेगा, पाठक को।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥47॥

'(और) सभी योगियों में भी जो (योगी) श्रद्धा से युक्त हुआ, मुझ में अन्तरात्मा को लगा कर मेरा भजन करता है उसे मैं युक्ततम समझता हूँ'॥47॥

जो ब्रह्मनिष्ठ है, संसिद्ध योगी है वह भी भगवान् का भजन करे? यह क्यों? और, भगवान् उसे युक्ततम समझते हैं।

किस प्रकार से वह युक्ततम है? इन प्रश्नों पर विचार करना होगा।

भगवद्-वाणी तो इसका उत्तर स्पष्ट देती है। अठारहवें अध्याय में ब्रह्मभूत के लिए कहा है 'वह सब भूतों में सम हुआ मेरी पराभक्ति को पाता है (18, 54)' और उस 'भक्ति से वह मुझे जानता है, मैं जो और जितना हूँ। उसके बाद, अर्थात् तत्त्व से जानकर मुझमें वह प्रवेश पा जाता है (18, 55)।

योगी तो ब्रह्मभूतावस्था वाला है, आत्मनिष्ठ है, ब्रह्मनिष्ठ है। ब्रह्म भी तो भगवान् है। वह भी तो पुरुषोत्तम है। ठीक, परन्तु भाव में तो अन्तर है। वही निर्गुण है, वही सगुण है। वह किसी का पुत्र, किसी का पिता होता है, वही खड़ा और वही बैठा होता है। वही कभी नंगा और कभी वस्त्रधारी होता है। एक होते हुए भी जैसे कुछ अवस्था भेद है। ऐसे ही ब्रह्मभाव में और भगवद्भाव में अन्तर है। अनुभव का अन्तर है। न अन्तर होते हुए भी है ही, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

यह विषय है जिस विषय में वेदान्ती तथा भक्त आपस में भिड़ जाते हैं। वेदान्ती भगवान् को मायाविशिष्ट ब्रह्म कहते हैं। वह ब्रह्मभाव के परे किसी अनुभूति को अंगीकार नहीं करते। पराभक्ति और ज्ञान को वह एक ही कहते हैं। ब्रह्मलीनता और प्रवेश में वह अन्तर नहीं देखते।

वस्तुस्थिति यह है। ग्रन्थ से यदि अन्याय न करना हो तो हमें स्पष्ट स्वीकार करना होगा कि गीता की दृष्टि में तो इन दोनों में अन्तर है। ब्रह्मभाव के अनन्तर स्वतः पराभक्ति जगती है, जिससे भगवान् के स्वरूप का बोध

होता है और तदनन्तर उसमें प्रवेश होता है। यह ईमानदारी की मांग है। उसी विचार के आधार पर यह 47वाँ श्लोक है। योगियों में भी जिसमें पराभक्ति जगी है, वह बड़ा है। क्योंकि, ऐसा होना तो योग में संसिद्धि हो जाने के अनन्तर ही सम्भव है। अत: वह अधिक बड़ा है विकास की दृष्टि से। जिसमें पराभक्ति जगी है वह ही भगवान् का भजन कर सकता है। वह श्रद्धावान् तो होगा ही। श्रद्धा के बिना पराभक्ति कैसे हो सकती है? उसमें तो श्रद्धा की पराकाष्ठा होती है। ऐसे योगी की अन्तरात्मा भगवान् में निवास करेगी ही।

जो अनन्य भक्त है, जो पराभक्ति के लाभ से लाभान्वित हो मेरा भजन करता रहता है, वह योगियों में बड़ा योगी है।

श्रीतुलसी रामायण में भी इसी आशय का पाठ आता है। इसी स्थिति पर और भी विचार किया जा सकता है। भक्ति बुद्धिगम्य है। पराभक्ति जो ब्रह्मभाव के अनन्तर जगती है, उस विषय में बुद्धि निश्चयात्मक रूप से कुछ कह नहीं सकती। पुरुषोत्तम भाव अक्षरभाव से (जो ब्रह्म भाव है), अतीत है क्योंकि वह क्षर तथा अक्षर दोनों से अतिक्रान्त है। वह दोनों उसके भाव हैं। अक्षरभाव ही पुरुषभाव है, जीव-भाव है, परा प्रकृति है। वह पुरुषोत्तम ही क्षर-अक्षर रूप हुआ लीला करता है। एक में क्रिया का अतिशय है, एक में चेतना का। वह स्वयं न क्रिया है, न चेतना है, इन दोनों में प्रकट होता हुआ दोनों से अतीत है।

ब्रह्मलीनता अक्षरभाव में स्थिति है। वह निष्क्रिय केवलीभाव है। प्रकृति से वियोग है नितान्त। आत्मा में, द्रष्टा में स्थिति है। अनन्तता है उसमें, चेतना का सहज प्रसाद है, आनन्द है और निश्चलता है, यह सभी ठीक, परन्तु प्रकृति पर अधिकार नहीं। पुरुषोत्तम की चेतना तो स्वामिनी है दोनों प्रकृतियों की। वह तो प्रकृति में रहते हुए, उसका अन्त: तथा बहिर्गमन करते हुए अतीत है और अछूती है। पुरुषोत्तम-चेतना तो क्रिया में उसी प्रकार पूरी है, जैसे वह क्रिया से परे है।

ब्रह्मलीनता निर्गुणता है। पुरुषोत्तम-भाव तो निर्गुण सगुण है। वह गुणों से अतीत होता हुआ गुणरूप भी है। वह सव्यक्ति तथा निर्व्यक्ति है। वह पूरा भगवान् है। उसकी भक्ति हो सकती है।

पराभक्ति के लिए ब्रह्मभाव से निकलना होगा! ठीक। पुरुषोत्तम से युक्त

होने के लिए निष्क्रियता का, कैवल्य का परित्याग करना होगा। सहजावस्था के लिए एकान्त सुन्न को छोड़ना होगा। तब जग सकती है पराभक्ति। सहज में जो क्रिया-अक्रिया से परे है उस ओर उमड़ेगी निर्मल तथा युक्त हुई जीव की सत्ता। वह भाव पूरा अद्‌भुत होगा। तब पुरुषोत्तम अपने तन को खोल देगा। तब पुरुषोत्तम-भाव प्रकट हो जायेगा योगी में। तब पुरुषोत्तम का पुरुषोत्तम में प्रवेश होगा।

जो उस शून्यावस्था की, उस निर्विकल्प की बलि देने को तैय्यार नहीं है, जो कैवल्य से चिपकता है, उसके लिए इसका प्रवेश द्वार कैसे खुल सकता है? जो इससे चिपकता नहीं है, उसके लिए सहज में खुलेगा।

विकास का प्रवाह योगी को सहज में ही ले जायेगा उस पराभक्ति की स्थिति में, यदि वह अपने को बांधेगा नहीं।

यहाँ पर यह अध्याय समाप्त होता है। यह अध्याय गीता में विशेष महत्त्व रखता है। आन्तरिक-साधना के वर्णन के कारण से ही नहीं, अपितु विकास के आन्तरिक क्रम स्पष्ट कर देने के कारण से विशेष कर।

॥श्री राम॥

अध्याय 7

धीरे-धीरे कदम बढ़ता चला जाता है भगवद्तत्त्व की सजीव प्रतीति की ओर और पूर्णरूपेण शरणागति की ओर। चौथे अध्याय में अवतार-तत्त्व का वर्णन था। भगवान् ने अपने उस भाव का परिचय दिया था जो अर्जुन से वार्तालाप कर रहा था। अर्जुन में श्रद्धा जगी थी प्रभु के प्रति। कर्मों के ब्रह्मार्पण का मार्ग बताया था। फिर ज्ञानाश्रित संन्यास की चर्चा हुई पाँचवे अध्याय में। छठे अध्याय में तदाश्रित आन्तरिक-साधन का मार्ग और उसकी सिद्धि का वर्णन किया। वर्तमान अध्याय भगवान् के विशदरूप का वर्णन करता है। गीता का तत्वज्ञान पहली बार स्पष्ट होता है। ज्ञान तथा विज्ञान का बोध होता है। इसी बोध के आधार पर अडिग श्रद्धा जग सकती है। वह श्रद्धा कोरी भावुकता नहीं, विशाल समझ को लिए होगी और जीवन में क्या स्थान है प्रभु का यह ठीक-ठीक प्रतीत कर पायेगी। गीता को समझने के लिए वर्तमान अध्याय विशेष महत्त्व का है इन्हीं बातों को देखते हुए।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥1॥

श्री भगवान् बोले –

'हे अर्जुन! मुझ में मन को भली प्रकार लगा कर, मेरे आश्रित होकर, योग करते हुए, निश्चयात्मक तथा समग्र रूप से जैसे तुम मुझको जानोगे, सो सुनो'॥1॥

पिछले अध्याय के अन्त में भक्तियुक्त संसिद्ध योगी की प्रशंसा की गई है अन्तिम श्लोक में। ऐसा योगी जिसने पराभक्ति लाभ की है (18, 54) वह जान जाता है भक्ति के बल से कि भगवान् वस्तुतः क्या है और कितने

हैं (18, 55) अर्थात् उनके स्वरूप तथा महिमा को जानता है। इस तात्विक-ज्ञान का बोध हमें इस अध्याय में भगवान् प्रदान करने जा रहे हैं।

यह ज्ञान भक्ति से ही सम्भव है। भक्ति से ही भगवद्-विषय का बोध सम्भव है। वह जो सांख्याश्रित आत्मज्ञान है, जिसमें प्रकृति और पुरुष का विवेक ही है, जिसके द्वारा व्यक्ति आत्मभाव में प्रतिष्ठित हो सकता है, कैवल्य लाभ कर सकता है, उस और इस ज्ञान में कुछ अन्तर है। कहा जाता है कि पुराना सांख्य ईश्वरवादी था, ईश्वरतत्त्व को मान करके चलता था, परन्तु वर्तमान सांख्य जिसका मौलिक ग्रन्थ सांख्य-कारिका है, ईश्वर को नहीं मानता है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कापिलेयाख्यान में कपिल जी का देवहूति के लिए उपदेश सांख्य ही कहलाता है। वास्तव में कपिल ही तो इस दर्शन के आचार्य हैं। वहाँ स्थिति बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। पुरुष तथा भगवान् को एक माना है। आत्मा की उपासना और भक्ति में किसी प्रकार का कोई भी अन्तर नहीं है। परन्तु गीता का दृष्टिकोण – (इस अभेद को लेते हुए भी) जिस प्रकार है, जो है – समझना आवश्यक ही है। दार्शनिक स्पष्टता भी अपना महत्त्व रखती है।

यह ज्ञान बुद्धि आश्रित ज्ञान नहीं है। यह तो बुद्धि से अतीत भगवदनुग्रह से जगी हुई ऊँची चेतना का परिणाम है। अतः 'असंशयम्' इसमें संशय की गुंजाइश नहीं, निश्चयात्मक ज्ञान है। वह जो बुद्धिगत ज्ञान होता है उसमें संशय की सम्भावना है। बुद्धि तो इन्द्रियजन्य ज्ञान के आधार पर अनुमानादि से कल्पना करके किसी नतीजे पर पहुँचती है। उसका आधारभूत ज्ञान उल्टा हो सकता है, उसका निजी विवेचन गलत हो सकता है अतः संशय की सदा गुंजाइश है। इसीलिये तो कहते हैं 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' 'तर्क के पांव नहीं होते।'

बुद्धि से परे हम तादात्म्यभाव से अर्थात् ज्ञाता तथा ज्ञेय को एकीभाव से जानते हैं। उससे जगता है वह ज्ञान अतः 'असंशय' होता है।

और, 'समग्र' समूचा, पूरी तरह से। उसमें थोड़ा जान लिया है थोड़ा नहीं जाना, ऐसा नहीं होगा। पूरी तरह से जान जाओगे। बुद्धि तो ससीम है, अतः वह तो अधूरा ही जानती है। वस्तु को सीमित दृष्टिकोण से देखती है। जो बुद्धि से परे की चेतना है वह तादात्म्य के कारण वस्तु को सब ओर से देखती है। वस्तु को वह स्वयं वही वस्तु बनकर जान जाती है, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति न होगी। अतः वह ज्ञान समग्र हो पाता है।

भक्त भगवान् को इस प्रकार से जान जाता है। तो क्या भगवान् जाने जा सकते हैं? क्या वह अनन्त नहीं? यदि अनन्त हैं तो जाने कैसे जा सकते हैं? जैसे ऊपर कहा है यह बोध बुद्धिगत नहीं है, अतः ससीम नहीं। बुद्धि से अतीत चेतना का परिणाम है। हाँ, बुद्धि के द्वारा प्रकट करने में ससीम हो जाता है। वह स्वाभाविक ही है।

श्लोक का पूर्वार्ध तो जिस अवस्था में बोध होगा, वह बताता है। गत अध्याय के साथ इसे मिलाकर समझना होगा। 'मुझमें मन को पूरी तरह से लगाकर।' प्रभु के प्रति आसक्ति व्यक्ति की सभी अन्य आसक्तियों को दूर कर देती है। क्योंकि वह आसक्ति उसे भगवान् से जोड़ देती है, और आसक्तियाँ स्वतः चली जाती हैं। अनन्यता आती है सहज में।

'मेरे आश्रित होकर योग करता हुआ।' अपने प्रयत्न पर निर्भर करता हुआ नहीं, भगवत्कृपा का सहारा लेकर आगे बढ़ने की चेष्टा करता हुआ। कौन योगी? जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में हुई है।

यहाँ अर्जुन को सम्बोधित किया है। उस योगी के लिये नहीं कहा जिसका वर्णन पिछले अध्याय के अन्त में है। परन्तु, इससे कोई अन्तर नहीं होता। यदि अर्जुन योगपथ का अनुक्रमण करेगा तो वह भी उस स्थिति को लाभ करेगा ही और उसे यह बोध होगा, इसमें सन्देह नहीं।

योग से तात्पर्य है योग का विशाल मार्ग जिसमें आरूढ़ होने के लिए अभी अर्जुन को अपने को युद्ध-कर्म में लगाना चाहिए। फिर वह आत्मसंयम-योग के योग्य होगा और इस ज्ञान को लाभ कर सकेगा।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥2॥

'मैं तुझे यह ज्ञान विज्ञान-सहित समूचा (ही) कहूँगा जिसे जानकर इस संसार में फिर और जानने योग्य कुछ नहीं रहता'॥2॥

कितनी महान् प्रतिज्ञा है। मैं तुझे वह बताऊँगा जिसे जानकर तुझे कुछ और जानने को नहीं रहेगा।

ज्ञान है भगवान् का ज्ञान। वह जो आदि सत्ता है, जो परम पुरुष है, उसका बोध ज्ञान है और जो ज्ञान उसके नानात्व से सम्बन्ध रखता है, जो प्रकृति का ज्ञान है, जो उसके धर्मों आदि का ज्ञान है, जहाँ

कारण-कार्य-भाव प्रधान है, वह विज्ञान है। जो भगवान् का बोध है सो ज्ञान है जो उसकी विभूति का है सो विज्ञान।

विज्ञान, विशेष ज्ञान को कहा जाता है। साईंस के लिए यह शब्द रूढ हो गया है। गीता में विज्ञान का उपर्युक्त अर्थ है। इसका प्रमाण हमें यह अध्याय ही देता है।

इतना ही तो जानने को है। परमसत्ता और उसकी लीला एक और उससे अनेक! जिसने इतना समझा है उसने सभी कुछ समझा है। क्योंकि सभी उसी का विस्तार तो है। इतना समझने से अभिव्यक्ति का मूल समझ लिया जाता है। बाकी काम तो बुद्धि कर सकती है। वह देश-काल में होने वाले परिवर्तनों को जान सकती है।

'ज्ञातव्य' वह है जो जानने योग्य है। जिसके जानने से लाभ होता है। वैसे तो ज्ञान का कोई पार नहीं है। इस स्थूल स्तर को खोजते-खोजते वैज्ञानिकों ने अभी इसका पार नहीं पाया और सृष्टि का तो अन्त नहीं है। परन्तु, इस प्रकार का ज्ञान तो साधक को चाहिये ही नहीं। वह तो परम तत्त्व की ओर बढ़ना चाहता है। वह इसको समझना और इसमें ही जीना चाहता है। उसके लिए तो मौलिक सिद्धान्तों को जानना पर्याप्त है। बाकी प्रपञ्च ज्ञान से उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥3॥

'हज़ारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए यत्न करता है (और) यत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई एक मुझे तत्त्व से जानता है'॥3॥

भगवान् का तात्त्विक बोध कितना कठिन है इस विषय में कहते हैं। हज़ारों में कोई एक सिद्धि के लिये यत्न करता है। अधिक लोग तो संसार की वस्तुओं को लाभ करने के लिए यत्नवान् हैं। वह अभी जागे ही नहीं ऊँचे तत्त्वों के प्रति। अतः उधर प्रयत्न ही कैसे कर सकते हैं? जैसे कोई विरला लड़का स्कूल पास करने के बाद कालेज में जाता है, ऐसा ही समझें। अधिक लोग तो अभी विकास की निम्न-श्रेणी में हैं। सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उनके लिए। प्रवृत्ति में है अधिकांश मानव समाज। निवृत्ति में कोई विरला ही है।

जो यत्न करते हैं और यत्न करके सिद्धि लाभ कर लेते हैं वह भी भगवत्तत्त्व को ठीक-ठीक नहीं जानते। वह यत्न करते हैं जानने का, पर फिर भी सफल नहीं होते।

ऊपर कहा जा चुका है परमसत्ता का तात्त्विक-बोध भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। संसिद्ध होने पर भी यदि पराभक्ति प्राप्त न होगी तो यह बोध न होगा। वह कोई विरला ही लाभ कर पाता है इसीलिए छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में भक्त संसिद्ध-योगी को सब योगियों में श्रेष्ठ कहा था –

इस दुर्लभ भागवत-ज्ञान का वर्णन करते हैं –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥4॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥5॥

'भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार – इस प्रकार से मेरी प्रकृति आठ प्रकार से विभाजित है'॥4॥

'यह अपरा है। इससे भिन्न मेरी प्रकृति को जानो, हे अर्जुन! जो जीव है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है'॥5॥

भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं। एक अपरा और दूसरी परा, अपरा आठ प्रकार से विभाजित है। परा प्रकृति जीव है जो इस जगत् को धारण करती है।

प्रकृति क्या होती है। प्रकृति स्वभाव को कहा जाता है। स्वभाव वह भाव है जिसमें सत्ता प्रकट होती है। वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रकट होने का स्वभाव ही उसकी प्रकृति होती है। वह प्रकृति वस्तु अथवा व्यक्ति से भिन्न नहीं होती। वह व्यक्ति अथवा वस्तु की सत्ता का प्रकटीकरण मात्र होता है, अतः सीमित होता है। व्यक्ति अथवा वस्तु उतने में ही समाप्त नहीं होती, उससे परे भी होती है।

प्रकृति की अलग से सत्ता नहीं होती है। बिना व्यक्ति के स्वभाव कैसा, प्रकृति कैसी? अतः बिना पुरुषोत्तम के प्रकृति क्या है? कुछ भी नहीं। उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

भगवान् की दो प्रकृतियाँ हैं। वह दो भावों में प्रकट होते हैं – अपरा प्रकृति और पराप्रकृति। वह परम सत्ता जो अतीत है वह दो प्रकार से प्रकट होती है, जिसे शक्ति (इनर्जी) कहते हैं, उस रूप में तथा जीव के रूप में। जीवभाव चेतनता है – कानशसनेस (consciousness) है, चेतना है। चेतना की अलग कोई सत्ता नहीं है, न शक्ति की है। यह न भूलना चाहिए कि भगवान् ही चेतना है, वही शक्ति है। इन दो रूपों में प्रकट होकर वह यह सारी लीला करते हैं।

शक्ति गति है, परिवर्तनशीलता है। सामान्यतया इसे ही प्रकृति कहा जाता है। चेतना निष्क्रिय है, चिन्मय है।

यह दोनों अपने विशुद्ध रूप में कहीं हैं नहीं, क्योंकि इनकी अलग सत्ता नहीं। जो है सो परमतत्त्व ही है, वही अनुभव में आता है। अतः दोनों विशुद्ध भाव में व्यवहार में नहीं आते हैं। इनके परस्पर मिश्रण से ही सारा जगत् चलता है। बुद्धि प्रायः यहाँ भूल जाती है, इनकी अलग से स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना कर उसमें भटक जाती है।

यह गीता का परमाद्वैत है। प्रकृति तथा जीव का ऐक्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि सत्ता तो एक ही पुरुषोत्तम है, भगवान् है।

अपरा प्रकृति आठ प्रकार से विभाजित है। प्रकृति के 24 तत्त्वों की सांख्य सिद्धान्त गणना करता है। कहीं पर 36 भी गिनने में आते हैं। यह संख्या गिनने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है।

पाँच तत्त्व, मन, बुद्धि तथा अहंकार मिलकर आठ होते हैं। पाँच तत्त्वों में ही उनकी तन्मात्राओं का समावेश किया गया है। तत्त्व तथा तन्मात्रायें एक दूसरे का रूपान्तर ही तो हैं।

कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ राजसिक-अहंकार से पैदा होती हैं। बुद्धि ही उनकी क्रियाओं को सूत्रित करती है, अतः बुद्धि में ही उनका समावेश कर लिया गया है। अहंकार में महत्तत्व की गणना हो गई प्रतीत होती है। महत्तत्त्व और अहन्तत्त्व में अवस्थान्तर मात्र है। अतः उसे अलग से नहीं गिना गया है। इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्त के 24 तत्त्वों को थोड़े में 8 करके कहा गया है।

यह अपरा-प्रकृति का विस्तार है।

स्थूलता के कारण इस प्रकृति को अपरा कहा गया है।

'पराप्रकृति जीवभूत है। वह इस जगत् को धारण करती है'। चेतना ही विशुद्ध स्वरूप है जीव का। वह ही आठ प्रकार की प्रकृति को एक सूत्र में पिरो देती है। मानो वह तागा है जिस पर प्रकृति के मनके पोये जाते हैं और भूत सत्तायें प्रकट होती हैं। उसी की अभिव्यक्ति का साधन बन जाती है अपरा-प्रकृति। उसमें निहित सामर्थ्य मन, बुद्धि आदि के द्वारा प्रकट होता है। वही प्रकृतिगत क्रिया प्रतिक्रिया का आधार होती है। इन सबके द्वारा उसी में निहित सामर्थ्य का प्रकटीकरण होता है। यही विकास है अध्यात्म-जगत् का।

व्यवहार में हम प्रकृति से अलग जीव की कल्पना नहीं कर सकते। कल्पना में जीव, जीव ही नहीं रहता है। वह शून्य हो जाता है जिसमें कोई सामर्थ्य नहीं सिवाय ज्ञान के। वास्तव में वह सांख्य-सिद्धान्त का पुरुष है जो निष्क्रिय है, परन्तु जिसमें चेतना है। ठीक इसी प्रकार से जब हम प्रकृति की चेतना के बिना कल्पना करते हैं तो वह केवल-मात्र क्रिया है। वह गतिमात्र है, परिवर्तन ही परिवर्तन है। यह सांख्य-सिद्धान्त की प्रकृति है।

जीव अपने को प्रकृति से हटाता-हटाता उस स्थिति को अपने में लाभ कर सकता है, जहाँ प्रकृति की गति का स्पर्श न हो, जहाँ चेतना चेतना में ही लिपटी हुई हो। यह केवली भाव है। इसे ही निर्विकल्प-स्थिति कहते हैं। यही सांख्य की स्वरूप-स्थिति है।

यह केवलीभाव पुरुषोत्तम-भाव से सटा हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु, यह वह ही नहीं है। पुरुषोत्तम तो प्रकृति का भी समावेश करता है। यह गति का, प्रकृति का निराकरण नहीं करता, अतिक्रमण करता है।

गीता की परिभाषा में जीवभूत पराप्रकृति अक्षरपुरुष है और अपरा-प्रकृति क्षरपुरुष है (15, 17-18)। जीव क्षेत्रज्ञ है और अपरा-प्रकृति क्षेत्र है (अध्याय 13)।

वास्तव में यह स्थिति हमारे विश्लेषणात्मक मन के द्वारा पैदा की गई है। यह समूची पुरुषोत्तम की लीला है। वही विभिन्न भावों में प्रकट होता है। वही जीव के रूप में प्रकट होकर विकसित होता हुआ पुरुषोत्तम-भाव को लाभ करता है। यह उसका अद्‌भुत खेल है। भगवद्‌भाव की प्राप्ति इसीलिए परमलक्ष्य है।

अक्षर तो निर्गुण है। उस भाव में स्थिति पुरुषोत्तम-भाव में स्थिति से इसीलिए नीची है। पुरुषोत्तम तो सगुण होता हुआ भी गुणातीत है। परन्तु

अक्षरभाव तो निर्गुण ही निर्गुण है। वास्तव में उस भाव में स्थित होकर तो हम सगुण को – गुणमयी प्रकृति को समझ ही नहीं सकते। मिथ्यात्व का आश्रय लेकर उससे पिंड छुड़ाने की चेष्टा ही करते हैं।

गीता का तत्त्वज्ञान अद्वैत-वेदान्त की समस्याओं को पैदा ही नहीं होने देता। वास्तव में वह एकांगी स्थिति को परम मानने से पैदा होती हैं। फिर उन समस्याओं का हल होना असम्भव है ही। अतः जितना हल कराने की चेष्टा होती है वह वास्तव में अधिक उलझती हैं। एक अनिवर्चनीय की अनिवर्चनीयता को बचाने के लिए दूसरा अनिवर्चनीय (माया) रचना पड़ता है। एक अद्वैत को बचाने के लिये दूसरा द्वैत (माया) रचना पड़ता है। व्यक्ति बुद्धिवाद के झमेले में फँस जाता है।

गीता का तत्त्वदर्शन पूर्णरूपेण तर्काश्रित नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। वही सत्ता दो विपरीत प्रकृतियों को कैसे रख सकती है। वही जड़ और वही चेतन कैसे? हम मानते हैं कि यह बुद्धिगम्य नहीं। परन्तु इस दर्शन का आधार तो बुद्धि है ही नहीं। बुद्धि से अतीत चेतना की अनुभूति है जो निश्चयात्मक है। उस रास्ते पर चलने वालों को वह स्वीकार करनी होगी। बुद्धि के द्वारा रास्ता साफ किया जा सकता है।

जो बुद्धिगम्य नहीं है उसे बुद्धिगम्य प्रमाणित करने की चेष्टा में हमें एक असत्य का आश्रय लेना पड़ता है जो परम्परा बनकर सत्य को तिरोहित करता जाता है। ठीक बात यही है जो कि बुद्धि से परे है उसकी अयुक्तिमत्ता को स्वीकार किया जाये।

इसी के साथ पढ़िये अध्याय 15 श्लोक 7 और अध्याय 8 श्लोक 3-4.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥6॥

'सभी भूतों को इस (द्विविधा प्रकृति) से पैदा हुआ जान। मैं समूचे जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय हूँ'॥6॥

अपरा तथा पराप्रकृति के संयोग से सभी भूत पैदा होते हैं। तेरहवें अध्याय में और भी स्पष्ट कहा –

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥13/26॥

'हे भरतर्षभ! जो भी चर तथा अचर भूत उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है, ऐसा जान'।।13/26।।

क्षेत्र, अपरा-प्रकृति है और क्षेत्रज्ञ, परा प्रकृति। भूत परिवर्तनशील सत्ता है। उसे ही सत्त्व कहा है, वह जो व्यवहार में इकाई की तरह बरतती है, जो विकसित होने वाली इकाई बनी है। अंग्रेजी में इसे 'बिकमिंग' (Becoming) कहा जाता है। जो देखने में आता है, जो और प्रकार से भी अनुभव में आ पाता है, वह सभी भूत है। उसी को तेरहवें अध्याय में सत्त्व कहा है। मनुष्य भूत है, पशु-पक्षी, पेड़, देवादि सभी भूत हैं।

सभी भूतों में दोनों ही हैं – भगवान् का चेतना-भाव भी है और जड़-भाव भी है। वह भगवान् की प्रतिमूर्ति है। किसी विशुद्ध चेतन रूप भूत की अथवा इसके विपरीत जड़भूत की कल्पना नहीं हो सकती। वह जो सब की मूल सत्ता है उसमें भी यह दोनों भाव अलग नहीं हो सकते हैं। अतः उससे होने वाले सत्त्वों में कैसे हो सकते हैं?

सारा प्रकृति-पुरुष-विवेक तो इस भेद को लेकर ही चलता है। यह विवेक वास्तव में चेतन-भाव तथा जड़-भाव का विवेक-मात्र है। इस विवेक के परिणाम स्वरूप विशुद्ध चेतनभाव में स्थिति जिसे ब्रह्मभाव कहते हैं, प्राप्त करना सम्भव है। यही ब्राह्मी-स्थिति है। यह 'स्वभाव' (8, 3) में अर्थात् अध्यात्म में स्थिति मात्र ही है।

श्लोक के अपरार्ध से भागवत-सत्ता का वर्णन आरम्भ होता है।

'मैं ही जगत् का उत्पत्ति स्थान हूँ। यह सब मुझ से पैदा होता है।' निःसन्देह विश्व तो उसकी प्रकृति का विलास-मात्र है। वह स्वयं इसका उद्गम है। प्रभु हमारी चेतना है, वह हमारा प्राण है, मन और बुद्धि है। उसी से यह सभी कुछ है। अतः, वह हमारा पिता है, हमारी माँ है।

'मैं ही प्रलय हूँ' भगवान् में ही लीन हो जाता है विश्व। जैसे रात्रि के आने पर मनुष्य सो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ सिमिट जाती हैं उसी में, इसी प्रकार से यह विश्व सिमिट जाता है प्रभु में। जिस क्रम से यह प्रकट होता है उससे ठीक विपरीत क्रम में सिमिटता है। प्रलय होता है फिर शान्त अवस्था होती है। तत्त्वों का भान नहीं होता। कहते हैं अन्धकार अन्धकार को ढांपे रहता है – **'तम एवासीत् तमसा गूढमग्रे'।**

काल की कोई अलग सत्ता नहीं है। भगवान् ही काल-रूप हैं। जब वह समेटते हैं तो कालरूप होते हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥7॥

'हे अर्जुन! मुझ से परे और कुछ भी नहीं है। यह सब मुझ में पोया है जैसे सूत्र में मणियाँ पोई जाती हैं'॥7॥

भगवान् से परे कुछ भी नहीं। उसकी सत्ता से ही सभी सत्ता वाले हैं। वह निज सत्ता से सत्तावान् हैं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

'उसके प्रकाशमान होने से ही सभी प्रकाशमान होता है। उसके प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं'। ऐसा उपनिषद् वाक्य है। उसकी सत्ता ही परम सत्ता है।

ज्ञान, शक्ति तथा आनन्द में भी उससे परे कोई नहीं। हो ही कैसे सकता है? जो भी कुछ उससे पैदा है उससे बढ़कर कैसे होगा? उत्पादन तो अभिव्यक्ति मात्र है उस अनन्त अव्यक्त की। व्यक्ति तो सीमा मात्र होता है। उसका कुछ अंश ही, कुछ भाव ही प्रकट हो पाता है अभिव्यक्ति में। उसका ज्ञान ही तो ज्ञानी में प्रकट होता है और उसकी शक्ति ही बलवान् में और उसका प्रेम ही प्रेमी में। वह अनन्त भण्डार है। जो प्रकट होता है सो अल्प है।

व्यक्ति गर्व में मदमत्त हुआ अपने को बड़ा मानने लगता है। असुर का यह स्वभाव ही है। अहं अपनी पुष्टि चाहता है। वह भूल जाता है भगवान् को, उसकी सत्ता को। जो महान् दीखता है वह उसकी महत्ता की झलक मात्र है, जो सुन्दर है, वह उसकी सुन्दरता की एक कला ही है। उस अनन्त के पार को कौन पा सकता है? बुद्धि हार जाती है, विस्मित होकर उसका गुणगान करती अघाती नहीं। मन की वहाँ गति नहीं।

उसके जीवन से जीता है यह विश्व और इसके सभी सत्त्व। कौन उससे लोहा ले सकता है?

जब व्यक्ति इस रहस्य को जान जाता है तो उसका सिर प्रभु के आगे झुकता है। गर्व में तो वह समझता था कि मेरे परे क्या है? परन्तु यह सम्यक्-बोध गर्व को ढीला करता है। सांसारिक चोटें ही प्रभु की सत्ता का भान कराती हैं और उस की परता का बोध कराती हैं।

जिसकी दृष्टि परात्पर तक जाती है, हर वस्तु में और हर क्रिया में और हर घटना में, वह धन्य है।

और 'मुझ में ही पोया है सब, सूत्र में जैसे मणियाँ'।

मणिमाला कब तक है मणिमाला? जब तक उसमें धागा है। जब धागा टूट जाता है तो मणियाँ बिखर जाती हैं। ऐसे ही भगवान् में पोया है यह विश्व। वह इसके नियन्ता हैं, शास्ता हैं, अवलम्बन हैं। जो यहाँ नियम है, जिससे यह सारा खेल चलता है, वह भगवान् ही हैं। वह धर्मरूप होकर इसे धारण करते हैं।

मणियों की तो धागे के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता भी है, परन्तु यहाँ तो विश्व की प्रभु के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं। वह किस प्रकार से हमारा अवलम्बन है, यह समझना दुष्कर नहीं। वही आधेय भी है और वही आधार है। वह जीवन है और जीवन का रक्षक भी।

यह जो अवलम्बन देने का भाव है, यह जो रक्षा का भाव है, यह विष्णु कहलाता है। वह व्यापक होकर सभी की पालना करता है। उसके बिना गेहूँ का एक दाना नहीं हो सकता। उसके बिना देखना नहीं हो सकता। उसके बिना खाना-पीना नहीं और जीना नहीं। उसके बिना क्या होगा, इसकी कल्पना भी तो मति में नहीं आती।

जो व्यक्ति सब के सूत्र को अपने जीवन में ढूँढ निकालता है, जो उस पर अवलम्बित हो जाता है, वह पा जाता है परमाधार को और निर्भय, निश्चिन्त हो जाता है। वह सूत्र सभी में है, हमारे भीतर भी है, वह हमारे अणु-अणु का सूत्र बना बैठा है। उसे ढूँढना होगा। वह मिलेगा। उसे पा जाना अपने जीवन के केन्द्र को पा जाना है, अपने परम धर्म को पा जाना है, अपने विकास के सूत्र को पा जाना है।

उस सूत्र को पाकर उसी के द्वारा दूसरों से एक हुआ जाता है। जब हम उसे अपने में पा जाते हैं तो दूसरों में भी पा सकते हैं। वह हममें बसता ही है और हम उसमें। केवल मात्र जान जाने की आवश्यकता है।

वह लोक-लोकान्तर का भी नियमन करता है। वह सृष्टि का एकमात्र सूत्र है।

श्लोक 6 तथा 7 में ऊपर जो कहा था उसी को खोल कर प्रकट करते हैं। गीता में यह पहला विभूतियों का वर्णन है। आगे हमें 10वें अध्याय में विशद वर्णन मिलेगा भगवान् की विभूतियों का।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥8॥

'हे कौन्तेय! मैं जल में रस हूँ, चन्द्रमा तथा सूर्य में प्रभा हूँ। सभी वेदों में ओंकार हूँ। आकाश में शब्द (और) मनुष्यों में पौरुष हूँ॥8॥

रस के बिना जल, जल नहीं है। रस तन्मात्र से जल की उत्पत्ति है और रस जल का धर्म है। रस के आधार को खींच लेने से जल का जलभाव ही समाप्त हो जाता है।

चन्द्रमा और सूर्य को चन्द्रमा तथा सूर्य कौन बनाता है? उनका प्रकाश। भगवान् उनका प्रकाश है। उसके अभाव में वह चन्द्रमा तथा सूर्य ही नहीं रहते। उनकी सत्ता ही प्रकाश पर आश्रित है।

वेदों में प्रणव – ओंकार – प्रमुख है। बिना उसके मन्त्रों का उच्चारण ही नहीं होता। प्रणव से ही उत्पत्ति है वेदों की। भगवान् वेदों के लिए ओंकार है। वह जान है, सूत्र है, अवलम्बन है वेदों का। उसी पर निर्भर करती है वेदों की सत्ता।

आकाश का गुण शब्द है। शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति है। बिना शब्द-गुण के आकाश क्या है? कुछ भी नहीं। अतः आकाश का प्रभाव (उत्पत्ति स्थान) भगवान् ही है। उन्हीं पर आश्रित है आकाश की सत्ता।

और मनुष्यों में पौरुष भगवान् हैं। पौरुष के बिना मनुष्य मनुष्य ही नहीं होता। अतः भगवान् ही मनुष्य का मनुष्यत्व है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥9॥

'पृथ्वी में मैं पुण्य-गन्ध हूँ और अग्नि में मैं तेज हूँ। सभी भूतों में मैं जीवन हूँ और तपस्वियों में मैं तप हूँ॥9॥

पृथ्वी का गुण गन्ध है। उसका सहज गुण मधुर गन्ध है। वह दूषित हो जाती है दूसरे पदार्थों के संयोग से (देखिए श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध अध्याय 28)। भगवान् वह गन्ध है। पृथ्वी में गन्ध तन्मात्रा से होती है। उसके अभाव में पृथ्वी नहीं। तो भगवान् ही पृथ्वी का जीवन हैं और उत्पत्ति स्थान भी।

इसी प्रकार से अग्नि का गुण तेज है। भगवान् तेज है। अतः, अग्नि का अग्निपन उन्हीं से है।

सभी भूतों में मैं जीवन हूँ। बिना जीवन के भूत, भूत कैसे? अतः सभी के एकमात्र अवलम्बन प्रभु हैं। उसी पर पोये हैं सभी कोई, कितना स्पष्ट कर दिया है यह!

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥10॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥11॥

'हे अर्जुन! तू मुझे सब भूतों का सनातन बीज समझ। बुद्धिमानों की मैं बुद्धि हूँ (और) तेजस्वियों का मैं तेज हूँ॥10॥

'बलवानों का मैं काम तथा राग से रहित बल हूँ। हे भरत कुलश्रेष्ठ! भूतों में मैं धर्मानुकूल काम हूँ॥11॥

भगवान् कैसे सब भूतों का बीज हैं, यह ऊपर लिखे से स्पष्ट ही हो जाता है। जैसे बीज ही पौधे के रूप में प्रकट होता है। ऐसे ही भगवान् ही सब भूतों के रूप में प्रकट होते हैं।

सनातन बीज? भगवान् सनातन हैं – हमेशा से हैं। ऐसा बीज नहीं है जो नष्ट हो जाए। वह तो सदा से भूतों की रचना करते आये हैं॥

बुद्धि से ही बुद्धिमान् होता है और तेज से ही तेजस्वी।

भगवान् कहते हैं काम, राग रहित बल मैं हूँ। बलवानों के बल का विशुद्ध रूप काम तथा राग से रहित ही होता है। काम तथा राग से तो रजोगुण का समावेश हो जाता है। बल आसुरी हो जाता है। वह जो विशुद्ध बल है उस बल से वास्तव में व्यक्ति बलवान् होता है। जैसे ऊपर 'पुण्यो

गन्धः' पृथ्वी के सम्बन्ध में कहा था, ठीक वैसे ही यहाँ काम, राग रहित कहा है बल के लिए।

और 'भूतों में मैं काम हूँ – धर्म के अविरुद्ध काम हूँ।'

काम इच्छा शक्ति है, तृष्णा है। विकसित होती हुई चेतना का सहज गुण है। इसी की प्रेरणा से मानुषी-भाव और फिर भगवद्भाव की प्राप्ति होती है। विशुद्ध रूप में तो यह भूत का सहज गुण ही है। इसके बिना भूत, भूत नहीं रहता है। उस में निहित क्रियाशक्ति प्रकट ही नहीं हो सकती और वह आगे नहीं बढ़ पाता। सिद्धि लाभ होने पर यह काम स्वतः शान्त हो जाता है।

धर्माविरुद्ध काम के विशुद्धरूप को द्योतित करने के लिए कहा है। यही काम शक्ति रजोगुण के प्रभाव से कलुषित होकर पापाचरण करवाती है। यह पापाचरण भूतों का विशेष गुण नहीं है जैसे, अग्नि का विशुद्ध गुण तेज है। अतः इसका वर्णन आवश्यक था। इसी प्रकार काम तथा राग से बली नहीं होते हैं, बल से होते हैं।

इन कथनों का प्रयोजन तो ऊपर श्लोक 6 तथा 7 में कहे गये तथ्य को स्पष्ट करना था उदाहरण देकर।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कैसे भगवान् जगत् की उत्पत्ति तथा स्थिति और लय हैं, कैसे वह विश्व के आधार हैं, कैसे सभी कुछ उनमें पोया है और उनसे परे कुछ भी नहीं है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥12॥

'जो भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भाव हैं उन्हें मुझ से ही जानो। मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं'॥12॥

ऊपर कहा था कि मैं समस्त जगत् का प्रभव हूँ। समस्त जगत् में तो सभी कुछ आ जाता है। जगत् तो त्रिगुणमय है। उसमें सात्त्विक भूत भी हैं, राजसिक तथा तामसिक भी हैं। वह सभी भगवान् से ही हैं। यदि भगवान् सभी का उत्पत्ति स्थान है तो राजसिक तथा तामसिक का भी वही है।

'भाव' का वही अर्थ है जो 'भूत' तथा 'सत्त्व' का है। जो है, जिसकी सत्ता की प्रतीति हो सकती है, वह भाव कहलाता है।

मनुष्य अपने विचारों की सीमाओं के अनुसार ही भगवान् के स्वरूप को समझता है। हम भगवान् को नितान्त शुद्ध सत्त्वमय समझते हैं। 'अतः संसार में जो रजोमय तथा तमोमय है, जो बुरा है वह उससे कैसे हो सकता है? वह तो किसी और से हुआ होगा' ऐसा सोचते हैं। 'भगवान् मूर्तिमान् भलाई है। इसी प्रकार से मूर्तिमती बुराई भी होगी। जो मूर्तिमती बुराई है, उसी से संसार में जो कुछ बुरा है, सो उत्पन्न हुआ होगा।' उसको शैतान कहा जाता है। ईसाई तथा इस्लाम धर्म में शैतान की कल्पना है। वह भगवान् का प्रतिद्वन्द्वी है। हिन्दूधर्म में देव तथा असुर हैं, परन्तु देव तो भगवान् नहीं हैं। वह अनेक हैं और भगवान् नहीं है। वह अनेक हैं और भगवान् की सत्य प्रधान विभूतियाँ ही हैं। असुर रजस्तमोमयी विभूति हैं भगवान् की ही। विकास को आगे ले जाने के लिये असुर की भी आवश्यकता है। जैसे रजोगुण तथा तमोगुण के बिना सत्त्वगुण का विकास असम्भव है, ऐसे ही असुर के बिना देवों का। परन्तु भगवान् का प्रतिद्वन्द्वी नहीं। उसका पद तो बहुत नीचा है।

पुराणों में हम पढ़ते हैं कि असुर देव को हरा देते हैं और भगवान् अवतार लेते हैं उन असुरों का संहार करने के लिए। यह सभी आवश्यक है विकास के लिए। आसुरी-सत्ता स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। भागवती-सत्ता की ही तमोमयी अभिव्यक्ति है। भगवान् के ही संकल्प से है और उसी की सत्ता से सत्तावाली है। सदैव उसके नियन्त्रण में है। जहाँ तक विकास-क्रम में उसकी उपयोगिता है वहीं तक उसे बढ़ती दी जाती है।

यदि बुराई भी भगवान् से है तो बुराई से क्यों बचा जाये? तो बुराई तथा भलाई में भेद ही क्या है? ऐसी कल्पनायें करते हैं कोई लोग। बुराई बुराई है और भलाई भलाई ही है। तीनों गुण प्रकृति से हैं, परन्तु उनका स्वभाव तो अलग ही है। दलिया और हलवा दोनों गेहूँ से होते हैं, परन्तु गुणों का तो अन्तर है। भाप और बर्फ दोनों जल से होते हैं, परन्तु उनके धर्म तो अलग अलग हैं।

बुराई से बचना चाहिए क्योंकि बुराई बुराई है, क्योंकि इसका परिणाम दुःख है, क्योंकि यह मनुष्य को पतित करती है, क्योंकि यह भगवान् के रास्ते में बाधक है। बचना चाहिये क्योंकि इससे दूसरों का भी अहित होता है। बचना चाहिए क्योंकि विकास-क्रम में इसको लांघना आवश्यक है।

विकास का क्रम तमस् से रजस् और रजस् से सत्त्व है। सत्त्व में प्रतिष्ठित होकर ही भागवती-सत्ता को अनुभव किया जाता है।

क्योंकि बुरा तथा भला दोनों भगवान् से हैं, अतः बुराई से बचते हुए भी उससे घृणा न करनी होगी। सभी गतियों में भगवान् को पहिचानना होगा, बुराई में और बुरे में भी। जो बुराई से घृणा करता है, बुराई उसका पीछा करती है। संसार की बुराई-भलाई हमारी ही बुराई तथा भलाई है। इस तथ्य को खुले दिल से स्वीकार करना संसार को स्वीकार करना है, संसार में रमे हुए प्रभु को स्वीकार करना है। ऐसा व्यक्ति ही समदृष्टि हो सकता है। ऐसे के लिए ही बुराई भलाई बराबर हो जाती है। वह शुभाशुभ परित्यागी (12, 17) हो सकता है। उसे न शुभ चिपकता है, न अशुभ।

रजस्-तमस् का अतिक्रमण करते हुए भी उसमें भगवान् को पहिचानना आवश्यक है।

भगवान् तीनों गुणों में व्यक्त होता हुआ भी तीनों गुणों से अतीत है। वह गुण उसे रंग नहीं पाते। वह स्वयं तामसिक, राजसिक अथवा सात्त्विक नहीं हो जाता है इनको प्रकट करता हुआ। वह निर्गुण निर्लिप्त रहता है। वह गुणातीत है। इसी रहस्य को श्लोक के चौथे पाद में प्रकट किया। **'न त्वहं तेषु ते मयि'** – 'मैं तो उनमें नहीं, वे मुझ में हैं'।

मैं उनमें नहीं। मैं उनके द्वारा सीमित नहीं, उनके गुणों से सम्बद्ध नहीं। उनमें बंधा नहीं। मैं तो तामसिक अथवा राजसिक या सात्त्विक नहीं हो जाता। अपितु, वह मुझ में हैं। मैं उनका आधार हूँ, अवलम्बन हूँ, जीवन हूँ, बीज हूँ। सभी कुछ होता हुआ उनसे अतीत हूँ, जैसे सूत्र में मणियाँ होती हैं। सूत्र मणियों में होता हुआ भी मणियों में बंधा नहीं होता, अतीत होता है, वैसे ही।

इसी प्रसंग में नवम अध्याय के श्लोक 4, 5 तथा 6 देखने योग्य हैं। छठे श्लोक का उदाहरण इस बात को खूब स्पष्ट कर देता है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥9/6॥

जैसे आकाश में स्थित महान् वायु नित्य सर्वत्र विचरने वाला है, ऐसे ही सभी भूतों को मुझ में स्थित समझो। वायु आकाश में रहता है। आकाश वायु के द्वारा न सीमित होता है, न वायु के गुण स्पर्श को लेता है, इसी प्रकार

से भूत भगवान् में रहते हैं। जैसे आकाश वायु में व्याप्त है, ऐसे ही भगवान् सभी भूतों में व्याप्त हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥13॥

'यह समस्त जगत् इन त्रिगुणमय भावों से मोहित हुआ इनसे परे मुझ अव्यय को पहिचानता नहीं है'॥13॥

यह त्रिगुणमय भाव – तीनों गुणों की रचना। यह सभी जो देखने और बरतने में आता है, यह तीन गुणों की लीला ही तो है। यह मोह में डाल देती है सारे जगत् को। वस्तु स्थिति का भान नहीं रहता। गुणमयी लीला दीखती है। इस लीला को करने वाला नहीं दीखता। जैसे सूत्रधार नाटक की रचना करता है, पर आप पीछे रहता है, दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा ही यहाँ होता है। वास्तव में नट तो सूत्रधार की आज्ञा का केवल पालन ही करते हैं। सूत्रधार ही उनके द्वारा प्रकट होता है, परन्तु वह दीखता तो नहीं। लोग उसे जानते ही नहीं। नाटक की प्रशंसा करते हुए और पात्रों की आलोचना करते हुए चले जाते हैं। जिसने यह खेल-खेला था उससे अनभिज्ञ रहते हैं।

यह सारा मोह कैसे? एक ओर नानात्व होता है, दूसरी ओर नानात्व से सम्बद्ध नानात्व को देखने योग्य चेतना प्रकट होती है। गुणों की लीला भीतर तथा बाहर होती है। मानो एक ही सूत्र मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को रचता है और वही बाहर के जगत् में यह नानात्व रच देता है, जिससे यह सभी पसारा फैल जाता है। चेतना उतर आती है नानात्व के क्षेत्र में। बाहर भीतर की सीमा तो अपेक्षाकृत ही है। जो भीतर है सो ही तो बाहर है। गुणों की रचना भीतर है और वही बाहर। उनके द्वारा चेतना प्रकट होती है बाहर और भीतर।

भीतर का साम्य विक्षुब्ध होता है। उस विक्षोभ के परिणामस्वरूप जो कुछ उसमें आता है सो विक्षुब्ध प्रतीत होता है। भीतर का विक्षोभ भी गुणों के कारण होता है। जो भीतर विक्षुब्ध करता है दृष्टि को, वही विक्षुब्ध करता है दृश्य को। दोनों को अलग करके यह सोचना कि केवल दृष्टि के विक्षोभ से ही विक्षोभ है, नानात्व है, ग़लत होगा। नानात्व तो है ही, उसके पीछे एकत्व भी है। क्षोभ रहित हुई दृष्टि एकत्व को देख पाती है। जब एक एकत्व को देख पाती है तो नानात्व पृष्ठ-भूमिका में चला

जाता है। वह तो दृष्टि सृष्टिवाद है, वह अतिवाद है, ऐसा ही समझ में आता है मुझे तो।

जगत् में मोह पड़ा हुआ है। जो इससे परे अव्यय तत्त्व है, भगवान् है, उसे पहिचानता नहीं। जो दीखता है सो विकारी है। इस विकारी का मूल तो अव्यय सत्ता है, परम पुरुष पुरुषोत्तम है। मोह के कारण हम उसे देख नहीं पाते। अज्ञान के कारण उस परम सत्ता को जान नहीं पाते। जो दीखता है, इससे परे कुछ नहीं, ऐसा ही सोचते हैं। अतः भूले भटके दुःखी रहते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥14॥

'निश्चय ही यह मेरी गुणों वाली माया पार करनी कठिन है। जो मेरी ही शरण आते हैं वह इस माया को तर जाते हैं'॥14॥

माया मानो एक नदी है जिसे पार करना कठिन है। उसे पार करने के लिए नौका चाहिए। प्रभु चरणों की नौका को पाकर ही पार जाया जा सकता है।

क्या है ये प्रभु की माया? चौथे अध्याय (6) में कहा था – 'मैं अपनी प्रकृति का सहारा लेकर अपनी माया से जन्म लेता हूँ।' माया वह शक्ति है जो मापती है। जो निस्सीम में सीमाओं को प्रकट कर देता है, जो अभिव्यक्ति का मूल मन्त्र है। यही मोह की जननी है। बिन्दु की न लम्बाई होती है न चौड़ाई। वह चलता है तो रेखा बन जाती है। उसकी लम्बाई होती है चौड़ाई नहीं होती। रेखा चलती है तो वर्गफल बन जाता है। वर्गफल चलता है तो घन, ठोस पदार्थ बनते हैं, यह सारी सृष्टि बन जाती है। यह बिन्दु की ही माया है। उसमें समाया था सभी कुछ जो प्रकट हो गया।

परमाणु कितना छोटा होता है। कुछ भी तो ठोस पदार्थ नहीं होता उसमें। बिजली के अंश ही रहते हैं। वे घनात्मक तथा ऋणात्मक होते हैं। उन्हीं की गति विशेष से परमाणु होता है। परमाणु मिलकर अणु बनते हैं। अणु मिलकर तत्त्व प्रकट होते हैं। तत्त्वों से इस विशाल विश्व की रचना हो जाती है। यह है माया परमाणु की।

परमसत्ता निर्गुण तथा अव्यक्त है। वह प्रकृति पुरुषमय होती है। प्रकृति भी (क्षर) अव्यक्त है। पुरुष (अक्षर) भी अव्यक्त है। फिर स्पन्दन होता है।

अव्यक्त से महत्-तत्त्व प्रकट होता है। इसकी सत्ता की भी प्रतीति स्थूल इन्द्रियों से असम्भव है। देश-काल की सीमाओं से अतीत महत्-तत्त्व से अहंकार होता है। कितना सूक्ष्म, परन्तु गतिशील! फिर भी पकड़ में न आने वाला। उससे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें और क्रमशः पाँच तत्व होते हैं। उससे यह सभी पसारा होता है। वह जो अव्यक्त था कैसे व्यक्त हो जाता है और आश्चर्य यह कि अव्यक्त अपने में पूरा अव्यक्त बना रहता है। उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता। बिन्दु बिन्दु ही रहता है और उसमें से विशाल विश्व जग जाता है। परमाणु ही बना रहता है परमाणु और इतनी महान् रचना हो जाती है। यह माया है। यह जादू का सा खेल है। जादूगर अपने पिटारे में से एक-एक करके वस्तुएँ निकालता है। बड़े-बड़े खेल दिखा देता है और फिर समेट लेता है सभी कुछ अपने पिटारे में। ऐसे ही यह विश्व उस अव्यक्त, अव्यय से निकल कर उसी में लीन हो जाता है। यह परमाश्चर्य है! इतना महान् विश्व अव्यक्त में समा जाता है।

इसी बात को देखते हुए तो इसे असत् कहते हैं और उसे सत् कहते हैं। पर जो विश्व की प्रत्येक वस्तु में अणुओं को देखता है उसे विश्व से इंकार करने की क्या आवश्यकता? जो प्रत्येक पदार्थ में बिन्दु को जानता है, उसे पदार्थ का निराकरण करने की क्या आवश्यकता? यह सारी लीला आखिर अनुभव में आती है। वह अव्यक्त इतना बड़ा खेल खेलता है और यह निष्प्रयोजन नहीं है। अस्तु।

इसे व्यक्ति असत् कहे या सत्, जो स्थिति है सो है ही। उसे रास्ता निकालना होगा। परम सत्ता से योग को लाभ करना होगा। उस योग के समुचित रूप से उपलब्ध होने पर असत् कहने की आवश्यकता नहीं रहती, माया का मायात्व समाप्त हो जाता है। तब तो 'वासुदेवः सर्वमिति' का भान होता है। लीलामय और उसकी लीला दोनों ही आनन्द रूप हो जाते हैं। फिर तो पल-पल अभिज्ञान – पहिचानना (7, 13) होता है। फिर मोह कैसा?

(ऊपर लिखा था कि यह जो बाहर ताना-बाना बिना जाता है इसी के अनुरूप भीतर बिना जाता है। वही एक दृश्य तथा द्रष्टा बनता है। जो देखने की योग्यता है उसी के अनुरूप दृश्य होता है। दृश्य की अनन्तता में से द्रष्टा की योग्यता अपना दृश्य देख लेती है।)

यह माया कैसी है! दैवी है और गुणमयी है। गुणमयी – गुणों के रूप में, गुणों के द्वारा प्रकट होने वाली। सत्त्व, रजस् तमस् जो प्रकृति के तीन गुण हैं उन वाली।

और दैवी? देवों से सम्बन्ध रखने वाली दैवी होती है। यह सारा खेल देवों से सम्बन्ध रखता है। देव सूक्ष्म में प्रकट भगवान् की विभूतियाँ हैं जो इस सारे खेल को चलाने में योग देते हैं। भगवान् देवों के रूप में अनेक रूप होते हुए इस रचना को चलाते हैं। दैवी का अर्थ अलौकिक भी होता है। जो असामान्य है, मनुष्यों से बहुत बढ़ चढ़कर है।

'दुरत्यया' – जिसके पार जाना, जिसका अतिक्रमण कठिन हो। सूक्ष्म से लेकर कारण तक, सभी स्तरों को लांघ जाने पर – अहंकार को भी लांघने पर, इस माया से पार हुआ जाता है। वास्तव में हमें सत्त्व तथा प्रकृति को भी लांघना होगा, पुरुष (जीव-भाव) को भी लांघना होगा, तब होता है परमात्मा-दर्शन। तब लांघी जाती है माया पूरी तरह से। और, रास्ते में अटकाने वाले प्रलोभन बहुत हैं। पहले तो निम्न प्रकृति ही टांगें पकड़े रहती हैं, फिर सिद्धियाँ घेरती हैं। फिर अहं का फाँस चलता है। यह सभी देखते हुए अतिकठिन है इस माया को पार कर जाना, इसमें सन्देह नहीं।

पर, पार की तो जा सकती है? कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं। उपाय बताते हैं।

'जो मेरी ही शरण आते हैं, वह इसे तर जाते है।' प्रभु की शरणागति उपाय है। कैसी शरणागति? अनन्य शरणागति। मामेव में 'एव' का अर्थ है ही। मुझ को ही 'प्रपद्य' होते हैं। प्रपत्ति शरणागति को ही कहते हैं। आश्रय ढूँढने से, द्विचित्तता से शरणागति नहीं होती। पूर्णरूपेण निर्भर हो जाने से प्रभु निभाते हैं।

माया से त्रस्त होकर, यत्न करके हारा हुआ जीव, भगवान् की शरण हो जाये। 'मुझ से जो सम्भव था, सो किया, परन्तु पार न पाया। जितना सुलझाने का यत्न किया, उतना ही उलझा। अब तो हार गया हूँ, तेरी ही शरण हूँ। मेरी रक्षा करो'। जब अन्तरात्मा इस प्रकार से हार मानकर सहायता के लिए जग जाता है तो भगवान् आश्रय देते हैं। वह शरणागति पाता है।

हार मान ले भीतर वाला, यह आवश्यक है। सहायता के लिए मांग हो, अपनी नि:सहायता को प्रतीत करते हुए। मांग केवलमात्र प्रभु से हो और कोई

सहायता की आशा न हो। यह सभी बानक बन जाये, तो शरणागति मिलती है। जिस किसी में यह दशा पैदा हो जाती है, उसके लिए खुल जाता है द्वार और वह भीतर बुला लिया जाता है। अपना लिया जाता है। ठीक तरीके से खटखटा पाये, बस इतना ही आवश्यक है। वह द्वार तो खुलने के लिए ही है और वह किसी भेद-भाव से रहित सभी के लिए खुलता है। परन्तु पुकारने वाले की पुकार पर, भीतर की अवस्था पर, भीतर की मांग पर, निर्भर करता है खुलना न खुलना।

जहाँ अहं है, जहाँ अपने बल की प्रतीति है, वहाँ यह द्वार नहीं खुलता। जहाँ कोई और आशा है, उसके लिए भी वह द्वार न खुलेगा। जहाँ मांग में विफलता नहीं, असहायता नहीं, वहाँ भी न सुनी जायगी पुकार। द्वार न खुलेगा।

माया से पार जाने का सुगम रास्ता मायापति की शरण जाना है। वह माया को समेट सकता है। वह अपनी दृष्टि दे सकता है। जो भ्रम रहित है वही शरणागत को माया से उबार सकता है। जैसे माया उसे भ्रमित नहीं करती, वैसे शरणागत को नहीं करती।

क्या बिना शरणागति के कोई मार्ग ही नहीं? यहाँ इस विषय में कुछ नहीं कहा। सांख्य का मार्ग तो स्वप्रयत्न पर आश्रित है। विवेक तथा संयम पर आश्रित है। वैराग्य तथा अभ्यास से मन को बांध कर पार जाने का रास्ता है। उस रास्ते पर भी कुछ लोग चलते ही हैं और पार पाते ही होंगे। पर कोई विरला ही उस रास्ते से पार पाता है। अतः वैसा कहा।

माया से जो तर जाता है वह उस सम में प्रतिष्ठित होता है। उसके लिए प्रभु कभी नष्ट नहीं होते और वह प्रभु के लिए कभी नष्ट नहीं होता (6, 30)।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥15॥

'बुरे कर्म करने वाले, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते हैं। उनका ज्ञान माया चुरा लेती है। वे असुर-भाव के आश्रित होते हैं'॥15॥

कौन लोग शरण नहीं जाते हैं भगवान् की – पहिले इसका उत्तर दिया और फिर आगामी श्लोक में कहा कि कौन शरणागत होते हैं।

पापी, जिन लोगों ने कुकर्म कर रखे होते हैं, वह प्रभु की शरण नहीं जाते। बहुत पुण्य के प्रताप से ही शरणागति का मार्ग मिलता है। पाप करने से मति मलिन होती है। मूढ़ता आती है। व्यक्ति हारता हुआ भी हार नहीं मानता। विकास का मार्ग ही नहीं सूझता। जो दु:ख रूप है उसी संसार में, उसी विषय-भोग में व्यक्ति लिप्त रहता है। उससे अधिक कुछ सोच नहीं पाता। रास्ता होते हुए भी चल नहीं पाता। ऐसे मनुष्य नीच होते हैं। निम्नप्रकृति का उन पर पूरा अधिकार होता है।

जिनके ज्ञान का माया अपरहण कर लेती है –ज्ञान को चुरा लेती है, भला वह क्या प्रभु की शरण लेंगे? माया के प्रबल प्रभाव में तो प्रभु की सत्ता पर ही विश्वास नहीं होता। गाली देता है व्यक्ति भगवान् को 'कैसा दुष्ट है वह जिसने मेरे लाल को गोद से छीन लिया'। उस मंगलमय का मंगल ही नहीं देखता। व्यक्ति हाय! हाय! आहें भरता है? परन्तु राम! राम! नहीं कह पाता। नाम लेने में मानो गोली लगती हो।

उसकी माया? वासना जगती है। जो ग़लत है सो ठीक दीखता है। बुद्धि पुष्टि करती है। मूढ़ अपने को पण्डित मानता है। पागल दूसरों को पागल कहता है। वासना का चेरा अपने को पण्डित समझता है।

माया विवेक का अपहरण करती है। करने योग्य तथा न करने योग्य में उल्टा बोध होता है। ऊँचाई नीचाई दीखती है और नीचाई-ऊँचाई। 'उसने ऐसा कहा क्यों'? लाल-लाल आँखें करके क्रोधाभिभूत हुआ व्यक्ति फुंकारता है। 'उसे कच्चा चबा लूँ' और, डूब जाता है विषाद में। कामवासना पर आघात होता है तो संसार नीरस हो जाता है, जीवन शून्यवत् होता है। बस वही आँखों के सामने रात-दिन नाचा करती है और डूबता चला जाता है व्यक्ति। इसे प्रेम समझता है! इस अन्धेपन को पवित्र त्याग समझता है! यह है उसकी माया।

जो नारद जी पर छायी थी, (रामचरितमानस, बालकाण्ड) वह थी प्रभु की माया! जो रात-दिन छा जाती है मानव पर और वह निम्नप्रकृति का चेरा बना नाचता फिरता है, वह है उसकी दैवी माया, दुरत्यया माया। ज्ञान का अपहरण करती है नि:सन्देह और नचाती है मनुष्य को एक मुट्ठी भर अनाज के लिए जैसे बन्दर नचाया जाता है।

आसुरी-भाव के आश्रित अधम नर नहीं जाते हैं प्रभु की शरण। असुर में प्राण प्रबल होता है। अहंकार की प्रधानता होती है। भोग की लालसा होती है। काम होता है और क्रोध। ऐसे लोग झुकना नहीं जानते। चोट लगने पर रोते हैं, परन्तु दवाई नहीं लगाते। वह बदला निकालने में रत रहते हैं, द्वेष की प्रधानता के कारण।

यह आसुरी-प्रकृति के लोगों की तस्वीर है, जो इस श्लोक में हमें मिलती है। 16वें अध्याय में अधिक विशद रूप में वर्णन है। ऐसे लोग भगवान् की शरण नहीं जाते। वह परेशान होते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार परेशान करते हैं। परेशानी के पार होने की उन्हें सूझती नहीं।

तो, कब खुलता है रास्ता? पाप से नहीं खुलता। पुण्य से सुख होता है, व्यक्ति आराम में होता है। शरणागति की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करता, तो कब खुलता है रास्ता? जब पुण्य प्रधान होता है और पाप संस्कार भी होता है। जब व्यक्ति में सत्त्व का विकास पर्याप्त होता है परन्तु साथ में रजस् तथा तमस् भी रहते हैं और उनके कारण विकलता होती है। सत्त्व से पुण्य होता है। या, पुण्य सत्त्व की प्रधानता का सूचक है ऐसा कहा जा सकता है। जब सत्त्व प्रधान होता है तो रजो-तमोमयी गतियाँ विशेष दु:खदायी प्रतीत होती है। अत: परेशानी विशेष कर प्रतीत होती है। सत्त्व की प्रधानता के कारण भीतर निर्मलता होती है, आगे की विशुद्ध सुखमयी अवस्था की सम्भावना दीखती है। वर्तमान रजस्तमस् के कारण होने वाली परेशानी से छूटने को विशेष छटपटाहट होती है। परन्तु निम्न प्रकृति के प्राबल्य के कारण उस पर अधिकार स्थापित नहीं हो पाता, बार-बार व्यक्ति हारता है। हताश होता है, हार मानता है। आँखें उठाकर प्रभु की ओर देखता है, तब शरणागति लाभ होती है। बिना सत्त्व के विकास के यह सम्भव नहीं। बिना रजस्तमस् की परेशानी के इसके लिए समुचित स्थिति नहीं होती। केवलमात्र पतित होना ही काफी नहीं। साथ में वह उठने की योग्यता और मांग जो सत्त्व में जगती है, वह भी होनी अनिवार्य है।

अब बताते हैं अपना भजन करने वालों के विषय में।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥16॥

'हे अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यवान् लोग मेरा भजन करते हैं – दुखिया, जानने की इच्छा वाला, अर्थ की आकांक्षा वाला और ज्ञानी'।।16।।

भजन करते हैं! शरण जाते हैं। ऐसा तात्पर्य है। प्रसंग से यही समझ में आता है। ऊपर के श्लोक में कहा, ऐसे लोग मेरी शरण में नहीं आते हैं। अब कहते हैं, 'ऐसे लोग शरण में आते हैं'।

केवलमात्र नाम-स्मरण से भजन का तात्पर्य पूरा नहीं होता। शरणागति की भावना और नाम का मार्ग तो एक ही हैं – नाम जगता जाता है, और बली होता जाता है। जैसे-जैसे शरणागति का भाव बली होता जाता है, प्रभु सम्भालते जाते हैं।

पुण्यवान् लोग शरण जाते हैं। व्यक्ति के भीतर पाप-पुण्य दोनों ही तो रहते हैं। पुण्यवान् कहने से पुण्य-संस्कार-प्रधान कहने का प्रयोजन है। पाप-रहित हुए, ऐसा नहीं। अन्यथा भगवान् पतित-पावन क्या हुए। उनका भजन पातक को क्षीण कर देता है और व्यक्ति 'विगतकल्मष' हो जाता है।

कौन हैं वह चार प्रकार के व्यक्ति? श्लोक के अपरार्द्ध में उनकी क्रम से गणना है।

पहिला आर्त-दुखिया, दु:ख से सताया हुआ। संसार के दु:ख से दु:खी व्यक्ति और कहीं त्राण न पाकर प्रभु की शरण जाता है। 'तुम ही मेरे दु:ख का हरण करो, दीनानाथ'! पुण्यों का उदय होने पर ही ऐसी मति आती है। अन्यथा वह दु:ख में डूबा रहता है, परन्तु भगवान् की शरण नहीं जाता। दु:ख होने पर भगवान् की विस्मृति दुर्भाग्य ही तो होता है।

क्या होता है उसको? दु:ख दूर होता है। नहीं होता है तो भीतर बल आता है, शान्ति आती है। समता से सह सकता है। दोनों का परिणाम वास्तव में एक ही है। भगवान् दु:खों का हरण करने वाले हैं। जैसे शरणागत के लिए उचित होता है, वैसा विधान करते हैं।

दूसरी कोटि जिज्ञासु की है। जानने की इच्छा वाला व्यक्ति जिज्ञासु होता है। योगमार्ग का अनुयायी ज्ञान की इच्छा से शरणागत होता है। प्रभु-कृपा से योग का मार्ग मिले और सिद्धि लाभ हो, ज्ञान प्राप्ति हो। ऐसी भावना से भजन करता है योगमार्ग पर चढ़ने की चाह वाला। लौकिक ज्ञान की चाह वाला भी भजन करता है, प्रभु का।

क्या होता है जिज्ञासु का? भगवान् उसकी सहायता करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग देते हैं। शरणागत के प्रतिपालक हैं। तत्काल ही नहीं होती है प्राप्ति। समय तो लगता ही है।

तीसरी कोटि अर्थार्थी की है। अर्थ की प्रार्थना करने वाला। मुझे धन चाहिए, पुत्र चाहिए, यश चाहिये। इस प्रकार की इच्छाओं को लेकर जो भजन होता है वह सकाम कहलाता है। इच्छा की दीनता दीन बना देती है अर्थार्थी को। उसकी कसक और आर्त की कसक में अन्तर होता है। आर्त की आह बहुत गहरी होती है और जल्दी सुनी जाती है।

क्या मांगने वालों की मांगें पूरी कर देते हैं भगवान? करते भी हैं और नहीं भी करते हैं। जैसी भावना होती है अर्थार्थी की और जो कल्याणकर होता है उसके लिए वैसा ही विधान करते हैं। माँ बच्चे की अनुचित मांग को तो पूरा न करेगी। भगवान् भी हमारे अनिष्ट के लिए हमारी जिद्द पूरी न करेंगे। यदि वह वास्तव में शरणागत है अनन्यभाव से, तो, या उसकी मांग पूरी होगी या समाप्त होगी। यही बात जिज्ञासु के विषय में घटित होती है। यदि व्यक्ति केवलमात्र प्रभु को आज़माना चाहता है, या अपनी अहं की पुष्टि का साधन बनाना चाहता है, बरतना चाहता है, काम लेना चाहता है, तो दूसरी बात है। हम उसे बेवकूफ नहीं बना सकते हैं, वह हमारी रग-रग को जानने वाला है। भजन तो आश्रित होना है। उसका होने की मांग को लेकर ही होता है। उस पर अधिकार की भावना से नहीं, नम्रता से होता है।

चौथी कोटि ज्ञानी की है। ज्ञानी – जिसे ज्ञान है। कौन सा ज्ञान? जिस ज्ञान के कथन के कारण वर्तमान अध्याय ज्ञान-विज्ञान योग कहलाता है। वह ज्ञान परमसत्ता का, उसकी महिमा का, उसके गुणों का। वह सभी जो 14वें श्लोक तक ऊपर कहा है। वह सभी ज्ञान जिसे है वह ज्ञानी है।

पर यह ज्ञान तो संसिद्ध-योगी को, जिसे पराभक्ति प्राप्त हो, उसे होता है, सामान्य व्यक्ति को कैसे होगा? जैसे अर्जुन को हो रहा है भगवान् के कथन से। आप्त-पुरुष के कथन से, पठन-पाठन, मनन आदि से जिसमें भगवान् की महिमा का विश्वास जगा है, श्रद्धा जगी है, शरणागति जगी है वह ज्ञानी है। उसे परोक्ष ज्ञान है भगवान् का, अपरोक्ष नहीं।

वह क्यों भजन करता है? क्योंकि उसे भगवान् पर श्रद्धा है, वह भगवान् को भगवान् समझता है। उसके लिए वह जीवन धन है, सर्वस्व है, गति है,

एकमेव है। उसे उसके सिवाय और कोई शरण दिखाई नहीं पड़ती। कोई और इष्ट दीखता नहीं। उसके ज्ञान की ही यह मांग होती है कि वह प्रभु की शरण ले और भजन करे। किसी बाह्य अवस्था, विशेषकृत प्रेरणा की उसे आवश्यकता ही नहीं। आर्ति, जिज्ञासा अथवा कामना से रहित होती है उसके भजन की प्रेरणा।

यह स्थिति धीरे-धीरे ही लाभ होती है। प्रभु की कृपा से ही ज्ञान होता है और श्रद्धा बनती है। जीवन की अनुभूतियाँ, सत्संग तथा स्वाध्याय और मनन से धीरे-धीरे मति निर्मल होती है। फिर ऐसी भावना का भागी होता है पुण्यवान् मानव।

आर्त आदि पहिले तीनों ही धीरे-धीरे ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानी बन जाते हैं। दुखिया का दु:ख मिटता है तो प्रभु अच्छे लगने लगते हैं। फिर भूल जाता है वह प्रभु को, फिर दु:ख आता है, फिर स्मृति होती है। इस प्रकार करते-करते, वह प्रभु को ही चाहने लग जाता है। आर्तभाव की निवृत्ति हो जाती है। जिज्ञासु और अर्थार्थी भी अपनी जिज्ञासा तथा अर्थ कामनाओं को भूल जाते हैं और समय पाकर ज्ञानी बन जाते हैं। रास्ता चलने पर ऐसा परिवर्तन होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

क्या गति होती है ज्ञानी की? इसका उत्तर आगामी श्लोक में मिलता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:॥17॥

'उनमें ज्ञानी जो नित्ययुक्त तथा एक भक्ति वाला है वह बढ़कर है। ज्ञानी को निश्चय ही मैं बहुत प्यारा होता हूँ और वह मुझे प्यारा होता है'॥17॥

ज्ञानी उन तीनों से बढ़कर है। क्यों? वह नित्ययुक्त है। वह हमेशा मुझ से जुड़ा है ज्ञान के कारण। उसकी श्रद्धा इतनी गहरी और विशाल है कि वह मुझ से जुड़ा है। दूसरा, वह नित्ययुक्त है क्योंकि मैं उसके जीवन का लक्ष्य बन गया हूँ। अत:, वह हमेशा साधनशील है, उसका योग एकांगी नहीं, वह सदा ही चलता है। उसकी आत्मा ने वर लिया है प्रभु को सदा-सदा के लिए।

दूसरा, क्योंकि वह एकभक्ति है। एकभक्ति – जिसकी भावना बँटी नहीं है। आर्त तो दु:ख की निवृत्ति चाहता है, वह प्रभु की शरण हुआ है क्योंकि उसे आशा है दु:ख निवृत्ति की। उसकी भक्ति भगवान् तथा दु:ख निवृत्ति में बँटी हुई है। वह एकमात्र में निष्ठ नहीं है। ज्ञानी तो प्रभु को प्रभु के लिए ही चाहता है। वह तो भगवान् का भजन करता है क्योंकि वह भगवान् है।

जिज्ञासु भी एक भक्ति वाला नहीं। उसकी ज्ञान की लालसा ही भावना को बाँटे है। वह भगवान् को ज्ञान प्राप्ति के लिए चाहता है। यदि उसे पता हो कि यहाँ से ज्ञान नहीं मिलेगा तो न चाहे। ठीक यही दशा अर्थार्थी की है। उन तीनों में भगवान् गौण हैं, कुछ प्राप्ति प्रधान है। भगवान् साधन हैं, साध्य है कुछ और। ज्ञानी के तो साध्य, साधन तथा सिद्धि सभी भगवान् ही होते हैं। इस तरह उसकी भक्ति एकांतिकी होती है।

शरणागति में आर्तभाव की गन्ध आती है। ज्ञानी इस भाव से रहित होता है। उसका सहज सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध का आधार है प्रेम।

'मैं ज्ञानी को बहुत प्यारा होता हूँ।' वास्तव में भगवान् से अधिक प्यारा ज्ञानी को कुछ और होता ही नहीं, कोई और होता ही नहीं। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की पराकाष्ठा प्रभु में है, तो उससे अधिक प्रिय कौन होगा। जिसने जाना है।

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।'

उसे भगवान् से अधिक और कौन प्यारा होगा। जिसने समझ लिया है **'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** वह प्रभु को छोड़कर किसको प्यार करेगा? जिस तरह भी देखे भगवान् ही सबसे अधिक प्रिय तत्त्व हैं। वह प्रियतम हैं, हमारी आत्मा की आत्मा, जीवन के जीवन, प्राणों के प्राण होते हुए, हमारे परम हितू और सुहृत् होते हुए; वह प्रियतम है परम सुन्दरता और परमैश्वर्य के कारण, परमज्ञान के कारण; वह प्रियतम हैं ज्ञानी के लिये अपने परम प्रेम के कारण; वह प्रेम रूप जो हैं, इसलिए।

भगवान् भक्त को कितना प्यारा होता है, यह तो भक्त ही जानता है।

'और वह मुझे प्यारा है।' प्यार का नाता स्वार्थ से परे का है। भगवान् केवल ज्ञानी को ही अपना प्यारा कहते हैं। वहाँ कोई स्वार्थ नहीं। अन्य तीनों में दुकानदारी है, विशुद्ध प्रेम नहीं। मांग है, आत्मदान प्रधान नहीं।

तो क्या भगवान् भी भक्त को प्यार करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥4/11॥

'जो जैसे मेरी ओर आते हैं, वैसे ही मैं उनकी ओर बढ़ता हूँ।' समान व्यवहार है। यही न्याय है। प्यार करने वाले से प्यार करते ही हैं। भक्त की भावना पहुँचती है प्रभु तक। इस विषय में सन्देह की गुंजाइश नहीं। समय आने पर परिचय भी मिलते हैं। भक्त को भगवान् प्यार करते हैं या नहीं, ऐसी जिज्ञासा ही क्यों हो? उसका काम तो प्यार करना है, बस।

विशुद्ध प्रेम का जगत् निराला है। विशुद्ध प्रेम की उपासना भी निराली है। यह निष्काम भक्ति है। यह भक्त को भगवान् से जोड़ देती है।

इसी विषय का आगामी श्लोकों में वर्णन किया है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥18॥

'यह सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी को तो मैं आत्मा (अपना आप) ही मानता हूँ क्योंकि, उस युक्तात्मा ने मुझ को ही सर्वोत्तम गति मान कर (मेरा ही) आश्रय लिया है'॥18॥

यह चारों ही उदार हैं। ऊर्ध्वगामी, ऊपर जाने वाले को उदार कहते हैं। यह चारों ही ऊँचे हैं। बहुत पुण्य प्रताप से ही भगवान् का भजन होता है और भजन करने से व्यक्ति ऊँचे जाता है, भले ही व्यक्ति किसी भी भाव से, सकाम अथवा निष्काम होकर भजन करता है, वह भला है, प्रशंसा का पात्र है। जो भजन नहीं करते हैं, उनसे वह बढ़-चढ़ कर है। जो दुःख होने पर भी प्रभु की शरण नहीं जा पाते, वह अभागे हैं।

जैसे ऊपर लिखा था आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भी क्रमशः अपने भावों को खोकर भगवान् के भक्त हो जाते हैं, ज्ञानी की भाँति ही। आर्त का दुःख मिट जाता है, जिज्ञासु की जिज्ञासा शान्त होती है और अर्थार्थी को अर्थ लाभ होता है, तो भगवान् के प्रति कृतज्ञता जग जाती है। वह प्रेम का सूत्रपात होता है। क्रमशः निष्काम भजन होने लगता है।

अतः कामना से भजन करने वाला भी आदर का पात्र है। उसे भी नीची दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। उसने भी पांव तो रखा है प्रभु के पथ पर। आज

सकाम है, कल को निष्काम हो जायेगा। 'जिस भी बहाने से यदि कोई मेरे नाम को भजता है', वह तो मेरे लिए आदर का पात्र है। सन्त कहता है –

सपनेहूं बौराय के जा मुख निकसत राम।
वाके पग की पांतरी मेरे तन को चाम॥

यह सभी उदार हैं, परन्तु, 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है।' आत्मा है – अपना आप है। उसके बराबर दूसरा कोई नहीं। अपना आप सबसे अधिक प्यारा होता है और उसके नाते से और प्यारे लगते हैं। अपने होने के कारण ही तो पुत्र, धन आदि प्यारे लगते हैं। अतः 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा है' कहने का मतलब है, वह मुझे बहुत प्यारा है। क्योंकर वह इतना प्यारा है?

'वह मेरी शरण हुआ है।' आस्थितः – भली प्रकार से टिका है, आश्रय लिया है। मेरा ही आश्रय लिया है और आश्रयों को त्याग कर। अनन्य भावना है। उसे तो मेरे सिवाय और कोई आश्रय नहीं दीखता, कोई और अपना नहीं दीखता। 18वें अध्याय में जो कहा – **'मामेव शरणं व्रज'** मेरी ही शरण जा, वह उसके लिए चरितार्थ होता है। नवमें अध्याय की प्रतिज्ञा **'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'** (22) 'अनन्य भाव से जो मेरा चिन्तन करते हुए' उसमें घटती है।

गति गन्तव्य स्थल को कहते हैं। जहाँ पहुँचना हो वह गति होती है। मैं ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हूँ। वह जीवन के द्वारा और कुछ नहीं चाहता।

अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्वाण।
जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन॥

(रामचरितमानस)

श्रीराम-चरण के प्रेम की ही चाह होती है। जीवन की समूची शक्तियाँ प्रभु के लिए ही हैं। उसी के लिए जीता है वह।

जिऊँ तेरी खातिर मरना भी यूँ हो,
मेरा सीस चरणों पे न्योछार हो, माँ।

ऐसी भावना अनुप्राणित करती है ज्ञानी को।

'अनुत्तम', जिससे बढ़कर और कोई न हो, कुछ न हो। उसने समझ लिया है कि प्रभु सबसे बढ़कर हैं। **'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**

धनञ्जय।' 'मुझ से परे, हे अर्जुन! और कुछ नहीं है'।

'गति' – शरण को, सहारे को भी कहते हैं। वही ज्ञानी के जीवन का लक्ष्य भी होता है और सहारा भी होता है। उस से बढ़कर और सहारा भी तो संसार में दूसरा नहीं है।

जो स्वामी पर पूर्णरूपेण निर्भर हो और उसी के लिए जीता हो, वह प्यारा होता ही है। हनुमान् जी कैसे प्रिय थे भगवान् को? और सभी को भगवान् ने भेज दिया युद्ध के बाद अयोध्यापुरी से, केवल उन्हीं को अनुमति दी पास रहने की। जीवन में और कुछ था ही नहीं हनुमान् जी के लिए। ऐसे ज्ञानी भक्त भगवान् को प्रिय होते हैं आत्मा के समान।

ऐसा ज्ञानी भी प्रभु को तत्काल नहीं पा लेता।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥19॥

''ज्ञानी बहुत जन्मों के बाद मुझे पाता है। 'सब कुछ वासुदेव (ही) है', ऐसा बोध रखने वाला महात्मा बहुत कठिनाई से मिलता है''॥19॥

भगवान् के विषय में परोक्ष-ज्ञान हो जाने मात्र से तो प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। उससे तो निष्ठा बनती है, केवल-मात्र तार जुड़ जाती है, रास्ता मिल जाता है। रास्ता तो लम्बा है, जन्मान्तरों में जाकर पूरा होता है।

विकास का मार्ग मदारी का खेल नहीं जो पल भर में व्यक्ति पार पा जाये। व्यक्ति को समूचे संस्कारों का क्षय करना होता है। सञ्चित के महान् ढेर को समाप्त करना होता है। सभी कोषों का नितान्त शोधन होना आवश्यक है। उसके लिए चाहिए सभी स्तरों में पूरी-पूरी जागृति और साथ ही साथ उनमें निहित आसक्तियों का निर्मूलन। सभी सिलवटें, सभी आकर्षण और अपकर्षण दूर होने होंगे। प्रकृति के सभी कर्ज़े जो हमने लिए हैं कामोपभोग के रूप में, वह चुकाने होंगे। संस्कार रहित, निर्मल, पारदर्शी और पूर्ण विकसित होना होगा। महान् कार्य है। अंकुर से पेड़ का बनना है। व्यक्ति को दिव्यत्व को भी लांघ जाना होगा। अतः अनेक जन्म लगने विस्मय की बात नहीं।

ज्ञानमार्ग पर चलने वाला जल्दी संसिद्धि लाभ कर लेता हो, ऐसा नहीं। यह सारा काम उसे भी पूरा करना होगा। ज्ञानी (भक्त) को लाभ है इस बात

का कि प्रभु की शक्ति उसमें काम करने लगती है और प्रभु का अभय हस्त हमेशा उसका रक्षक बना उसके सिर पर रहता है। इतना महान् कार्य भागवती-शक्ति अपेक्षाकृत जल्दी समाप्त कर सकती है। भक्ति के मार्ग में संस्कार के क्षय के लिए व्यवहार, कर्म का क्षेत्र, रास्ता देता है। ज्ञानी को इस प्रकार की कोई सुविधा नहीं। उसे चलना भी अपने पांव पर होगा। रक्षक हस्त भी नहीं होता सिर पर।

बहुत साधक अधीर हो जाते हैं। चाहते हैं पल भर में सिद्धि हो जाये। कोई ऐसा मिल जाए जो बिलकुल देर न लगे। जैसे याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को बोध कराया था। जैसे श्री रामकृष्ण ने विवेकानन्द को कराया था, बस, ऐसे ही हमें भी कोई करा दे। भीतर वाला सोचता है, 'हम तो किसी से कम नहीं है, कमी है तो ठीक गुरु मिलने की है'। आखिर गुरु में यदि अनन्त सामर्थ्य है तो उसे और किसी बात की अपेक्षा ही क्यों हो? जो ऐसा सोचते हैं वह भोले बच्चे हैं। अभी अध्यात्म के मूल्य और महत्त्व को उन्होंने नहीं जाना। वह खेल करना चाहते हैं इसके साथ भी। अध्यात्म का विशाल तात्पर्य क्या है, यह तक वह नहीं जानते। अभी उन्हें साधक कोटि में भी नहीं रखा जा सकता है।

यदि व्यक्ति अध्यात्म के महत्त्व को समझता है तो क्या अपेक्षा रहती है कीमत की, काल की अथवा प्रयास की। जब सिवाय इसके और गति ही नहीं, और कुछ प्राप्तव्य ही नहीं, तो अधीरता कैसी? यदि वह विकास है तो फिर सहज ही होगा। फल को पूरा बड़ा हो जाना चाहिए, फिर ही पकना चाहिए। फिर वह टपकता है तो मधुर होता है। कच्चा तोड़ कर पाल में डालने से वह सड़ जाता है। अनजान लोग ही ऐसा करना चाहते हैं।

वह ज्ञानी जो प्रभु को पा लेता है उसकी क्या स्थिति होती है? **'वासुदेवः सर्वमिति'** – 'सब कुछ भगवान् वासुदेव है' वह ऐसे अनुभव करता है खुली आँखों भी। यह स्थिति कल्पना के जगत् की नहीं, अनुभव की है। वह सभी कुछ प्रभुमय पाता है। अपने को भी तद्रूप देखता है। श्याममयी हो जाती है जगती। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** उसके लिए सत्य होता है।

इस अवस्था को प्राप्त किये हुए महात्मा मिलने बहुत कठिन हैं। **दुर्लभ** – जो मुश्किल से मिले। **सुदुर्लभ** – जो बहुत ही मुश्किल से मिल सके।

कोई विरला ही इस अवस्था को पा सकता है। अतः मिलता भी मुश्किल से है। ऐसे व्यक्ति के समस्त व्यापार भजन हो जाते हैं। वह स्वयं खाता हुआ भी भगवान् को ही भोग लगाता है। वह स्वयं खाता है तो भगवान् खाते हैं। वह सहज अवस्था है जिसमें कर्ता, कर्म तथा करण सभी प्रभु ही भासने लगते हैं। तब सम्पूर्णरूपेण भगवान् का भगवान् में निवास होता है। तब अलौकिक कर्म समर्पण होता है और अलौकिक पूजन!

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्॥4/24॥

उसका समूचा जीवन ही एक अखण्ड ब्रह्म समाधि हो जाता है। वह है भगवान् में प्रविष्ट हो जाना। ऐसी अवस्था में स्थित सन्त ही तो गा सकता है।

आपि कथै आपि सुननैहारू।
आपहि एकु आप विसथारू॥ (सुखमनी साहिब)

'प्रपद्यते' – पाता है, पहुँचता है, प्रवेश करता है। शरणागति की भावना साधना का आरम्भ है, यह उसकी समाप्ति है। वह साधना रूप प्रपत्ति थी जो ऊपर (15वें) श्लोक में कही थी, यह सिद्धि-रूप है।

ज्ञानी अपनी निष्ठा से कर्म करता हुआ, साधन करता हुआ जीता है। उसका जीना, उसका कर्म ही उसको हल्का करता जाता है। उसके नयन खोलता जाता है और वह क्रमशः अपने को प्रभु के और समीप पाने लगता है।

'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' का इस साधना की लम्बी अवस्था से बचने के लिए कुछ और अर्थ लगाना प्रसंग के प्रतिकूल होगा। वह अपने को धोखा देना होगा। ऐसा लगता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥20॥

'विभिन्न (उन उन) कामनाओं के द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वह दूसरे देवताओं का भजन करते हैं, उस-उस (तदनुरूप) नियम को धारण कर अपनी प्रकृति के द्वारा बंधे हुए'॥20॥

लोग दूसरे-दूसरे देवताओं का भजन करते हैं। कोई इन्द्र, यम, अग्नि का पूजन करते हैं। कोई प्रेतात्माओं को पूजते हैं और कोई भूत और भूतनियों की पूजा करते हैं। भगवान् तो सभी में हैं। सभी उसके रूप हैं। फिर किसी का भी पूजन क्यों न करें, वह वास्तव में पूजन तो उसी का है।

ऊपर भी इस विषय में लिखा गया है। हैं सभी देवता (और असुर भी) उसी का ही रूप परन्तु प्रत्येक अपने गुण कर्म वाला है। उसके सामर्थ्य की सीमायें हैं। उसके पूजन का प्रभाव तदनुरूप ही होगा। तामसी सत्ता के पूजन से तामसी प्रभाव होगा, और पूजन भी उसी प्रकार से ही तो हो सकेगा। अन्यथा वह सन्तुष्ट ही कैसे होगा और फल कैसे देगा? 'भगवान् के ही सभी रूप हैं', इस ज्ञान के सत्य होते हुए भी व्यवहार में उनका अपना व्यक्तित्व और गुणदोषादि हैं।

तो क्यों व्यक्ति देवाधिदेव को छोड़ छोटी सीमित सत्ताओं का भजन करते हैं? विभिन्न कामनायें व्यक्ति के ज्ञान को हर लेती है। आदमी सोचता है यह काम हनुमान जी झटपट कर देंगे, उनको भेंट चढ़ाओ। नारियल भेंट करो। बस, भूल जाते हैं भगवान् को।

जितना छोटा होता है उसे प्रसन्न करना उतना ही सुगम है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥4/12॥

कर्मों की सिद्धि के लिए देवताओं का पूजन होता है, अर्थात् कामना की पूर्ति के लिए होता है। देवताओं के द्वारा वह जल्दी हो सकती है भगवान् की अपेक्षा।

आखिर भगवान् की भी तो मूर्ति बनाते हैं और मूर्ति तो सीमित होती ही है। फिर उसकी लीला और सामर्थ्य भी सीमित हो जाती है। वह भी गुण कर्म-विशेष से सम्पन्न हो जाता है। जो स्थापना है वह तो देव कोटि की हो जाती है। उपनिषद् तो कहता है –

'नेदं यदिदमुपासते' ब्रह्म वह नहीं जिसकी यह लोग उपासना करते हैं।

और, इसी अध्याय में कहते हैं आगे 24 तथा 25वें श्लोक में इसी विषय में। **'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'** (9, 11)।

'अवतार भी मानुषी शरीर में आता है तो तिरस्कृत होता है' जो कुछ मूर्त है सो अल्प है, सीमित है। वह परम पुरुष की कोटि से च्युत हो जाता है। तो कैसे होता है प्रभु का पूजन?

सीमित में नि:सीम को पूजना है। सान्त को अनन्त का प्रतीक मानना है। शरीर में अशरीरी आत्मा का सत्कार करना है। वह ऐसे पूजन को स्वीकार करता है, यह हम जानते हैं (9, 26)।

हमारी भावना निर्णायक होगी। यदि हम अनन्त को, पुरुषोत्तम को बुलायेंगे तो वह आयेगा और हमारी पूजा को मूर्ति में स्वीकार करेगा। यदि हम उसे मनुष्य में बुलायेंगे तो वह मनुष्य में स्वीकार करेगा। कन्यका में देवी का पूजन होता ही है। अतिथि में भगवान् की पूजा होती ही तो है। स्त्रीवर्ग में वह महाशक्ति माँ उतरती ही है कृपा करने के लिए। गुरु में वह बोलता और उद्धार करता है। वह हमारी भावना से आता है और पूजन को स्वीकार करता है उपस्थित सीमाओं के द्वारा। जहाँ ससीम में असीम को देखा नहीं जाता, जहाँ वैसी भावना नहीं होती, वहाँ हमारे पूजन को निम्न-सत्ता स्वीकार करती है। वह देव की हो, असुर की, अथवा भूत की हो। **'भावेषु विद्यते देव:'**, 'भावों में देवता रहता है', यह सत्य है। मूर्ति में किसी भी देव विशेष की स्थापना होने पर हम अपनी भावना के द्वारा प्रभु का पूजन कर सकते हैं।

अग्नि भी देवता है। उसमें आहुति डालकर इन्द्रादि का पूजन होता है। उन्हें बुलाया जाता है। वह इस प्रकार अग्नि को मुख बना कर स्वीकार करते हैं आहुति को। ऐसे ही भगवान् किसी में भी बैठकर हमारे पूजन को, सेवा को, प्यार को स्वीकार कर लेते हैं। हमारी भावना की शुद्धि, स्थिरता और ऊँचाई उस स्वीकृति की सीमायें होंगी।

जो पूजन देव का किया जाता है, वही देवाधिदेव को भी पहुँच सकता है, परन्तु कामना तो व्यक्ति की मति भ्रमित कर देती है। वह भगवान् की नहीं सोचता, अल्प देव की सोचता है। उसे रिझाकर काम साधना चाहता है, उससे परे उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। इच्छा ही इस अज्ञान का मूल है। देवाधिदेव के पूजन का अनन्त फल होगा। उसके रीझने से हम कृतकृत्य हो सकते हैं। देव तो स्वयं प्रभु की देन पर आश्रित हैं। भिखारी के दर से भीख मांग कर हमारा पेट कब तक के लिए भरेगा।

देवताओं की रुचियाँ रहती हैं जैसे मनुष्यों की। जैसे लोक का कोई देवता होता है, वैसे गुण स्वभाव वाला होता है, वैसे ही उसकी रुचि होती है। राजसिक देव राजसिक पदार्थों से प्रसन्न होते हैं। राजसिक लोगों को उसी प्रकार के देवताओं के प्रति आकर्षण भी होता है। सम गुण-धर्म वाले आपस में एक दूसरे को अच्छा मानते हैं। तामसिक लोगों को तामसिक देवता रुचते हैं। उनकी तामसिक रुचियाँ होती हैं। मदिरा तथा मांस प्रिय होता है। उनको प्रसन्न करने के लिए वैसे ही नियमों का पालन आवश्यक है। देखिये आगे 17वाँ अध्याय, श्लोक तीसरा।

देवाधिदेव भगवान् सभी रुचियों से परे हैं। उन्हें रिझाने के लिए केवलमात्र भक्ति चाहिए। सच्ची दृढ़ गहरी भावना चाहिए। उनके चरणों में निष्ठा चाहिए। वह मुट्ठी भर तंदुल में रीझ जाते हैं और छप्पन भोगों से भी नहीं रीझते। वह विदुर की झोंपड़ी को दुर्योधन के महलों से प्यारा मानते हैं। विदुरानी के हाथ का शाक और शबरी के बेर उन्हें भाते हैं। वह वस्तु के भूखे नहीं। प्रेम से बंधे हैं।

निष्काम, निष्केवल भाव वाला तो उसे जहाँ भी चाहे जागृत कर सकता है और वह इस स्थूल स्तर पर उसे अनुभव कर सकता है। ऐसा देवता के पक्ष में सत्य नहीं है। वह तो अपनी रुचियों के दास होते हैं। नियमों का समुचित पालन किये बिना उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। नियमों के रूप में कीमत देने पर, यदि दे सकें, तो वांछित फल दे देते हैं।

कौन किसे पूजेगा यह व्यक्ति की प्रकृति पर निर्भर करता है। किस देव के लिए क्या नियम करने होते हैं, यह देव की प्रकृति पर निर्भर करता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥21॥

'जो-जो भक्त जिस-जिस विग्रह की श्रद्धा से अर्चन (पूजन) करना चाहता है मैं उस-उस भक्त में उसी (तदनुकूल) अचल श्रद्धा को ही पैदा कर देता हूँ॥21॥

ऊपर वाले श्लोक में अन्य देवता – दूसरे देवता ऐसा प्रयोग किया था। यहाँ 'तनु' 'शरीर-विग्रह' ऐसा कहा। वास्तव में यह सभी शरीर भगवान् के

हैं। भगवान् ही तो भर रहे हैं सभी भूतों में। देवताओं में भी विभिन्न गुण-कर्म की सीमाओं को स्वीकार करके भगवान् ही तो खेल करते हैं। चेतना को ग्रहण किये रहता है इसलिए विग्रह कहलाता है। देवता की चेतना उसमें रहती है। जो विग्रह है वह तनु है। इस 'स्थूल में व्यक्तरूप' देवता का तनु तन कहलाता है।

भक्त जिस भी देवता का पूजन करना चाहता है, भगवान् उस भक्त में उस देवता के प्रति अचल श्रद्धा पैदा कर देते हैं। देवता को तो उनकी स्थूल मूर्ति से भक्त जानता है। अतः 'तनु' कहा है। भगवान् श्रद्धा देते हैं। तभी देवभक्त नियमों का पालन करके पूजन कर सकता है। यदि श्रद्धा अचल न हो तो बीच में डोल जाने से सभी गड़बड़ हो जाता है, अतः कहा 'अचल श्रद्धा देता हूँ।'

कहने का तात्पर्य है कि देवपूजन भी तो मेरे ही विधान से होता है। मैं ही श्रद्धा देता हूँ और पूजा का मार्ग खोलता हूँ।

'तामेव विदधामि' – तामेव-उसी को ही अर्थात् उसी श्रद्धा को। उसी देवता से सम्बन्ध रखने वाली श्रद्धा को पैदा करता हूँ।

फिर क्या करता है भक्त?

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥22॥

'वह उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस (देवता) का आराधन करता है और उससे अपनी उन कामनाओं (की पूर्ति) को लाभ करता है, जिनका विधान मैंने ही किया होता है'॥22॥

समुचित श्रद्धा को पाकर वह पूजन करता है उस देवता का। नियमों को करता है। खान-पान, शौच, आदि के नियम होते हैं। अमुक वस्तु खानी चाहिए, अमुक नहीं और वह अमुक समय पर ही ली जा सकती है। भूमि-शयन, मौन, अक्षौर, ब्रह्मचर्यादि के नियम रहते हैं। श्रद्धा से युक्त हुआ सभी कुछ करता है। देवता प्रसन्न हो जाता है। उसकी कामनायें जिनकी पूर्ति के निमित्त उसने यह अर्चन किया था सो पूरी हो जाती हैं।

भगवान् कहते हैं – 'मैं ही करता हूँ उन कामनाओं की पूर्ति का विधान। मैं वास्तव में उनको पूरा करता हूँ। देव-विग्रह तो आड़ मात्र हैं, करने वाला

तो मैं ही हूँ। मेरी अनुमति के बिना देव क्या कर सकता है? मैं ही उसमें बैठकर लेता हूँ, और मैं ही देता हूँ, उसमें बैठकर'।

वही एक व्यापारी है। वही लेता है और वही देता है। यह तो सभी जगह लागू होने वाला सत्य है। यह बात मानुषी जगत् की भी उतनी ही वास्तविकता है, जितनी दैवी-जगत् की। इस तथ्य को न समझ कर हम डरते हैं, आशा, निराशा के द्वारा बंधते हैं, आसक्त होते हैं। देने वाला उसके सिवाय और कोई नहीं, वही एकमात्र सबका धनी है। मनुष्य तो उसकी बांह होता है केवल।

'सर्वदेवनमस्कारं वासुदेवं प्रति गच्छति', 'सब देवताओं को किया गया नमस्कार वासुदेव को प्राप्त होता है' इसका अर्थ अब समझा जा सकता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥23॥

'उन थोड़ी बुद्धि वालों का वह फल अन्त वाला होता है। देवों को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं और मेरे भक्त मुझे पाते हैं'॥23॥

वह जो देवों का पूजन करने वाले हैं वह थोड़ी बुद्धि वाले हैं। उन्होंने जो काम किया है वह अच्छा सौदा नहीं। जिस पुरुषार्थ से बहुत अधिक लाभ हो सकता था, उससे उन्होंने थोड़ा ही लिया है। यदि एक रुपये से व्यक्ति चवन्नी दाम की वस्तु खरीद लाये तो उसके मूर्ख होने में कोई सन्देह नहीं। यही दशा हम देवोपासकों की है। इतना नियम, तप आदि करके प्राप्त करते हैं देवों को ही, जबकि उससे अल्प से भी प्रभु के समीप हुआ जा सकता है।

दूसरा, वहाँ भी श्रद्धा को पैदा करने वाला और फलों का वितरण करने वाला तो मैं ही होता हूँ। वह पहचानते नहीं हैं मुझ को, अतः देवोपासना में लगे रहते हैं। इससे भी उनकी मूर्खता प्रमाणित होती है।

वह सीमित देव की उपासना करते हैं। उसका सामर्थ्य भी सीमित होता है। जो कुछ वह देता है, सो थोड़ा ही होता है। वह समाप्त हो जाता है। वह जो देता है, वह क्षीण होने वाला ही होता है। अक्षय भण्डार तो प्रभु का ही है।

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसा नाथ मनोरथ पूरण, सुख निधान जाकी मौज घनी।।
धर्म अर्थ अरु काम मोक्ष फल चारि पदार्थ देत गनी।
इंद्र समान हैं जाके सेवक, नर बपुरे की कहा गनी।।

यदि उन्होंने बजाय देवता के भगवान् को पूजा होता, तो उन्हें अक्षय फल मिलता। यह तात्पर्य है।

भक्ति का, पूजन का मौलिक सिद्धान्त है उसके द्वारा इष्ट संप्रयोग। भक्त अपने इष्ट से जुड़ सकता है, उसे प्राप्त कर लेता है। देवताओं के उपासक देवताओं को जाते हैं और भगवान् के भगवान् को। भगवान् का ही भजन करना उत्तम है। वह तो देवताओं को भी देता है। उससे परे तो कुछ नहीं है, कोई भी नहीं है। वह 'भूमा' है और सब 'अल्प' है। भूमा की उपासना से भूमा होता है, अल्प की उपासना से अल्प।

इसी विषय में और स्पष्ट करते हैं स्थिति को।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।24।।

'मेरे भाव को जो अव्यय तथा सर्वोत्तम है न जानते हुए, बुद्धिरहित लोग मुझ अव्यक्त को व्यक्त हुआ मानते हैं'।।24।।

लोग मेरे परम भाव को नहीं जानते। भगवान् के कई भाव हैं वही पुरुषोत्तम है, वही पराप्रकृति (जीव) है और वही अपरा प्रकृति (क्षर) है। वही साक्षी है और वही नियन्ता है, वही अवतरित भी होता है। वही निर्गुण है और वही सगुण है, वही इस सृष्टि के रूप में प्रकट होता है और वही इसमें रमा हुआ इसका अन्तर्मन करता है।

कौन-सा भाव पर-भाव है – ऊँचा है और भावों से? जो अधिक प्रभावशाली है, जहाँ ज्ञान-बल से क्रिया की अधिक प्रतीति होती है, जो अप्रभावित रहता है, वही तो परम है।

भगवान् अव्यय हैं, अविकारी हैं। वह अजन्मा हैं। वह इस सारे खेल से परे रहते हुए इसका सञ्चालन करते हैं। वह गुणातीत हैं। वह इसके आदिकारण हैं। वह अनन्त हैं। वह स्वामी हैं। यज्ञेश्वर हैं। लोक-महेश्वर हैं। यह भाव परम-भाव है।

और यह भाव अनुत्तम है। जिससे उत्तम – बढ़कर कुछ न हो सो अनुत्तम होता है, अद्वितीय होता है, सर्वोत्तम होता है। जो भगवान् ने कहा था 'मुझसे परे कुछ नहीं है' वह इसी भाव के लिए कहा था। यह पुरुषोत्तम भाव है।

भगवान् कहते हैं 'मैं तो अव्यक्त हूँ' अव्यक्त भी कभी व्यक्ति को प्राप्त होता है? अनन्त भी कभी सान्त होता है? निस्सीम भी कभी ससीम हो सकता है? अजन्मा भी कभी जन्म लेगा क्या? निर्गुण कभी सगुण हो जायेगा? ऐसा नहीं हो सकता।

तो यह व्यक्ति क्या है? वह अव्यक्त में से प्रकट होती है। वह अव्यक्त को आंशिक रूप से व्यक्त करती है – अव्यक्त का केवलमात्र एक भाव होता है। वह अव्यक्त को व्यक्त नहीं करती – सीमाबद्ध नहीं करती। जैसे किरण सूर्य को बांधती नहीं, जैसे वायु आकाश को बांध नहीं सकती, ऐसे ही यह व्यक्ति मुझे बांधती नहीं। वह मेरा विलासमात्र है।

(देखिये ऊपर श्लोक 12, और भी अध्याय 9, श्लोक 4, 5, 6)। नवम-अध्याय में कहा है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥9/11॥

'मानुषी शरीर को प्राप्त हुए की मेरी, मूढ़ लोग अवज्ञा करते हैं। मेरे भूतमहेश्वर रूपी पर-भाव को न जानते हुए।।11।।' लगभग वही बात कही है यहाँ 24वें श्लोक में।

क्या तात्पर्य है? उस अवतरित हुये अनन्त के अनन्तत्व को जानने वाले लोग विरले ही थे। वह अवतारी कृष्ण को मनुष्य मानते थे। वह जो पर-भाव (परे का, अतीत-भाव) है उसे न पहिचानते थे।

अर्जुन को भी सम्भवतः अभी तक पूरा विश्वास न हुआ होगा। अभी तक भगवान् ने अपना विश्वरूप दिखा कर उसे चकाचौंध न किया था। अतः ऐसी उक्ति हमें यहाँ पर मिलती है।

भगवान् साक्षात् अवतरित थे। वह अजन्मा होते हुए, अविकारी रहते हुए, यह खेल खेल रहे थे। लोग उन्हें साधारण मनुष्य समझते थे। कहते हैं श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार काल में केवल गिने-चुने लोग थे जिन्होंने उन्हें पहिचाना था। सर्वसाधारण तो उन्हें सामान्य मनुष्य ही समझते थे।

मानो, भगवान् कह रहे हैं, मेरा पूजन नहीं करते हैं, मुझे पहचानते भी नहीं। भटकते फिरते हैं देवताओं के पीछे यह मूर्ख लोग'।

ऊपर के प्रसंग को ठीक समझ लेने से गीता की भगवान् के स्वरूप के विषय की बहुत सी उक्तियाँ स्पष्ट हो सकती हैं।

अव्यक्त अव्यक्त ही रहता है। उससे व्यक्तियाँ होती हैं। वह उनमें प्रकट होता हुआ भी परे रहता है, सीमाबद्ध होता-सा भी सीमातीत रहता है। वह देह धारण करता है परन्तु अव्यक्त बना ही रहता है। वह असीम सीमित देह में आता है, पर समाता नहीं। उदाहरण देने में खतरा है। हम उनको ही प्रमाण मानने लगते हैं। वाद खड़े हो जाते हैं उनके आधार पर।

जैसे सूर्य शीशे में आता है, परन्तु समाता नहीं। उस की सत्ता में तनिक न्यूनता नहीं होती। जल में प्रतिबिम्ब की भी यही दशा है। सूर्य शीशे में दीखते हुए भी शीशे में नहीं होता है। इसी प्रकार से अव्यक्त व्यक्त होता है। इसी प्रकार से भगवान् शरीर में आते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥25॥

'योगमाया से चारों ओर से घिरा हुआ मैं सभी के लिए प्रकाशित (प्रकट) नहीं हूँ। यह मोहित हुआ लोक मुझ अजन्मा तथा अव्यय को पहिचानता नहीं है'॥25॥

भगवान् को सभी नहीं पहिचान पाते हैं। सो कोई विस्मय वाली बात नहीं है। क्योंकि, भगवान् तो योगमाया से चारों ओर से घिरे हुए हैं। योगमाया – योग की माया। माया वही जो कुछ का कुछ दिखा देती है। जो बिन्दु से विश्व बना देती है। वही जिससे भ्रम होता है। जो है सो दीखता नहीं, जो नहीं है सो दीखता है।

योगमाया – योग की माया। भगवान् तो योगेश्वर थे। वे अपने अलौकिक योगबल से ऐसा जाल फैलाए रहते हैं चारों ओर कि लोग उन्हें पहिचान ही नहीं पाते। कभी अपनी अलौकिक शक्ति को प्रकट करते हैं और पल भर में नन्हे चञ्चल बालक हो जाते हैं। कभी माँ को अपने मुख में ब्रह्माण्ड दिखा देते हैं और फिर मिट्टी खाने लगते हैं। भगवान् की

बाल-लीला तो ऐसे खेलों से भरी पड़ी है। श्रीमद्भागवत का दशमस्कन्ध योगेश्वर बालकृष्ण का सुन्दर परिचय देता है।

भगवान् को पहिचानना कोई खेल नहीं है। जो सत्त्वमयी अवस्था है, वह तो सहज में पहिचानी जाती है। वह तमोगुण और रजोगुण से नितान्त भिन्न होती है। परन्तु, त्रिगुणातीत अवस्था तो त्रिगुणमयी होती हुई भी, गुणों से अतीत होती है, देखने में तो तीनों गुणों का ही खेल दीखता है, परन्तु भीतर से वह अलिप्त, असंग, सभी से परे होता है। भगवान् द्वारिका में एक सामान्य गृहस्थ की तरह भोग-विलास में रहते थे, परन्तु थे परमयोगी। उन पर कोई प्रभाव नहीं था। देखने वाले व्यक्ति को तो, जो भीतर का भाव है वह दीखता ही नहीं था। महाभारत के युद्ध में भगवान् ने द्रोणाचार्य के मारने के लिए कैसा खेल खेला, भीष्म तथा कर्ण का कैसे अन्त करवाया, यह सभी लीला भ्रम में डाल देती है। योगेश्वर, योगेश्वर न दीखकर एक निम्न कोटि का मनुष्य दीखने लगता है। इसीलिए तो भगवान् ने कहा है कि मैं सभी के लिए प्रकाशित नहीं हूँ।

रामावतार में मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं भगवान्। मानव-समाज की मर्यादाओं की स्थापना की है। आदर्शों का स्वयं पालन किया है। वहाँ उस विषय में मोह नहीं होता, परन्तु, जब वे सर्वेश्वर सर्वव्यापक प्रभु सीता के विरह में प्राकृत मनुष्य की तरह व्याकुल होते हैं, तो बड़े-बड़ों को भ्रम हो जाता है। सती जैसी भी भ्रम में पड़ जाती है।

तुलसीदास जी ने ठीक कहा है –

सोइ जानहि जेहि देहु जनाई॥
जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥

और उपनिषद् भी कहता है –

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैषात्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। (कठ० 1.2.23)

'जिसे यह वर लेता है उससे पाया जाता है। उसके लिए यह अपना तन खोल देता है।'

भाग्यवान् विरला ही पहिचान पाता है भगवान् को, जब वे मानव देह धारण कर इस धरातल पर विचरते हैं।

'यह मूढ़ लोक मुझ अजन्मा और अव्यय को नहीं जानता।' लोक मूढ़ है। मोह में पड़ा है। न जानना, कुछ का कुछ जानना, यही तो मोह है। भगवान् को भगवान् न जानना, सामान्य मनुष्य समझना, यही तो मोह है।

नाभिजानाति – नहीं पहिचानता है।

भगवान् कहते हैं मैं तो अजन्मा और अविकारी हूँ। भगवान् अवतार लेने पर भी अजन्मा बने रहते हैं। यह तो उनकी एक किरणमात्र लीला कर जाती है। सूर्य तो आकाश में वैसे का वैसा ही बना रहता है। वह इस लीला से अप्रभावित रहता है। भगवान् इतनी सृष्टि करने पर भी अजन्मा रहते हैं, एक अवतार से क्या वे जन्म वाले हो जायेंगे?

और वे अविकारी हैं? यह है भगवान् का परे का भाव। इस सारे विकारी जगत् के रचयिता होकर भी वे अविकारी के अविकारी रहते हैं। यह सारा विकारमय जगत् उनसे प्रकट होता है, चलाया जाता है और फिर उन्हीं में लीन हो जाता है, परन्तु प्रभु में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

जो अतीत चेतना है, उसका यह सहज धर्म है। अतीत भाव तो सभी प्रकार से अतीत है। सन्त भी उसे लाभ करके वैसा हो जाता है। वह अविकारी ही रहता है। वह त्रिगुणातीत होता है। उसके लिये सत्त्वगुण भी बन्धन नहीं रहता। वह तमस् तथा रजोगुण से भी बन्धन में नहीं आ सकता।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥26॥

'हे अर्जुन! मैं जानता हूँ बीते हुए (अतीत काल के), वर्तमान और होने वाले भूतों को। परन्तु मुझे कोई नहीं जानता'॥26॥

भगवान् को तीनों कालों का ज्ञान रहता है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य, यह विभाजन तो हमारे लिए है इस अनन्त तथा अनादि प्रभाव में जिसकी रफ़्तार (गति) को काल बताता है।

हम किसी स्थान पर खड़े हो जाते हैं, उससे पीछे का अतीत हो जाता है, जहाँ खड़े हैं वह वर्तमान और जो आगे का है वह भविष्य है। ये तीनों ही हमारी स्थिति पर निर्भर करते हैं उनका अपना निजी कोई स्वरूप नहीं है।

सूर्य जिसे हम देखते हैं, वह हमसे हज़ारों मीलों की दूरी पर है। वहाँ से प्रकाश को हम तक पहुँचने में 7 मिनट के लगभग लगते हैं। 7 मिनट पूर्व का सूर्य इस समय हम देखते हैं। हमें वह वर्तमान दीखता है जो है अतीत का और ऐसे ही सितारे हैं सौर-मंडल में जिसका प्रकाश हम तक पहुँचने में वर्षों ले लेता है। क्या अर्थ है उनके विषय में वर्तमान का? दूरी पर जो मिनटों पूर्व गर्जना हुई थी, सो हमें अब सुनती है। अतः यह काल का ज्ञान तो सापेक्षिक है ही।

जिसकी चेतना निःसीम है, काल से बँधी नहीं है, उसके लिए सभी वर्तमान है। भूत तथा भविष्य भी वर्तमान है। जिसकी दृष्टि विशाल है, अपने आगे तथा पीछे, दायें और बायें एक ही समय में सभी ओर समान रूप से देखती है, उसके लिए सभी सामने है, कुछ आगे अथवा पीछे नहीं है, वह देश की सीमाओं से अतीत है। इसी प्रकार से काल की सीमाओं से भी अतीत होता है। वह त्रिकालज्ञ होता है।

भगवान् में रहता हुआ तो सभी कुछ प्रकट होता है देश तथा काल के पर्दे पर, जैसे रील के चित्र चित्रपट पर आते-जाते हैं, निकलते जाते हैं, पर रहते हैं उसी में, ऐसे ही सभी उसी में रहता हुआ निकलता है। काल स्वयं भगवान् के गर्भ में रहता है।

लोग मूढ़ कैसे हैं, यह बताने के लिए ही कहा है – 'मुझे तो कोई नहीं जानता।' भगवान् सभी भूतों को जानते हैं, परन्तु भगवान् को कोई नहीं जानता।

तो क्यों कहा, **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (18, 55)? मुझे तत्त्व से जानकर मुझ में प्रवेश कर जाता है। और भी, **'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप** (11, 54)' 'हे वीर! जानना, तत्त्व से देखना और प्रवेश पाना'।

यह तत्त्व से जानना क्या है और वह न जानना क्या है? यह न जानना तो सर्वसाधारण लोगों के लिए कहा है जो मूढ हैं, जो पहचानते नहीं। आखिर महाभारतकाल में भी तो भीष्म व्यासादि थे ही जिन लोगों ने भगवान् को पहिचान लिया था। अतः वह 'कश्चन' – 'कोई' निरपवाद नहीं है सभी के लिये लागू नहीं। सामान्य मूढ लोगों के लिये ही लागू है।

भगवान् जाने जाते हैं परन्तु निराली रीति से। वे सामान्य बुद्धि की पहुँच से परे हैं। भक्ति होने पर, उनकी कृपा होने पर, उनका बोध होता है। ऊपर भी तो यही कहा है।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥27॥

'सृष्टि में इच्छा तथा द्वेष से पैदा होने वाले द्वन्द्वों के मोह से सभी भूत, हे परन्तप! सम्मोह को प्राप्त करते हैं'॥27॥

परंतप – शत्रुओं को तपाने वाले वीर अर्जुन।

सर्गे – सृष्टि में, यह जो रचना है इसमें।

सभी भूत सम्मोह को प्राप्त करते हैं। सम्मोह होता है गाढ़ मोह – घनी अचेतनावस्था, जिसमें कुछ भी ज्ञान न रहे, वास्तविकता का पता ही न हो जिस अवस्था में, उसे सम्मोह कहते हैं। मोह से बढ़कर यह सम्मोह कैसे होता है?

द्वन्द्वमोह – द्वन्द्वों के द्वारा किये गये मोह से। सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान आदि द्वन्द्व जब व्यक्ति पर बीतते हैं तो भीतर विषमता पैदा हो जाती है। उस विषमता से दृष्टि विकृत होती है। जिसमें सुख ही अच्छा लगता है, दुःख बुरा लगता है। ऐसा ही, लाभ हानि, मान तथा अपमान के विषय में होता है। इस भीतर की विषमता के कारण व्यक्ति वास्तविकता को नहीं जान पाता।

और यह द्वन्द्व-मोह कैसे होता है? इच्छा तथा द्वेष से। जो अनुकूल है उसकी चाह होती है, जो प्रतिकूल है उससे द्वेष। इच्छा, राग का ही तो भावी रूप है। आसक्ति से कामना होती है, फिर क्रोध होता है, स्मृतिभ्रंश होता है, बुद्धि नाश होती है, फिर विनाश। मोह तो बुद्धि नाश की अवस्था है।

इस सारी परेशानी का मूल पतञ्जलि ने तो ऐसे देखा-

'अविद्या, अस्मिता' (अहंभावना), राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (अपने अलग अस्तित्व को बनाये रखने की इच्छा) क्लेश हैं।

राग-द्वेष रूपी क्लेश सम्मोह का कारण हो जाते हैं। व्यक्ति पथ से कुपथ पर चलता है, दुःख पाता है।

सृष्टिकाल में ही रागद्वेषादि व्याप्त होते हैं। प्रलयकाल में तो सभी कुछ लीन हो जाता है। रागद्वेष भी लीन हो जाते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥28॥

'और जिन पुण्य करने वाले लोगों का पाप क्षीण हो गया है, वे द्वन्द्व-मोह से छूटे हुए, दृढ़व्रत हुए, मेरा भजन करते हैं'॥28॥

कौन लोग कर पाते हैं भगवान् का भजन?

जिनका पाप क्षीण हो गया है वे करते हैं प्रभु का भजन। जब तक पाप-संस्कार प्रबल होता है, तब तक बुरे कर्मों में रुचि होती है। फिर उधर से रुचि कम होती है तो भीतर के रोगों से सन्तप्त रहता है, द्वेष से, क्रोध से और ईर्ष्या से। प्रभु का स्मरण नहीं कर पाता। वह बुराई करता नहीं, परन्तु बुरा सोचता है, अतः परेशान रहता है। जब इस संस्कार से भी छूटता है तब हल्का होता है, तब प्रभु-भजन में रुचि होती है। फिर मन लगता है। फिर बन पड़ता है भगवान् का भजन।

जब किसी व्यक्ति में कोई प्रबल पाप-संस्कार अटक जाता है प्रारम्भिक अवस्था में, तो भी साधन से उखड़ जाता है। भोग-संस्कार के बली होने पर वर्षों और कभी-कभी शेष आयु भर व्यक्ति भटका रहता है। साधन हो ही नहीं पाता। परन्तु ऐसी हालत में भी समझना चाहिये कि जो समय अथवा शक्ति इसके क्षीण होने में लगी, वह व्यर्थ नहीं गई। आखिर संस्कार का क्षीण होना भी तो अनिवार्य था। उसके क्षीण हुए बिना आगे भी तो न चला जा सकता था। एक कर्ज़ा लिया हुआ था प्रकृति से, वह चुकाना ही चाहिये था, सो इससे चुकाया गया। जो विकास-क्रम को समझता है, वह नहीं घबराता है। आखिर आगे बढ़ने के लिए जो कीमत देनी है, उसे वह खुशी-खुशी देता है।

पुण्यकर्मणाम् – पुण्यवाले, पुण्यमय कर्मों वाले, जिनके भले संस्कार बहुत हैं। पुण्य तथा पाप प्रायः दोनों ही रहते हैं। जिनके पुण्य-संस्कार तो बहुत हैं, परन्तु पाप-संस्कार दग्ध-प्राय हैं, वे लोग भजन कर पाते हैं। बिना पुण्य के भजन भी नहीं होता।

विकास-क्रम में जैसे अहं का विकास होता है और हम मानव-स्तर में आगे बढ़ते हैं, हमारे पाप तथा पुण्य दोनों ही बढ़ते चले जाते हैं। जब इस प्रकार की परिवृद्धावस्था के उपरान्त व्यक्ति चेत जाता है, पापों के क्षय के लिए यत्न करता है और निर्मल स्वच्छ होता है, तब भजन हो पाता है। जो विकास-क्रम में अभी बच्चे हैं, वे भजन के योग्य नहीं। उन्हें तो अभी संसार के खट्टे-मीठे अनुभव करने होंगे, पाप तथा पुण्य का सञ्चय करना होगा। उसके बाद आयेगा वह काल, जब वे भजन कर पायेंगे। बिना सांसारिक अनुभूतियों के भीतर परिपाक नहीं होता और सुख-दुःख से परे होने की मांग नहीं पैदा हो सकती अन्तरात्मा में।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥29॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥30॥

'जो मेरा आश्रय लेकर बुढ़ापा तथा मृत्यु से मोक्ष पाने के लिये यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को जान जाते हैं समूचे अध्यात्म को जानते हैं और अखिल कर्म को जानते हैं। जो मुझे अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ जानते हैं वे युक्त चित्त वाले मृत्यु के समय भी मुझे जाने रहते हैं'॥29, 30॥

जो लोग भगवान् को जानने की चेष्टा करते हैं सो जान जाते हैं। उस प्रयत्न में सफलता के लिए सुगम उपाय है भगवान् का आश्रय लेना, आश्रय लेकर प्रयत्न करना। उसके सहारे से साधन सुगम तथा सुफल होता है शीघ्रता से ही। उसके आश्रित होने से बल मिलता है, ठीक मति मिलती है, रास्ता मिलता है और रक्षक साथ रहता है कठिन घाटियों में प्रोत्साहित करता हुआ। उसका आश्रय लेने का अर्थ प्रयत्न को छोड़ना नहीं, प्रयत्न करना है उसके इशारे के अनुसार।

वह साधन की मांग की अवस्था है। जब व्यक्ति के अहंकार की निवृत्ति की अवस्था आती है, तब प्रयास छोड़ना होता है, पूरी तरह निर्भर होना होता है। उस अवस्था में प्रयत्न बाधक हो जाता है; अतः उसका परित्याग करना ही होता है। व्यक्ति को तो साक्षी बनकर महाशक्ति के द्वारा भीतर किये जाने

वाले साधना रूपी खेल को तटस्थ होकर देखना होता है। तब व्यक्ति की जिम्मेदारी पूर्णरूपेण मंगलमयी माँ पर होती है।

जरामरणमोक्षाय – बुढ़ापा तथा मृत्यु से छूटने के लिए साधन करने वाला भी मुझे जान जाता है। यह आर्त्तभाव, या अर्थार्थिभाव भी हो सकता है, क्योंकि मोक्ष की चाह है। बुढ़ापा और मृत्यु के आने से पूर्व ही तो मांग हैं। यह ज्ञानी से नीची स्थिति है हर हालत में। ज्ञानी तो इन प्रेरणाओं से रहित हुआ भगवान् की महिमा को – उसे विभिन्न भावों में जानता हुआ भजन करता है। किसी लालसा से नहीं करता।

ऐसे साधक क्या-क्या जानते हैं यह अन्तिम श्लोक के पूर्वार्ध में भी कहा और इसके अपरार्ध में भी।

उस ब्रह्म को जानते हैं। वह ब्रह्म जिसकी ऊपर चर्चा हुई है, जो पुरुषोत्तम है, वही।

समूचे अध्यात्म को। आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले भगवान् के जीवभाव को, अक्षरभाव को।

कर्म चाखिलम् – पूरे-पूरे कर्म को जानते हैं। कर्म के रहस्य को पूरी तरह से समझ जाते हैं। यह विज्ञान है।

अधिभूत – भूतों से सम्बन्ध रखने वाला, भूतों में व्यापक जो भगवान् का भाव है।

अधिदैव – देवों से सम्बन्ध रखने वाला, देवों में व्यापक जो भगवान् का भाव है।

अधियज्ञ – यज्ञों से सम्बन्ध रखने वाला, यज्ञों में व्यापक जो भगवान् का भाव है।

वे लोग इन सभी भावों में भगवान् को जान जाते हैं। यहाँ **'ये विदुः'** जो जानते हैं, यह प्रयोग मानो ऊपर के श्लोक को इस 30वें से अलग करता है, ऐसा लगता है। परन्तु, प्रसंग देखने से निश्चय ही ऐसा नहीं है, यह समझ में आता है।

साधन करते हुए जब वे लोग युक्त-चित्त हो जाते हैं, मन समाहित होता है और भगवान् में निवास करने लगता है, तब यह सब बोध हो जाता है।

इस बोध के परिणामस्वरूप शरीर के छूटने के समय में भी उन्हें मेरी स्मृति बनी रहती है। अज्ञान से विस्मृति होती है। जिसने भगवान् को इतने

भावों में जाना है उसके लिये तो सभी भगवन्मय हो गया है, भगवद्रूप हो गया है। उसे विस्मृति कैसे होगी? उसकी तो ज्ञान की आँखें सदैव के लिए खुल गई हैं।

अन्त समय में स्मृति के लिए युक्त-चित्त होना चाहिये। उससे ऐसा सम्यक् बोध होता है। उससे स्मृति अक्षुण्ण रह पाती है।

यह सभी बोध ज्ञान तथा विज्ञान के अन्तर्गत है। वास्तव में ज्ञान तथा विज्ञान में कोई कठोर विभाजन हो नहीं सकता है, एक ही सत्ता का सभी विकास होने के कारण।

वास्तव में आगामी अध्याय इसी प्रसंग को आगे ले जाता है। यहाँ पर सातवाँ अध्याय पूरा होता है।